॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला
11

संस्कृत-व्याकरण में कारक तत्त्वानुशीलन

पाणिनितन्त्र के सन्दर्भ में

लेखक

प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

भूतपूर्व प्रोफेसर : संस्कृत विभाग
पटना विश्वविद्यालय
पटना (बिहार)

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

THE
CHAUKHAMBA RASHTRABHARATI GRANTHAMALA
11

SAṀSKṚTA VYĀKARAṆA
MAIN
KĀRAKA-TATTVĀNUŚĪLANA

A Critical Study of Karaka in Sanskrit Grammar In the System of Panini

By

Prof. Umashankar Sharma 'Rishi'
Ex-Professor : Sanskrit Department
Patna University
Patna (Bihar)

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

भूमिका

प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अन्तर्गत शब्द-प्रमाण को मनीषियों ने बहुत महत्त्व दिया है। व्याकरण तथा मीमांसा-दर्शन में तो इसे प्रमाण-शिरोमणि ही माना गया है, क्योंकि दोनों प्रधानतया इसी आप्तोपदेश रूप शब्द का अपने-अपने ढंग से विवेचन करते हैं। आप्त वह व्यक्ति है जो लोकानुग्रह की कामना से यथा-दृष्ट पदार्थ का व्याकृत ध्वनि द्वारा उल्लेख करता है। संसार के सभी मनुष्य अपनी-अपनी भाषा का प्रयोग करते हुए उपर्युक्त लक्षण के अनुसार आप्त हो सकते हैं। तदनुसार इस शब्द-प्रमाण से लोक के सभी व्यवहार प्रवृत्त होते हैं। पदार्थ इन्द्रियों से सम्बद्ध हों या असम्बद्ध—उनका बोध शब्द-प्रयोग के द्वारा कराया जा सकता है। यही आगम या शब्द-प्रमाण का उद्देश्य है[1]। शब्द-निर्देश में भाषा के अन्यतम अंग वाक्य का आश्रय लिया जाता है, जिसका बोध (शाब्दबोध) हो जाना शब्दप्रमाण का फल है[2]। वैयाकरणों के भाषा-विश्लेषण के अनुसार आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। ये पद पदार्थ के बोधक होते हैं और पदों की इसी बोधिका शक्ति के कारण उनका परस्पर अन्वय होता है। शाब्दबोध में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से संसृष्ट होकर समन्वित बोध कराता है[3]। दार्शनिक दृष्टि से केवल अखण्ड वाक्य-मात्र ही व्यवहारोपयोगी तथा सत्य भी है[4]। किन्तु शब्दशास्त्र, भाषाबोध के उपाय के रूप में प्रकल्पित होकर अखण्ड वाक्य का विभाजन पदों में तथा पदों का वर्णों में करता है। यह सत्य है कि परमार्थतः यह विभाजन कृत्रिम तथा कल्पना-प्रसूत है तथापि इसी के मानदण्ड पर शिष्टों के प्रयोग परखे जाते हैं। वर्ण, पद तथा वाक्य इन तीनों का महत्त्व किसी शब्दशास्त्री के लिए उतना ही है, जितना जीवित शरीर के लिए प्राणों का।

किन्तु आरम्भ में शब्दशास्त्र का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं था। वर्ण का विचार शिक्षा नामक वेदाङ्ग का विषय था। पद-साधुत्व का विचार व्याकरण

---

१. द्रष्टव्य—न्यायवार्तिक, १।१।७।

२. 'पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी'॥—भाषापरि०, का० ८१

३. 'शाब्दबोधे चैकपदार्थेऽपरपदार्थः संसर्गतया भासते'।
—व्यु० वा०, पृ० १

४. 'पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन'॥ —वा० प०, १।७३

करता था और अर्थ का निरूपण करना निरुक्त का काम था। कालान्तर में इन तीनों वेदाङ्गों का भार व्याकरण पर ही आ पड़ा। वाक्य का विचार मुख्यतया मीमांसा-दर्शन का विषय होने पर भी न्यूनाधिक रूप से न्याय तथा व्याकरण भी इस पर अपनी दृष्टि रखते हैं। कारण यह है कि पदों का साधुत्वमात्र अपने आप में निरर्थक है यदि उनका परस्पर संसर्ग नहीं हो। इसीलिए व्याकरण के अर्थपक्ष में चरम सत्ता के रूप में अखण्ड वाक्यस्फोट का अभ्युपगम हुआ है; जिस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए व्याकरण के समस्त शब्दपक्षीय विवेचन उपक्रान्त होते हैं। तदनुसार वर्ण, पद तथा वाक्य के विश्लेषण के क्षेत्र में व्याकरणशास्त्र को विभिन्न विषयों का विवेचन करना पड़ता है। ये विषय इस प्रकार वर्गीकृत हो सकते हैं—

१. वर्ण-विचार—उच्चारण, वर्ण-विभाग, वर्ण-विकार (सन्धि)।

२. पद-विचार—सुबन्तरूपमाला, तिङन्तरूपमाला, अव्यय, स्त्री-प्रत्यय, समास, कृत्, तद्धित।

३. वाक्य-विचार—कारक तथा विभक्ति।

इनमें विभक्ति का विचार पद तथा वाक्य दोनों में आवश्यक है, क्योंकि बिना स्वादि या तिबादि विभक्ति लगाये पद बन ही नहीं सकता और जब पद ही नहीं बनेगा तो उसका विचार क्या होगा? साथ-ही-साथ पद-साधुत्व के बाद ही वाक्य में उसका स्थान-निरूपण किया जा सकता है कि वह किन पदों से सम्बद्ध है तथा इस सम्बन्ध के परिणामस्वरूप क्या बोध कराता है? उक्त संकलित बोध ही वाक्यबोध होता है—इसी प्रकार पदों का वाक्यगत सम्बन्ध होता है।

वाक्य की रचना में कारकों का सबसे बड़ा योगदान है, क्योंकि वाक्य के प्राणभूत क्रिया की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहना कारक का ही काम है। क्रिया किसी वाक्य में श्रूयमाण हो या गम्यमान—उसका रहना अनिवार्य है। पुनः जब क्रिया रहेगी तो निरपेक्ष नहीं रह सकती। किसी-न-किसी शक्ति की अपेक्षा रखने से ही उसकी सिद्धि हो सकेगी। यहीं कारकों का आगमन तत्तत् शक्तियों के रूप में होता है। इसीलिए वाक्य का लक्षण करते हुए अमरसिंह ने कहा है—

'सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता'।

यद्यपि सभी व्याकरण-ग्रन्थों में कारक का विवेचन शब्दपक्ष के अन्तर्गत किया गया है तथापि वस्तुतः यह प्रकरण अर्थपक्ष से सम्बद्ध है। शब्दपक्ष के अन्तर्गत इसके निरूपण का प्रधान कारण स्वादि-विभक्तियों के साथ इसका निकट का सम्बन्ध है। इसीलिए अधिकांश वैयाकरण कारक तथा विभक्ति का संयुक्त विवरण देते हैं।

व्याकरणशास्त्र के अर्थपक्षीय विवेचन का आधार है अर्थ को व्यक्त (स्फुरित) करनेवाला स्फोटात्मक शब्द । यह परमार्थतः अखण्ड वाक्य के रूप में रहने पर भी व्याकरण में विवेचित वर्णों और पदों के रूप में शास्त्र-दृष्टि से रह सकता है[१] । इसीलिए वर्णरूप प्रत्ययों में भी अर्थ-बोधकता स्वीकार्य है । स्फोट की अपेक्षा रखते हुए ही शब्द की शक्ति, लक्षणा तथा व्यञ्जना—इन तीन वृत्तियों का विचार व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थों में हुआ है । इसी प्रकार स्त्रीप्रत्यय, लिङ्ग, वचन, पुरुष, तिङ्, सुप्, कृत्, तद्धित, समास, कारक आदि तत्त्वों की शक्तियों का भी उपर्युक्त स्फोट के अन्तर्गत विचार किया गया है, क्योंकि इनमें भी अर्थबोध की शक्ति स्वीकृत है । इनके साथ ही कतिपय विशुद्ध दार्शनिक (Metaphysical) समस्याओं का भी अपनी विधि से व्याकरण में विवेचन होता है; जैसे—गुण, द्रव्य, जाति, दिक्, काल इत्यादि । इस प्रकार इन्हीं विषयों का संकलन करके व्याकरण-दर्शन का स्वरूप निर्धारित होता है, जिसे विद्वानों के समाज में 'अर्थपक्ष' का व्यपदेश मिलता है ।

व्याकरणशास्त्र के इन विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध समस्याओं का परिणाम निकलने में शताब्दियों का समय लगा है । पाणिनि से नागेशभट्ट तक के सभी विचारक अपने-अपने ढंग से इन प्रश्नों का समाधान तथा विश्लेषण करते आये हैं । जहाँ तक शब्दपक्ष का सम्बद्ध है, पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलि की त्रयी ने ही इसे पूर्ण कर दिया था । अतः परवर्ती विकास इनकी व्याख्या का तथा मुख्य रूप से अर्थपक्ष के विश्लेषण का इतिहास है । इसमें प्रत्येक वैयाकरण-दार्शनिक का महत्त्वपूर्ण योगदान है । नव्य-न्याय के आविर्भाव के बाद व्याकरण के इस क्षेत्र में भी चिन्तन की अभिनव प्रक्रिया तथा अभिव्यञ्जना का प्रवेश हुआ । इसके फलस्वरूप व्याकरण-विषयों के प्रतिपादन में क्रमशः दुरूहता तथा सूक्ष्मता आती गयी । इस प्रकार सम्पूर्ण व्याकरण-शास्त्र का इतिहास एक-एक समस्या का शब्द-पक्षीय, अर्थ-पक्षीय तथा चिन्तन-प्रक्रियात्मक विचार का क्रमिक विकास प्रस्तुत करता है, जिसका अध्ययन भारतीय प्रज्ञा के विकास का रोचक परिचय देता है ।

आधुनिक युग में ज्ञान की प्रत्येक शाखा का पुनर्मूल्यांकन करते हुए विभिन्न विषयों के अध्ययन किये जा रहे हैं । पाश्चात्य देशों से समागत ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि का उपयोग करके भारतीय शास्त्रों को आधुनिक पाठक तक पहुँचाने में देशी-विदेशी विद्वानों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

---

१. 'तत्र वर्णपदवाक्यभेदेन स्फोटस्त्रिधा । तत्रापि जातिव्यक्तिभेदेन पुनः षोढा । अखण्डपदस्फोटोऽखण्डवाक्यस्फोटश्चेति सङ्कलनयाष्टौ स्फोटाः । तत्र वाक्यस्फोटो मुख्यः । तस्यैव लोकेऽर्थबोधकत्वात्तेनैवार्थसमाप्तेश्च' ।

—प० ल० म० का आरम्भ

योगदान रहा है। विदेशी विद्वानों के कार्य मुख्यतः वैदिक साहित्य तथा प्राचीन दर्शन तक ही सीमित हैं। इसका कारण यह है कि संस्कृत-भाषा से परिचय होने के बाद पाश्चात्य जगत् में जो तुलनात्मक भाषाविज्ञान तथा तुलनात्मक धर्म के अध्ययन का क्रम चला, उसमें इन्हीं दोनों का अधिक उपयोग माना गया। साहित्य से सामान्य परिचय होने पर भी व्याकरण तथा नव्य-न्याय से प्रभावित शास्त्रों की प्रतिपादन-प्रणाली से पाश्चात्य जगत् इस शताब्दी के पूर्व तक प्रायः अस्पृष्ट ही था। इधर पाश्चात्य-दर्शन में भाषा-विश्लेषण का प्रवेश होने के बाद से इन उपेक्षित भारतीय शास्त्रों की ओर विदेशियों का भी ध्यान आकृष्ट हुआ है तथा वे पाणिनितन्त्र एवं नव्य-न्याय के अध्ययन में भी लगे हैं। अमेरिका के भाषाशास्त्रियों तथा प्राच्य-विद्याविशारदों की इस विषय में श्लाघ्य रुचि देखी जाती है।

व्याकरण-दर्शन की विषय-वस्तु का व्यापक रेखाचित्र (Outline) खींचनेवाले डॉ० प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती ने अपने शोध से सम्बद्ध ग्रन्थों में[1] ऊपर प्रदर्शित सभी विषयों का सामान्य रूप से विवेचन करके इस क्षेत्र के अध्येताओं के लिए मानो मार्ग-प्रदर्शन किया। देश-विदेश में इन ग्रन्थों की पर्याप्त चर्चा हुई तथा विदेशियों को भारतीय भाषावैज्ञानिक सूक्ष्मेक्षिका स्वीकार करनी पड़ी। इनके बाद बंगाल के ही कुछ दूसरे विद्वानों ने अपनी मातृ-भाषा के माध्यम से भी उन विषयों का विवेचन किया। इनमें श्रीगुरुपद हाल्दार के 'व्याकरणदर्शनेर इतिहास' का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इसमें दार्शनिक विवेचन के अतिरिक्त इतिहास का पक्ष भी न्यूनाधिक प्रकट हुआ है। इस विपुलकाय ग्रन्थ में अनेक वैयाकरणों के मतों का उदाहरणपूर्वक संकलन हुआ है जो कहीं-कहीं अवश्य ही, विषय-विवेचन को आगे न बढ़ा पाने के कारण, अनपेक्षित तथा भारवत् प्रतीत होता है। कुल मिलाकर डॉ० चक्रवर्ती महाशय की वैज्ञानिक दृष्टि इस ग्रन्थ के लेखक में नहीं मिलती।

व्याकरण-दर्शन के इस सामान्य-विवेचन से पृथक् होकर अब इसकी एक-एक समस्या के गम्भीर अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इस दिशा में भी भारतीय विद्वानों ने ही उपक्रम किया। इन विषयों में सर्व-प्रथम शब्दार्थविज्ञान को आधार मानकर कई शोध-प्रबन्ध लिखे गये। इनमें निम्नलिखित ग्रन्थरूप में प्रकाशित होकर पर्याप्त प्रसिद्ध हुए हैं—

१. डॉ० गौरीनाथ शास्त्री : The Philosophy of Word and Meaning.

---

1. (i) Philosophy of Sanskrit Grammar.
   (ii) Linguistic speculations of the Ancient Hindus.
   (कल० विश्व० से प्रकाशित)

२. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी : अर्थ-विज्ञान और व्याकरण-दर्शन ।

३. डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय : The Problem of Meaning in Indian Philosophy.

४. डॉ० सत्यकाम वर्मा : भाषातत्त्व और वाक्यपदीय ।

ये ग्रन्थ अपने विवेच्य विषय में भिन्नता रखते हुए भी शब्दार्थविज्ञान की विभिन्न समस्याओं पर सम्यक् प्रकाश डालते हैं । इसी प्रकार पं० रंगनाथ पाठक का स्फोट-विषयक ग्रन्थ इसके मूल सिद्धान्त का विवेचन विशुद्ध भारतीय परम्परित (Traditional) रीति से करता है। अभी भी इस क्षेत्र में पर्याप्त कार्य का अवकाश है ।

व्याकरण-दर्शन के अन्य क्षेत्र अभी तक प्रायः अस्पृष्ट हैं । इसके कई कारण हैं, जिनमें प्रमुख यह है—

'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन··· ··· ·····' ॥

अतः शोधों की सुखसाध्यात्मकता जब से प्रकट हुई है तब से काव्य तथा काव्यशास्त्र का परिभ्रमण करनेवाले ही प्रबन्ध प्रकाश-पथ पर अग्रसर होते रहे हैं । दूसरी बात यह है कि व्याकरण का अध्ययन अत्यन्त श्रमसाध्य तथा नीरस है । अनेक वर्षों के श्रम से भी ग्रन्थों का अध्ययन पूरा नहीं होता । विशेषतः नव्य-व्याकरण के ग्रन्थ तथा उनकी टीकाएँ तो 'निसर्ग-दुर्बोध' हैं । उनका बोध होने पर भी अन्य शास्त्रों के साथ तारतम्य बैठाना तो और भी कठिन काम है । शास्त्रान्तर का अभ्यास किये बिना किसी शास्त्र में कुछ भी व्युत्पत्ति पाना असम्भव है । भर्तृहरि कहते हैं—

'प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः ।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता' ॥— वा० प० २।४८६

यह कठिनता यहीं समाप्त नहीं होती—नव्य-व्याकरण में प्रायः बिना स्रोत का निर्देश किये हुए ही दूसरे शास्त्रों की स्थापनाओं का अनुवाद करके उनका खण्डन हुआ है । उन स्रोतों का सम्यक् बोध हुए बिना उनका खण्डन समझना कठिन है । इन कारणों से कोई भी व्यक्ति साधना तथा तपस्या की अग्रभूमि-स्वरूप व्याकरण तथा नव्य-न्याय के अनुसन्धान में अपने काल का अपव्यय करना नहीं चाहता । यही कारण है कि इन विषयों के ग्रन्थों का आद्यन्त अर्थ समझने वाले विद्वान् विरल हो चले हैं । यही स्थिति रही तो वह समय दूर नहीं जब ये ग्रन्थ सदा के लिए दुर्बोध हो जायेंगे, परम्परा का उच्छेद तो अभी ही हो चुका है । दुःख होता है कि भारतवर्ष अपनी शताब्दियों की उपार्जित ज्ञानसम्पत्ति का विनाश गजनिमीलिका-न्याय से देख रहा है ।

वर्षों के व्याकरणाध्ययन के अनुभव के परिणामस्वरूप मुझे ज्ञात हुआ कि समास, कृदर्थ, धात्वर्थ, तिङर्थ, विभक्ति, तद्धित, लिंग, वचन, पुरुष, वृत्ति, कारक इत्यादि व्याकरणशास्त्रीय विषयों के विशेष शोधानुरूप अध्ययन की आवश्यकता है, क्योंकि ये विषय विविध ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं। नागेशभट्ट की लघुमञ्जूषा में जो सम्बद्ध विषयों के चिन्तन की परिणति दिखलायी पड़ती है उसके पीछे एक लम्बा इतिहास पड़ा है, जिसका अध्ययन करना चाहिए। पाणिनि-तन्त्र में एक-एक समस्या का विवेचन करने के लिए इतनी सामग्री विद्यमान है कि कोई चाहे तो आजीवन एक ही समस्या से संघर्ष करता रहे। दूसरे व्याकरण-तन्त्रों में भी उसका विवेचन बहुत उत्तम रीति से हुआ है। कतिपय स्थलों पर तो मैंने यह अनुभव किया है कि पाणिनि-तन्त्र में अस्पृष्ट विषयों पर भी ये पुष्कल सामग्री प्रदान करते हैं। पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन करते हुए इनकी उपयोगिता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

उपरिनिर्दिष्ट विषयों में से मैंने स्वेच्छा से **कारक** विषय का चयन किया जिसके विशेष अध्ययन का परामर्श मुझे संस्कृत-विद्यापीठ, दरभंगा के निदेशक डॉ० शीतांशुशेखर बागची ने दिया। यह अप्रैल, १९६५ की बात है। मैं उस समय तक व्याकरणारण्य में निरुद्देश्य भ्रमण कर रहा था—कभी यह विषय कभी वह; इस प्रकार अनेक समस्याएँ रजोवृत्ति के कारण जन्म ले रही थीं। किन्तु तब से मैंने अपने-आपको एक ही विषय पर नियन्त्रित करके सम्बद्ध स्थलों के विशेष अनुशीलन में लगाया। कठिनाइयाँ आयीं किन्तु उनसे संघर्ष करने में मनोरञ्जन के साथ सन्तोष भी होता रहा कि कुछ काम हो रहा है। ज्ञान इतना उपयोगी होता है कि उसकी एक कणिका भी व्यर्थ नहीं जाती। इसी ज्ञान-संबल के बल पर यह लघु-यात्रा हो सकी है।

कारक के विशेषाध्ययन-रूप अपने ज्ञान का अनुव्यवसायात्मक फल वाक्य-प्रयोग (कारकमहं जानामि) के द्वारा प्रदर्शित करने का मैं अधिकारी तो नहीं हूँ, किन्तु अपने इस लघु प्रयास द्वारा उक्त अध्ययन का निष्कर्ष रखने का विनम्र साहस तो कर ही सकता हूँ।

प्रकृत ग्रन्थ ९ अध्यायों में विभक्त है—प्रथम तीन अध्याय पृष्ठभूमि के रूप में कारक-सामान्य-विषयक ऐतिहासिक तथा विवेचनात्मक सामग्री देते हैं, शेष छः अध्याय एक-एक कारक-विशेष के अध्ययन से सम्बद्ध हैं। इन विवेचनों की तीन सीमाएँ हैं। पहली तो यह है कि केवल पाणिनि-तन्त्र के ग्रन्थों में उपस्थित किया गया कारक-विश्लेषण इसका उपजीव्य है, तन्त्रान्तर में दृष्टचर विवेचनों का अत्यल्प प्रयोग किया गया है। इस 'अत्यल्प' की आवश्यकता भी इसीलिए पड़ी कि पाणिनि-तन्त्र में विवेचनों का पूर्वपक्ष-निरूपण तथा कहीं-कहीं अभिनव पूरक विवेचन भी उन तन्त्रों में हुआ है

जिसकी उपस्थापना अनिवार्य थी। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि तन्त्रान्तर के कारक-विषयक विवेचन उतने ही हैं जितना इस प्रबन्ध में स्थान-स्थान पर निर्दिष्ट है। प्रथमाध्याय में प्रदर्शित इतिहास से स्पष्ट होगा कि उन सम्प्रदायों का साहित्य भी बहुत व्यापक तथा गहन है। यदि सभी सम्प्रदायों के कारक-विवेचन इसमें समाविष्ट होते तो इस ग्रन्थ का आकार न्यूनतम त्रिगुणित तो हो ही जाता। यही कारण है कि नव्य-व्याकरण में प्रदर्शित सामग्री का उपयोग करने के समय उसकी पूर्वपीठिका में नव्य-न्यायोक्त कारक-विचार-सामग्री का भी उसी परिमाण में निरूपण किया गया है जितना वह नव्य-व्याकरण के ग्रन्थों में पूर्वपक्ष से उद्धृत है अथवा जिसकी ध्वनि वहाँ प्राप्त होती है। वास्तव में नव्य-न्याय का कारकवाद अपने-आप में एक महत्त्व-पूर्ण शोध-अध्ययन का विषय है।

ग्रन्थ की दूसरी सीमा है—कारकमात्र का विवेचन। प्रकरण-ग्रन्थों में विभक्ति तथा कारक को इस प्रकार एक साथ रखा गया है कि वे प्रायः एकाकार प्रतीत होते हैं। यह सत्य है कि कारक की अभिव्यक्ति विभक्ति के माध्यम से होती है; किन्तु ऐसी बात तो नहीं कि उस अभिव्यंग्य कारक-शक्ति का स्वरूप-निर्धारण विभक्ति से पृथक् हटकर हो ही नहीं सके। विभक्ति विशुद्ध शब्दपक्षीय तत्त्व है तथा कारक अर्थपक्षीय या दार्शनिक तत्त्व। इस ग्रन्थ में मूलतः कारकों का विभक्ति से पृथक् अध्ययन करने पर भी एक अध्याय में उन दोनों के बीच सम्बन्ध दिखलाते हुए कारक तथा कारकेतर की अभि-व्यञ्जिका विभक्तियों का पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है। विभक्तियों के पृथक् अध्ययन का पूर्ण अवकाश है—विशेषतया वाक्य विज्ञान की अनिवार्य इकाई के रूप में इसका अध्ययन सम्यग् रूप से हो सकता है। इसकी पूर्ति कुछ अंशों में तारापुर वाला की संस्कृत वाक्यविज्ञान-विषयक पुस्तक[1] करती भी है। तथापि परवर्ती आर्यभाषाओं के सन्दर्भ में अथवा समवर्ती भारत-यूरोपीय भाषाओं के सन्दर्भ में भी विभक्तियों के अलग-अलग अध्ययन का पर्याप्त अवकाश है।

ग्रन्थ की तीसरी सीमा विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टिकोण से विषयों का ऐति-हासिक पर्यवेक्षण है। इसका अभिप्राय यह है कि संस्कृत भाषा में लिखित मूल ग्रन्थों को ही आधार मानकर इस ग्रन्थ की रचना हुई है। मूल ग्रन्थों के आशयों को स्पष्ट करने के लिए प्रामाणिक टीकाओं का आश्रय लिया गया है, क्योंकि 'टीका गुरूणां गुरुः' की उक्ति ने मुझे अनेक स्थलों पर भ्रम तथा अपसिद्धान्त के निवेश से बचाया है। इस सीमा का अभावरूप पक्ष यह है कि तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने के लिए भी मैंने अन्य भाषाओं के ऊपर

1. I. J. S. Taraporewala, Sanskrit Syntax, Delhi, 1967

लिखे गये एतद्-विषयक ग्रन्थों का आश्रय नहीं लिया है। हाँ, 'संस्कृत-व्याकरण' में कारक पर प्राप्त सामग्री का अवश्य ही उपयोग किया गया है—इसमें भाषा-मर्यादा का कोई प्रश्न नहीं। मुख्यतया मूल संस्कृत-ग्रन्थों को आधार बनाने में दो उद्देश्य रहे हैं—एक तो आधुनिक पाठकों तक संस्कृत वैयाकरणों के क्रमिक विचारों को प्रत्यक्ष स्रोत से पहुँचाना; दूसरे लुप्तप्राय ग्रन्थों के प्रति रुचि बढ़ाकर पुनरुद्धार करना। यही कारण है कि प्रतिपाद्य तथ्यों का प्रमाण देने में, संकेतात्मक ही निर्देश न देकर, उनसे सम्बद्ध वाक्यों का यथासाध्य पूरा उद्धरण दिया गया है, जिससे सत्य का निर्णय करने में व्यवधान न हो।

इस ग्रन्थ के मुख्य अध्यायों में विषयों के ऐतिहासिक विकास के आधार पर विवेचन किया गया है। यहाँ स्पष्ट हो जाना चाहिए कि मेरी तुच्छ सम्मति में विषयों का विकास तो नहीं हुआ है—विषयों पर वैयाकरणों के द्वारा किये गये विवेचन अवश्य ही क्रमशः विकसित होते गये हैं। विकास के विभिन्न सोपानों पर क्रमशः पाणिनि, पतंजलि, भर्तृहरि, कैयट, भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट तथा नागेश को रखा गया है। कहीं-कहीं इस क्रम में आवश्यकतानुसार, मूल ग्रन्थकारों का आशय स्पष्ट करने के लिए, कालिक दृष्टि से दूरवर्ती टीकाकार को भी अन्य आचार्यों की अपेक्षा प्राथमिकता दी गयी है। इसका एक अन्य अपवाद भी कुछ अध्यायों में मिलेगा। जिन कारकों का विवेचन पाणिनि ने एकाधिक सूत्रों में किया है (जैसे—कर्म, सम्प्रदान, अपादान) उनमें मुख्य सूत्र या सूत्रों पर ही ऐतिहासिक विवेचन करके अन्य सूत्रों पर अन्त में सामान्य रूप से विचार किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में वैदिक काल से क्रमशः विकसित होने वाले व्याकरणशास्त्र के इतिहास का संक्षिप्त विवरण दिया गया है, जिसमें कारक विषयक साहित्य की ही विशेष चर्चा हुई है। पाणिनितन्त्र, अन्य व्याकरणतन्त्र तथा दार्शनिक ग्रन्थों में कारक चर्चा के आधार पर तीन विभिन्न प्रकरण इसमें आये हैं। ग्रन्थकारों का तिथि-विचार विशेषतया स्वीकृत मतों के आधार पर किया गया है। द्वितीयाध्याय में क्रिया-विषयक विभिन्न मत, शाब्दबोध का स्वरूप तथा क्रिया-कारक सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है। तृतीयाध्याय में कारक तथा विभक्ति का सम्बन्ध दिखलाते हुए विभक्तियों के कारक तथा उपपद-रूपों का विशद विचार किया गया है। इसी प्रसंग में विवक्षा की शक्ति तथा उसके नियमों का निरूपण भी है। शेष अध्यायों में विभक्तियों के क्रमानुसार कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण कारकों का विकासमूलक विवेचन किया गया है।

कारकों पर आश्रित इस ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों के लिए पूर्णता का दावा करना बिलकुल असम्भव है। उपर्युक्त सीमाओं का निर्धारण करने पर भी, सीमित परिधि में भी, सभी क्षेत्रों का निरीक्षण नहीं हो सकता—अप-

निरीक्षण (Mal-observation) तथा अनिरीक्षण (Non-observation) दोष रह जाना सहज सम्भाव्य है ।

इसकी भाषा-शैली के विषय में भी कुछ निवेदन करना आवश्यक है। हिन्दी में लिखित इस ग्रन्थ की भाषा-शैली यथासम्भव हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप रखी गयी है, किन्तु विषय की गम्भीरता तथा शास्त्रीय प्रकृति (Technical nature) होने के कारण कहीं-कहीं हिन्दी में सामान्यतया अप्रचलित शास्त्रीय शब्द आ गये हैं, किन्तु आद्योपान्त ग्रन्थ का अध्ययन करने पर वे दुरूह नहीं रहेंगे—ऐसी आशा है । इसी प्रकार कहीं पर— विशेषतया नव्य-न्याय तथा नव्य-व्याकरण के सम्बद्ध स्थलों पर— हिन्दी में अव्यवहृत शैली का उपयोग करना पड़ा है, तथापि उसे प्रकारान्तर से समझाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है, जिससे सामान्य पाठक को भी न्यूनतम कष्ट हो । फिर भी अपनी विवशता तथा अशक्ति से उत्पन्न अभिव्यक्तियों के लिए मैं बुद्धिमान् अध्येताओं से क्षमाप्रार्थी हूँ । यही सन्तोष है कि भाषाविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार जब एक ही भाषा बोलने वाले डॉक्टर तथा वकील की अभिव्यक्तियों में पर्याप्त अन्तर होता है तब प्रस्तुत स्थल में विषय-निष्ठ न्यूनतम भाषा-भेद अवश्य ही मर्षणीय है ।

प्रतिपाद्य विषय में किसी अभिनव सिद्धान्त के निवेश का अभिमान नहीं करने पर भी इतना कहना सम्भव है कि कारक से सम्बद्ध चिन्तन का प्रथम समन्वित तथा व्यापक रूप देने का प्रयास इस ग्रन्थ में किया गया है । इस कार्यक्रम में कतिपय अस्पृष्टपूर्व शास्त्रीय ग्रन्थियों के श्लथीकरण का दृश्य भी इसमें मिल सकता है । इसके निर्वाह के लिए कहीं-कहीं आनुषंगिक विषयों का विवेचन तथा पुनरुक्तियाँ तक हुई हैं, किन्तु उनके बिना विषय की दुरूहता यथापूर्व बनी रहने के भय से मैं विवश था । मेरा विश्वास है कि ये विरल पुनरुक्तियाँ प्रतिपादन की अभिनव शैली का निवेश करने के कारण चित्तोद्वेजक नहीं होंगी ।

किसी भी कृति की उत्पत्ति में कई कारण संयुक्त रूप से काम करते हैं । मम्मट ने काव्य-हेतु के रूप में जो शक्ति, निपुणता (व्युत्पत्ति) तथा अभ्यास की समुदित-कारणता प्रतिपादित की है वह व्याख्यान्तर से कृतिमात्र के लिए सत्य है । विषय में रुचि, उत्साह, कल्पना-शक्ति तथा जन्मान्तर के संस्कार के रूप में प्राप्त प्रतिभा को मैं शक्ति के अन्तर्गत रखता हूँ, क्योंकि इसके अभाव में कृति का प्रसार नहीं होता, यदि हो भी तो वह हास्यास्पद कृति होती है । ज्ञान, अध्ययन तथा वातावरण की अनुकूलता व्युत्पत्ति देती है । अन्त में अभ्यास का अर्थ है— प्रयोग और त्रुटि (Trial and error) से संघर्ष करते हुए लक्ष्य की ओर अग्रसर होना । प्रस्तुत कृति में भी इन तत्त्वों का समुदित

प्रयोग हुआ है—सूत्ररूप में यही कहा जा सकता है। प्रथम तथा तृतीय कारण व्यक्तिगत हैं, उन पर कुछ नहीं कहना ही श्रेयस्कर है। व्युत्पत्ति देने वाले आचार्यों के प्रति आभार प्रकट करना अवश्य ही आर्जव होगा।

इस ग्रन्थ की रचना में व्याकरणशास्त्र तथा न्यायदर्शन के सम्बद्ध ग्रन्थकारों, टीकाकारों तथा उनकी कृतियों के सूक्ष्म अनुशीलन का बहुत बड़ा योगदान है। शास्त्रों का अनुशीलन न केवल अदृष्ट का सुन्दर फल देता है, अपितु दृष्टफल देने में भी उसकी महार्ह भूमिका होती है—इसका साक्षात्कार इस ग्रन्थ-प्रसूति में निहित है। विषय से सम्बद्ध प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक अर्वाचीन अंग्रेजी-हिन्दी-बंगला ग्रन्थों से सहायता ली गयी है। इसका रचनाकाल १९६६ से १९७२ ई० है। उस समय तक जो ग्रन्थ उपलब्ध थे—उनका भरपूर उपयोग इसमें किया गया है। इधर व्याकरण-दर्शन तथा भाषा-दर्शन पर कुछ अच्छी पुस्तकें निबन्ध-संग्रहों के रूप में अथवा एक ही लेखक की रचना के रूप में प्रकाशित हुई हैं। किन्तु इस विषय पर पिछले बीस वर्षों में भवानन्द के 'कारकचक्र' पर डॉ० अरविन्द कुमार द्वारा रचित व्याख्या के अतिरिक्त कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ के रचना-काल तथा प्रकाशन-काल में विशाल अन्तराल होने पर भी कोई दुःख नहीं है। इससे पाश्चात्य जगत् को भी कारक-विषयक दार्शनिक चिन्तन का अधिगम होगा—ऐसा मुझे विश्वास है।

इस अवसर पर मैं तीन स्वर्गीय विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना कर्तव्य मानता हूँ। इनमें प्रथम हैं—**डॉ० सातकड़ि मुखोपाध्याय** जो कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष तथा आचार्य पद से सेवा-निवृत्त होकर नवनालन्दा महाविहार के निदेशक बने थे। मुझे यह कहते हुए अत्यन्त गौरव-बोध होता है कि वे मेरे प्रथम शोधगुरु थे, जिनके निर्देशन में बौद्ध-ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक पर मैं कुछ दिनों तक काम करता रहा था। शोधकार्य की प्रक्रिया का ज्ञान उन्हीं से पाकर जीवन-दर्शन का परिमार्जन किया। तदनन्तर पटना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति **आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा** के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझे कठिन ग्रन्थों की व्याख्या के लिए सरल-सहज-सुबोध शैली का महत्त्व समझाया। मुख्यतः संस्कृत काव्यशास्त्र तथा भाषाविज्ञान के अग्रणी विद्वान् होने पर भी इन्होंने मुझे व्याकरण-दर्शन के गहन कान्तार में प्रवेश की प्रेरणा भी दी। अन्ततः पटना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व संस्कृत-विभागाध्यक्ष **डॉ० बेचन झा** के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनके आशीर्वचन से यह ग्रन्थ लिखा गया। इन तीनों आचार्यों की असंख्य शिष्य-परम्परा आज पूरे भारत में अपने गुरुनिष्ठ ज्ञान के आलोक का प्रसारण कर रही हैं। उन शिष्यों में मेरा भी एक साधारण स्थान है।

'भार्या भारविमोचनाय' के नियम से मेरी पत्नी अपनी दुर्भर रुग्णावस्था में भी मेरे अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग गार्हस्थ्य-भार के विपुलांश का स्वयं वहन करके मुझे अध्ययन तथा ग्रन्थ-लेखन का अधिकाधिक अवसर देती रही हैं। उनके प्रति भी अत्यधिक कृतज्ञ हूँ।

इस ग्रन्थ को अपने प्रख्यात प्रकाशन संस्थान : चौखम्बा सुरभारती द्वारा शीघ्रातिशीघ्र एक वर्ष से भी कम समय में सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित करने के लिए मैं संस्थान के अधिकारियों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। इस ग्रन्थ से विद्वानों तथा सुधी छात्रों का यदि कुछ भी उपकार हुआ तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

आश्विनी पूर्णिमा,
२०५० वि० सं०
३०-१०-१९९३ ई०

—उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि'

संकेत-विवरण

ऋ०	:	ऋग्वेद-संहिता ।
का० च०	:	कारकचक्र (भवानन्द) ।
त० बो०	:	तत्त्वबोधिनी (लघुशब्देन्दुशेखरसहित सिद्धान्त-कौमुदी का गुरुप्रसाद शास्त्री का संस्करण) ।
नि०	:	निरुक्त (यास्क) ।
न्या० को०	:	न्यायकोश (भीमाचार्य झलकीकर) ।
प० ल० म०	:	परमलघुमञ्जूषा (नागेश) ।
पा० सू०	:	पाणिनिसूत्र ।
ब्र० सू०	:	ब्रह्मसूत्र (बादरायण) ।
म० भाष्य	:	महाभाष्य (पतञ्जलि) ।
मी० सू०	:	मीमांसासूत्र (जैमिनि) ।
ल० मं०	:	लघुमञ्जूषा (नागेश) ।
ल० श० शे०	:	लघुशब्देन्दुशेखर (देखें—त० बो०) ।
वा० प०	:	वाक्यपदीय (भर्तृहरि) ।
वा० रा०	:	वाल्मीकि रामायण ।
वे० प०	:	वेदान्तपरिभाषा (धर्मराजाध्वरीन्द्र) ।
वै० भू०	:	वैयाकरणभूषण (कौण्डभट्ट) ।
वै० भू० सा०	:	वैयाकरणभूषणसार (कौण्डभट्ट) ।
व्या० द० इति	:	व्याकरणदर्शनेर इतिहास (बंगला—गुरुपद हाल्दार) ।
व्यु० वा०	:	व्युत्पत्तिवाद (लक्ष्मीनाथ झा कृत प्रकाश सहित) ।
श० कौ०	:	शब्दकौस्तुभ (भट्टोजिदीक्षित) ।
श० श० प्र०	:	शब्दशक्तिप्रकाशिका (जगदीश) ।
सं०व्या०शा०इति०	:	संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (युधिष्ठिर मीमांसक) ।
सि० कौ०	:	सिद्धान्तकौमुदी (देखें—त० बो०) ।

विषयानुक्रम

अध्याय पृष्ठ

परिशिष्ट

अध्याय : १

कारक-विषयक भारतीय चिन्तन का इतिहास

किसी भी देश में भाषा के न्यूनाधिक विकास के बाद ही तद्विषयक चिन्तन का आरम्भ होता है, यदि उस देश के निवासी बुद्धि की दृष्टि से भी पर्याप्त विकसित हो गये हों। संसार भर में भारत तथा यूनान के मनीषियों में अत्यन्त प्राचीनकाल में भाषा-विषयक विचार करने की क्षमता देखते हैं, यद्यपि अनुवर्ती काल में उनसे प्रभावित अन्य देशों में भी यह स्थिति संक्रान्त हुई है। यूनान की अपेक्षा भारत इस विषय में अग्रणी रहा है, क्योंकि यहाँ के आदिम ग्रन्थ ऋग्वेद में ही भाषा-विश्लेषण के संकेत हमें प्राप्त होते हैं। उसके बाद से तो उसकी अविच्छिन्न परम्परा ही चलने लगी, जिसकी परिणति आधुनिक समय से बहुत पूर्व ही हो गयी-सी लगती है। भारतवर्ष की यह परम्परा अनेक संघर्षों तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अक्षुण्ण रही, जिसका श्रेय यहाँ के निःस्वार्थ तथा ज्ञानसत् के अनुष्ठाता यजमानों को है, जिन्होंने भौतिकवाद के चमत्कार से सदा अस्पृष्ट रहकर न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सन्तोष करते हुए ज्ञान की अग्नि सदा प्रज्वलित रखी; अपनी-अपनी प्रतिभा की समिधा, कल्पना का हव्य एवम् अनुभूतियों की आहुतियाँ देते रहे और आज हमारे समक्ष अपने रिक्थ के रूप में इतनी अधिक शास्त्र-सम्पत्ति रख गये कि हम पाश्चात्य संसार के अहर्निश विकासशील चिन्तनों की झंझा के सामने ठहर सकें तथा स्वयं कुछ योगदान न कर सकने पर भी यह कह सकें कि भाषा-विषयक सर्वोत्कृष्ट विचार विश्व को हमारी सबसे बड़ी देन है।

दार्शनिक चिन्तन का ऋग्वेद में प्रारम्भ

समस्त भारतीय चिन्तनधारा का स्रोत हमें ऋग्वेद के मन्त्रों में प्राप्त होता है। यद्यपि वेद तथा उसकी व्याख्या के काल में पर्याप्त व्यवधान होने के कारण वेदार्थ के विषय में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं, तथापि कतिपय स्थलों में परवर्ती काल की भाषा के आधार पर शब्दार्थ-सम्बन्ध का निरूपण करना सम्भव है। व्याकरण-दर्शन की प्रथम उद्भावना हमें ऋग्वेद के **वाक्सूक्त** (१०।१२५) में उपलब्ध होती है, जिसमें वाणी को देवता के रूप में प्रतिष्ठित करके स्वयं वाग्देवी से ही उत्तम-पुरुष में सूक्त की आठों ऋचाओं का आख्यात कराया गया है। वह कहती हैं कि मुझे देवताओं ने ही सर्वत्र फैलाया है, जिससे मैं अनेक स्थानों में स्थित तथा सबों में प्रविष्ट हूँ[1]। इससे वाणी की सर्वव्यापकता सिद्ध है। जहाँ तक ब्रह्ममय संसार है, वह वाणी का ही क्षेत्र है[2]।

---

१. 'तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्'। —ऋग्वेद १०।१२५।३

२. 'यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्'। —ऋग्वेद १०।११४।८

वाणी के शुद्ध तथा अशुद्ध इन दो रूपों की कल्पना भी ऋग्वेद में की गयी है। जिस प्रकार सत्तू को छानकर पवित्र करते हैं उसी प्रकार वाणी को भी मन या बुद्धि से परिष्कृत करके, अवक्तव्य की व्यावृत्ति करते हुए विद्वान् लोग प्रयोग में लाते हैं, जिससे उनकी वाणी में लक्ष्मी (शोभा या दिव्यता) का निवास रहता है[1]। मूर्खों तथा हालिकों की भाषा इनसे भिन्न है, क्योंकि ये वाच्यावाच्य का भेद नहीं जानते। प्रथम मण्डलान्तर्गत **'अस्य वामस्य' सूक्त** (१।१६४) में दार्शनिक विचारों का रूपकात्मक प्रवाह दिखलायी पड़ता है। इसमें भी वाणी की चर्चा हुई है तथा एक सुप्रसिद्ध ऋचा में[2] वाणी की चार अवस्थाओं का निर्देश है, जिनमें मनुष्यों के द्वारा अन्तिम अवस्था या तुरीय वाणी का ही व्यवहार होता है। व्याख्याकारों के अनुसार ये निम्न हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी। मनुष्यों के द्वारा अन्तिम वाणी—वैखरी का प्रयोग होता है[3]। यास्क तथा पतञ्जलि चार वाक्-परिमित पदों से नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात का बोध करते हैं, किन्तु कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में इसकी आलोचना की है कि मनुष्यों के द्वारा वाणी के चतुर्थ रूप (अर्थात् निपात-मात्र) का प्रयोग करना असंगत हो जायगा, क्योंकि मनुष्य चारों ही पद-भेदों का प्रयोग करते हैं, केवल निपात का नहीं[4]।

ऋग्वेद में वाणी के विश्लेषण के क्रम में दिये गये निर्वचनों की परम्परा भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'** (१।१६४।५०), **'ये सहांसि सहसा सहन्ते'** (६।६६।९), **'स्तोतृभ्यो मंहते मघम्'** (१।११।३) इत्यादि मन्त्र निर्वचन-परक हैं। परवर्ती काल में ब्राह्मण-ग्रन्थों का एक विषय ही निर्वचन करना हो गया। कारकों को अभिव्यक्त करने वाली विभक्तियों का नियमपूर्वक तथा वाक्शैली-रूप (Idiomatic) प्रयोग यह सिद्ध करता है कि ऋग्वेद के समय में इनकी व्यवस्था अत्यन्त स्थिर थी, जो समस्त उत्तरवर्ती प्रयोगों के लिए आधार-रूप में काम करती है। यद्यपि हम अलग से कारकों के चिन्तन की सामग्री ऋग्वेद में नहीं पाते किन्तु विभक्तियों का उक्त व्यवस्थित प्रयोग हमें यह अनुमान करने को विवश करता है कि 'साक्षात्कृत-धर्मा' ऋषियों के मस्तिष्क में कारक तथा विभक्ति से सम्बद्ध विचार

---

१. द्रष्टव्य—ऋग्वेद १०।७१।२।

२. 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति'॥
—ऋग्वेद १।१६४।४५

३. 'परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिदेशगा।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥
वैखर्यास्तु कृतो नादः परश्रवणगोचरः'॥—परमलघुमञ्जूषा, पृ० ७०

४. 'एतद्विषयत्वे च वर्ण्यमाने 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' इत्यसम्बद्धमेव स्यात्। चतुर्णामपि पदजातानां मनुष्यैरुच्यमानत्वात्'। —तन्त्रवार्तिक, पृ० २१४

अत्यन्त प्रौढ़ थे। वे यह बात ठीक-ठीक समझते थे कि किसी मन्त्र में कोई शब्द किसी विशेष विभक्ति में क्यों है। **'इन्दवो वामुशन्ति हि'** (१।२।४) में इन्दु का कर्तृत्व, **'अग्निमीळे'** (१।१।१) में अग्नि का कर्मत्व, **'प्रचेतयति केतुना'** (१।३।१२) में केतु का करणत्व, **'एमाशुमाशवे भर'** (१।४।७) में आशु का सम्प्रदानत्व, **'अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा पार्थिवादधि'** (१।६।९) में अपादान, **'आ सूर्यं रोहयेद् दिवि'** (१।७।३) में अधिकरण तथा ऐसे ही अन्यान्य प्रयोगों से हम ऋग्वेदीय वाक्यों में कारक-कल्पना का अनुमान कर सकते हैं। सत्य तो यह है कि जिस दिन से मनुष्य ने भाषा का प्रयोग आरम्भ किया उसी के साथ ही कारक भी भाषा का अविभाज्य अंग बनकर वाक्यों में समाविष्ट हो गया। तथापि तद्विषयक चिन्तन तो बाद की देन है।

वैदिक साहित्य में कारक से पूर्व विभक्ति का निर्देश प्राप्त होता है। यद्यपि ऋग्वेद में **'चत्वारि शृङ्गा'** (४।५८।३) इत्यादि मन्त्र में स्थित **'सप्त हस्तासो अस्य'** के सात हाथों से सात विभक्तियों का अर्थ किया गया है (महाभाष्य, पृ० ३), तथापि विभिन्न व्याख्याकारों के द्वारा इस प्रहेलिकात्मक मन्त्र की पृथक्-पृथक् व्याख्या किये जाने के कारण यह कहना कठिन है कि निश्चित रूप से सात हाथ सात विभक्तियों के ही बोधक हैं। ऋग्वेद में अन्यत्र (८।६९।१२) भी **'यस्य ते सप्त सिन्धवः'** का प्रयोग हुआ है, जिसका उद्धरण पतञ्जलि ने भाष्य में देकर इसमें स्थित सात नदियों का अर्थ सात विभक्तियों के रूप में ही किया है। बहुत सम्भव है कि यहाँ वाणी की सात नदियाँ, जो जिह्वा पर प्रवाहित होती हैं, सात विभक्तियाँ ही हों।

मैत्रायणी-संहिता में हमें सर्वप्रथम विभक्ति शब्द के दर्शन होते हैं—**'तस्मात् षड् विभक्तयः'** (१।७।३)। ऐतरेय ब्राह्मण (७।७) में विभक्ति के रूप में सात भागों में विभक्त वाणी की चर्चा हुई है, किन्तु गोपथ-ब्राह्मण में (पू० १।२४) एक ही साथ व्याकरण के अनेक संज्ञा-शब्दों के बीच विभक्ति का निर्देश होने से इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है[1]। इसके पूर्व ही तैत्तिरीय-संहिता के एक निर्देश (६।४।७) के अनुसार इन्द्र के द्वारा वाणी के व्याकृत अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय के रूप में पृथक् होने का उल्लेख है (**वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति ·········तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्**)। ऋक्-तन्त्र के निर्देशानुसार व्याकरण के प्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा थे, जिन्होंने बृहस्पति को शिक्षा दी, बृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को तथा इन्होंने ऋषियों को व्याकरण का प्रवचन किया। इन ऋषियों से ब्राह्मणों में शब्द-विद्या का प्रचार हुआ[2]।

पाणिनिपूर्व वैयाकरण

यास्क तथा पाणिनि के पूर्व अनेक वैयाकरणों के सम्प्रदाय भाषागत पदार्थों के स्वतन्त्र चिन्तन में लगे हुए थे, जिनके नाम हमें निरुक्त, अष्टाध्यायी तथा प्रातिशाख्यों

---

१. 'ओङ्कारं पृच्छामः। को धातुः, किं प्रातिपदिकं, किं नामाख्यातं, किं लिङ्गं, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वरः, उपसर्गो निपातः, **किं वै व्याकरणम्'** ?

२. पं० युधिष्ठिर मीमांसक, सं० व्या० शा० इति०, भाग १, पृ० ५८।

में भी प्राप्त होते हैं। यास्क ने निरुक्त के आरम्भ में ही निम्नलिखित पाँच आचार्यों का उल्लेख किया है, जो भाषातत्त्व के चिन्तन में लगे हुए थे---औपमन्यव, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, शाकटायन तथा गार्ग्य[१]। इनके अतिरिक्त कौत्स, शाकपूणि, स्थौलाष्ठीवि इत्यादि आचार्य भी निरुक्त में निर्दिष्ट हैं। शाकटायन तथा गार्ग्य का परस्पर विरोध निरुक्त में कई स्थानों पर प्रकट हुआ है। पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी में अपने पूर्व के १० व्याकरण-प्रवक्ताओं के नाम दिये हैं—आपिशलि (६।१।९२), काश्यप (१।२।२५), गार्ग्य (८।३।२०), गालव (७।१।७४), चाक्रवर्मण (६।१।१३०), भरद्वाज (७।२।६३), शाकटायन (३।४।१११), शाकल्य (१।१।१६), सेवक (५।४।११२) तथा स्फोटायन (६।१।१२२)। प्रातिशाख्यों में भी अनेक प्राक्-पाणिनि आचार्यों के नाम मिलते हैं, जिनके आधार पर युधिष्ठिर मीमांसक ने ८५ व्याकरण-प्रवक्ताओं को पाणिनि से पूर्ववर्ती माना है[२]। इन सभी आचार्यों ने अवश्य ही कुछ-न-कुछ योगदान कारक तथा विभक्ति के विषय में भी किया होगा, किन्तु सूचना-सामग्री के अभाव में सम्प्रति कुछ भी कहना कठिन है।

निरुक्तकार यास्क का मुख्य उद्देश्य यद्यपि व्याकरण के पदार्थों का विचार करना नहीं था, तथापि आनुषंगिक रूप से उन्होंने कतिपय संज्ञा-शब्दों का उल्लेख किया है[3]। पदभेद, शब्दों के धातुज-सिद्धान्त तथा निर्वचन के लिए तो यास्क का महत्त्व है ही। प्रथमाध्याय में 'त्व' शब्द के 'दृष्टव्यय' (विकारी शब्द) होने के उदाहरण में वे त्वः, त्वे तथा त्वस्मै के वैदिक प्रयोग दिखलाते हैं, जिनमें प्रथमा तथा चतुर्थी की विभक्तियाँ हैं। इसी प्रकार सप्तमाध्याय में ऋचाओं के तीन भेद करते हुए परोक्षकृत ऋचाओं का प्रयोग सभी सुप्-विभक्तियों में उन्होंने दिखलाया है[४]।

पाणिनि

कुल मिलाकर **पाणिनि** ही प्रथम उपलब्ध वैयाकरण हैं, जिन्होंने कारक तथा विभक्ति का पृथक्-पृथक् सम्यक् रूप से विचार किया। पाणिनि का समय पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में ३५० ई० पू० (उत्तर सीमा) से ७०० ई० पू० तक होता है, जब कि युधिष्ठिर मीमांसक महाभारत-काल के थोड़ा ही बाद २९०० (वि० पू०)

---

१. 'निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः। इन्द्रियनित्यं वचनमित्यौदुम्बरायणः'। —नि० १।१

'षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः'।—नि० १।३। 'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः'। —नि० १।२

२. द्रष्टव्य— सं० व्या० शा० इति०, भाग १, पृ० ६३।

३. द्रष्टव्य—हिन्दी निरुक्त (उमाशंकर शर्मा द्वारा सम्पादित), भूमिका २, पृ० ३१।

४. 'तत्र परोक्षकृता ऋचः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिः प्रयुज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य'। —निरुक्त ७।१

पाणिनि का समय मानते हैं, जो अनेक अन्तरंग तथा बहिरंग प्रमाणों पर आश्रित है[1]। इतना तो निश्चित ही है कि पाणिनि या तो बुद्ध से पूर्व होंगे या उनसे सर्वथा अपरिचित रूप में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में रहते होंगे। तथापि अनेक भारतीय विद्वानों की सम्मति है कि ५०० ई० पू० इनका समय मानना उचित है। पाणिनि ने लौकिक तथा वैदिक दोनों भाषाओं का एक संयुक्त व्याकरण अष्टाध्यायी के नाम से लिखा, जिसमें नामानुसार ८ अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में ४-४ पाद हैं। प्रायः ४००० सूत्रों में पाणिनि ने अपने सूक्ष्म किन्तु व्यापक दृष्टि का अनुपम प्रदर्शन किया है।

अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद में कारक-विषयक सूत्र दिये गये हैं, जो संख्या में ३३ हैं (१।४।२३-५५)। प्रथम सूत्र 'कारके' है, जिसके अधिकार में अपादान, सम्प्रदान, अधिकरण, कर्म तथा कर्ता—इस क्रम से कारकों का विवेचन हुआ है। इनमें कुछ कारकों से (जैसे—अपादान तथा सम्प्रदान) सम्बद्ध कई-कई सूत्र हैं। एक कारक के स्थान में दूसरे कारक के होने का विधान करने वाले सूत्र भी इनमें हैं; यथा—**'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म, अधिशीङ्स्थासां कर्म'** इत्यादि। पाणिनि के सूत्र संक्षिप्त होने पर भी दुर्बोध नहीं। इनमें एक शब्द भी निरर्थक नहीं है, प्रत्येक शब्द का अपना मूल्य है[2]। इन कारक-सूत्रों के पूरक के रूप में अष्टाध्यायी के द्वितीयाध्याय के तृतीय पाद में विभक्तियों का विचार किया गया है। ७३ सूत्रों का यह पूरा पाद ही विभक्ति-विचार को समर्पित है। इसमें 'अनभिहिते' के अधिकार में क्रमशः द्वितीया, चतुर्थी, तृतीया, पंचमी तथा सप्तमी विभक्तियों के प्रयोग-स्थलों का निदर्शन किया गया है। बीच-बीच में अनुवृत्ति की सुविधा देखकर एक विभक्ति के निरूपण में दूसरी विभक्तियों का भी प्रयोगस्थल प्रदर्शित हुआ है। यथा—**'कालाध्वनो-रत्यन्तसंयोगे'** के द्वारा होने वाली द्वितीया विभक्ति के साथ ही **'अपवर्गे तृतीया'** का भी निरूपण है। **'यस्य च भावेन भावलक्षणम्'** के द्वारा नियत सप्तमी विभक्ति के साथ **'षष्ठी चानादरे'** भी दिया गया है। इसके बाद अनभिहिताधिकार से भिन्न प्रातिपदिकार्थ मात्र में होनेवाली प्रथमा विभक्ति का विधान करके पाणिनि ने शेष-लक्षणा षष्ठी का निरूपण किया है। यह शेष उपर्युक्त क्रम की अपेक्षा रखने से ही समझा जा सकता है, क्योंकि जिन विषयों का निरूपण (कर्म में द्वितीया इत्यादि का) इस पाद में हो चुका है उनसे भिन्न स्थलों को ही शेष कहते हैं। हम प्रकरणान्तर में देखेंगे कि इसके दो भेद होते हैं—सम्बन्ध-सामान्य तथा कारकों की शेषत्व-

---

१. द्रष्टव्य—सं० व्या० शा० इति०, भाग १, पृ० १९७।

२. (क) 'तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं, किं पुनरियता सूत्रजालेन'।

—महाभाष्य १।१।१ पर

(ख) 'सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन्
पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्'।

—६।१।७७ पर

विवक्षा। अतः पाणिनि ने इस प्रकरण में विभिन्न कारकों की शेषत्व-विवक्षा के स्थलों का विस्तार से निरूपण किया है। ये वही स्थल हैं जो पाणिनि के समय में शेष-रूप में विवक्षित थे अर्थात् जिनमें क्रियायोग होने पर भी षष्ठी विभक्ति होती थी।

पाणिनि का कारक तथा विभक्ति-विषयक विचार इतना पूर्ण तथा सुव्यवस्थित है कि परवर्ती आचार्यों को इस विवेचन में पाणिनीय चिन्तन से सदैव दिशा-निर्देश मिला—वे आचार्य इसी सम्प्रदाय के हों या अन्य सम्प्रदायों के। चन्द्रादि इतर सम्प्रदायवालों ने पाणिनि के सूत्रों के आधार पर ही अपने सूत्रों की रचना की।

दाक्षायण व्याडि[1] दाक्षीपुत्र पाणिनि[2] के मामा थे[3]। इनका एक दार्शनिक ग्रन्थ 'संग्रह' नाम का था, जिसकी वैयाकरण-निकाय में पर्याप्त चर्चा थी, किन्तु दुर्भाग्यवश भर्तृहरि के समय तक इसका लोप हो गया था। इसके उद्धरण-मात्र यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं, जिनसे इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु का ईषत् अनुमान होता है। इन उद्धरणों की व्यापकता हमें यह मानने को विवश करती है कि कारक तथा विभक्ति के विषय में भी इसमें विशद विचार हुआ होगा। बहुत संभव है कि इन विचारों को पतंजलि ने महाभाष्य में तथा भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में समाविष्ट करने का प्रयास किया हो। जो कुछ भी हो, पर्याप्त प्रमाण-सामग्री के अभाव में सब कुछ कल्पना पर ही आश्रित है।

कात्यायन

पाणिनि के आविर्भाव के शीघ्र पश्चात् प्रायः ४०० ई० पू० में **कात्यायन** (नामान्तर—वररुचि) हुए, जिन्होंने अष्टाध्यायी के प्रमुख सूत्रों पर उक्त, अनुक्त तथा दुरुक्त के विचार के रूप में अपने वार्तिक लिखे, जिनकी पूरी संख्या प्रायः ५००० है। कारक के सूत्रों से सम्बद्ध (सं० १०७४ से ११२९ तक) ५६ वार्तिकों का निर्देश पतंजलि ने अपने भाष्य में किया है। इन वार्तिकों में सूत्र-सम्बन्धी अनेक आक्षेप तथा समाधान दिये गये हैं। यह समझना भ्रम है कि कात्यायन ने पाणिनि-सूत्रों का खण्डन किया है। वास्तविकता यह है कि भाषा के क्रमिक विकास के संदर्भ में कुछ संशोधन उन्होंने किये हैं। उदाहरणार्थ अपादान कारक में **'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्'** (सं० १०८९)—कुछ नियत धातुओं के योग में बौद्धापाय होने पर अपादान का विधान करता है। कुछ लोगों का विचार है कि महाभाष्य में उद्धृत सभी वार्तिक कात्यायन के ही नहीं हैं[4]। किन्तु यह भी सत्य है कि पतंजलि ने मुख्यतः कात्यायन के वार्तिकों को आधार मानकर ही अपना भाष्य लिखा।

विभक्ति के प्रकरण में भी वार्तिकों की एक बड़ी संख्या अष्टाध्यायी के सूत्रों की

---

१. 'शोभना खलु दाक्षायणस्य सङ्ग्रहस्य कृतिः'। —भाष्य २।३।६६
२. 'दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः'। —भाष्य १।१।२०
३. युधिष्ठिर मीमांसक, सं० व्या० शा० इति० १।१७९।
४. युधिष्ठिर मीमांसक, सं० व्या० शा० इति० १।२९३।

व्याख्या करती है (१४५९-१५५३)। यहाँ कुल ९५ वार्तिक हैं, जिनमें अनेक वार्तिक वास्तव में सूत्र में अनिर्दिष्ट अपूर्व विषय का विधान करते हैं। इन्हें परवर्ती पाणिनीयों ने अपने-अपने ग्रन्थों में समाविष्ट किया है। विषयवस्तु की दृष्टि से कात्यायन के वार्तिक दो प्रकार के है—न्यूनतापूरक (उपसंख्यान) वार्तिक तथा शंका-समाधानात्मक वार्तिक। भाष्यकार ने दोनों की सम्यक् समीक्षा की है, विशेषतः द्वितीय प्रकार के वार्तिकों के आधार पर उन्होंने अपने विवेचनों को उठाया है। शैली की दृष्टि से अधिकांश वार्तिक सूत्रात्मक हैं, किन्तु श्लोकात्मक वार्तिक भी हैं; जैसे—

'कथितेऽभिहिते त्वविधिस्त्वमतिर्गुणकर्मणि लादिविधिः सपरे।
ध्रुवचेष्टितयुक्तिषु चाप्यगुणे तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत'॥

(पा० १।४।५१ पर)

वार्तिक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, किसी-न-किसी सूत्र से इनका सम्बन्ध है। आज वार्तिकों के ज्ञान का एकमात्र साधन पातञ्जल महाभाष्य है। यह पतञ्जलि पर ही निर्भर है कि उन्होंने सभी वार्तिकों का विवेचन किया है या कुछ छोड़ भी दिये हैं।

पतञ्जलि

शुंगवंशीय राजा पुष्यमित्र (१५० ई० पू०) को यज्ञ कराने वाले[1] महावैयाकरण **पतञ्जलि** कात्यायन के अनन्तर सूत्र-वार्तिक के संयुक्त भाष्यकार के रूप में पाणिनि-तन्त्राकाश में सूर्य के समान प्रकट हुए। संस्कृत वाङ्मय में विद्यमान अन्य भाष्यों की शृंखला में अपने कतिपय विशिष्ट गुणों के कारण पातञ्जलभाष्य **महाभाष्य** कहा गया। महाभाष्य में पाणिनि के प्रमुख सूत्रों की तथा उन पर वर्तमान वार्तिकों की विशद व्याख्या तो है ही, अन्यान्य दार्शनिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सूचनाएँ देने के कारण भी इसका महत्त्व बढ़ गया है। भर्तृहरि[2] ने सभी न्यायबीजों (विद्या के स्रोतों) का आकर-ग्रन्थ इसे माना है। वस्तुस्थिति यह है कि पतञ्जलि ने पाणिनि-सूत्रों की व्याख्या के व्याज से अपने समस्त पूर्ववर्ती वैयाकरणों के प्रमुख विचारों को भाष्य में निविष्ट किया है, जिन्हें सुगम बनाने के लिए रोचक आख्यान भी दिये हैं। इसी से यह एक आकर-ग्रन्थ बन गया है। इतनी विषय-बहुलता होने पर भी भाष्य की शैली अत्यन्त ही परिमार्जित एवं सरल है। विधेय शिष्यों के समक्ष गुरु

---

१. पतञ्जलि के काल की सूचना देनेवाले अन्तरङ्ग प्रमाण-वाक्य निम्न हैं—'अनुशोणं पाटलिपुत्रम् (२।१।१५), मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः (५।३।९९), अरुणद् यवनः साकेतम्—अरुणद् यवनो माध्यमिकाम् (३।२।१११), पुष्यमित्रसभा चन्द्रगुप्तसभा (१।१।६८), पुष्यमित्रो यजते—याजका याजयन्ति (३।१।२६), इह पुष्यमित्रं याजयामः' (३।२।१२३)।

२. 'कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने'॥ —वा० प० २।४७९

जैसी सरल तथा ऋजु भाषा का प्रयोग प्रवचन-काल में करता है वही भाषा हमें पतञ्जलि में मिलती है। इनका भाष्य प्रायः समान परिमाण के आह्निकों में विभक्त है।

प्रथमाध्याय चतुर्थ पाद का तृतीयाह्निक कारकमात्र का विचार करता है। इसीलिए इसे कारकाह्निक कहते हैं। यद्यपि इसमें सभी कारकसूत्रों पर विचार नहीं किया गया है तथापि जितने सूत्र भी व्याख्यात हुए हैं वे पर्याप्त दार्शनिक विवेचन से परिपूर्ण हैं[१]। सम्प्रति कारक-विषयक पाणिनि के ३३ सूत्रों में से केवल २० पर भाष्य उपलब्ध है। अपादान-संज्ञा का विधान करने वाले सभी सूत्र व्याख्यात हुए हैं, किन्तु सम्प्रदान के विधायक सूत्रों में प्रथम सूत्र के अतिरिक्त केवल एक ही सूत्र भाष्य में स्थान पा सका है। अपादान में बहुत यत्न से पतंजलि ने प्रमुख सूत्रों के अन्तर्गत ही सभी योगों की व्याख्या की है तथा अन्य सूत्रों से निर्दिष्ट योगों को बौद्ध (बुद्धि-स्थ) अपाय के अन्तर्गत रखा है। 'कारके' तथा 'अकथितं च' की व्याख्या अपेक्षाकृत लम्बी है, जिनमें क्रमशः ४ तथा ५ अधिकरणों के अन्तर्गत विषय-विचार सम्पन्न हुआ है।

कारक तथा विभक्ति का पृथक् निरूपण

इन कारकों को अभिव्यक्त करने वाली विभक्तियों का विचार भाष्य में द्वितीया-ध्याय के तृतीय पाद में हुआ है। इसमें तीन आह्निक हैं। इनमें ४३ सूत्रों तथा ९५ वार्तिकों की व्याख्या हुई है। विभक्त्यर्थ-विचार वाले इस पाद में भाष्यकार ने सूत्र-वार्तिक की व्याख्या के अतिरिक्त भी तात्कालिक विभक्ति-प्रयोग दिखलाये हैं। विशेषतः 'अनभिहित' शब्द के विवेचन में स्वतंत्र रूप से भाष्यकार ने व्याकरण-विषयक अनेक सूचनाएँ दी हैं।

इन तीन आचार्यों को पाणिनितन्त्र में 'त्रिमुनि' के द्वारा अभिहित किया गया है। कभी-कभी तो त्रिमुनि तथा व्याकरणशास्त्र को अभिन्न रखकर **'त्रिमुनिव्या-करणम्'** तक कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इन तीनों ने मिलकर इस सम्प्रदाय के उपजीव्य ग्रन्थों का निर्माण किया, जिन पर अन्यान्य विद्वानों ने अपनी-अपनी टीकाएँ लिखीं अथवा जिन्हें आधार बनाकर दूसरे ग्रन्थ लिखे। पतंजलि के समय में ही संस्कृत भाषा शिष्टमात्र की भाषा रह गयी थी, लोक में प्राकृतों का प्रयोग होने लगा था। शिष्टों की भाषा में परिवर्तन का अल्प अवकाश था, क्योंकि ये उच्चारण, साधु-प्रयोग इत्यादि पर बहुत अधिक ध्यान देकर भाषा की एकरूपता

---

१. युधिष्ठिर मीमांसक ने महाभाष्य के लुप्त होने का सिद्धान्त भर्तृहरि (वा० प० २।४८२-३) के प्रामाण्य पर स्वीकार किया है। इसका उद्धार बड़े प्रयत्न से चन्द्राचार्य ने किया था। सम्भव है इसी क्रम में अन्य सूत्रों की व्याख्या लुप्त हो गयी हो। अन्य भाष्यकारों के समान पतंजलि ने भी सभी सूत्रों पर भाष्य किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

बनाये रखना चाहते थे। तदनुसार पतंजलि के साथ ही संस्कृत भाषा का परिनिष्ठित रूप निर्धारित हो गया था तथा विकासशील भाषा के नूतन प्रयोगों को अन्तर्भूत करने के लिए जिस प्रकार निरन्तर नये-नये व्याकरणों के लिखे जाने की आवश्यकता होती है वैसी आवश्यकता अब संस्कृत को नहीं थी, क्योंकि भाषा का स्वरूप निश्चित हो गया था। ध्वनि, शब्दरूप तथा वाक्यरचना—इन तत्त्वों में स्थिरता आ गयी थी। नयी जातियों तथा सभ्यताओं के संपर्क से अथवा ज्ञान-विज्ञान के विकास से संस्कृत भाषा के शब्दकोश में वृद्धि का अवकाश अवश्य था। ये नये शब्द यदि संस्कृत के प्रकृति-प्रत्यय के आधार पर बने हों तब तो कोई बात ही नहीं, किन्तु यदि संस्कृतेतर मूल के भी रहे हों तो भी उनका 'संस्कृतीकरण' हो गया—संस्कृत-भाषा का रूप उन्हें ग्रहण करना पड़ा, संस्कृत उन्हें पचा गयी।

ऐसे समय में भाषा के प्रयोग-पक्ष (बहिरंग) की अपेक्षा उसके अर्थपक्ष या दार्शनिक पक्ष (अंतरंग) के चिन्तन का भी साथ-ही-साथ क्रम चला। स्फोटायन तथा व्याडि की परम्परा में पतंजलि थे, जिन्होंने शब्द की नित्यता तथा अभिव्यंग्यता पर विचार करके द्रव्य, गुण, क्रिया, दिक्, जाति, काल इत्यादि दार्शनिक तत्त्वों का भी यथावसर निरूपण किया। कारक-विषयक तत्त्व-चिन्तन में भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है, जिसका निर्देश हम विभिन्न प्रकरणों में करेंगे।

भर्तृहरि के वाक्यपदीय में कारक-विचार

उपलब्ध ग्रन्थों के रूप में महाभाष्य के अनन्तर द्विविध साहित्य व्याकरणशास्त्र में मिलता है। एक तो वह, जिसमें भाषा के बहिरंग का विश्लेषण हुआ है, दूसरा वह, जो इसके अन्तरंग से सम्बद्ध है। प्रथम कोटि के साहित्य में अष्टाध्यायी की वृत्तियों तथा प्रक्रिया-ग्रन्थों की परम्परा है तो दूसरी कोटि में वाक्यपदीय आदि दार्शनिक ग्रन्थ आते हैं। संख्या की दृष्टि से प्रथम प्रकार के ग्रन्थ ही अधिक हैं।

दूसरे प्रकार के ग्रन्थों में **वाक्यपदीय** का स्थान पाणिनितन्त्र में बहुत अभ्यर्हित है। इसके लेखक भर्तृहरि हैं, जिन्होंने भाष्य पर दीपिका-व्याख्या के अतिरिक्त वाक्यपदीय के प्रथम दो काण्डों पर स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी थी। इनका आविर्भाव-काल अनेक विवादों से परिपूर्ण है। युधिष्ठिर मीमांसक इन्हें ४०० वि० से पूर्व मानते हैं[१]। भर्तृहरि महाभाष्य के अनन्तर तथा काशिका के पूर्व हैं, क्योंकि जयादित्य (६५० ई०) ने काशिका (४।३।८८) में वाक्यपदीय का उल्लेख किया है। इस प्रकार प्रायः आठ शताब्दियों के अन्तराल में भर्तृहरि की पूर्वोत्तरकाल-सीमाएँ हैं। दिङ्नाग (४८०-५४० ई०) ने अपनी त्रैकाल्य-परीक्षा (श्लोक ३१-२) में भर्तृहरि की स्वोपज्ञ-टीका (१।१) की दो कारिकाओं का उद्धरण दिया है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि भर्तृहरि दिङ्नाग के वरीय समसामयिक होंगे[२]। योगसूत्र (३।१७)

---

१. सं० व्या० शा० इति० १, पृ० ३३८।

२. वाक्यपदीय, सं० अभ्यंकर-लिमये, पूना १९६५, पृ० ३५२।

के व्यासभाष्य में भी वाक्यपदीय (२।४०) की ध्वनि होने से व्यास (४००-५०० ई०)[१] के पूर्ववर्ती भर्तृहरि सिद्ध होते हैं। इन प्रमाणों के आधार पर ४०० ई० के निकट भर्तृहरि का आविर्भाव-काल माना जा सकता है। ये ब्राह्मण-मतावलम्बी तथा वसुरात के शिष्य थे।

इनकी महाभाष्य-दीपिका का एकमात्र हस्तलेख १।१।५५ सूत्र तक प्राप्त हुआ है, जो बर्लिन के पुस्तकालय में है। भर्तृहरि ने सम्भवतः प्रथम तीन पादों पर भाष्य की व्याख्या लिखी थी, जिसके उद्धरण यत्र-तत्र मिलते हैं। किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक ने स्वयं भर्तृहरि के तथा अन्य विद्वानों के वचनों से यह प्रमाणित किया है कि आगे भी भाष्य-दीपिका लिखी गयी थी[२]।

भर्तृहरि के वाक्यपदीय ने इन्हें दार्शनिकों की पंक्ति में प्रतिष्ठित किया। अपने गुरु वसुरात द्वारा उपदिष्ट व्याकरणागम के आधार पर उन्होंने इसे लिखा था। इसमें तीन काण्ड हैं—ब्रह्म(आगम)काण्ड, वाक्यकाण्ड तथा पद(प्रकीर्ण)काण्ड। वाक्य तथा पद का मुख्य रूप से विचार करने के कारण इसे उक्त नाम दिया गया। यह पूरा ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्द में है। इसके प्रथम एवं द्वितीय काण्डों में क्रमशः १५६ तथा ४८७ कारिकाएँ हैं। इन दोनों काण्डों पर भर्तृहरि की स्वोपज्ञवृत्ति भी है। प्रथम काण्ड पर वृषभदेव की भी व्याख्या है, जिसका प्रकाशन पं० चारुदेव शास्त्री ने किया था। प्रथम दो काण्डों पर पुण्यराज की अनतिविस्तीर्ण किन्तु स्पष्ट व्याख्या प्राप्त है[3]। सम्भवतः हेलाराज ने भी प्रथम दोनों काण्डों की व्याख्या लिखी थी,[४] किन्तु इस समय वह उपलब्ध नहीं है। हेलाराज तथा पुण्यराज दोनों समसामयिक थे (काल १०५० ई०)। हो सकता है कि ये एक ही वंश के हों तथा दोनों ने अपना कार्य-विभाग करके व्याख्या लिखी हो।

वाक्यपदीय का तृतीय काण्ड अनेक विषयों का विचार करता है तथा विषयों के आधार पर ही समुद्देशों में विभक्त है। ये समुद्देश निम्न हैं—१. जातिसमुद्देश (श्लोक १०६)। २. द्रव्यसमुद्देश (१८)। ३. सम्बन्धसमुद्देश (८८)। ४. भूयोद्रव्य-समुद्देश (३)। ५. गुणसमुद्देश (९)। ६. दिक्समुद्देश (२८)। ७. साधन-समुद्देश (१६७)। ८. क्रियासमुद्देश (६४)। ९. कालसमुद्देश (११४)।

---

1. P. V. Kane, History of Dharmashastra, Vol. V part II, p. XIII.

२. सं० व्या० शा० इति० १।३५४।

३. पं० रघुनाथ शर्मा की संस्कृत व्याख्या (अम्बाकर्त्री) के साथ सम्पूर्ण वाक्य-पदीय ४ खण्डों में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित है।

४. तृतीय काण्ड की प्रकाश-व्याख्या का मंगलश्लोक—

'काण्डद्वये यथावृत्ति सिद्धान्तार्थसतत्त्वतः।
प्रबन्धो विहितोऽस्माभिरागमार्थानुसारिभिः'॥

१०. पुरुषसमुद्देश (९)। ११. संख्यासमुद्देश (३२)। १२. उपग्रह(आत्मनेपद-परस्मैपद)समुद्देश (२७)। १३. लिङ्गसमुद्देश (३१)। १४. वृत्तिसमुद्देश (६२७)। नाम से ही इन समुद्देशों की विषय-वस्तु स्पष्ट है। इस पूरे तृतीय काण्ड पर हेलाराज की सुविस्तृत व्याख्या है, जो कई स्थानों पर भर्तृहरि से मतभेद रखने पर भी वाक्यपदीय को समझने में अत्युपयोगी है। हेलाराज बहुधा भर्तृहरि के तात्पर्य-प्रकाशन में अनेक ग्रन्थों के प्रमाण देते हैं।

इन समुद्देशों में सप्तम **साधनसमुद्देश** है, जिसमें भर्तृहरि के कारक-विषयक विचार प्रकट हुए हैं। भर्तृहरि कारक को शक्ति या साधन मानते हैं, इसलिए इसे साधनसमुद्देश कहते हैं। प्रस्तुत अध्ययन के क्रम में इसकी प्रासंगिकता होने के कारण इसकी विषयवस्तु का निरूपण अनिवार्य है। इसके आरम्भ में कारक (साधन) का लक्षण देकर विवक्षा की व्यापकता, शक्ति का विश्लेषण, विभक्तियों की संख्या इत्यादि विषयों का ४४ कारिकाओं में विचार किया गया है। तदनन्तर विभिन्न कारकों के अधिकार चलते हैं। प्रत्येक कारक का लक्षण तथा भेद सम्यक् निरूपित है। कारकों के विवेचन का क्रम इस प्रकार है—१. कर्म (४५-८९), जिसके प्रसंग में सकर्मक तथा अकर्मक धातुओं का भी संक्षिप्त विचार हुआ है, २. करण (९०-१००), ३. कर्त्ता (१०१-१२४), ४. हेतु (१२५-८), ५. सम्प्रदान (१२९-३५), ६. अपादान (१३६-४७), ७. अधिकरण (१४८-५५)। अन्त में शेषाधिकार (१५६-६२) तथा सम्बोधनादि का संक्षिप्त विचार (१६४-७) किया गया है।

सर्वप्रथम वाक्यपदीय में ही कारक-तत्त्वचिन्तन को दार्शनिक रंग मिला है। पाणिनीय दर्शन के समस्त परवर्ती विचारों का उपजीव्य यही है। यही कारण है कि माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में पाणिनि-दर्शन का विवेचन करते हुए वाक्यपदीय के ही उद्धरणों को प्रमाण-रूप से उपन्यस्त किया है।

काशिकावृत्ति

अष्टाध्यायी की प्रायः ४५ वृत्तियों के उल्लेख मिलते हैं[1]। इनमें वामन-जयादित्य के द्वारा रचित काशिका (६५० ई०), शरणदेव (११७० ई०) की दुर्घटवृत्ति, भट्टोजिदीक्षित (१५८० ई०) का शब्दकौस्तुभ, अन्नम्भट्ट (१६०० ई०) की पाणिनीय-मिताक्षरा, अप्पयदीक्षित (१६०० ई०) का अभी तक अप्रकाशित 'सूत्र-प्रकाश' तथा विश्वेश्वरसूरि-विरचित (१६०० ई०) व्याकरण-सिद्धान्तसुधानिधि प्रसिद्ध तथा प्राप्य वृत्तियाँ हैं।

इनमें **काशिकावृत्ति** सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर प्राचीनतम प्राप्य वृत्ति है। पतञ्जलि ने जो व्याख्यान का लक्षण किया है[2] उसके अनुसार

१. युधिष्ठिर मीमांसक, सं० व्या० शा० इति०, १।४०१-४६२।

२. 'न केवलं चर्चापदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः, आत्, ऐच् इति। किं तर्हि ? उदाहरणं, प्रत्युदाहरणं, वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति'।—भाष्य १।१।१

उदाहरण, प्रत्युदाहरण तथा सूत्रों से वाक्य बनाकर पूरा अर्थ देने का क्रम काशिका में बहुत अच्छी तरह से प्रकट हुआ है। अत्यन्त प्रौढ़ता से काशिका के लेखकों ने इसमें प्रत्येक सूत्र की अनुवृत्ति, वृत्ति, उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण शंका-समाधान का निर्देश करते हुए दिखलाया है। चन्द्रगोमी के द्वारा चान्द्रव्याकरण में उठायी गयी शंकाओं की भी कतिपय स्थलों पर इसमें विवेचना की गयी है। यही कारण है कि भाष्य में अनुक्त विषयों का भी इसमें प्रतिपादन हुआ है। गणपाठ का समावेश भी काशिका की अपनी विशेषता है। भाष्य में विवेचित, भाषा के बहिरंग-पक्ष से सम्बद्ध, अत्यन्त उपयोगी वार्तिकों को भी काशिका में स्थान मिला है तथा उनकी सूत्रवत् वृत्ति नहीं देने पर भी उदाहरण-प्रत्युदाहरण से उन्हें स्पष्ट किया गया है। कुल मिलाकर काशिका में समस्त उपयोगी तथा सामान्यतया ज्ञातव्य विषयों का संकलन है।

काशिका दो लेखकों की संयुक्त कृति है। ये हैं—जयादित्य तथा वामन। काशिका की शैली तथा प्राचीन ग्रन्थकारों के उद्धरणों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि प्रथम पाँच अध्यायों पर जयादित्य ने तथा अन्तिम तीन अध्यायों पर वामन ने वृत्ति लिखी थी। इन दोनों का समय अनुमानतः ६५० ई० है, क्योंकि इत्सिंग के निर्देशानुसार ६६१ ई० में जयादित्य की मृत्यु हुई थी। इसके अतिरिक्त जयादित्य ने काशिका (१।३।२३) में किरातार्जुनीय (३।१४) का एक श्लोकांश उद्धृत किया है—**'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः'**। भारवि का काल (प्रायः ५०० ई०) काशिका की पूर्व कालसीमा है।

काशिका की दो सुप्रसिद्ध व्याख्याएँ हैं—**जिनेन्द्रबुद्धि-कृत न्यास** (या काशिका-विवरणपञ्जिका) तथा **हरदत्त-कृत पदमञ्जरी**। जिनेन्द्रबुद्धि बौद्धाचार्य थे, जिनका समय काशिका के समीप ही है। न्यास के प्रथम सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने इसका समय ७२५-७५० ई० माना है। इनकी शैली अत्यन्त सरल तो है ही, काशिका के प्रत्येक शब्द की आवृत्ति करने के कारण काशिका के पाठ-निरूपण में भी इसका बड़ा महत्त्व है। हरदत्त की पदमञ्जरी न्यास की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है। यह कैयट के भाष्य-प्रदीप के आधार पर निर्मित है। हरदत्त का काल प्रायः १०५० ई० है। स्वकथनानुसार ये द्रविड़ प्रदेश के निवासी थे। व्याकरण के अतिरिक्त कल्पसूत्रों पर भी इन्होंने व्याख्या लिखी थी। इनका स्वाभिमान कई स्थानों पर प्रकट हुआ है[1]। काशी से काशिका के साथ-साथ न्यास-पदमञ्जरी दोनों टीकाओं का प्रकाशन अध्याय-यशः अलग-अलग खण्डों में हुआ है।

महाभाष्य की व्याख्याओं में समग्ररूप से उपलब्ध सर्वप्रथम व्याख्या **कैयट-**

---

१. 'एवं प्रकटितोऽस्माभिर्भाष्ये परिचयः पर।
तस्य निःशेषतो मन्ये प्रतिपत्तापि दुर्लभः' ॥ ---१।१।३ के अन्त में
'प्रक्रियातर्कगहनप्रविष्टो हृष्टमानसः।
हरदत्तहरिः स्वैरं विहरन् केन वार्यते' ॥ —१।१।५ में

विरचित **'प्रदीप'** है। प्रदीप की पुष्पिकाओं के अनुसार कैयट के पिता का नाम जैयट था। ये काश्मीर के निवासी थे। हरदत्त ने पदमञ्जरी-व्याख्या में इनका बहुशः अनुकरण किया है[1]। इससे इनका समय प्रायः १००० ई० सिद्ध होता है। **महाभाष्य-प्रदीप** अत्यन्त प्रौढ तथा विस्तीर्ण व्याख्या है। कैयट के अनुसार यह भर्तृहरि-निर्मित सेतु पर आश्रित है (तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना)। किन्तु उन्होंने प्रदीप में 'दीपिका' का एक ही स्थान पर संकेत किया है कि व्याकरण का ऊहरूप प्रयोजन भर्तृहरि ने सविस्तर प्रदर्शित किया है। वाक्यपदीय के शताधिक उद्धरण कैयट ने दिये हैं, अतः ग्रन्थसेतु से उनका तात्पर्य वाक्यपदीय से ही प्रतीत होता है। महाभाष्य के सम्यक् बोध के लिए कैयट का प्रदीप सम्प्रति एकमात्र साधन है, जिसमें अनेक उपपत्तियों से भाष्य के गम्भीराशय को प्रकट किया गया है।

प्रदीप के अतिरिक्त भी भाष्य की प्रायः २० व्याख्याओं की सूचना मिलती है, जिनमें कुछ की अंशतः उपलब्धि भी हुई है। प्रदीप पर भी प्रायः १५ व्याख्याओं का पता लगता है, जिनमें अन्नम्भट्ट तथा नागेश की टीकाएँ अति प्रसिद्ध हैं। इनका विवेचन हम आगे करेंगे।

बंगाल में पाणिनीय व्याकरण

पाणिनि से अर्वाचीन दूसरे सम्प्रदायों के आविर्भाव के पूर्व बंगाल में पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन की सुदृढ़ परम्परा थी। काशिका तथा उस पर लिखी गयी पंजिका (न्यास) का प्रचार पूरे प्रदेश में था। इन्हीं को उपजीव्य मानकर वहाँ अनेक ग्रन्थ लिखे गये। जैसे—भागवृत्ति (८५० ई०, अप्राप्य), मैत्रेयरक्षित (१०७५-११२५ ई०) के धातुप्रदीप तथा तन्त्रप्रदीप (न्यास की टीका) इत्यादि[2]। इसी परम्परा में पुरुषोत्तमदेव का आविर्भाव महत्त्वपूर्ण है, जिन्होंने भाषावृत्ति के द्वारा अद्वितीय कीर्ति पायी। यह संक्षिप्त अष्टाध्यायी की टीका है। इसका अध्ययन बंगाल में अभी तक होता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने परिभाषावृत्ति, ज्ञापकसमुच्चय, कारक-चक्र तथा महाभाष्य की (अधूरी) टीका भी लिखी थी। कारकचक्र अत्यन्त सरल भाषा में लिखी हुई पुस्तक है। इन कृतियों का प्रकाशन वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी की ओर से राजशाही (अब बांग्ला देश में) से हुआ था। पुरुषोत्तम का समय दीनेश-चन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार प्रायः ११७० ई० है, क्योंकि इन्होंने मैत्रेयरक्षित का उद्धरण दिया है तथा स्वयं अमरकोश के एक टीकाकार सुभूतिचन्द्र (११७५ ई०) के द्वारा उद्धृत हैं। शरणदेव (१२०० ई०) की दुर्घटवृत्ति भी बंगाल की ही देन है। ये सुप्रसिद्ध महाराज लक्ष्मणसेन के सभासद् थे।

---

१. युधिष्ठिर मीमांसक, सं० व्या० शा० इति०, १।३६६।

२. द्रष्टव्य—परिभाषावृत्ति, ज्ञापकसमुच्चय, कारकचक्र (सं०—दीनेशचन्द्र भट्टाचार्य)—वारेन्द्र रिसर्च म्यूजियम, राजशाही १९४६। भूमिका—पृ० ५-३६।

प्रक्रिया-ग्रन्थों का उद्भव तथा विकास

प्रक्रिया-ग्रन्थस्वरूप

आंशिक रूप से व्याकरण पढ़नेवाले विद्यार्थियों के अध्ययन-क्रम को ध्यान में रखकर प्रक्रिया-ग्रन्थों का आरम्भ संस्कृत-व्याकरण में हुआ। इसी प्रणाली के अनुसार समस्त व्याकरण को प्रकरणों में विभक्त किया गया। यथा—सन्धि, सुबन्त, तिङन्त, कारक, समास, कृदन्त, तद्धित इत्यादि। इनमें किसी भी एक या तदधिक प्रकरण के अध्ययन से उतने विषय का ज्ञान हो जाता है। अष्टाध्यायी-प्रभृति 'यथाशास्त्र' प्रणाली में प्रकरण-विभाग न होकर अधिकरण-विभाग हुआ है, जिससे सम्पूर्ण ग्रन्थ के अध्ययन की आवश्यकता होती है। किसी एक अंश के अध्ययन से किसी भी प्रकरण का ज्ञान नहीं होता। उदाहरणार्थ कारक तथा विभक्ति के विचार अष्टाध्यायी में विभिन्न अध्यायों में हुए हैं, किन्तु प्रक्रिया-ग्रन्थों में प्रकरण का नाम 'विभक्त्यर्थ' या 'कारक-प्रकरण' रखकर दोनों को समाविष्ट कर लिया गया है। आंशिक अध्ययन के लिए प्रक्रिया-प्रणाली भले ही उपयुक्त हो, किन्तु जहाँ भाषा के सभी अंगों के ज्ञान का प्रश्न हो वहाँ 'यथाशास्त्र-प्रणाली' परमोपयोगी है।

व्याकरण के अध्ययन में अल्पकाल लगाकर शास्त्रान्तर में प्रविष्ट होनेवाले या शीघ्र गृहस्थाश्रम में जानेवाले लोगों में प्रक्रिया-ग्रन्थों का बहुत प्रचार हुआ, क्योंकि वे व्याकरण के अत्यन्त आवश्यक भागों को पढ़कर ही संस्कृत समझने तथा बोलने की साधारण योग्यता पा जाने से कार्यान्तर में लग जाते थे। व्याकरण में कौन-कौन आवश्यक भाग हैं, इनका निर्णय करने में प्रक्रिया-ग्रन्थकारों ने अपनी समस्त बुद्धि लगायी तथा इसके परिणामस्वरूप अनेकानेक संक्षिप्त ग्रन्थ व्याकरण के क्षेत्र में आये। एक ओर अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों का उपयोग करनेवाली सिद्धान्तकौमुदी लिखी गयी तो दूसरी ओर केवल ७०० सूत्रों में समाप्त होनेवाली सारसिद्धान्तकौमुदी भी प्रकाशित हुई। प्रक्रिया-ग्रन्थों का प्रेरणा-स्रोत शर्ववर्मा का कातन्त्रव्याकरण है, जो पतञ्जलि के आविर्भाव-काल के तुरंत ही बाद दक्षिण में प्रचारित हुआ था। इसका अत्यधिक प्रचार देखकर पाणिनितन्त्र में भी अष्टाध्यायी के सूत्रों का आश्रय लेकर प्रक्रिया-ग्रन्थों की रचना आरम्भ हुई।

रूपावतार

पाणिनितन्त्र का प्रथम प्रक्रिया-ग्रन्थ धर्मकीर्ति (१०८० ई०) का **रूपावतार** है, जिसमें अष्टाध्यायी के प्रत्येक प्रकरण के उपयोगी सूत्रों की शब्द-साधुत्व की दृष्टि से व्याख्या की गयी है। अष्टाध्यायी के २६६४ सूत्र इसमें आये हैं। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में संज्ञा, संहिता, सुबन्त, अव्यय, स्त्रीप्रत्यय, कारक, समास तथा तद्धित के प्रकरण हैं। द्वितीय भाग में दस लकारों, दस प्रक्रियाओं तथा कृदन्त का निरूपण है[1]। शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति में (रचनाकाल ११७३ ई०) धर्मकीर्ति तथा रूपावतार

---

१. पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा सम्पादित काशिका का उपोद्घात, पृ० ८।

दोनों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार हेमचन्द्र ने (१०८८-११७२ ई०) अपने लिङ्गानुशासन की स्वोपज्ञवृत्ति में दोनों के नाम लिये हैं। दूसरी ओर धर्मकीर्ति ने रूपावतार में पदमञ्जरीकार हरदत्त (१०५० ई०) का नाम लिया है। अतः रूपावतार का रचनाकाल दोनों सीमाओं के मध्य १०८० ई० में रखा जा सकता है। धर्मकीर्ति बौद्ध भिक्षु थे।

रूपमाला

प्रक्रिया-क्रम में दूसरा उपलब्ध ग्रन्थ विमल सरस्वती (१३४० ई०) की **रूपमाला** है, जिसमें १७ प्रकरणों में विषय-विभाग किया गया है। इसके ११वें प्रकरण में कारक का विवेचन है।

प्रक्रियाकौमुदी

रामचन्द्र ने **प्रक्रियाकौमुदी** लिखी, जिसमें स्वरवैदिक-प्रकरण मिलाकर २४७० सूत्रों की अपेक्षाकृत विस्तृत व्याख्या की गयी है। यही ग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी का आदर्श है, ऐसा प्रतीत होता है। रामचन्द्र के कथनानुसार यह प्रक्रियाकौमुदी पाणिनि-शास्त्र में प्रवेश कराने के लिए लिखी गयी थी, साध्य के रूप में नहीं। शब्दों का साधुत्व-ज्ञान कराना इसका मुख्य प्रयोजन है। रामचन्द्र सुप्रसिद्ध शेषवंश में[1] उत्पन्न हुए थे। इस वंश से सम्बन्ध रखनेवालों ने अनेक व्याकरण-ग्रन्थ लिखे। रामचन्द्र के पौत्र विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रसाद' नामक टीका लिखी थी, जिसका प्राचीनतम हस्तलेख (लन्दन के इण्डिया ऑफिस में सुरक्षित) सं० १५३६ वि० अर्थात् १४७९ ई० का है। इसके आधार पर विट्ठल का समय १४७० ई० तथा रामचन्द्र का इससे कुछ पूर्व प्रायः १४२० ई० माना जा सकता है। विट्ठल के अतिरिक्त शेषकृष्ण ने भी प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रकाश' नाम से एक व्याख्या लिखी थी। इसकी पाण्डुलिपि का समय १४५७ ई० (१५१४ वि०) है। इस आधार पर इस टीका का समय १४५० ई० हो सकता है। भट्टोजिदीक्षित शेषकृष्ण के ही शिष्य थे। अनुमान होता है कि शेषकृष्ण ने उक्त टीका अपने यौवन काल में लिखी थी तथा भट्टोजि इनके अन्तिम काल के छात्र रहे होंगे। प्रक्रियाकौमुदीकार रामचन्द्र विट्ठल के पितामह तथा शेषकृष्ण के पितृव्य थे। शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर के तीन प्रसिद्ध शिष्य हुए—विट्ठल (प्रसाद-व्याख्याकार), पण्डितराज जगन्नाथ तथा चक्रपाणिदत्त। इन्होंने विभिन्न विद्या-क्षेत्रों में यश पाया।

भट्टोजिदीक्षित के ग्रन्थ

पाणिनितन्त्र में **भट्टोजिदीक्षित** का उदय एक विशिष्ट महत्त्व रखता है, क्योंकि इन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा तथा प्रखर आलोचना-शक्ति का परिचय देते हुए अनेक ग्रन्थ लिखे। उपर्युक्त हस्तलिपियों के आधार पर इनका समय १४९०-१५८० ई० के

---

१. सं० व्या० शा० इति० १; पृ० ३७८ पर दिया गया वंशवृक्ष।

बीच स्थिर होता है। पण्डितराज जगन्नाथ की 'मनोरमा-कुचमर्दिनी' टीका के अनुसार दीक्षित ने शेषकृष्ण से बहुत दिनों तक विद्याभ्यास किया था, किन्तु उनका देहान्त हो जाने पर उनके प्रक्रिया-प्रकाश की निन्दा मनोरमा में की थी, जिसके खण्डनार्थ जगन्नाथ ने उक्त कुचमर्दिनी लिखी थी। मनोरमा का खण्डन स्वयं वीरेश्वर (शेष-कृष्ण के पुत्र) ने तो किया ही था; चक्रपाणिदत्त से भी यही काम कराकर पितृ-ऋण का विधिवत् शोध किया। प्रतीत होता है कि भट्टोजिदीक्षित उग्र तथा असहिष्णु स्वभाव के विद्वान् थे[1]। दीक्षित का वंशवृक्ष इस प्रकार है—
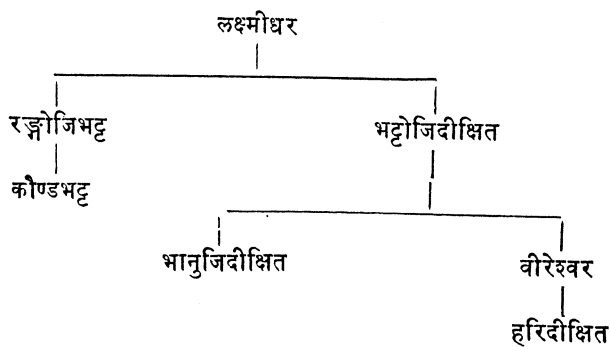
रङ्गोजिभट्ट भट्टोजिदीक्षित के अनुज थे। ये लोग महाराष्ट्र के मूल निवासी थे, किन्तु विद्याप्रसंग से काशी में बस गये थे।

भट्टोजिदीक्षित ३४ ग्रन्थों के लेखक माने गये हैं,[2] किन्तु इनके सुविदित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

(१) **शब्दकौस्तुभ**—यह ग्रन्थ अष्टाध्यायी की विशद वृत्ति है जिसमें पतञ्जलि, कैयट तथा हरदत्त के विचारों का दीक्षित ने अपने शब्दों में सार-संग्रह किया है। यह वृत्ति आरम्भ में अधिक विस्तृत है, किन्तु क्रमशः छोटी होती गयी है। इस समय यह सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं होती—आरम्भ के २½ अध्याय तथा चतुर्थ अध्याय ही प्राप्त

---

१. तुलनीय—

(क) 'मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य च'। (सि० कौ०, मंगल)

(ख) 'वृत्तिकारोक्तिः प्रामादिकी'। (सि० कौ०, वैदिकप्रकरण)

(ग) प्रौढमनोरमा, पृ० १४-१५—'यदप्युपदिश्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या शास्त्र-मुपदेशः इति भाष्यवृत्त्यादिषु व्याख्यातं, तथापि तत्प्रौढिवादमात्रम्। करणे घञो दुर्लभत्वात्'।

(घ) मनोरमाकुचमर्दिनी, मंगलश्लोक—

'पण्डितेन्द्रो जगन्नाथः स्यति गर्वं गुरुद्रुहाम्'।

२. वेदभाष्यसार (भट्टोजिदीक्षितकृत), भारतीय विद्याभवन, अंग्रेजी भूमिका, पृ० १ टि० ३।

हुए हैं जो काशी से प्रकाशित हैं। इस ग्रन्थ में पूर्वाचार्यों का संग्रह होने पर भी दीक्षित का पाण्डित्य-प्रकर्ष झलकता है। कई स्थलों पर विवेचन के लिए इन्होंने नव्य-न्याय की शब्दावली का भी प्रयोग किया है, जो पाणिनितन्त्र में पहली बार हुआ है। शब्दकौस्तुभ के प्रथम पाद पर नागेश, वैद्यनाथ, कृष्णमित्र आदि छह विद्वानों ने अपनी-अपनी टीकाएँ लिखी थीं—ऐसा ऑफ्रेक्ट के सूचीपत्र से ज्ञात होता है, किन्तु इनमें अभी कोई भी उपलब्ध नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ का भी खण्डन किया था[1]।

(२) **सिद्धान्तकौमुदी**—३९७८ सूत्रों की व्याख्या के रूप में यह सर्वज्ञात प्रक्रिया-ग्रन्थ है। इसमें पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दो खण्ड हैं। पूर्वार्ध में संज्ञा एवं सन्धि के अतिरिक्त संज्ञाशब्द तथा उससे सम्बद्ध विषयों का (शब्दरूप, स्त्री-प्रत्यय, कारक, समास तथा तद्धित) विचार है। सभी प्रक्रिया-ग्रन्थों के समान इसमें भी कारक तथा विभक्ति का एक साथ निरूपण हुआ है, जिसे कुछ संस्करणों में कारक-प्रकरण तथा कुछ में विभक्त्यर्थ-प्रकरण कहा गया है। पिछला नाम सर्वथा उचित है। उत्तरार्ध में तिङन्त तथा धातु-विषयक प्रक्रियाओं का विवेचन है। अन्त में अष्टाध्यायी के सूत्रों में निरूपित वैदिकीप्रक्रिया तथा स्वरप्रक्रिया का विशद विचार है। कृदन्त-प्रकरण के बीच में समस्त उणादिसूत्र तथा स्वर के विचार में फिट्सूत्रों का संग्रह सिद्धान्त-कौमुदी की विशेषता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना से दीक्षित को सन्तोष नहीं था, क्योंकि उत्तरकृदन्त के अन्त में इन्होंने कहा है—

'इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे' ॥

तथापि सिद्धान्तकौमुदी का इतना अधिक प्रचार हुआ कि इसके द्वारा अष्टाध्यायी ही उत्खातप्राय हो गयी। आज भारतवर्ष के सभी विश्वविद्यालयों में इसी का प्राधान्य है[2]।

(३) **प्रौढमनोरमा**—सिद्धान्तकौमुदी की प्रथम व्याख्या दीक्षित ने ही प्रौढ-मनोरमा के नाम से लिखी। इसमें उनका प्रकृष्ट पाण्डित्य प्रकट हुआ है। शब्द-कौस्तुभ के समान इसमें भी स्थान-स्थान पर संस्कृत-साहित्य में आगत कतिपय चिन्त्य प्रयोगों पर विचार किया गया है। प्राचीन आचार्यों का, विशेषतया प्रक्रियाकौमुदी

---

१. कुचमर्दिनी, अधिकं कौस्तुभखण्डनादवसेयम् (पृ० २१)। अणुदित्सूत्रगत-कौस्तुभखण्डनावसरे व्यक्तमुपपादयिष्यामः (पृ० २)।

२. सि० कौ० के टीकाकार—ज्ञानेन्द्रसरस्वती (१६४० ई०; तत्त्वबोधिनी), वासुदेवदीक्षित (१६६० ई०; बालमनोरमा), नागेश (१७०० ई०; शब्देन्दुशेखर), नीलकण्ठ (१६६० ई०; वैयाकरणसिद्धान्तरहस्य), रामकृष्ण (१६७० ई०; वैयाकरणसिद्धान्तरत्नाकर), कृष्णमौनि (१७०० ई०; सुबोधिनी) इत्यादि। ऑफ्रेक्ट ने कुल २१ टीकाओं की सूची प्रस्तुत की है।

तथा उसकी टीकाओं का इसमें एकाधिक बार खण्डन हुआ है। भट्टोजिदीक्षित का विशेष ध्यान 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' की उपपत्ति पर है। ये प्राचीन ग्रन्थकारों के विपरीत अन्य वैयाकरणों के मतों का तुलना के लिए कहीं उल्लेख नहीं करते। फलस्वरूप तुलनात्मक ज्ञान की अपेक्षा खण्डनात्मक ज्ञान ही दीक्षित के पाठकों को अधिक प्राप्त होता है। यही प्रक्रिया इनके अनुवर्ती ग्रन्थकारों में भी है, जो सभी का खण्डन करके अपने सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। कई मतों की समानान्तर प्रवृत्ति के रूप में विकल्प नहीं छोड़ते। प्रौढमनोरमा पर हरिदीक्षित ने बृहच्छब्दरत्न तथा लघुशब्दरत्न नामक दो व्याख्याएँ लिखी थीं। प्रसिद्धि है कि हरिदीक्षित के शिष्य नागेश ने पिछली टीका स्वयं लिख कर गुरु के नाम से प्रसिद्ध की थी, किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है। इस लघुशब्दरत्न पर आधुनिक काल में लिखी गयी 'ज्योत्स्ना' नाम की सुप्रसिद्ध व्याख्या है।

प्रौढमनोरमा का खण्डन दीक्षित के गुरुवंश से ही सम्बद्ध तीन विद्वानों; यथा—वीरेश्वर के पुत्र, चक्रपाणिदत्त तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने किया था। इनमें प्रेरणा देनेवाले वीरेश्वर ही थे। चक्रपाणिदत्त के खण्डन का उल्लेख शब्दरत्न में हुआ है। जगन्नाथ कृत खण्डन (कुचमर्दिनी) का केवल पञ्चसन्धिपर्यन्त भाग प्राप्त हुआ है, जो प्रकाशित है। इसके आरम्भ में वीरेश्वर के पुत्र के द्वारा मनोरमा-खण्डन की चर्चा हुई है। जगन्नाथ रसगंगाधर, भामिनीविलास, गंगालहरी इत्यादि काव्यशास्त्रीय लक्ष्य-लक्षण ग्रन्थों के लेखक के रूप में अति प्रसिद्ध हैं।

(४) **वैयाकरणसिद्धान्तकारिका**—७४ अनुष्टुप् श्लोकों में वाक्यपदीय के ढंग पर लिखी गयी इस पुस्तिका में दीक्षित ने सूत्रात्मक संक्षिप्तता के साथ धात्वर्थ, लकारार्थ, सुबर्थ, नामार्थ, समासशक्ति, शक्ति, नञर्थ, निपातार्थ, भावप्रत्ययार्थ, देवताप्रत्ययार्थ, एकत्वसंख्या, संख्याविवक्षा, अव्ययप्रत्ययार्थ तथा स्फोट का निर्णय किया है। चूँकि इन्हीं की व्याख्या के रूप में कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण नामक ग्रन्थ लिखा है, इसलिए इन कारिकाओं को 'भूषणकारिका' भी कहा जाता है। सुप्-विभक्तियों के विषय में दीक्षित ने एकमात्र कारिका दी है—

> **'आश्रयोऽवधिरुद्देश्यः सम्बन्धः शक्तिरेव वा।**
> **यथायथं विभक्त्यर्थाः सुपां कर्मेति भाष्यतः'॥** (का० २४)

वैयाकरणभूषण

कौण्डभट्ट भट्टोजिदीक्षित के अनुज के पुत्र थे। अतः दीक्षित से एक पीढ़ी पश्चात् १६२० ई० में विद्यमान रहे होंगे। इन्होंने भी शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर (दूसरा नाम सर्वेश्वर) से विद्याध्ययन किया था। इन्होंने कारिकाओं पर **वैयाकरणभूषण** तथा **भूषणसार** नाम से दो व्याख्या-ग्रन्थ बृहत् तथा लघु संस्करणों के रूप में लिखे थे। बृहद्-भूषण में न्याय तथा मीमांसा के सिद्धान्तों का अनेक स्थानों पर उल्लेख करके खण्डन हुआ है। इसके विषय-विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि

कौण्डभट्ट की अनेक शास्त्रों में अव्याहत गति थी। सिद्धान्तों के विषय में भट्टोजिदीक्षित तथा कौण्डभट्ट के समान मत हैं। भूषण में निरूपित विषयों से तात्कालिक सूक्ष्मेक्षिका का परिचय मिलता है कि किस प्रकार व्याकरण-दर्शन न्यायादि के सिद्धान्तों से संघर्ष करके तत्त्व-विवेचन की चरम सीमा पर पहुँचने का प्रयास कर रहा था[1]।

अनावश्यक खण्डन-मण्डन वाले विवरणों को छोड़कर कौण्डभट्ट ने इस भूषण का भूषणसार के नाम से संक्षिप्त संस्करण किया था। वैयाकरणों में इसका बहुत अधिक प्रचार हुआ तथा अल्पकाल में ही इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। इनमें हरिवल्लभ की दर्पण टीका (१७४० ई०), हरिराम दीक्षित की काशिका (समाप्तिकाल सं० १८५४ वि० की मार्गशीर्षपूर्णिमा, सोमवार अर्थात् दिसम्बर १७९५ ई०),[2] वैद्यनाथ पायगुण्ड के शिष्य मन्नुदेव की कान्ति (१८०० ई०),[3] भैरवमिश्र की परीक्षा (१८२४ ई०) इत्यादि मुख्य हैं। आधुनिक युग में पं० सभापति उपाध्याय ने भी इस पर रत्नप्रभा-टीका लिखी है।

अन्नम्भट्ट

अन्नम्भट्ट काशी-निवासी प्रसिद्ध पण्डित थे, जिनकी ख्याति 'तर्कसंग्रह' के लेखक के रूप में बहुत अधिक हुई। ये मूलतः तैलंग-प्रदेश के निवासी थे, किन्तु काशी में विद्याध्ययन के लिए आकर बस गये थे[4]। कृष्णमाचार्य के अनुसार[5] अन्नम्भट्ट भी शेषवीरेश्वर के शिष्य थे। अतएव इनका समय भी १६००-१६५० ई० के निकट होना चाहिए। इन्होंने अष्टाध्यायी पर एक साधारण वृत्ति 'पाणिनीय-मिताक्षरा' के

---

१. **वैयाकरणभूषण** का एकमात्र प्रकाशन बम्बई संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थमाला (सं० ७०) में १९१५ ई० में कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी के समर्थ सम्पादकत्व में हुआ था। इसी के साथ ग्रन्थ में **वैयाकरणभूषणसार** और उस पर हरिराम काले की **काशिका टीका** भी प्रकाशित है। अन्त में त्रिवेदीजी की आलोचनात्मक तथा व्याख्यात्मक अंग्रेजी टिप्पणी भी वैयाकरणभूषण पर है। इसका पुनर्मुद्रण आवश्यक है।

२. उपर्युक्त संस्करण में पृ० ६०८ पर—

'युगभूतदिगीशात्म(१८५४)सम्मिते वत्सरे गते।
मार्गशीर्षशुक्लपक्षे पौर्णमास्यां विधोर्दिने॥
रोहिणीस्थे चन्द्रमसि वृश्चिकस्थे दिवाकरे।
समाप्तिमगमद् ग्रन्थस्तेन तुष्यतु नः शिवः'॥

३. वैद्यनाथ के पुत्र बालशर्मा ने मन्नुदेव तथा महादेव की सहायता से हेनरी टॉमस कोलब्रुक (भारत में प्रवासकाल १७८३ ई० से १८१५ ई०) की आज्ञा से धर्मशास्त्रसंग्रह लिखा था।

४. लोकोक्ति है—'काशीगमनमात्रेण नान्नम्भट्टायते द्विजः।

5. History of Classical Sanskrit Literature, p. 654.

नाम से लिखी थी, जो काशी से प्रकाशित है। इनके अतिरिक्त भी कैयट के प्रदीप पर इन्होंने 'प्रदीपोद्योतन' नामक टीका लिखी थी, जिसका मात्र प्रथम पाद ही मुद्रित है। वेदान्त, मीमांसा तथा न्याय में भी अन्नम्भट्ट के ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

विश्वेश्वरसूरि

विश्वेश्वरसूरि ने भट्टोजिदीक्षित के शब्दकौस्तुभ के आदर्श पर अष्टाध्यायी की एक अत्यन्त विशद व्याख्या लिखी, जिसका नाम 'वैयाकरणसिद्धान्तसुधानिधि' है। यह प्रथम तीन अध्यायों पर ही उपलब्ध है। ग्रन्थकार की मृत्यु ३२-३४ वर्ष की अवस्था में हो गयी थी[१]। विश्वेश्वर ने भट्टोजिदीक्षित का इस ग्रन्थ में अनेकशः उल्लेख किया है, किन्तु शब्दरत्न या उसके लेखक की कहीं चर्चा भी नहीं की। इससे इन्हें हरिदीक्षित के पूर्ववर्ती (१६०० ई० में) मानना उचित है। कृष्णमाचार्य ने अपने इतिहास (पृ० ७६६) में इनका समय १८वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना है। विश्वेश्वर ने इस ग्रन्थ में अपने समय तक के सभी सम्बद्ध विचारों का मन्थन किया है। न्यायशास्त्रीय सिद्धान्तों के खण्डन में कहीं-कहीं लेखक ने नव्यन्याय की शब्दावली भी अपनायी है। इसके प्राप्तांश का प्रकाशन काशी-संस्कृत-ग्रन्थमाला में हुआ है।

नागेशभट्ट के ग्रन्थ

शेषवंश की शिष्य-परम्परा में नागेश भट्ट के रूप में एक अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् का आविर्भाव हुआ। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है नागेश भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित के शिष्य थे। इनके पिता का नाम शिवभट्ट तथा माता का सतीदेवी था। इनका दूसरा नाम नागोजिभट्ट भी था। इनकी कोई सन्तान नहीं थी[२]। इनके प्रधान शिष्य वैद्यनाथ थे, जिनके पुत्र बालशर्मा ने कोलब्रुक के आदेशानुसार प्रायः १८०० ई० में धर्मशास्त्रसंग्रह लिखा था। नागेश इससे बहुत पूर्व रहे होंगे। एक दूसरी सूचना १७१४ ई० की है, जब जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह ने अश्वमेध-यज्ञ के संचालनार्थ इन्हें बुलाया था, किन्तु काशी में क्षेत्र-संन्यास लेने के कारण इन्होंने महाराज का निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया था। भानुदत्त की रसमञ्जरी पर नागेश की टीका का एक हस्तलेख सं० १७६९ वि० (१७१२ ई०) का है। इन प्रमाणों के आधार पर नागेशभट्ट का कार्यकाल १७०० से १७५० ई० तक माना जा सकता है। प्रयाग के निकटवर्ती शृंगवेरपुर के राजा रामसिंह से नागेश की वृत्ति मिलती थी।[३]

---

१. सं० व्या० शा० इतिहास १, पृ० ४५३।

२. लघुशब्देन्दुशेखर का अन्तिम श्लोक—
'शब्देन्दुशेखरः पुत्रो मञ्जूषा चैव कन्यका।
स्वमतौ सम्यगुत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया'॥

३. ल० श० शे० का आरम्भ—
'शृङ्गवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविकः'।

नागेश सच्चे अर्थों में 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' थे, क्योंकि व्याकरण, साहित्य, धर्मशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष इत्यादि अनेक शास्त्रों में इनकी अप्रतिहत गति थी[1] । पतञ्जलि तथा भर्तृहरि के पश्चात् वैयाकरणों में प्रमाण के रूप में इन्हीं का नाम लिया जाता है। सम्भवतः बहुविषयक ज्ञान की दृष्टि से ये भारतीय विद्वानों में अप्रतिम हैं । व्याकरण में नागेश के निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

(१) **शब्देन्दुशेखर**— यह ग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या है । इसके दो रूप प्राप्त होते हैं—(क) बृहच्छब्देन्दुशेखर—इसमें प्रौढमनोरमा के ढंग पर अत्यन्त विस्तारपूर्वक कौमुदी की पंक्तियों की विवेचना की गयी है । इसका एकमात्र संस्करण डॉ० सीताराम शास्त्री के द्वारा सम्पादित होकर तीन खण्डों में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है । (ख) लघुशब्देन्दुशेखर—इसमें संक्षिप्त रूप से उपर्युक्त विषयों का विचार प्राप्त हुआ है । पण्डितों के बीच इसका अत्यधिक प्रचार होने से इसकी अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं ।

(२) **परिभाषेन्दुशेखर**—महाभाष्य में आयी हुई १३३ परिभाषाओं की इसमें प्रकरण सहित विवेचना है । यद्यपि पाणिनितन्त्र में परिभाषा-विषयक अन्य भी कई ग्रन्थ हैं, किन्तु प्रतिपादन की सम्पन्नता तथा प्रौढि के कारण इसका प्रचार सबसे अधिक है । इसकी अनेक टीकाएँ हैं (प्रायः २५ के नाम मिलते हैं)—वैद्यनाथ पायगुण्ड (बालम्भट्ट) की गदा, विश्वनाथभट्ट की चन्द्रिका, ब्रह्मानन्द सरस्वती की चित्प्रभा, भैरव मिश्र की भैरवी, राघवेन्द्र की त्रिपथगा इत्यादि । वर्तमान शती में भी इस पर रामकृष्ण शास्त्री (भूति), वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, जयदेव मिश्र (विजया) तथा वेणीमाधव शुक्ल (बृहच्छास्त्रार्थकला) ने टीकाएँ लिखी हैं ।

(३) **महाभाष्यप्रदीपोद्योत**—कैयट की प्रदीप-टीका पर नागेश के द्वारा लिखी गयी यह अत्यन्त विस्तृत टीका है । इसमें प्रदीप का आशय तो समझाया ही गया है, कहीं-कहीं मूल महाभाष्य का आशय भी प्रकट किया गया है । महाभाष्य को समझने के लिए यह अत्यन्त उपयोगी व्याख्या है । दोनों टीकाओं का महाभाष्य के साथ कई स्थानों से प्रकाशन हुआ है । इनमें निर्णयसागर-संस्करण उत्तम है । उद्योत पर वैद्यनाथ की 'छाया' नामक व्याख्या है, किन्तु वह केवल नवाह्निक मात्र पर (प्रथम अध्याय प्रथमपाद-पर्यन्त) उपलब्ध है ।

(४) **स्टोफवाद**—इसमें नागेश ने तन्त्रशास्त्र के आधार पर स्टोफरूप नित्य शब्द का प्रतिपादन अत्यन्त गम्भीरता से किया है । इसके अन्त में लेखक ने कहा है—

'वैयाकरणनागेशः स्फोटायनऋषेर्मतम् ।
परिष्कृत्योक्तवांस्तेन प्रीयतां जगदीश्वरः' ।। (पृ० १०२)

---

१. बृहच्छब्देन्दुशेखर की भूमिका (पृ० ५९-६०) में इनके द्वारा विभिन्न विषयों पर लिखे गये ५६ ग्रन्थों के नाम दिये गये हैं ।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन अभिनव संस्कृत व्याख्या के साथ आड्यार (मद्रास) से हुआ है।

(५) **मञ्जूषा**—इस ग्रन्थ में नागेश ने सम्पूर्ण व्याकरण-दर्शन का वाक्यपदीय के समान व्यापकता से विचार किया है। इसके तीन संस्करण स्वयं नागेश ने ही किये थे—गुरुमञ्जूषा, लघुमञ्जूषा तथा परमलघुमञ्जूषा। गुरुमञ्जूषा की एक हस्तलिपि काशी के सरस्वती भवन पुस्तकालय में है तथा यह स्वयं नागेश के हाथ की लिखी प्रति बतलायी जाती है[1]।

लघुमञ्जूषा की विषयवस्तु

लघुमञ्जूषा का पूरा नाम **वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा** है। इसमें निम्नलिखित क्रम से विषयों का विवेचन हुआ है। आरम्भ में नित्य शब्द-रूप स्फोट का सामान्य निर्देश करके शब्द-प्रमाण की आवश्यकता बतलाते हुए शक्ति, लक्षणा तथा व्यञ्जना इन तीनों शब्दवृत्तियों का विशद निरूपण है। इसी प्रसंग में उक्त स्फोट की अभिनव विवेचना भी स्फोटवाद के आधार पर की गयी है। आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्य का विचार करके नागेश सभी शब्दों के मूलभूत धातु के अर्थ का अपने मत से परमतों का खण्डन करते हुए उपस्थापन करते हैं। तदनन्तर निपातार्थ के क्रम में इव, नञ् तथा एव का अपेक्षाकृत विस्तृत विचार किया गया है तथा प्रासंगिक होने के कारण मीमांसकों के द्वारा स्वीकृत परिसंख्या का भी निरूपण हुआ है। इसके अनन्तर तिङर्थ-विचार करते हुए मीमांसकों की मान्यताओं का खण्डन कर संख्या तथा काल का संक्षिप्त विचार करके लकारार्थ का विशद विवेचन हुआ है। इस प्रसंग में विशेष रूप से लिङर्थ के विचार में मीमांसकों के विश्लेषण की नागेश की विस्तृत समीक्षा की है। तदनन्तर मुख्य कृत्-प्रत्ययों के अर्थ का विवेचन करके नागेश सुबन्त की दिशा में अभिमुख होते हैं।

सर्वप्रथम प्रातिपदिकार्थ का निरूपण करके ये सुबर्थ का विचार करते हैं। यहीं कारक का भी विवेचन है। कारक-विवेचन में लघुमञ्जूषा सुबर्थ को प्रधानता देती है, जिसके अन्तर्गत विभिन्न कारकों को शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। अध्याय के शीर्षक विभक्तिमूलक हैं, न कि कारकमूलक। इसीलिए प्रत्येक विभक्ति के अन्तर्गत कारक तथा उपपद दोनों विभक्तियों का विचार किया गया है। कारक तथा विभक्ति के सभी उदाहरणों का प्रायः शाब्दबोध देते हुए प्रत्येक शब्द का नैयायिक सूक्ष्मता से अर्थनिरूपण किया गया है।

अन्त में संख्यारूप-विभक्त्यर्थ का भी विश्लेषण हुआ है। इस प्रकरण के बाद समास तथा एकशेष वृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन करके तद्धितार्थ तथा वीप्सा का निरूपण करते हुए नागेश ने ग्रन्थ का उपसंहार किया है। इस प्रकार व्याकरण-विषयक

१. द्रष्टव्य—पं० सभापति उपाध्याय की मञ्जूषा-टीका (रत्नप्रभा) के प्राक्कथन में पं० गोपीनाथ कविराज द्वारा दी गयी सूचना।

सभी समस्याओं का अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण गूढ़ विवेचन मञ्जूषा में उपलब्ध है। न्याय तथा मीमांसा के मतों का तो इसमें खण्डन हुआ ही है; दीक्षित, कौण्डभट्ट आदि 'स्ववंश्य' वैयाकरणों के मत भी इसमें निरस्त हुए हैं। वास्तव में नागेश के प्रखर पाण्डित्यप्रकर्ष का प्रकाशन मञ्जूषा में ही है।

लघुमञ्जूषा पर दो प्राचीन टीकाएँ हैं—एक तो वैद्यनाथ पायगुण्ड (बालम्भट्ट) की **कला** तथा दूसरी दुर्बलाचार्य (कृष्णमित्र) की **कुञ्जिका**। इन दोनों टीकाओं के साथ सम्पूर्ण लघुमञ्जूषा का एकमात्र प्रकाशन काशी संस्कृत सीरिज में क्रमशः १९१५ ई० से १९२५ ई० के बीच हुआ। आरम्भिक अंश (तात्पर्य-निरूपण तक) पर पं० सभापतिजी ने बड़ी अच्छी व्याख्या लिखी थी, जिसके कई संस्करण हुए हैं।

प्रचार की दृष्टि से नागेश की **परमलघुमञ्जूषा** अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्याकरण के अर्थपक्ष (दर्शन) को लेकर इतनी छोटी पुस्तक संस्कृत में नहीं लिखी गयी, जिससे आरम्भिक जिज्ञासा का उपशम हो। कई परीक्षाओं में पाठ्य होने के कारण इस पर आधुनिक काल में अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें सदाशिव शास्त्री की अर्थदीपिका, वंशीधरमिश्र की वंशी (हिन्दी अनुवाद के साथ; १९५७ ई०) तथा कालिकाप्रसाद शुक्ल की ज्योत्स्ना (१९६१ ई०) प्रमुख हैं। परमलघुमञ्जूषा में प्रायः लघुमञ्जूषा का ही संक्षेप है। संक्षेप के प्रति अधिक आग्रह होने के कारण कई स्थानों पर विषय का नये ढंग से निरूपण है। तदनुसार लघुमञ्जूषा में विभक्ति के आधार पर कारकों का विवेचन है, किन्तु परमलघुमञ्जूषा अर्थपक्ष में उपयोगी कारकमात्र का विवेचन करती है; उपपद विभक्तियों की इसमें चर्चा भी नहीं है। इसमें कारकों के बाद नामार्थ का विचार हुआ है, जब कि लघुमञ्जूषा में क्रम इसके ठीक विपरीत है।

नागेश के साथ ही पदार्थ की मौलिक मीमांसा समाप्तप्राय हो जाती है, क्योंकि इनके ग्रन्थों में उक्त चिन्तन विवेचना की चरम कोटि पर आसीन है। इनके बाद के टीकाकारों तथा परिष्कारों में विवेचना के बाह्य-पक्ष (formal side) का विश्लेषण अधिक हुआ, मौलिक विषय का नहीं। यह मान लिया गया कि विषय-विवेचन अन्तिम बिन्दु (saturation point) पर पहुँच चुका है तथा इससे आगे जाने का अवकाश अब बहुत कम है। इन ग्रन्थों को समझना ही जीवन की एक अनुपम उपलब्धि मानी जाने लगी।

अन्य व्याकरण-सम्प्रदाय

पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों का नामग्राह उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु साकल्यरूप से उनका कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। पाणिनि-प्रभृति आचार्यों ने यत्र-तत्र तुलनार्थ उनके मतों की चर्चा की है। परम्परा के द्वारा कुछ मान्य वैयाकरणों का स्मरण अत्यन्त आदर के साथ किया जाता है। यहाँ तक कि पाणिनि के सदृश अत्यन्त वैज्ञानिक कृतिकार की गणना भी उनके समक्ष नहीं है। पाणिनि को गोष्पद जल या कुशाग्र से निकले जलबिन्दु के समान माना गया है—

'समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ ।
तद्भागभागाच्च शतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ' ॥[1]

१३वीं शताब्दी के बोपदेव ने ८ आदिवैयाकरणों के नाम दिये हैं—

'इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः' ॥ (मुग्धबोध, मंगलश्लोक)

इस श्लोक में बोपदेव स्वेच्छाचार से काम लेते हैं, क्योंकि कातन्त्रकार शर्ववर्मा के निकटतम ऋणी रहकर भी उसका नाम नहीं लेते । वे जयादित्य तथा वामन की अशोभन परम्परा की आवृत्ति करते हैं; जो चन्द्रगोमी के निकट ऋणी होकर भी काशकृत्स्न-तन्त्र की चर्चा करते हुए चन्द्र का नाम नहीं लेते[2] । इसी प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख करते हुए कई आचार्य आर्जव का प्रदर्शन नहीं करते । कोई एक को छोड़ देते हैं तो कोई किसी अन्य को । १६ प्रमुख वैयाकरणों के सम्प्रदाय भारतवर्ष के विभिन्न भूभागों में न्यूनाधिक रूप से प्रचलित होने के कारण उल्लेख्य हैं, किन्तु इनमें कतिपय सम्प्रदाय लुप्त हो गये हैं । जो अवशिष्ट हैं वे भी समाप्तप्राय हैं । इनका संक्षिप्त विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है ।

दस सम्प्रदायों का संक्षिप्त इतिहास

(१) **कातन्त्र**—प्रचार तथा साहित्य-सम्पत्ति की दृष्टि से पाणिनितन्त्र के बाद कातन्त्र का ही स्थान है । इसी का दूसरा नाम कालाप या कौमार भी है । कातन्त्र शब्द युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार काशकृत्स्न-तन्त्र का संक्षिप्त रूप है । इस व्याकरण में अष्टाध्यायी के आधार पर सूत्रों की रचना हुई है, किन्तु उनका कम प्रक्रिया के अनुसार रखते हुए वैदिक-प्रकरण को सर्वथा छोड़ दिया गया है । मूल कातन्त्र में तीन अध्याय (आख्यात भाग तक) थे, जिनकी रचना सातवाहन (प्रथम शती ई० पू०) के समकालिक शर्ववर्मा ने की थी । इसमें संज्ञा, सन्धि, शब्दरूप, कारक, समास, तद्धित तथा तिङन्त (आख्यात) प्रकरण हैं । कृदन्त के रूप में चतुर्थ अध्याय की रचना किसी कात्यायन ने की थी । इस प्रकार पूरे व्याकरण में १४१२ सूत्र हैं तथा इनके अतिरिक्त पाणिनि-तन्त्र के समान अनेक वार्तिक भी हैं । भारत में मुख्यतः बिहार, बंगाल तथा गुजरात प्रदेशों में कातन्त्र का अधिक प्रचार रहा है, किन्तु किसी समय भारत से बाहर भी इसका प्रचार था; क्योंकि मध्य-एशिया से इसके कुछ भाग प्राप्त हुए हैं । निश्चय ही बौद्धों के द्वारा ये वहाँ पहुँचे होंगे ।

कातन्त्र पर प्राचीनतम वृत्ति दुर्गसिंह की है । इसने मयूर के सूर्यशतक (श्लोक २) तथा किरातार्जुनीय (१।८) का उद्धरण दिया है (कातन्त्र० ३।५।४५),

---

१. गुरुपद हाल्दार, व्या० द० इति०, पृ० ४६५ पर उद्धृत ।
२. वही, पृ० ४३६ ।

जिससे इसका समय इन कवियों के बाद होना चाहिए। युधिष्ठिर मीमांसक[1] काशिका (७।४।९३) में दुर्गवृत्ति का खण्डन ध्वनित मानते हैं। इससे इसका समय ६०० ई० के निकट प्रतीत होता है। इस दुर्गवृत्ति पर एक दूसरे दुर्गसिंह (९वीं शताब्दी) ने टीका लिखी थी। इनके अतिरिक्त उग्रभूति (११वीं शताब्दी), त्रिलोचनदास (११०० ई०, पञ्जिका टीका), उमापति (१२०० ई०), वर्धमान (१३वीं शताब्दी), काश्मीर-निवासी जगद्धरभट्ट (१३०० ई०, बालबोधिनीटीका) इत्यादि ने मूल दौर्गसिंही वृत्ति पर टीकाएँ लिखी थीं। इनमें बंगाल में पञ्जिका-टीका का बहुत प्रचार हुआ। त्रिविक्रम ने (१३वीं शताब्दी) इस पर 'उद्योत' तथा सुषेण कविराज (१७वीं शताब्दी) ने 'कविराजी' व्याख्या लिखी थी। पिछली व्याख्या में न्यायशास्त्रीय दृष्टि का परिचय मिलता है।

श्रीपतिदत्त (११-१२वीं शती ई०) ने मूल कातन्त्र में परिशिष्ट जोड़ा था, जिस पर अपनी वृत्ति भी लिखी थी। कातन्त्र-परिशिष्ट की अनेक टीकाएँ समय-समय पर लिखी गयीं[2]। पाणिनीय व्याकरण के समान कातन्त्र में भी धातुपाठ, उणादि, परिभाषा, लिङ्गानुशासन आदि तो थे ही; समास, कारक इत्यादि विषयों पर विशेष विचार करने वाले प्रकरण-ग्रन्थ भी थे। इस सम्प्रदाय में प्रतिपादित कारक-प्रकरण के आधार पर रभसनन्दि ने कारकसम्बन्धोद्योत नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी, जिसमें १५ कारिकाओं की सुविशद व्याख्या की गयी है[3]। इसे ही षट्कारक-कारिका टीका भी कहते हैं। इसके लेखक का समय ९०० ई० तथा ११०० ई० के बीच है। सुप्रसिद्ध नैयायिक जगदीश तर्कालंकार कातन्त्र-सम्प्रदाय के ही अध्येता थे, जिन्होंने अपनी 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में इसके सूत्रों के उद्धरण दिये हैं। इस प्रकार पाणिनि के आदर्श पर प्रवर्तित कातन्त्र-सम्प्रदाय सर्वाङ्गपूर्ण है।

(२) **चान्द्र**—पाणिनि की अष्टाध्यायी के आदर्श पर चन्द्रगोमी ने चान्द्र-व्याकरण की रचना की। चन्द्र का उल्लेख भर्तृहरि ने वाक्यपदीय (२।४८३) में महाभाष्य के उद्धारक में रूप में किया है। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीरनरेश अभिमन्यु की आज्ञा से चन्द्राचार्य ने काश्मीर में महाभाष्य का प्रचार किया था। चन्द्रगोमी के उणादिसूत्रों में ब, व का भेद नहीं होने के कारण कुछ लोग इन्हें बंगाल का मूल निवासी मानते हैं। अभिमन्यु के काल के विषय में असंगतियाँ हैं, क्योंकि राजतरंगिणी के अनैतिहासिक भाग में इसका उल्लेख है। चन्द्रगोमी भर्तृहरि के कुछ ही पूर्व रहे होंगे। सम्भवतः इनका आविर्भावकाल १००-२०० ई० के बीच हो। अधिकांश विद्वान् इन्हें पाँचवीं शताब्दी में मानते हैं[4]। चन्द्र बौद्ध विद्वान् थे।

---

१. सं० व्या० शा० इति० १, पृ० ५१४।

2. K. V. Abhyankar, A Dictionary of Sanskrit Grammar, p. 107-8.

३. प्रकाशन—राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर, २०१३ वि०।

४. A Dictionary of Sanskrit Grammar, p. 140.

चन्द्रगोमी के व्याकरण में संज्ञा-शब्दों का व्यवहार नहीं किया गया है। सम्प्रति इसमें ६ अध्याय तथा ३१०० सूत्र मिलते हैं। स्वर तथा वैदिक प्रकरण इसमें नहीं मिलते, किन्तु लौकिक भाग के सूत्रों से यह सिद्ध होता है कि ये दोनों प्रकरण भी इसमें अवश्य रहे होंगे। चन्द्रगोमी ने अपने चान्द्रसूत्रों पर स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त धातु-पाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन, उपसर्गवृत्ति, शिक्षासूत्र तथा कोष भी लिखा था। कुछ ग्रन्थ देवनागरी संस्करण में प्राप्त हैं, किन्तु कुछ अभी भी तिब्बती में है। महायान बौद्धों में चान्द्रव्याकरण बहुत प्रचलित था। चान्द्रव्याकरण के सूत्र पाणिनि से मिलते-जुलते हैं। काशिका में कई स्थानों पर चन्द्र की असंगतियों का उत्तर दिया गया है, किन्तु इसका नाम नहीं लिया गया। चान्द्रव्याकरण का प्रचार बौद्धों से भिन्न लोगों में नहीं हो सका।

(३) **जैनेन्द्र**—पूज्यपाद देवनन्दि (या सिद्धनन्दि) ने ५वीं शती ई० में जैनेन्द्रशब्दानुशासन नामक ग्रन्थ लिखा था, जो अष्टाध्यायी के आदर्श पर है। सम्प्रति इसके दो संस्करण मिलते हैं—औदीच्य (३००० सूत्र) तथा दाक्षिणात्य (३७०० सूत्र)। इनमें औदीच्य संस्करण ही मूल ग्रन्थ मालूम पड़ता है, क्योंकि दाक्षिणात्य संस्करण में अनेक वार्तिकों को भी सूत्र का रूप दिया गया है। एकशेष-वृत्ति का अभाव इसकी विशेषता है। इस व्याकरण में अल्पाक्षर संज्ञाओं का (पाणिनि के घ, घु, टि के आदर्श पर) प्रयोग है। इस ग्रन्थ पर अभयनन्दि (८०० ई०) ने महावृत्ति नाम से एक विशद व्याख्या लिखी थी। प्रभाचन्द्र (१००० ई०) ने भी मूल ग्रन्थ पर बहुत अधिक विस्तृत व्याख्या लिखी थी, किन्तु यह सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं होती। इन वृत्तियों के अतिरिक्त प्रक्रिया-ग्रन्थ भी इसमें लिखे गये; यथा—श्रुतकीर्ति (१२वीं शती) की महावस्तु तथा पं० वंशीधर (२०वीं शती) की जैनेन्द्रप्रक्रिया। ये ग्रन्थ औदीच्य संस्करण पर हैं, जिसका प्रचार अभी भी जैनों के बीच है।

जैनेन्द्र-व्याकरण के दाक्षिणात्य संस्करण का वास्तविक नाम 'शब्दार्णव' है, जिसे गुणनन्दि (९०० ई०) ने संस्कृत किया था, क्योंकि इस पर टीका लिखने वाले सोमदेवसूरि अपनी टीका को गुणनन्दि-विरचित शब्दार्णव में प्रवेश करने के लिए नौका मानते हैं। सोमदेव की टीका शब्दार्णवचन्द्रिका (१२०५ ई०) कहलाती है। काशी की सनातन जैन ग्रन्थमाला में यह प्रकाशित है।

(४) **जैन शाकटायन**—आचार्य पाल्यकीर्ति (८१४-६७ ई०) ने अभिनव जैन शाकटायन व्याकरण का प्रवर्तन किया था। इस व्याकरण ग्रन्थ (शब्दानुशासन) में ४-४ पादों वाले ४ अध्याय हैं, जिन्हें सिद्धि के नाम से अधिकरणों में विभक्त किया गया है। इसमें सूत्रों का क्रम प्रक्रियानुसारी रखा गया है। सूत्र के साथ ही इष्टियाँ तथा उपसंख्यान भी हैं, पृथक् नहीं। गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन तथा उणादि—इन चारों को छोड़कर समस्त व्याकरण-कार्य इस वृत्ति में ही हैं[१]। सूत्रों की संख्या प्रायः ३२०० है। इसके रचयिता पाल्यकीर्ति जैन राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष (९वीं

१. यक्षवर्मा, शाकटायनवृत्ति, मंगलाचरण ११।

शताब्दी) के समकालिक थे[1]। अमोघवर्ष का समय सं० ८७१-९२४ वि० (८१४-८६७ ई०) के बीच है। इन्हीं की सभा में पाल्यकीर्ति रहा करते थे। आश्रयदाता के नाम पर इन्होंने अपनी वृत्ति का ही नाम 'अमोघा' रखा है। यह वृत्ति अति-विस्तृत है।

'अमोघा' पर प्रभाचन्द्र (१००० ई०) ने न्यास तथा यक्षवर्मा ने चिन्तामणि नामक टीका लिखी। यक्षवर्मा अपनी वृत्ति का महत्त्व बतलाते हैं कि इसके अभ्यास से बालक तथा स्त्रियाँ भी एक वर्ष में समस्त वाङ्मय को समझने लगेंगी[2]। शाकटायन शब्दानुशासन को सरल करके अभयचन्द्र, भावसेन तथा मुनि दयालपाल ने (१०२५ ई०) अपने प्रक्रिया-ग्रन्थ लिखे।

(५) **सरस्वतीकण्ठाभरण**—धारानरेश महाराज भोजदेव (राज्यकाल १०२८-६३ ई०) ने इस नाम का एक बृहत् शब्दानुशासन लिखा, जिसका आरम्भ कारक-प्रकरण से ही होता है। भोज संस्कृत के महान् उद्धारक तथा विद्यानुरागी नरेश थे, जिनके आश्रय में अनेक कवि तथा पण्डित रहते थे। सरस्वतीकण्ठाभरण के नाम से इनके दो ग्रन्थ हैं—एक व्याकरण का, दूसरा काव्यशास्त्र का। व्याकरण में ८ बड़े-बड़े अध्याय हैं, जो ४-४ पादों में विभक्त हैं। सूत्रों की कुल संख्या ६४११ है। प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत भाषा का शब्दानुशासन है और अन्तिम अध्याय में वैदिक संस्कृत का। इसकी विशेषता यह है कि इसमें व्याकरण के सहायक भाग—परिभाषा, लिंगानुशासन, उणादि तथा गणपाठ भी सन्निविष्ट हैं। ये भाग पाणिनि-तन्त्र के समान पृथक् नहीं है, केवल धातुपाठ का अन्तर्भाव नहीं हो सका है। अतः ग्रन्थ का आकार बहुत बड़ा हो गया है। इसीलिए इसका प्रचार भी नहीं हो सका। इस ग्रन्थ के आधार पाणिनि तथा चान्द्र व्याकरण हैं। इस पर दण्डनाथ नारायण ने हृदय-हारिणी-व्याख्या (१२वीं शताब्दी), कृष्णलीलाशुक (१३०० ई०) ने पुरुषकार तथा रामसिंह ने रत्नदर्पण व्याख्या लिखी है।

(६) **हैम व्याकरण**—इसके प्रवर्तक सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्रसूरि थे, जिन्होंने सिद्धहैम-शब्दानुशासन नामक एक सर्वांगपूर्ण व्याकरण लिखा था। हेमचन्द्र का जन्म कार्तिक पूर्णिमा सं० ११४५ वि० में तथा निर्वाण ८४ वर्ष की आयु में १२२९ वि० में हुआ था (१०८८-११७२ ई०)। इनके गुरु चन्द्रदेवसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे। हेमचन्द्र का जन्म गुजरात के अहमदाबाद जिले में हुआ था।

---

१. 'ख्याते दृश्ये' (शाक० सू० ४।३।२०७) सूत्र की अमोघावृत्ति में दो दृष्ट घटनाओं के उदाहरण लङ्लकार में दिये गये हैं—'अरुणद् देवः पाण्ड्यम्। अदहत् अमोघवर्षोऽरातीन्'।

२. मंगलाचरण १२—

'बालाबलाजनोऽप्यस्याः वृत्तेरभ्यासमात्रतः।
समस्तं वाङ्मयं वेत्ति वर्षेणैकेन निश्चयात्'॥

इनके सहायक गुर्जरनरेश महाराज सिद्धराज तथा कुमारपाल आचार्य भी थे। जैन ग्रन्थों में हेमचन्द्र के अप्रतिम वैदुष्य की अनेक स्थलों में चर्चा है। इन्हें 'कलिकाल-सर्वज्ञ' तक कहा गया है। सिद्धराज के ही आदेश से इन्होंने अपना शब्दानुशासन लिखा था। इसमें कुल आठ अध्याय हैं, जिनमें प्रत्येक में ४-४ अध्याय हैं। प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत भाषा का व्याकरण है तथा आठवें अध्याय में अनेक प्रकार की प्राकृत भाषाओं का अनुशासन है। सूत्रों की संख्या क्रमशः ३५६६ तथा १११९ है। जैन परम्परा के अनुसार इसकी रचना में हेमचन्द्र को कुल एक वर्ष लगा था (११३६-७ ई०)[1]। इस शब्दानुशासन की रचना प्रक्रिया-क्रम से हुई है, जिसमें क्रमशः संज्ञा, स्वरसंधि, व्यंजनसंधि, नाम, कारक, षत्व-णत्व, स्त्रीप्रत्यय, समास, आख्यात, कृदन्त तथा तद्धित-प्रकरण हैं। व्याकरण के अतिरिक्त अन्य अनेक शास्त्रों पर हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ लिखे थे। हैम शब्दानुशासन को अनेक आचार्यों ने अपनी टीकाओं के द्वारा समृद्ध किया, जिनमें स्वयं हेमचन्द्र का बृहन्न्यास, देवेन्द्रसूरि का लघुन्यास तथा मेघविजय की हैमकौमुदी प्रमुख हैं।

(७) **जौमर**—इसका प्रवर्तन क्रमदीश्वर (१३वीं शताब्दी ई०) ने अपना संक्षिप्तसार व्याकरण लिखकर किया था। उन्होंने अपने व्याकरण पर रसवती नामक वृत्ति भी लिखी थी। इसी वृत्ति का परिष्कार १४वीं शताब्दी ई० में जुमरनन्दि के द्वारा हुआ था, जिससे इस सम्प्रदाय का नाम ही जौमर (या जौमार) पड़ा। जुमर-नन्दि किसी प्रदेश के राजा थे। जौमर व्याकरण की रचना प्रक्रिया-क्रम से हुई है। इसका परिशिष्ट गोपी(यी)चन्द्र ने (१५वीं शताब्दी) जोड़ा था तथा मूल ग्रन्थ पर भी टीका लिखी थी। इस टीका पर कई वंगीय विद्वानों ने व्याख्याएँ लिखी हैं। इसका प्रचार केवल वंग-प्रदेश तक सीमित है।

(८) **सारस्वत**—नरेन्द्र नामक किसी विद्वान् ने सरस्वती की प्रेरणा से प्रायः ७०० सूत्रों में ही संस्कृत भाषा का संक्षिप्त व्याकरण लिखा था, जो इस समय प्राप्त नहीं है। इसी के आधार पर १३वीं शताब्दी में अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने 'सारस्वत-प्रक्रिया' लिखी थी। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी थीं; यथा—अमृतभारती की सुबोधिनी, पुंजराज की प्रक्रिया, सत्यप्रबोध की दीपिका, माधव की सिद्धान्तरत्नावली, चन्द्रकीर्ति की दीपिका इत्यादि। भट्टोजिदीक्षित के शिष्य रघुनाथ (१६०० ई०) ने इस पर लघुभाष्य भी लिखा था। सारस्वत-सम्प्रदाय में मूल सूत्रों के दूसरे रूपों को प्रकट करने वाले ग्रन्थ भी लिखे गये; यथा—रामाश्रम (१७वीं शताब्दी ई०) की सिद्धान्तचन्द्रिका। इस पर लोकेशकर ने तत्त्वदीपिका (सं० १७४१) तथा सदानन्द ने सुबोधिनी टीकाएँ लिखी थीं। सम्प्रति कई प्रदेशों में सारस्वत-प्रक्रिया तथा सिद्धान्तचन्द्रिका का पठन-पाठन होता है।

(९) **मुग्धबोध**—बोपदेव (१३०० ई०) ने मुग्धबोध नामक अत्यन्त संक्षिप्त व्याकरण लिखकर एक नये व्याकरण का प्रवर्तन किया था। ये देवगिरि के निवासी

---

१. हैमबृहद्वृत्ति, भाग १, भूमिका पृ० (कौ)।

थे। इस व्याकरण के अतिरिक्त इन्होंने 'कविकल्पद्रुम' नामक धातुपाठ का संग्रह किया था। वंग प्रदेश में हिन्दू राज्य के पतन के बाद मुग्धबोध का प्रवेश हुआ तथा प्राचीन वैयाकरणों की भाषा-वृत्ति इत्यादि ग्रन्थों का समुच्छेद होने लगा। सम्प्रति मुग्धबोध का अध्ययन नवद्वीप तक सीमित है। इसमें अभिनव संज्ञा-शब्दों का व्यवहार किया गया है, जैसे—धु (धातु), वृ (वृद्धि)। इस पर नन्दकिशोर, विद्यानिवास आदि आचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं।

(१०) **सौपद्म**—इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन पद्मनाभदत्त ने सुपद्म नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखकर किया था। ये मिथिला के निवासी थे[१] तथा १५वीं शताब्दी में हुए थे। अपने व्याकरण पर इन्होंने स्वयं पंजिका नामक टीका लिखी थी। इसके अतिरिक्त अपने अन्य ११ ग्रन्थों की चर्चा इन्होंने अपनी परिभाषावृत्ति में की है। सुपद्म व्याकरण पर विष्णुमित्र की लिखी हुई सुपद्म-मकरन्द टीका सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इस व्याकरण में भी प्रक्रिया का क्रम है।

अन्य शास्त्रों में कारक-चर्चा

कोई भी शास्त्र अपने सहयोगियों से विच्छिन्न होकर नहीं चल सकता। उसे अपने विषय के प्रतिपादन के समय अन्य शास्त्रों की चर्चा करनी ही पड़ती है। चाहे उसका लक्ष्य शास्त्रान्तर के विषयों का निरसन करना हो या अपने मत की पुष्टि का अन्वेषण करना हो—दोनों ही स्थितियों में एक शास्त्र में दूसरे शास्त्र की चर्चा होती है। इस प्रकार विभिन्न शास्त्रों के सहयोग-सम्पर्क से किसी विषय का सर्वांगपूर्ण अध्ययन सम्भव है। इसी से प्रज्ञा में विश्लेषणशक्ति आती है। भर्तृहरि ने कहा है—

'प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता'॥ —वा० प० २।४८६

मनुष्य केवल एक शास्त्र में सीमाबद्ध होकर कहाँ से विवेक पा सकता है? भाषा के अध्ययन में पद तथा पदार्थ का विवेचन मुख्य है, जिसका सम्बन्ध क्रमशः व्याकरण तथा वैशेषिक दर्शन से है। इन दोनों शास्त्रों के विषयों की आवश्यकता सभी शास्त्रों को न्यूनाधिक रूप में होती है। ('काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्'—लोकोक्ति)। इनमें भी भाषा का सीधा सम्बन्ध व्याकरणशास्त्र से ही है, जिसके अभाव में पद-साधुत्व का ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिए शास्त्रान्तर में प्रवेश करने के लिए व्याकरण का अध्ययन सर्वप्रथम अनिवार्य योग्यता है। अपने पाठकों को इसीलिए व्याकरण में अधीती मानकर अन्य शास्त्रकार स्वाभाविक रूप से व्याकरण के विषयों की चर्चा अपने प्रतिपाद्य विषयों के प्रसंग में करते हैं। कुछ शास्त्रों में तो इसकी अनिवार्यता है। कुछ शास्त्र उदाहरण के रूप में यह चर्चा करते हैं तो अन्य शास्त्रों को व्याकरण के सिद्धान्त निरसन-योग्य प्रतीत होते हैं। जो भी

---

१. K. V. Abhyankar, A Dictionary of Skt. Grammar, p. 400.

कारण रहा हो, व्याकरण से सम्बद्ध तथा असम्बद्ध शास्त्रों में भी इसके विभिन्न अंगों की इतनी अधिक चर्चा है कि पूर्ण अनुसन्धान करने पर केवल उनका इतिहास ही लिखा जाय (विषय-विवेचन नहीं भी हो) तो पूरे ग्रन्थ की सामग्री प्राप्त होगी। व्याकरण के अन्यतम अंग के रूप में कारक की चर्चा भी कई शास्त्रों में हुई है। हम यहाँ वेदान्त, मीमांसा तथा न्याय—इन दर्शनों में प्रवृत्त कारक-चर्चा का संक्षिप्त निदर्शन करते हैं।

अद्वैतवेदान्त

ब्रह्मसूत्र के **समन्वयाधिकरण** (१।१।४) पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य अनित्य द्रव्य के चार भेदों की चर्चा करते हैं—उत्पाद्य, विकार्य, आप्य तथा संस्कार्य। वे सिद्ध करते हैं कि नित्य तथा शुद्ध ब्रह्मस्वरूप मोक्ष इनमें से किसी के रूप में नहीं है, अन्यथा उसके अनित्य होने का प्रसंग आ जायेगा। उक्त भेद वस्तुतः कर्मकारक के मीमांसा-स्वीकृत भेद हैं। व्याकरण में संस्कार्य छोड़कर अन्य कर्मभेद स्वीकार्य हैं।

इसी प्रकार **'कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च'** (ब्र० सू० १।२।४) के भाष्य में उपनिषद् वाक्य का उद्धरण देकर शंकर उपास्य आत्मा का श्रौत निर्देश प्राप्य (कर्म) के रूप में तथा उपासक जीव का प्राप्तिकर्ता के रूप में दिखलाते हैं। इस स्थल का उद्धरण कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण में भी सम्बद्ध प्रसंग में दिया है[१]। ब्रह्मसूत्र के द्वितीयाध्याय में एक अधिकरण का ही नाम **कर्त्रधिकरण** (२।३।३३–३९) **है**, जिसमें विभिन्न श्रुतिवाक्यों में बुद्धि, विज्ञानादि से भिन्न जीव के कर्तृत्व की उपपत्ति की गयी है। इसी प्रसंग में विज्ञान के कर्तृत्व (जो बौद्धों को अभिमत है) के निरसनार्थ विज्ञान में करण विभक्ति के निर्देश का उदाहरण शंकर ने दिखलाया है कि जो करण के रूप में श्रुतिवाक्यों में निर्दिष्ट है उसे कर्तृरूप में नहीं रखा जा सकता[२]। ब्रह्मसूत्र के **संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरण** (२।४।२०) में भी जीव के कर्तृत्व में जगत् की नाम-रूपव्याकृति की उपपत्ति हुई है। यहाँ वाचस्पतिमिश्र ने भी कर्ता तथा करण का संक्षिप्त विवेचन किया है, जिसका उद्धरण लघुमञ्जूषा की कला-टीका (पृ० १२४९) में दिया गया है।

वाचस्पति ने **सांख्यकारिका** (३२) की व्याख्या में करण की कारकता तथा उसके व्यापार का निरूपण किया है—**'कारकविशेषः करणम्। न च व्यापारावेशं विना कारकत्वमिति व्यापारावेशमाह—तदाहरणधारणप्रकाशकरम्'**। वैसे इन दर्शनों में व्याकरण के सामान्य प्रश्नों की अनेकत्र चर्चा है, किन्तु कारक-विषयक सूचनाएँ कम हैं।

---

१. वैयाकरणभूषण, पृ० १०७।

२. 'तथा ह्यन्यत्र बुद्धिविवक्षायां विज्ञानशब्दस्य करणविभक्तिनिर्देशो दृश्यते'।
—शाङ्करभाष्य २।३।३६

शाबरभाष्य

मीमांसासूत्र के **शाबरभाष्य** में अनेकत्र कारकसामान्य तथा कारकविशेष की विवेचना हुई है[1]। शबर का एक स्थान पर कथन है कि कारक क्रिया से सम्बद्ध होता है, द्रव्य से नहीं (१०।२।६५)। कारकविभक्ति में युक्त किसी भी शब्द का क्रियान्वित होना अनिवार्य है। इसे शबर कई उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं (१०।३।६३–६४) जैसे 'चतुरो मुष्टीन् निर्वपति' में 'चतुर:' शब्द मुष्टि से सम्बद्ध न होकर 'निर्वपति' से सम्बद्ध है। इसी प्रकार 'हिरण्मयौ प्राकाशौ अध्वर्यवे ददाति' में प्राकाश कर्मतया दान-क्रिया से अन्वित है। कारकविभक्तियों के 'क्रियोप-कारक होने पर भी यह बात नहीं कि सभी कारक समान हों। प्रत्येक कारक का क्रियासिद्धि के प्रति अपना विलक्षण ढंग है, जिससे उनमें एक-दूसरे की समानता का प्रसंग नहीं आता है[2]। इस तथ्य की उपपत्ति शबर ने की है (६।१।१७) कि 'यजते' क्रिया के कर्ता अध्वर्यु तथा यजमान दोनों हैं, किन्तु अध्वर्यु के अर्थ में 'यजते' यजमान-पदार्थों के सम्पादन का अभिधान करता है। इसीलिए कारक का सम्बन्ध कर्म (क्रिया) मात्र से है, कर्मगुण से नहीं ('कारकस्य च कर्मणा सम्बन्धो न कर्मगुणेन'— शा० भा० ११।२।२)। कारकों में इसीलिए परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव नहीं हो सकता—'अप्सु अवभृथेन चरन्ति' इसमें दोनों ही शब्द 'चरन्ति' से सम्बद्ध हैं, परस्पर सम्बद्ध नहीं (१०।६।२५)।

कारकविभक्ति के वचन के सम्बन्ध में शबर का कथ्य है कि जब वचन विवक्षित हो तब कारक-व्यापार का संचालन वचनानुसार एक, दो या अनेक के द्वारा होता है। यहाँ भी कारकार्थ विभक्ति के द्वारा अभिहित होता है। विभक्ति वचन के साथ-साथ कारकार्थ का भी अभिधान करती है[3]। इसीलिए जहाँ विभक्ति में वचन विवक्षित नहीं रहता, कारकार्थ का अभिधान करने के कारण उसके (विभक्ति के) आनर्थक्य का प्रसंग नहीं आता[4]। उदाहरणार्थ 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' में ग्रह का एकत्व अविवक्षित है तथापि विभक्ति सार्थक है, क्योंकि कारकार्थ का बोध कराती है जिससे ग्रह तथा मृजि-क्रिया के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है—सभी ग्रहों के सम्बन्ध से मृजि-क्रिया की सिद्धि होती है।

---

1. Dr. G. V. Devasthali, Mimamsa : The Vakyashastra of Ancient India, Chap. IX. para 9-27.

२. 'सर्वाणि च प्रधानस्योपकुर्युः। भिन्नानि च कार्याणि कुर्युः। तद् यथा कारकाणि कर्त्रादीनि सर्वाणि तावत् क्रियाया उपकुर्वन्ति। अथ च प्रतिकारकं क्रिया-भेदः'। —शाबरभाष्य ११।१।७

३. तुलनीय—'सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः सङ्ख्या चैव तथा तिङाम्'। (पा० सू० १।४।२१ पर भाष्य)। 'सङ्ख्याकारकबोधयित्री विभक्तिः'।

४. Mimamsa : The Vak. Sas. of Anc. Ind., Chap. IX, para 21

शबर भी वैयाकरणों से समान षष्ठी तथा सम्बोधन को कारक नहीं मानते (३।१।१२)। कारकलक्षणा विभक्ति जहाँ क्रिया-सम्बन्ध का अभिधान करती है, षष्ठी विभक्ति से गुण-सम्बन्ध मात्र बोधित होता है। **'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्'** (ऋ० १।३२।१) में षष्ठी विभक्ति देवता तथा स्तुति के बीच सम्बन्ध-बोध कराती है। षष्ठी की एक विलक्षणता है कि अचेतन पदार्थों के बोधक शब्दों में लगने पर कभी-कभी द्वितीया-तृतीयादि विभक्तियों का भी अर्थ देती है; यथा—**'शाकस्य देहि, घृतस्य यजते, सोमस्य पिबति'**। सम्बोधन अनुवचन या निर्देश मात्र के लिए प्रयुक्त होता है, जिससे स्तुति अभिहित होती है (गुणसम्बन्ध)।

शाबरभाष्य में कारकविशेषों का वर्णन यत्र-तत्र विभक्तियों को आधार मान कर किया गया है। चूंकि ब्राह्मण-वाक्यों में स्थित विधियों के गौण-प्रधानभाव का निर्णय तत्रत्य विभक्तियों के द्वारा किया जाता है, अतः मीमांसादर्शन में इनका बड़ा महत्त्व है। हम कुछ उदाहरण ले सकते हैं। सामान्यतया कर्मकारक में होने वाली द्वितीया से बोधित पदार्थ प्रधान होता है, क्योंकि वह कर्ता का ईप्सिततम है। तथापि कुछ ऐसी स्थितियाँ भी हैं जहाँ मीमांसकों की दृष्टि में वह प्रधान नहीं होता; यथा—'स्रुचं सम्मार्ष्टि, अग्निं सम्मार्ष्टि'[1]। 'सक्तून् जुहोति' में आख्यात के द्वारा प्रधानकर्म का बोध होता है, जिससे सम्बद्ध द्रव्य (सक्तु) अप्रधान हो जाता है। होम-क्रिया प्रधान है, यदि वह सक्तुओं के लिए हो तो सक्तु अपने आप में निष्प्रयोजन होंगे ही, होम को भी निरर्थक कर देंगे। उक्त वाक्य का यही अर्थ हो सकता है कि होम के द्वारा सक्तुओं का संस्कार किया जाय, जो सम्भव नहीं है। कर्मविभक्ति में सक्तु की स्थिति से यही विसंगति होती है। अतः इसके विपरीत होम-क्रिया के सम्पादन में सक्तु की सहायता (साधकतमता) अपेक्षित मानकर उसका करण-परिणाम करना आवश्यक है। अपूर्व की उत्पत्ति होम से ही होती है, सक्तु से नहीं—भले ही वह द्वितीया विभक्ति में ही क्यों न रहे। अतः निष्कर्ष निकलता है कि सक्तु की द्वितीया विभक्ति केवल सक्तु तथा होम के बीच सम्बन्ध का बोध कराती है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं करती। जहाँ भी द्रव्य तथा कर्म के बीच सम्बन्ध हो, द्रव्य कर्म के प्रति गुणभूत हो जाता है (भूतं भव्यायोपदिश्यते)। अतः द्वितीया होने पर भी सक्तु के गुणभूत होने से इसमें करण-परिणाम करना पड़ता है। इसी प्रकार मीमांसा में कारक तथा विभक्ति-विषयक पुष्कल सामग्री मिलती है।

न्यायदर्शन : प्राचीन तथा नव्य

न्यायसूत्र में प्रमाणसामान्य की परीक्षा के प्रसंग में दिये गये **'प्रमेया च तुला-प्रामाण्यवत्'** (२।१।१६) सूत्र की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने सभी कारकों के उदाहरण वृक्ष शब्द में दिखलाये हैं तथा पाणिनि-सूत्रों के उद्धरण भी कुछ कारकों में दिये हैं। अन्त में निष्कर्ष निकाला है—**'एवं च सति न द्रव्यमात्रं कारकं, न क्रिया-**

१. शाबरभाष्य २।१।९ तथा आगे भी।

मात्रम् । किं तर्हि ? क्रियासाधनं क्रियाविशेषयुक्तं कारकम्' । तदनुसार कारक-शब्दों का निमित्त समाविष्ट करना पड़ता है तभी कारक का समावेश हो सकेगा। इसकी टीकाओं में उद्योतकर तथा वाचस्पति ने भी अपने मत कारकों के विषय में व्यक्त किये हैं।

जयन्तभट्ट (८५०-९०० ई०) ने अपनी **न्यायमञ्जरी** में व्याकरण के सभी विषयों का प्रायः खण्डन ही किया है। इसके अध्ययन को निष्फल बतलाते हुए उन्होंने कहा है—

'दुष्टग्रहगृहीतो वा भीतो वा राजदण्डतः ।
पितृभ्यामभिशप्तो वा कुर्याद् व्याकरणे श्रमम्' ॥

—न्या० म०, पृ० ३८५

इसी प्रसंग में 'कारकानुशासन की दुःस्थता' की उन्होंने सविस्तर उपपत्ति की है। विशेष रूप से अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण तथा कर्म के (पाणिनि के अनुसार कारक-क्रम) विधायक सूत्रों का क्रमशः सोदाहरण खण्डन किया गया है[1]। कर्ता के विषय में कई मत देकर प्रत्येक की असारता दिखलायी गयी है। वे मत निम्न हैं—(१) **'यद्व्यापाराधीनः कारकान्तरव्यापारः स कर्ता'** । (२) **'यः कारकाणि प्रयुङ्क्ते, तैश्च न प्रयुज्यते स कर्ता'** । (३) **'धातुनाभिधीयमानव्यापारः कर्ता'** । वास्तव में जयन्तभट्ट के समय से ही वैयाकरणों तथा नैयायिकों के मध्य मतभेद होने लगा, जो बाद में प्रत्येक स्थल पर दिखलायी पड़ने लगा।

नव्यन्याय के प्रवर्तक गंगेश उपाध्याय (१२०० ई०) ने अपनी तत्त्वचिन्तामणि में नैयायिक-सम्मत प्रमाणचतुष्टय में से प्रत्येक का विशद विवेचन करने के लिए एक-एक खण्ड की रचना की है। इन खण्डों में विविध विषयों के प्रकरण 'वाद' के नाम से प्रसिद्ध है। यथा—मङ्गलवाद, प्रामाण्यवाद इत्यादि। शब्दखण्ड में शब्द-विषयक सभी विषयों का विवेचन हुआ है। व्याकरण से सम्बद्ध शक्तिग्रह, समासवाद इत्यादि का विचार विशद रूप से करने पर भी अलग से कारक पर कोई प्रकरण इन्होंने नहीं दिया है तथापि यत्र-तत्र अपने विचार तो व्यक्त किये ही हैं। विभिन्न कारकों के विवेचन-क्रम में हम इन्हें देखेंगे।

गंगेश के अनुगामी नैयायिकों में प्रकरणों के लेखन के प्रति बहुत अधिक प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है। व्याकरण के इस प्रमुख तत्त्व कारक पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये। १७वीं शताब्दी ई० के आरम्भ में आविर्भूत भवानन्द ने **'कारकचक्र'** नामक एक अल्पकाय गद्यात्मक पुस्तक लिखी, जिसमें पाणिनि के सूत्रों का उद्धरण देते हुए सभी कारकों पर न्यायमत से विचार किया गया है। कारकों पर नैयायिक दृष्टिकोण का परिचय पाने के लिए यह सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। इसके सिद्धान्तों का खण्डन बहुधा व्याकरण-ग्रन्थों में हुआ है। भवानन्द के शिष्य जगदीश तर्कालंकार (१६३० ई०) कातन्त्र-सम्प्रदाय के अध्येता थे। उन्होंने न्यायमत से शब्द-विषयक विस्तृत विचार

---

१. न्यायमंजरी, पृ० ३८२-३।

अपनी **शब्दशक्तिप्रकाशिका** में किया है। सुबर्थ के प्रकरण में कारकार्था तथा इतरार्था (उपपद) विभक्तियों का भेद करके जगदीश ने विशद कारक-विवेचन किया है। यह ग्रन्थ कारिकाओं तथा उनकी व्याख्या के रूप में लिखा गया है। यह कातन्त्र-सम्प्रदाय मात्र में सीमित नहीं रह सका; पाणिनि-तन्त्र में भी इसका व्यापक अध्ययन होता रहा है।

जगदीश के शिष्य गदाधर भट्टाचार्य (१६५० ई०) ने अपना सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **व्युत्पत्तिवाद** लिखा, जिसमें शाब्दबोध के उपकारक के रूप में प्रथमादि विभक्तियों के अर्थों का विस्तृत विश्लेषण करते हुए उनके अन्तर्गत कारकों का भी विशद विचार किया है। स्थापनाओं की उपपत्ति के लिए पाणिनि के सूत्रों का इसमें स्थान-स्थान पर उद्धरण दिया गया है। न्यायशास्त्र में इसकी अप्रतिम प्रामाणिकता है। इसके अतिरिक्त भी गदाधर ने कारकवाद (या कारक-निर्णय) नाम का एक ग्रन्थ लिखा था, जिस पर रामरुद्र तर्कवागीश (१७०० ई०) की टीका भी है। मैथिल नैयायिकों की परम्परा में विशिष्ट स्थान रखने वाले गोकुलनाथ ने **पदवाक्यरत्नाकर** में विभक्त्यर्थ का विशद विश्लेषण करते हुए कारक-विभक्ति तथा उपपद-विभक्ति का पृथक्-पृथक् निरूपण किया। इनका ग्रन्थ कारिका की व्याख्या के रूप में है। गिरिधर भट्टाचार्य ने भी (१७वीं शती ई०) **विभक्त्यर्थ-निर्णय** नामक एक दीर्घकाय ग्रन्थ विभक्ति के अर्थों का न्यायमत से विचार करने के लिए लिखा। व्युत्पत्तिवाद की गद्यात्मक शैली में लिखा गया यह ग्रन्थ एतद्विषयक सभी ग्रन्थों में बड़ा है। इसमें कौण्डभट्ट का उल्लेख किया गया है। इन सभी न्यायग्रन्थों का प्रभाव वैयाकरणों के विवेचनों पर स्पष्टतः परिलक्षित होता है। १८वीं शताब्दी में जयराम भट्टाचार्य ने **कारकवाद** (या कारकविवेक) नामक लघु पुस्तक लिखी। वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई से प्रकाशित कारकवाद प्रायः भवानन्द के कारकचक्र का ही अनुवाद (पुनरुक्ति) मात्र है।

इनके अतिरिक्त भी कई अज्ञात ग्रन्थ होंगे, जो कारक-विषय से सम्बन्ध रखते होंगे। आज संस्कृत के अनेक ग्रन्थ लुप्त हैं। जनता की रुचि जैसे-जैसे न्याय-व्याकरणादि विषयों से हटती गयी, ग्रन्थों का प्रचार समाप्त होता गया और अनेक प्रामाणिक सन्दर्भ-ग्रन्थ नष्ट हो गये। कितने ग्रन्थ अभी अप्रकाशित हैं और समय की गति देखते हुए अनुमान होता है कि वे प्रकाशित होंगे भी नहीं।

अध्याय : २

क्रिया तथा कारक

कारकों का क्रिया से अन्वय

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि सभी कारकों का धात्वर्थ में अन्वय होता है[1] अर्थात् किसी-न-किसी क्रिया से कारकों का किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध रहता है—वह सम्बन्ध चाहे साक्षात् हो चाहे परोक्ष । इसलिए कारक-विवेचन की पृष्ठभूमि में हमें क्रिया का स्वरूप निरूपित करना अनिवार्य है । सभी वैयाकरणों ने क्रिया के दार्शनिक विवेचन में अपना कुछ योगदान किया है । इनके अतिरिक्त न्याय तथा मीमांसा—इन दो सम्बद्ध दर्शनों का भी क्रिया-विषयक विवेचन उल्लेख्य है ।

संसार की अस्थिरता की चर्चा प्रायः सर्वत्र होती है । कोई नास्तिक हो या आस्थावादी—उसे संसार परिवर्तनशील लगता ही है । जो पदार्थ हम आज एक स्थान पर देखते हैं, कल उसे दूसरे स्थान पर दूसरे रूप में देखेंगे । एक ही स्थान पर भी रहने वाले (स्थावर) पदार्थों के रूप-गुण का कालान्तर में परिवर्तन देखते ही हैं । यह परिवर्तन काल तथा देश नामक दो द्रव्यों के आधार पर होता है—कालान्तर तथा देशान्तर में द्रव्य भिन्न रूप हो जाते हैं । इस कालिक तथा दैशिक परिवर्तन की पृष्ठभूमि में क्रिया रहती है । पदार्थों का परिवर्तन बतलाता है कि उनमें कुछ न कुछ क्रिया हुई है । देवदत्त कुछ समय पूर्व काशी में था, आज पाटलिपुत्र में है—अवश्य ही उसमें कुछ क्रिया हुई है, अन्यथा इस देश-परिवर्तन की व्याख्या सम्भव नहीं । जो चावल कुछ समय पूर्व धोकर थाली में रखा हुआ था, कड़े दानों वाला था—अभी वह हाँड़ी में पड़ा है तथा मुलायम हो गया है । इसमें भी कुछ क्रिया हुई है । निष्कर्ष यह है कि क्रिया पदार्थों के परिवर्तन का कारण है, जिसे देखकर उसका अनुमान किया जाता है ।

क्रिया का स्वरूप : क्रिया, धातु तथा आख्यात

भारतीय दार्शनिक साहित्य में क्रिया, धातु तथा आख्यात का (परस्पर भेद रहते हुए भी) प्रायः सम्बद्धरूप में प्रयोग हुआ है । गम्, पच् आदि जो शब्दों की मूलभूत इकाइयाँ है, धातु कहलाते हैं,[2] जिन्हें पाणिनि के धातुपाठ में भ्वादि, अदादि इत्यादि १० गणों में अनुबन्ध-सहित पढ़ा गया है । यास्क के पूर्ववर्ती काल में इसी अर्थ में आख्यात शब्द का भी प्रयोग था । यथा—**'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि इति**

---

१. 'तत्र सर्वकारकाणां धात्वर्थेऽन्वयः' । —ल० म०, पृ० ५४४

२. 'भूवादयो धातवः' । —पा० सू० १।३।१

शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च' (निरुक्त १।१२)। सभी नाम (संज्ञा शब्द) आख्यात से उत्पन्न होते हैं, यह शाकटायन तथा निरुक्तकारों का सिद्धान्त है। इसी तथ्य का निर्देश जब पतञ्जलि को करना पड़ता है तब वे **'नाम च धातुजमाह निरुक्ते'** (भाष्य ३।३।१) कहते हुए आख्यात के स्थान पर धातु का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार अग्नि शब्द के निर्वचन में शाकपूणि के मत का उल्लेख करते हुए यास्क धातु तथा आख्यात को पर्याय रूप में लेते हैं—**'त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते इति शाकपूणिः'** (निरुक्त ७।१४)। ये सभी यास्क के द्वारा उद्धृत पूर्वाचार्यों के प्रयोग हैं। स्वयं यास्क आख्यात का प्रयोग पूर्ण क्रिया (तिङन्त) के रूप में करते हैं—**'प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य'** (नि० ७।१) अर्थात् तीन प्रकार की ऋचाओं में परोक्षकृत ऋचाएँ वे हैं जिनमें आख्यात (क्रिया) प्रथमपुरुष में होता है तथा जिनमें 'नाम' की सभी विभक्तियाँ लगायी जाती हैं। निरुक्त के आरम्भ में आख्यात का लक्षण करते हुए भी यास्क को सामान्यरूप से क्रिया का ही ध्यान रहता है, धातु का नहीं (भावप्रधानमाख्यातम्)। क्रिया इन सभी रूपों का—धातु, तिङन्त तथा कृदन्त का—सामान्य नाम है, क्योंकि इन सबों में धातु का अर्थ प्रकट होता है। यही कारण है कि सामान्य रूप से क्रिया को धात्वर्थ कहते हैं।[1]

फल तथा व्यापार के रूप में धातु का अर्थ

धात्वर्थ या क्रिया के ऐतिहासिक विवेचन के पूर्व हम व्याकरण के सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित क्रिया का विश्लेषण करें, जिसकी पृष्ठभूमि के रूप में क्रिया-विषयक विभिन्न मत हैं। क्रिया चूँकि परिवर्तन की प्रक्रिया है अतः इसके कई खण्ड या अवस्था-विशेष हैं। 'पचति' एक क्रिया है, जिसके अन्तर्गत कई अवान्तर व्यापार होते हैं। जैसे—आग सुलगाना, उस पर बर्तन रखना, बर्तन में पानी देना, चावल धोना, बर्तन में चावल छोड़ना, चूल्हे के पास बैठना, चावल को चलाना इत्यादि। इन सभी व्यापारों के संचालन के समय 'पचति' क्रिया का व्यवहार होता है—**किं करोति ? पचति**। यहाँ तक कि उस स्थान पर बैठना भी 'पचति' क्रिया का ही अंग है। इन सभी व्यापारों का अन्तिम परिणाम क्या होगा ? हम देखते हैं कि अन्त में चावल कोमल हो जायेंगे। इस पूर्वापरीभूत के क्रम से होने वाली क्रिया के अवान्तर व्यापार तब तक चलते रहते हैं जब तक अन्तिम परिणाम न निकल जाय। इसीलिए क्रिया में परिणामोन्मुख व्यापार का बोध होता है। क्रिया न केवल अन्तिम परिणाम (फल) को ही कहते हैं, क्योंकि ऐसा करने पर क्रिया घटनामात्र बनकर रह जायेगी तथा अन्य पदार्थों के समान यह स्थिर हो जायेगी। इसी प्रकार न केवल व्यापार को ही क्रिया कह सकते हैं, क्योंकि फल के बिना कोई क्रिया सम्भव ही नहीं—केवल विभिन्न प्रक्रियाओं या गतियों का ही बोध होता रहेगा, किसी निश्चित परिणाम का नहीं। 'पचति' न केवल चूल्हा जलाना आदि व्यापारों का बोधक है और न ही केवल फल

१. द्रष्टव्य—ल० म०, पृ० ५४४।

का बोधक है, प्रत्युत 'फल की ओर अभिमुख व्यापार' अर्थात् अन्न की विक्लित्ति (कोमलता) उत्पन्न करने की दिशा में होने वाले अवान्तर व्यापारों का समुदित रूप से बोध कराने वाला पद है। इसलिए वैयाकरणों के सिद्धान्त के अनुसार फल और व्यापार दोनों मिलकर धातु का अर्थ संघटित करते हैं।

निरुक्त में क्रिया का विचार

सर्वप्रथम यास्क ने निरुक्त (१।१) में आख्यात के नाम से क्रिया का लक्षण किया है---'भावप्रधानमाख्यातम्'। इसके दो अर्थ किये जाते हैं। एक अर्थ के अनुसार 'भाव' शब्द क्रिया के फल का बोधक है अतः क्रिया में फल की प्रधानता तथा व्यापार की अप्रधानता होती है। व्यापार फल को लक्षित करके होता है, क्योंकि फल ही व्यापार का उद्देश्य है। इसके ठीक विपरीत इसका दूसरा अर्थ भी किया जाता है। इसके अनुसार भाव व्यापारमात्र का बोधक है। क्रिया के अर्थ में व्यापार मुख्य है और अन्य साधन उसे पूरा करने में सहायक होते हैं। यही कारण है कि जब प्रश्न किया जाता है कि वह क्या कर रहा है? तब उत्तर होता है कि वह पका रहा है। तथ्यानुसार प्रश्न तथा उत्तर दोनों ही उसके व्यापार से सम्बद्ध हैं।[1] यास्क ने आगे चलकर आख्यात के स्वरूप के विषय में बतलाया है कि उपक्रम से लेकर अपवर्ग (फल-प्राप्ति) पर्यन्त जितने भी अवान्तर व्यापार पूर्वापर-क्रम से होते हैं, वे सभी भाव या क्रिया कहे जाते हैं। भावों का जब अन्तिम परिणाम निकल जाता है तब वे सिद्ध, मूर्त या ठोस हो जाते हैं तथा उन्हें आख्यात नहीं कहा जाता। मूर्त होने पर वे सत्त्व या नाम कहलाते है। अमूर्त या साध्य रहने पर भाव क्रिया है, किन्तु सिद्ध या मूर्त होने पर जब वह निश्चित रूप धारण करने के कारण प्रत्यक्षगम्य हो जाता है, तब वही नाम-पद से व्यपदिष्ट होता है। पूर्वावस्था में जो आख्यात है वही अवस्था-विशेष में नाम होता है। अतः यास्क के अनुसार प्रत्येक नाम को आख्यातावस्था से होकर आना अनिवार्य है। **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** इस नैरुक्त सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में नाम तथा आख्यात की यह व्याख्या ही काम करती है।

यास्क ने वार्ष्यायणि के मत का उल्लेख करते हुए भाव (क्रिया) के छह विकार (अवस्थाएँ) माने हैं—उत्पत्ति (जायते), सत्ता (अस्ति), परिणाम (विपरिणमते), वृद्धि (वर्धते), क्षय (अपक्षीयते) और विनाश (विनश्यति)। सभी क्रियाओं तथा मूर्त पदार्थों के जीवन में भी ये छहों अवस्थाएँ आती हैं; भले ही ये अत्यन्त सूक्ष्म तथा साधारण अनुभव में न आने योग्य क्यों न हों।

क्रिया का 'करोति' या 'अस्ति' से अन्वय

यास्क के मत का विस्तृत तथा स्पष्ट विवेचन हम पतञ्जलि के भाष्य में पाते हैं। 'भूवादयो धातवः' (पा० सू० १।३।१) सूत्र के अन्तर्गत धातु का लक्षण-विचार

१. द्रष्टव्य—दुर्गाचार्य की व्याख्या (१।१)।

करते हुए पतञ्जलि 'क्रियावचनो धातुः' इस वार्तिक का उद्धरण देते हैं, जिसके अनुसार क्रिया के बोधक शब्द को धातु कहते हैं[1]। क्रिया, ईहा, चेष्टा या व्यापार—ये समानार्थक शब्द हैं। क्रिया पिण्ड-रूप में प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा निर्दिष्ट नहीं की जा सकती, क्रिया का अनुमान ही हो सकता है। अनुमान का स्वरूप यह है कि सभी साधनों के प्रस्तुत रहने पर (ईन्धन, अग्नि, पात्र, जल, रसोइया इत्यादि के होने पर) भी जिसकी अनुपस्थिति के कारण 'पचति' का प्रयोग नहीं किया जा सकता तथा इनके रहने पर जिसकी उपस्थिति में 'पचति' का प्रयोग हो सकता है—वही चेष्टा या व्यापार-क्रिया है। इस प्रकार उस अनुमानगम्य क्रिया के कारण ही 'पचति' का प्रयोग सम्भव या असम्भव होता है। यह क्रिया ही है जिसके कारण देवदत्त अभी इस स्थान पर है और कुछ समय के बाद पाटलिपुत्र में मिलता है। यदि क्रिया नहीं होती तो एक ही वस्तु का दो स्थानों में पाया जाना अनुपपन्न हो जाता[2]। इस प्रकार क्रिया का सामान्य लक्षण है कि इसका प्रयोग 'करोति' के समान स्थानों में होता है (**करोतिना सामानाधिकरण्यम्**)। जैसे—किं करोति ? पचति। किं करिष्यति ? पक्ष्यति इत्यादि। सामान्यतया सभी क्रियाएँ 'करोति' के साथ सम्बन्ध रखती हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि क्रिया मुख्यतया व्यापार के अर्थ में ही होती है।

किन्तु कुछ क्रियाओं के साथ उपर्युक्त 'करोति' अर्थात् व्यापार का प्रयोग नहीं हो सकता; जैसे—अस्ति, भवति, वर्तते, विद्यते इत्यादि। क्या ये क्रियाएँ नहीं हैं ? यदि हैं तो 'करोति' के समानाधिकरण नहीं हैं; क्योंकि 'किं करोति' के उत्तर में कोई भी 'अस्ति' नहीं कहता। दूसरी बात यह है कि इनमें किसी प्रकार के व्यापार का बोध नहीं होता। होना और करना दो भिन्न स्थितियों के धातु हैं। 'अस्ति' काल-निरपेक्ष सत्ताबोधक तथा निष्क्रिय स्थिति की क्रिया है, जब कि 'करोति' काल-सापेक्ष तथा व्यापारबोधक क्रिया है। अतएव इन 'अस्' आदि धातुओं को अन्तर्भूत करने के लिए धातु-लक्षण को बदलना पड़ेगा। इस पर पतञ्जलि दूसरे वार्तिक का उद्धरण देते हैं—'**भाववचनो धातुः**'। इसका अर्थ है कि भाव या सत्तामात्र के बोधक शब्द को धातु कहते हैं। सत्ता से हमें किसी फल की सत्ता का बोध होता है। इसीलिए फल विधि-मूलक हो या निषेधमूलक हो—उसकी सत्ता धातु में रहती ही है। कुछ क्रियाओं के निषेधरूप फल दिखलायी पड़ते हैं, जैसे—नश्यति। नाश का अर्थ है—किसी का अदृश्य हो जाना। यह अदृश्यता भी किसी-न-किसी क्रिया का ही फल है। 'अस्ति', 'भवति' इत्यादि क्रियाओं का इसके विपरीत विध्यात्मक फल है। वह है—सत्ता या स्वरूप-धारण। जब हम कहते हैं—'घटोऽस्ति' तो इसका यही अर्थ होता है कि घट

---

१. महाभाष्य, भाग २, पृ० ११४।

२. 'इह सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कदाचित्पचतीत्येतद् भवति, कदाचिन्न भवति। यस्मिन्सन्निहिते पचतीत्येतद् भवति सा नूनं क्रिया। अथवा, यया देवदत्त इह भूत्वा पाटलिपुत्रे भवति, सा नूनं क्रिया'। —वही, भाग २, पृष्ठ ११५

स्वरूप को धारण किये हुए है[1]। सभी धातुओं का तदनुसार 'भवति' के साथ समानाधिकरण-सम्बन्ध हो सकता है। जैसे—किं भवति ? पचति अथवा अस्ति। इसलिए 'भाव' शब्द सभी क्रियाओं का बोध करा सकता है[2]। इससे स्पष्ट है कि धातु भाव का ही बोधक होता है।

यदि प्रथम व्याख्या के अनुसार धातु को क्रियावाचक मानें तो भी कोई दोष नहीं। कैयट भी भाव को क्रियामात्र के अर्थ में दिखला चुके हैं, क्योंकि भाव और क्रिया एक ही है। अस्ति अथवा सत्ता में भी उपर्युक्त प्रकार से स्वरूपधारणात्मक व्यापार (क्रिया) का बोध होता ही है। क्रिया की निष्पत्ति के लिए साधनों (या कारकों) की आवश्यकता होती है। ये साधन विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार से क्रिया का उपकार करते हैं। पतञ्जलि के अनुसार इन साधनों की प्रवृत्ति का ही एक रूप क्रिया है और साधनों की प्रवृत्तियों में परस्पर भेद रहता है—ओदन का पकाना रोटी के पकाने से भिन्न है। तदनुसार कारकों की प्रवृत्तियाँ अलग-अलग होती हैं[3]। इसी प्रकार 'अस्ति' तथा 'म्रियते' में भेद होता है, क्योंकि दोनों की निष्पत्ति में कारकों की प्रवृत्तियों में भेद होता है। 'अस्ति' में कारक-प्रवृत्ति आत्मधारण के रूप में होती है तो 'म्रियते' में आत्मत्याग के रूप में[4]। प्रत्येक क्रिया की स्थिति में इस प्रवृत्ति-भेद के कारण ही परस्पर अन्तर होता है—'अस्ति' पृथक् है और 'करोति' पृथक्। यह सत्य है कि दोनों में सामान्य व्यापार है, किन्तु उनकी निष्पत्ति करने वाले साधनों की प्रवृत्तियाँ इनके व्यापारों को भिन्न बनाती हैं।

सत्ता या स्थिति की क्रियात्मकता अनुमान से प्रतिपाद्य है। कोई पूछता है कि देवदत्त का रोग किस स्थिति में है ? कोई कहता है कि बढ़ रहा है (वर्धते), दूसरा कहता है कि घट रहा है (अपक्षीयते) और तीसरा बोलता है कि ज्यों का त्यों (स्थित) है। यहाँ 'स्थित' कहने पर 'वर्धते' तथा 'अपक्षीयते' की निवृत्ति (निषेध) होती है। क्रिया क्रिया की निवृत्ति करती है—किसी की सत्ता का अर्थ है—उसकी वृद्धि या क्षय का निषेध। अतः इस अर्थ में 'अस्ति' का क्रियारूपत्व संगत है। एक दूसरे प्रकार से भी 'अस्ति' की क्रियात्मकता का प्रतिपादन सम्भव है। यह एक सत्य है कि सभी भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कालों की अभिव्यक्ति क्रिया के बिना नहीं हो सकती, सभी क्रियाओं को कालत्रय की अभिव्यक्ति करते देखते हैं; जैसे—अपाक्षीत्,

---

१. 'आत्मभरणवचनो भवतिः'। —कैयट : प्रदीप २, पृ० ११८

२. 'भावशब्दः क्रियामात्रवाची।···तेन पचादीनामपि धातुसंज्ञा सिध्यति, अस्तिभवतिविद्यतीनामपि, भावरूपार्थाभिधायित्वात्'। —कैयट : प्रदीप २, पृ० ११८

३. 'कारकाणां प्रवृत्तिविशेषः क्रिया। अन्यथा च कारकाणि शुष्कोदने प्रवर्तन्ते, अन्यथा च मांसोदने'। —महाभाष्य २, पृ० १२३। 'शुष्कोदने मन्दप्रयत्नः प्रवर्तते, मांसोदने तु संवेगेन'।—कैयट

४. कैयट, वही।

पश्यति तथा पचति के द्वारा क्रमशः ये काल अभिव्यक्त होते हैं। 'अस्ति' आदि क्रियाओं के साथ भी ऐसी बात देखी जा सकती है; जैसे—'अभूत्' कहने से अतीत-कालिक सत्ता, 'भविष्यति' कहने से भविष्यत्कालिक तथा 'अस्ति' कहने से वर्तमान-कालिक सत्ता का बोध होता है। अतएव क्रियान्तर के धर्म का सामान्य समन्वय दिखलाकर भी 'अस्ति' आदि की क्रियात्मकता सिद्ध हो सकती[1]। पतंजलि ने यह भी दिखलाया है कि 'करोति' का 'अस्ति' के साथ समानाधिकरण होने में क्यों कठिनाई होती है। स्थिति यह है कि सत्ता का पूर्वज्ञान नहीं होने के कारण हम 'किं करोति' ऐसा प्रश्न ही नहीं कर सकते कि 'अस्ति' के रूप में कोई प्रतिवचन दे सके। किसी के अस्तित्व-ज्ञान के अनन्तर ही तद्विषयक 'किं करोति' के रूप में किये गये पर्यनुयोग की सार्थकता होती है, उसके सत्ताज्ञान के निमित्त उक्त प्रश्न नहीं हो सकता। यहीं पर दोनों क्रियाओं के परस्पर समानाधिकरण नहीं हो सकने का बीज है। ऐसी बात नहीं कि 'अस्ति' क्रिया ही नहीं है।

समन्वय

इससे निष्कर्ष निकलता है कि धातु का लक्षण हम 'क्रियावचन' करें या 'भाव-वचन'— दोनों में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं। भाव और क्रिया में यदि अन्तर है तो बस यही कि क्रिया परिस्पन्दात्मक होती है और भाव में यह परिस्पन्द गम्यमान नहीं रहता। अन्यथा दोनों एक ही हैं—भाव का क्रियारूप में तथा क्रिया का भावरूप में ग्रहण होता ही है[2]।

वाक्यपदीय में क्रिया-विचार

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के साधन-समुद्देश (३।७) में कारकों का विवेचन करने के अनन्तर क्रिया का विवेचन क्रिया-समुद्देश (३।८) में किया है, जिसमें ६३ कारिकाएँ हैं। उतना विस्तृत विवेचन करना न तो यहाँ संभव है, न अपेक्षित ही। अतः हम यहाँ संक्षेप में इनके क्रिया-विषयक अभिमत का उल्लेख करेंगे, जिससे ऐतिहासिक श्रृंखला विच्छिन्न न हो। यास्क के 'पूर्वापरीभूत' को ध्यान में रखकर भर्तृहरि ने क्रिया के दोनों लक्षणों में (जो परस्पर पूरक हैं) क्रम को बड़ा महत्त्व दिया है। उनका प्रथम लक्षण है—

'यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते' ॥ —वा० प० ३।८।१

इसका अभिप्राय यह है कि सिद्ध (भूतकाल में) हो या असिद्ध (वर्तमान तथा भविष्यत् कालों में)—जितना भी फल तथा व्यापार साध्य के रूप में कहा जाता है वह सभी एक विशेष पूर्वापर-क्रम का आश्रय लेने के कारण 'क्रिया' है। यहाँ 'सिद्ध'

---

१. महाभाष्य तथा कैयट २, पृ० १२४।
२. 'परिस्पन्दापरिस्पन्दरूपतया क्रियाभावयोर्भेदेनोपन्यासः'। —कैयट, वही

इसलिए कहा गया है कि अतीत काल वाली 'अपठत्' इत्यादि क्रियाओं का अन्तर्भाव हो सके। वर्तमान तथा भविष्यत् की क्रियाएँ तो असिद्ध हैं ही। तथापि 'नाम' से क्रिया का यही भेद है कि क्रिया कभी भी हुई हो या होनेवाली हो—सदा साध्य ही कहलाती है, कारकों के द्वारा उसकी सिद्धि होती है। इसका कारण यह है कि क्रिया में अवान्तर व्यापारों के क्रम का आश्रय लिया जाता है; नाम की अवस्था में वे क्रम समाप्त हो चुके होते हैं। इसका उदाहरण है—'ध्वनति' तथा 'ध्वनिः'। घण्टा बज रहा है (ध्वनति)—यहाँ कार्य ध्वनि तथा कारण घण्टा है। दोनों के सम्बन्ध से क्रम का आश्रय लिया गया है। जब क्रम की निवृत्ति हो जाती है तब कहते हैं 'ध्वनिः'। यह नाम है[1]। इसी प्रकार 'श्वेतते' (श्वेतरूप में प्रकाशित हो रहा है)—ऐसा क्रिया-प्रयोग होता है, किन्तु सिद्ध हो जाने पर उसका 'श्वेत-गुण' कर्तृरूप में भी व्यवहृत होता है—'श्वेतः श्वेतते'।

क्रम का आश्रय लेने से क्रिया के एकत्व में बाधा पहुँचने की आशंका होती है, अतः भर्तृहरि को इसके निवारणार्थ दूसरी कारिका देनी पड़ती है—

'गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते'॥ —वा० प० ३।८।४

ये क्रमवान् क्षण एक फल के उद्देश्य से प्रवृत्त होते हैं, अतएव संकलन-बुद्धि से उनके एकत्व की व्यवस्था करके क्रिया का व्यवहार होता है। क्रिया के सभी अवयव उसके एकत्व के प्रति गुणीभूत (अप्रधान) रहकर क्रम से जन्म लेते हैं। यही कारण है कि क्रिया की एकात्मकता सुरक्षित रहती है।

सत्ता-बोधक 'अस्ति' आदि क्रियाओं की ओर भी भर्तृहरि की दृष्टि गयी है। यह सत्य है कि सत्ता नित्य, असाध्य तथा क्रमरहित (एक) है[2] अर्थात् इस पर क्रिया का उपर्युक्त लक्षण नहीं लग सकता। इसीलिए वे कहते हैं—

'कालानुपाति यद् रूपं तदस्तीत्यनुगम्यते।
परितस्तु परिच्छिन्नं भाव इत्येव कथ्यते'॥

—वा० प० ३।८।१२

वस्तुस्थिति यह है कि अस्-धातु के ही 'आसीत्, अस्ति, भविष्यति' ये तीन रूप दिखलायी पड़ते हैं। काल के द्वारा अभिव्यंग्य होना द्रव्य का नहीं, प्रत्युत क्रिया का धर्म है। 'घटः' कहने से काल-विशेष का बोध नहीं होता, किन्तु 'अस्ति' में होता है। यदि 'किं करोति' का उत्तर 'अस्ति' के रूप में न मिले तो इसके क्रिया न होने की आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पतञ्जलि का उपर्युक्त विश्लेषण तो है ही, इसके अतिरिक्त जब किसी के विनाश की आशंका से प्रश्न किया जाय—'किं करोति

---

१. वा० प० ३।८।२।

२. तुलनीय, वैशे० सू० १।२।१७—'सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः'।

देवदत्तः ?' तो उत्तर में यदि 'अस्ति तावत्' कहा जाय तो इसके क्रियात्व का कौन निवारण करेगा ? तब एक बात अवश्य है कि कृ, भू, अस् का चूँकि प्रत्येक धातु में अन्वय होता है, अतः ये क्रियासामान्य हैं, 'पचति' आदि क्रिया-विशेष के वाचक हैं[1]।

मण्डनमिश्र : फल की धात्वर्थता

सुप्रसिद्ध मीमांसक मण्डनमिश्र का धात्वर्थ-विषयक विचार वैयाकरणों के बीच अत्यधिक आलोचना का विषय रहा है। अतएव उनके तथाकथित एकांगी मत का निरूपण करना आवश्यक है। वे कहते हैं कि धात्वर्थ केवल फल ही है, व्यापार का बोध तो प्रत्यय से होता है। तदनुसार गम्-धातु का अर्थ है—उत्तर देश के साथ संयोग की प्राप्ति; जो निश्चय ही फल है। धातु के अर्थ में प्रत्यय व्यापार का अर्थबोध कराते हैं और तब पूरी क्रिया से व्यापार सहित फल का बोध होने लगता है। उदाहरणार्थ 'गच्छति' क्रिया में गम् तथा तिप् क्रमशः फल और व्यापार का बोध कराते हैं, जिससे हमें ज्ञान होता है कि एक व्यक्ति व्यापार में लगा है कि वह उत्तर देश के संयोग में आ सके। व्यापार की समाप्ति हो जाने पर कोई भी प्रत्यय धातु में नहीं जोड़ा जाता। धातु के फल की अप्राप्तावस्था में ही व्यापार-बोधक प्रत्यय लगाये जाते हैं तथा इसीलिए फलप्राप्ति के लिए व्यापार की कल्पना भी अनिवार्य है[2]।

नागेश द्वारा आलोचना

मण्डनमिश्र के उपर्युक्त विचार का संक्षिप्त उद्धरण देकर नागेश ने अपनी लघुमंजूषा में[3] इसका विशद रूप से खण्डन किया है। उनकी युक्तियों का सारांश यह है—

(१) फलमात्र को धात्वर्थ मानने पर सर्वप्रथम पाणिनि के सूत्र 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (३।४।६९) का विरोध होगा। इस सूत्र में लकार (तिङ्प्रत्यय) का अर्थ बतलाया गया है, किन्तु यह तनिक भी संकेतित नहीं होता कि उन प्रत्ययों का अर्थ व्यापार भी है।

(२) एक ही धातु में विभिन्न प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुए विभिन्न क्रियारूपों में व्यापार की भिन्नता माननी पड़ेगी, जैसे—पचति, पक्ष्यति तथा पक्ववान्—इन क्रियाओं से फूत्कार (फूँकना) आदि व्यापार का ज्ञान कैसे होगा ? निश्चित रूप से हमें विभिन्न प्रत्ययों में उक्त व्यापार-ज्ञान कराने के लिए शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी। पृथक्-पृथक् प्रत्ययों में समान व्यापार-बोध कराने के लिए अलग-अलग शक्ति माननी होगी—यह अनुचित है। इससे कहीं अच्छा है कि धातु में शक्ति मानें जिससे एक ही शक्ति के द्वारा उक्त व्यापार का सरलतया समान रूप से बोध हो।

---

१. हेलाराज ३।८।१२ की व्याख्या में।

२. भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०१।

३. ल० म०, पृ० ५३३-३४।

(३) यदि फूत्कारादि व्यापार प्रत्ययार्थ रखे जाते हैं तो 'पचति' के समान 'गच्छति' में भी समान रूप से तिप्-प्रत्यय होने के कारण फूत्कारादि व्यापारों की प्रतीति होगी। यदि इस असंगति से बचने के लिए कहें कि पचादि-धातुओं के समभिव्याहार (सहोच्चारण) स्थल में ही प्रत्यय का अर्थ फूत्कारादि है तो कल्पना-गौरव होगा। यदि पचादि-धातु ही फूत्कार के प्रयोजक हैं तो व्यापार का बोध कराने के लिए धातुगत शक्ति मानने में क्या आपत्ति है ? वैयाकरणों के मत में धातु-भेद से व्यापार-भेद होता है, अतः उक्त 'पचति' तथा 'गच्छति' क्रियाओं के व्यापार-भेद की उपपत्ति में कोई विसंगति नहीं हो सकती।

(४) फलमात्र को धात्वर्थ मानने से सकर्मक तथा अकर्मक के व्यवहार का उच्छेद हो जायगा। स्वार्थ (धात्वर्थ) के रूप में स्थित व्यापार के अधिकरण से भिन्न अधिकरण में रहनेवाले फल का वाचक **सकर्मक** होता है और स्वार्थ (धात्वर्थ) के रूप में स्थित व्यापार के अधिकरण (आधार, आश्रय) में ही स्थित फल का वाचक **अकर्मक** होता है। यही दोनों क्रियाओं के व्यवहार का मूल है। यदि व्यापार धात्वर्थ नहीं रहे तो ऐसा व्यवहार नहीं हो सकेगा।

मीमांसक सकर्मक-अकर्मक के व्यवहार की रक्षा के लिए नये लक्षण देते हैं। उनके मत में प्रत्ययार्थ-भूत व्यापार से भिन्न अधिकरण वाले फल का वाचक **सकर्मक** है तथा प्रत्ययार्थ-भूत व्यापार के अधिकरण में ही रहने वाले फल का वाचक **अकर्मक** है। वे लोग प्रत्ययार्थ-रूप व्यापार के आश्रय को कर्ता समझते हैं। पुनः वे कहेंगे कि 'घटं भावयति' में णिच् के अर्थ (प्रेरणाव्यापार) के अधिकरण से भिन्न अधिकरण-वाले फल का आश्रय होने से 'घट' कर्म है। मीमांसक इस कथन के द्वारा अपने मत की रक्षा भले ही कर लें, किन्तु इससे एक दूसरी कठिनाई उत्पन्न हो जायेगी। वह यह कि अभिधान (उक्त होना) तथा अनभिधान (अनुक्त होना) की जो व्याकरण-शास्त्र में एक निश्चित व्यवस्था है, उसका उच्छेद हो जायेगा। चूँकि तिङ् आश्रय के अर्थ में नहीं रह सकेगा (क्योंकि वह व्यापारार्थक है) इसलिए 'तिङ्कृत्तद्धितसमासैः परिसङ्ख्यानम्' इस वार्तिक की परिगणना के अनुसार व्यापार तथा फल के आश्रयभूत कर्ता और कर्म का अभिधान तिङ्-प्रत्यय नहीं कर सकेगा[१]।

इसके उत्तर में मीमांसक यह कहते हैं कि प्रत्ययार्थ व्यापार से आश्रय का आक्षेप होने से **कर्ता अभिहित होता है** और कर्मवाचक तिङन्त में प्रधानीभूत फल के द्वारा अपने आश्रय का आक्षेप होने से **कर्म अभिहित होता है**। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार जाति-मात्र में शक्ति मानने पर जाति से आक्षिप्त व्यक्ति होता है, उसी प्रकार मीमांसकों के मतानुसार व्यापार से आक्षिप्त आश्रय (कर्ता या कर्म) की प्रधानता क्रिया में होने का अनिष्ट प्रसंग उत्पन्न हो जायेगा। यास्क ने 'भाव-

---

१. परमलघुमञ्जूषा, वंशीटीका, पृ० ४९।

प्रधानमाख्यातम्' कहा है और ये लोग आश्रय को प्रधान बतला रहे हैं। यह विचित्र असंगति हो जायेगी[1]।

(५) यदि फल की प्राप्ति धातु से हो जाय तथा वह फल अपने आश्रय की प्राप्ति आक्षेप के द्वारा करा दे तब तो 'लः कर्मणि' (लकार कर्म में होते हैं)—इस सूत्रांश की व्यर्थता अनिवार्य ही हो जायेगी, क्योंकि जब आक्षेप से ही कर्म का बोध हो जाता हैं तब उसमें लकार के विधान की क्या आवश्यकता है ?

(६) इसी प्रकार कर्म तथा कर्ता के वाचक कृत्-प्रत्ययों को कारक एवं भावना (व्यापार) दोनों का वाचक मानें तो कल्पना-गौरव दोष होगा। मीमांसकों का धातु व्यापार का बोध नहीं कराता। व्यापार-बोध के लिए 'पाचक' शब्द में उसके अनुसार ण्वुल्-प्रत्यय की शक्ति है। अब पूछें कि ण्वुल् किन-किन पदार्थों का बोध करायेगा ? एक ओर तो व्याकरणशास्त्र ने उसे कर्ता का बोध कराने का भार दिया है। अब मीमांसक कहते हैं कि तुम व्यापार का भी बोध कराओ। इस प्रकार कर्ता तथा व्यापार दोनों में उसकी शक्ति मानना गौरव-दोष है।

(७) यदि उक्त गौरव-दोष से बचने के लिए कृत्-प्रत्ययों की उभय-वाचकता (कारक तथा व्यापार बोध कराने की शक्ति) नहीं स्वीकार करेंगे, तब एक दूसरा दोष आ जायेगा। भाव (धात्वर्थ) के अर्थ में जो घञ्, ल्युट् आदि प्रत्यय विहित हैं उनमें यदि व्यापार की वाचकता नहीं मानी जाये (क्योंकि मीमांसक फलमात्र को धात्वर्थ मानते हैं और यहाँ धात्वर्थ अर्थात् फल में ही घञादि प्रत्यय होंगे—व्यापार उनका बोध्य नहीं रहेगा) तो 'ग्रामः संयोगवान्' के समान 'ग्रामो गमनवान्' के प्रयोग की आपत्ति होगी। वस्तुस्थिति यह है कि वे लोग व्यापार में धातु की शक्ति नहीं मानते, इसलिए संयोगमात्र गम्-धातु का अर्थ होगा। दूसरी ओर यदि कृत्-प्रत्यय की भी व्यापार में शक्ति नहीं रहेगी तो 'गमन' शब्द में ल्युट्-प्रत्यय व्यापार का बोध नहीं करा सकेगा और जिस प्रकार संयोग का आश्रय होने पर ग्राम को संयोगवान् कहा जाता है, उसी प्रकार विशुद्धफल के रूप में स्थित गमन का आश्रय होने से ग्राम को कदाचित् गमनवान् भी कहा जा सकता है[2]।

अब यदि घञ् आदि प्रत्यय व्यापार का बोध करायें तब तो उस प्रयोग का वारण भले ही हो जाय, किन्तु वह व्यापार अपने आश्रतभूत कर्ता को अभिहित कर देगा, उसमें प्रथमा विभक्ति की आपत्ति हो जायेगी और 'स गमनम्' ऐसा अनिष्ट प्रयोग होने लगेगा।

(८) मीमांसक लोग प्रत्यय का अर्थ व्यापार लेते हैं तो 'गुरुः शिष्याभ्यां पाचयति' में वे पाणिनि के **'हेतुमति च'** (३।१।२६) सूत्र के आधार पर प्रयोजक (प्रेरणा देनेवाले—गुरु) के व्यापार को णिच् का अर्थ मानेंगे। तब तिङ् (आख्यात) का अर्थ प्रयोज्य (शिष्य) का ही व्यापार होगा। अब समस्या उठ खड़ी होगी कि संख्या

---

१. द्रष्टव्य—ल० म०, पृ० ५३१-३२।

२. द्रष्टव्य—परमलघुमंजूषा, ज्योत्स्ना, पृ० ९४।

का अन्वय तो अपने वाचक तिङ् के अर्थभूत व्यापार में ही हो सकेगा, क्योंकि, यही उसका अन्वयी है। तिङ् का अर्थ है—शिष्यों का व्यापार। अतः एकवचनरूप तिङ् के साथ अन्वित हो सकने के लिए शिष्य (प्रयोज्य) में द्विवचन नहीं हो सकेगा। शिष्य के द्विवचन को बचायें तो 'पाचयति' में एकवचन असिद्ध होगा। पुनः गुरु का अभिधान तिङ् द्वारा नहीं होने से उसमें प्रथमा विभक्ति भी नहीं होगी। और दूसरी ओर, शिष्य का तिङ् द्वारा अभिधान होने से उसमें प्रथमा होगी। इस प्रकार व्यापार को प्रत्ययार्थ मानने पर दोषों की एक लम्बी शृंखला प्रक्रान्त हो जाती है।

धात्वर्थ के एकाङ्गी सिद्धान्त

इस विशद विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मीमांसकों का यह सिद्धान्त कि फल मात्र धात्वर्थ है—कभी भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह धातु के आंशिक अर्थ को ही प्रकट करता है। मीमांसकों के समान ही प्राचीन नैयायिकों का सिद्धान्त भी धातु के आंशिक अर्थ को स्वीकार करता है। वे लोग व्यापार मात्र में धातु की शक्ति स्वीकार करते हैं तथा फल को कर्म-प्रत्यय का अर्थ मानते हैं[1]। इस मत में भी उसी प्रकार सभी असंगतियाँ उपस्थित होंगी जिस प्रकार फल को धात्वर्थ मानने पर होती हैं। नागेश ने इसकी भी सबल समालोचना की है[2]।

प्राचीन नैयायिकों के मत की असंगति दिखलाने के लिए हम दो उदाहरण लें—'रामो ग्रामं गच्छति' तथा 'रामो ग्रामं त्यजति'। प्रथम उदाहरण में राम का किसी स्थान से विभाग होकर ग्राम से संयोग होता है और दूसरे उदाहरण में उसका ग्राम से विभाग होकर दूसरे किसी स्थान से संयोग होता है। पहली स्थिति में रामगत व्यापार अनिवार्यतया संयोगरूप ही नहीं विभागरूप भी हो सकता है, क्योंकि राम जहाँ खड़ा था उस देश से उसका विभाग रूप व्यापार तो होता ही है। उसी प्रकार 'ग्रामं त्यजति' में रामगत व्यापार न केवल विभागरूप ही है, प्रत्युत संयोग रूप भी है। फलस्वरूप गम्-धातु का अर्थ विभाग तथा त्यज्-धातु का अर्थ संयोग भी होने लगेगा[3]। यह स्पष्ट रूप से उनका असंगत अर्थ है। अतः व्यापारमात्र को धात्वर्थ मानना उचित नहीं, क्योंकि उपर्युक्त स्थितियों में त्याग और गमन में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा अर्थात् दोनों में समान व्यापार होने से ये पर्याय कहे जायेंगे। यदि उत्तर में नैयायिक कहे कि यहाँ फल से अवच्छिन्न व्यापार का बोध होता है तो वे सर्वत्र सभी धातुओं में ऐसा क्यों नहीं मानते?

---

१. ल० म०, पृ० ५३५। तुलनीय—'क्रियामात्रं (केवलं व्यापारमात्रं) धात्वर्थः। फलं तु कर्मप्रत्ययेन बोध्यते इति प्राञ्चो रत्नकोशकृत्प्रभृतय आहुः' (तत्त्वचिन्तामणि)। —न्या० को०, पृ० ३९१ पर उद्धृत

२. ल० म०, पृ० ५३५-३६।

३. 'ग्रामं गच्छतीत्यत्र विभागस्य, त्यजतीत्यत्र संयोगस्य बोधापत्तेः'। —ल० म०, पृ० ५३५

गत्यर्थकर्म में द्वितीया तथा चतुर्थी का (यथा—ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति), ल्यप्-प्रत्यय का लोप होने पर कर्म में पंचमी का (यथा—प्रासादात् प्रेक्षते) तथा इन्-प्रत्यय से सम्बद्ध क्त-प्रत्ययान्त के कर्म में सप्तमी का (यथा—अधीती व्याकरणे) इस प्रकार के विधान हुए हैं। नैयायिकों को फल का बोध करने के लिए इन अनेकानेक सुप् और तिङ् विभक्तियों में शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी। विभिन्न धातुओं के समभिव्याहार को फलबोध का प्रयोजक मानना पड़ेगा, जैसे गम्-धातु के समभिव्याहार (उपस्थिति) में संयोगरूप फल का होना। यह कल्पना-गौरव है। इससे तो अच्छा है कि धातु में ही फलबोधकता-शक्ति स्वीकार कर लें। यदि 'पच्यते तण्डुल: स्वयमेव' ऐसा कर्मकर्तृवाच्य का प्रयोग हो तब तो फल को धातुवाच्य मानना ही होगा। नैयायिक फल को कर्मप्रत्यय का अर्थ बतलाते हैं। यहाँ विक्लित्तिरूप फल का आश्रय तण्डुल व्यापार के आश्रय के रूप में भी विवक्षित है, उसका अभिधान भी हो रहा है। अतः धातु फल और व्यापार दोनों का बोध करा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल व्यापार या केवल फल को धात्वर्थ मानने वाले मत एकांगी हैं। वास्तव में व्यापार और फल को पृथक् नहीं रखा जा सकता है, क्योंकि वे दोनों ही धातु के अर्थ हैं। फल के बिना व्यापार या व्यापार के बिना फल की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि वैसा करने से वे निरर्थक हो जायेंगे। दोनों का संयोग होने पर ही धातु का पूरा अर्थ व्यक्त होता है। इन्हें परस्पर विशेषण तथा विशेष्य के रूप में रखा जाता है। व्यापार तथा फल के मध्य कौन विशेषण होगा और कौन विशेष्य—यह वाच्य-प्रयोग पर निर्भर करता है।

कर्तृवाच्य में व्यापार की प्रधानता

कर्तृवाच्य में, जहाँ कर्ता अभिहित होता है, धातु के अर्थ में व्यापार विशेष्य एवं फल विशेषण रहता है। इसका कारण यह है कि फल कर्तृ-प्रत्यय के समभिव्याहार के स्थल में उससे सम्बद्ध धातु के अर्थ (व्यापार-विशेष्यक अर्थ) से उत्पन्न होता है[1]। तदनुसार यहाँ 'फलानुकूल व्यापार' ऐसा धात्वर्थ होगा। उदाहरणार्थ गम्-धातु का अर्थ यदि कर्तृवाच्य के स्थल में व्यक्त करना हो तो कहेंगे—उत्तरदेश संयोग के अनुकूल पाद-प्रक्षेप आदि व्यापार। पच-धातु के कर्तृवाच्य में 'रामः पचति' का इसीलिए बोध होता है—**'रामाभिन्नकर्तृकान्नविक्लित्त्यनुकूलः स्थाल्यधिश्रयणादिव्यापारः'**। इसमें व्यापार का अधिक महत्त्व रहता है। हम देखते हैं कि स्थाली का अधिश्रयण (चूल्हे पर रखना) आदि व्यापार पहले होता है, तब अन्न की कोमलतारूप फल प्राप्त होता है। कर्तृवाच्य में कर्ता का अभिधान या प्राधान्य होता है और वही कर्ता व्यापार का आश्रय होता है। इस प्रकार कर्तृवाच्य में व्यापार की प्रधानता होती है एवं परवर्ती होने के कारण फल अप्रधान या गुणीभूत हो जाता है। किन्तु

---

१. **'फलत्वं च कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वम्'**। —ल० म०, पृ० ५४०

यह भी सत्य है कि उसी फल की प्राप्ति के उद्देश्य से (अनुकूल) व्यापार किया जाता है, दोनों को पृथक् करना कठिन है ।

कर्मवाच्य में फल की प्रधानता

कर्मवाच्य में प्रधानता का यह नियम व्युत्क्रम हो जाता है[1] । इसमें व्यापार को विशेषण रखकर फल को विशेष्य-भाव प्राप्त होता है, क्योंकि फल का आश्रय कर्म इसमें अभिहित रहता है । इस स्थिति में धातु का अर्थ फलावच्छिन्न व्यापार न रहकर व्यापारावच्छिन्न फल हो जाता है । वैसे धातु दोनों का बोध कराने में समर्थ है, किन्तु वाच्यभेद से कर्तृप्रत्यय या कर्मप्रत्यय के द्वारा उनके प्राधान्य-अप्राधान्य का निर्णय होता है[2] । लोकानुभव से प्रमाणित होने के कारण इसमें गौरव-दोष नहीं होता । अतएव कर्मवाच्य के उदाहरण—'रामेणोदनः पच्यते' में पच-धातु का अर्थ बदला हुआ है । यह प्रधानतया व्यापार के अर्थ में नहीं है । अन्न-विक्लित्तिरूप फल की इसमें प्रधानता होने से व्यापार गौण हो गया है । वक्ता का सारा ध्यान ओदन के परिणाम पर केन्द्रीभूत है, व्यापार को वह महत्त्व नहीं दे रहा है । किन्तु व्यापार उससे अलग नहीं हो सकता, क्योंकि फल की व्यापारजन्यता सुस्पष्ट है । इसीलिए इसके शाब्दबोध में हम कहते हैं—**रामाभिन्नकर्तृको यो व्यापारः तज्जन्या ओदनाभिन्नैककर्मनिष्ठा विक्लित्तिः** । यहाँ ओदन को संकलित रूप से एकत्व-संख्या से विशिष्ट मानकर तिङ् से अन्वय किया गया है । यह बात नहीं कि वह तण्डुल का एक ही दाना पका रहा है ।

शाब्दबोध

वैयाकरण तथा नव्यनैयायिक दोनों ही धातु की शक्ति फल तथा व्यापार दोनों में स्वीकार करते हैं, किन्तु वैयाकरण विशिष्ट शक्ति (फल-विशिष्ट व्यापार या व्यापार-विशिष्ट फल) के द्वारा दोनों को जहाँ धातुबोध्य समझते हैं, वहाँ गदाधर प्रभृति नैयायिक पृथक् शक्ति मात्र से उन दोनों को धातुबोध्य मानते हैं । तात्पर्य यह है कि धातु की फलबोधिका शक्ति पृथक् है और व्यापार-बोधिका पृथक् है । नागेश ने इस मत का पूर्ण विवेचन लघुमंजूषा में किया है[3] । नैयायिकों तथा वैयाकरणों के शाब्दबोध में तो अन्तर है ही । वैयाकरणों के अनुसार उपर्युक्त शाब्दबोध में क्रिया की विशेष्यता हम देख चुके हैं । उनका शाब्दबोध इसीलिए **क्रियामुख्यविशेष्यक** कहा जाता है । नैयायिकों के शाब्दबोध में प्रथमान्त शब्द से बोधित अर्थ की विशेष्यता

---

१. 'कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे तु फलस्य विशेष्यता' । —ल० म०, पृ० ५४१

२. 'तस्मात्फलावच्छिन्ने व्यापारे व्यापारावच्छिन्ने फले च धातूनां शक्तिः । कर्तृकर्मार्थकतत्तत्प्रत्ययसमभिव्याहारश्च तत्तद्बोधे नियामकः । गौरवं च प्रामाणिकत्वान्न दोषावहम्' । —ल० म०, पृ० ५४३

३. ल० म०, पृ० ५४० ।

होती है, अर्थात् **प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक** बोध होता है। 'रामः ओदनं पचति' इस कर्तृवाच्यस्थ वाक्य का शाब्दबोध होगा—'ओदनवृत्ति-विक्लित्त्यनुकूल व्यापारानु-कूल-कृतिमान् एकत्वविशिष्टो देवदत्तः'। यही वाक्य यदि कर्मवाच्य में हो जाय तो 'ओदन' प्रथमान्त हो जायेगा तथा वह विशेष्य के रूप में रहेगा—'रामसमवेता या कृतिः तज्जन्यो यो व्यापारः तज्जन्या या विक्लित्तिः तदाश्रय एकत्वविशिष्ट ओदनः'[1]। नैयायिकों का मुख्य अभिनिवेश प्रत्ययार्थ के निरूपण में है। वैयाकरणों में वाच्यानुसार क्रियामुख्य-विशेष्यक शाब्दबोध को स्पष्ट करने की रीति है। अतः कतवाच्य में व्यापारमुख्य-विशेष्यक बोध और कर्मवाच्य में फलमुख्य-विशेष्यक बोध होता है।

सकर्मक तथा अकर्मक धातु का अर्थ

इस प्रकार वाच्य-परिवर्तन के मूल में फल तथा व्यापार के महत्त्व का यह परिवर्तन ही काम करता है। किन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि वे एक-दूसरे को त्याग दें। दोनों का अविच्छेद्य सम्बन्ध है, दोनों ही मिलकर धात्वर्थ होते हैं। वाच्यों की विभिन्नता के कारण उनके महत्त्व में अन्तर आता है। कोई धातु इसीलिए सकर्मक कहलाता है कि फल तथा व्यापार भिन्न अधिकरणों में रहते हैं[2]। पच्-धातु सकर्मक है, क्योंकि फल (विक्लित्ति) तथा व्यापार (अग्नि-प्रज्वालन आदि) रूप धर्म के धर्मी (आश्रय) पृथक्-पृथक् हैं। व्यापार तो पाककर्ता में है, किन्तु फल ओदनादि कर्म में स्थित है। यद्यपि फल तथा व्यापार—ये दोनों एक ही धातु के अर्थ हैं, किन्तु इनके आश्रय (या अधिकरण) भिन्न-भिन्न होते हैं। व्यापार का आश्रय फल के आश्रय से भिन्न है। सकर्मक धातुओं की यही विशेषता है। इन धातुओं की स्थिति में यह आश्रय-भेद ही फल या व्यापार के महत्त्व-भेद को सम्भव बनाता है। यदि दोनों का आश्रय एक ही होता, जैसा कि अकर्मक धातुओं की स्थिति में होता है, तो उक्त महत्त्व-भेद कभी सम्भव ही नहीं होता।

अकर्मक धातु वह है जिसमें धातु के फल और व्यापार का आश्रय एक ही पदार्थ होता है; जैसे—शी (शयन करना), लज्ज् (लजाना) आदि। यहाँ नेत्रनिमीलन, पादप्रसारण, पक्षपरिवर्तन आदि शयन-क्रिया के व्यापार तो उसके कर्ता में निहित हैं ही, उसके फल के रूप में जो श्रान्ति की उपलब्धि होती है वह भी उसी कर्ता में है। 'देवदत्तो भवति (उत्पद्यते इत्यर्थः)' यहाँ भू-धातु का उत्पत्ति रूप फल तथा बहि-र्निसरणरूप व्यापार—ये दोनों देवदत्त में ही स्थित हैं[3]। नागेशभट्ट का कथन है कि कभी-कभी एक दूसरे प्रकार से व्यापारमात्र के वाचक धातु को अकर्मक कहा जाता है, जैसे—'अस्ति'। यहाँ केवल सत्ता ही अर्थ है, सूक्ष्म दृष्टि से भी फलांश की प्रतीति

१. न्यायकोश, पृ० ३९२।

२. 'फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः।
धातुस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः'॥ —वै० भू०, कारिका १३

३. प० ल० म०, पृ० १७८।

नहीं होती। किन्तु इससे धात्वर्थ-विषयक वैयाकरण-सिद्धान्त खण्डित नहीं होता। हम यह कहें कि फल-विशिष्ट व्यापार का वाचक अकर्मक है[१]।

यद्यपि सामान्यरूप से सकर्मक धातु फल और व्यापार की समानाधिकरणता होने से ही होता है, किन्तु नागेश सकर्मक धातु को पारिभाषिक से अधिक यौगिक मानते हैं। उनके अनुसार सकर्मक वह नहीं है जिस धातु के उच्चारण के बाद कर्म की आकांक्षा नियत हो। 'गच्छति' आदि में उसकी आकांक्षा नहीं होने पर भी सकर्मकता होती है। यह लक्षण भी ठीक नहीं है कि अकर्मक से भिन्न धातुओं को सकर्मक कहते हैं, क्योंकि सकर्मक धातु भी कई स्थितियों में अकर्मक होते देखे जाते हैं। तब सकर्मक क्या है? इस शास्त्र (पाणिनि-व्याकरण) में प्रतिपादित कर्म संज्ञा-वाले पदार्थों से अन्वित क्रिया ही सकर्मक है। जो क्रिया उससे अन्वित नहीं है वह अकर्मक है[२]। इसी से 'अध्यासिता भूमयः' जैसे प्रयोग उपपाद्य हैं। इसमें '**अधिशीङ्स्थासां कर्म**' (पा० सू० १।४।४६) सूत्र के अनुसार भूमिरूप आधार को कर्मसंज्ञा हुई है। वह कर्मवाचक 'क्त'-प्रत्यय के द्वारा अभिहित भी हुआ है। तदनुसार अधि+आस् सकर्मक धातु है। सकर्मक के दूसरे लक्षणों के द्वारा इस कर्मवाच्य-प्रयोग की सिद्धि सम्भव नहीं है। कर्मवाच्य चूँकि सकर्मक धातुओं से ही होता है, अतः अधि+आस् को सकर्मक मानना आवश्यक है और यह भी तभी सम्भव है जब नागेश का उपर्युक्त सकर्मकत्व-लक्षण माना जाय। इसी प्रकार 'प्रासादोऽधिष्ठितः अधिशय्यते' इत्यादि प्रयोग भी कर्मवाच्य में इसी लक्षण के बल पर होते हैं। निष्कर्षतः 'कर्मणा सह वर्तते इति सकर्मकः' इस यौगिक अर्थ में ही सकर्मक का अर्थ होना चाहिए।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि कभी-कभी बाह्य कर्म की सत्ता होने पर भी धातु अकर्मक कहलाता है[३]। इससे ज्ञात होता है कि बाह्य (स्थूल) कर्म का रहना ही सकर्मकता का नियामक नहीं है। इससे नागेश के मत का महत्त्व समझ में आता है। भर्तृहरि अकर्मक धातु के नियामक तत्त्वों का निरूपण इस प्रकार करते हैं—

धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥

—वा० प० ३।७।८८

इस कारिका के अनुसार अधोलिखित चार परिस्थितियों में अकर्मक क्रिया होती है—

(१) **अर्थान्तर में धातु की वृत्ति**—जब कोई धातु अपने प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर किसी भिन्न अर्थ में वर्तमान हो तो कर्म के समन्वय से रहित क्रिया वाच्यरूप में

१. प० ल० म०, वंशी, पृ० ५४।

२. 'वस्तुतस्त्वेतच्छास्त्रीयकर्मसंज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वं सकर्मकत्वम्। तदनन्वय्यर्थकत्वमकर्मकत्वम्'। —ल० म०, पृ० ५६६ तथा ६८

३. 'क्वचित्पुनर्वस्तुतो बाह्यकर्मसद्भावेऽप्यकर्मकव्यपदेशो भवतीत्याह'। —हेलाराज, वा० प० ३, पृ० ३०३

प्रतीत होती है । जैसे—'वहति' क्रिया का प्रसिद्ध अर्थ है—'दूसरे स्थान में पहुँचा देना'। इस अर्थ में यह सकर्मक है; यथा—'भृत्यो भारं वहति, वारिवाहः' इत्यादि । किन्तु यदि यही स्यन्दन (प्रवाहित होना) क्रिया का बोध कराये तो इसे अकर्मक कहेंगे; यथा—'नदी वहति' । यहाँ 'किम्' इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल सकता (किमित्वनुयोगाभावादकर्मकः—हेलाराज) ।

(२) **धात्वर्थ में कर्म का अन्तर्भाव**—जब किसी क्रिया के अन्तर्गत ही कर्म का समावेश हो जाय और उसका पता न चले तब इस कर्मरहित क्रिया को अकर्मक ही कहते हैं; जैसे—जीवति । यह क्रिया इसलिए अकर्मक है क्योंकि इसके वास्तविक अर्थ 'प्राणान् धारयति' में स्थित प्राणरूप कर्म इसी में समाविष्ट हो गया है । इसी प्रकार 'प्राणान् जहाति' के कर्म का उपसंग्रह (अन्तर्भाव) करने वाली क्रिया 'म्रियते' अकर्मक है । 'नृत्यति' (= गात्रं विक्षिपति) तथा 'अस्ति' (आत्मानं बिभर्ति) भी इसी प्रकार अकर्मक हैं ।

(३) **प्रसिद्धि**—कभी-कभी ऐसे व्यवहार देखे जाते हैं कि जहाँ (जिन धातुओं में) निरपवाद रूप से (अव्यभिचारेण) निश्चित कर्म की प्रतीति हो रही हो किन्तु वहाँ अकर्मक है, क्योंकि उसका कर्म अत्यन्त प्रसिद्ध रहता है; जैसे—वर्षति । सभी जानते हैं कि इसका कर्त्ता मेघ (देवः) है तथा कर्म अत्यन्त प्रसिद्ध जल है । इसी से इसमें कर्तृवाच्य वाले क्त-प्रत्यय का प्रयोग होता है—वृष्टो देवः । इसी क्रिया में जब किसी अप्रसिद्ध कर्म का निर्देश करते हैं तब वह सकर्मक हो जाती है; यथा—रुधिरं वर्षति, शरान् वर्षति । साथ ही कर्मवाच्य वाले क्त-प्रत्यय का भी प्रयोग होता है—पांसवो वृष्टाः ।

(४) **कर्म की अविवक्षा**—कहीं-कहीं क्रिया के साथ कर्म का सम्बन्ध विद्यमान रहने पर भी वक्ता इसलिए उसे प्रकट करना नहीं चाहता क्योंकि उसे केवल क्रिया का प्रतिपादन अभिप्रेत रहता है । वहाँ भी क्रिया अकर्मक होती है; यथा—नेह पच्यते, नेह भुज्यते । क्रिया का प्रतिषेधमात्र अभिप्रेत रहने से भाववाच्य में लकार हुआ है । इसी प्रकार 'दीक्षितो न ददाति, न पचति, न जुहोति', 'हितान्न यः संश्रृणुते' (किराता-र्जुनीय १।४) इत्यादि में कर्म अविवक्षित है । यहाँ 'किम्' की अपेक्षा है ही नहीं, क्योंकि क्रिया के प्रतिषेध में ही सम्पूर्ण शक्ति लगी हुई है । यही वक्ता का तात्पर्य है[१] ।

पाणिनि ने **'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः'** (पा० सू० ३।४।६९) में सकर्मक तथा अकर्मक धातुओं के वाच्यों की व्यवस्था की है । सकर्मक धातुओं से जहाँ कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य (साथ ही कर्मकर्तृवाच्य भी) होते हैं, अकर्मक धातुओं से कर्तृवाच्य एवं भाववाच्य होते हैं । अकर्मक में कर्म होता ही नहीं जिससे फल का आश्रय होकर लकार के द्वारा अभिहित हो सके । कर्मवाच्य के स्थान पर उसमें भाववाच्य होता है, जिसमें धात्वर्थमात्र की प्रधानता होती है । इनके निम्नांकित उदाहरण हैं—

---

१. हेलाराज, वहीं ।

सकर्मक धातु का कर्तृवाच्य—स ओदनं पचति।
,, कर्मवाच्य—तेनोदनः पच्यते।
,, कर्मकर्तृवाच्य—ओदनः पच्यते (स्वयमेव)।
अकर्मक धातु का कर्तृवाच्य—स तिष्ठति।
,, भाववाच्य—तेन स्थीयते।

यह स्पष्ट है कि कर्मवाच्य तथा भाववाच्य की एकरूपता रहती है तथा इनके क्रियापदों में यक्, चिण् आदि प्रत्यय होते हैं। किन्तु एक बड़ा अन्तर यह है कि कर्मवाच्य में लिङ्ग, वचन तथा पुरुष से विशिष्ट कर्म का अभिधान होने से धातु कर्मानुसार प्रत्यय का परिवर्तन या ग्रहण करते हैं, जबकि भाववाच्य में भावमात्र का अभिधान होने से प्रत्यय सदा एकरूप रहते हैं। इसमें प्रत्यय सदा प्रथमपुरुष (तिङ्-मात्र में), नपुंसकलिङ्ग (कृत्-मात्र में) तथा एकवचन (उभयत्र) में रहते हैं; जैसे—तेन स्थीयते, स्थितम्। हाँ, काल का प्रभाव इस पर भी अवश्य पड़ता है जिससे भाववाच्य के रूप भी विभिन्न लकारों में हो सकते हैं—तेन अभूयत (लङ्), अभावि (लुङ्), भूयताम् (लोट्), भूयेत (लिङ्) इत्यादि।

तिङ् प्रत्यय का अर्थ—न्याय तथा व्याकरण के सिद्धान्त

पूर्ण क्रिया का रूप देने के लिए धातु में कुछ प्रत्यय लगाये जाते हैं; जैसे—तिङ् तथा तव्यत्, क्त आदि कृत्[1]। इनके अतिरिक्त सन्, यङ् आदि प्रत्यय लगाकर धातु को पुनः धातु बनाया जाता है। इन्हें प्रत्ययान्त धातु कहते हैं, क्योंकि धातुओं तथा अन्य शब्दों से इन प्रत्ययों के लगाने पर उन्हें धातुसंज्ञा ही होती है[2]। मूल धातु तथा प्रत्ययान्त धातु के अर्थों में बहुत अन्तर होता है। जिस प्रकार धातु के अर्थ के विषय में दर्शनों में अनेक मत प्रचलित हैं, उसी प्रकार प्रत्ययों के अर्थों को लेकर भी

---

१. कुछ कृत्-प्रत्ययों का प्रयोग क्रिया के रूप में होता है; यथा—तेन गन्तव्यम्, स गतः, गतवान्। किन्तु अधिकांश कृत्-प्रत्यय विभिन्न कारकों के अर्थ में धातु से लगाये जाते हैं; जैसे—१. कर्ता में ण्वुल्, तृच्, अण्, क, ल्यु, णिनि, अच् आदि सामान्य कृत्-प्रत्यय (कर्तरि कृत्—३।४।६७)। कुछ स्थितियों में क्त-प्रत्यय भी कर्ता के अर्थ में होता है। २. कर्म में (और भाव में) लगने वाले कृत्य, क्त खलर्थ प्रत्यय हैं (३।४।७०)। ३. करण में तथा अधिकरण में ल्युट् प्रत्यय का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त क्तिन्, घञ् इत्यादि के समान यह भाव के अर्थ में (धात्वर्थमात्र में) भी होता है। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) के अनुसार अन्य कारकों में भी कृत्य तथा ल्युट् के प्रयोग होते हैं—स्नानीयं चूर्णम्। दानीयो विप्रः। ४. सम्प्रदान में दाश (अच्) तथा गोघ्न (टक्) शब्दों का तथा ५. अपादान में भीम (मक्) आदि शब्दों (कृदन्तों) का निपातन होता है। तुमुन्, क्त्वा आदि प्रत्यय क्रियार्था, पूर्वकालिक प्रभृति अर्थों में होते हैं।

२. 'सनाद्यन्ता धातवः' (पा० सू० ३।१।२२)।

विप्रतिपत्तियाँ हैं। न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों में तिङ् प्रत्ययों को आख्यात कहा जाता है, किन्तु व्याकरण में यास्क की परम्परा के अनुसार धातु तथा तिङ् दोनों का संयुक्त रूप (तिङन्त) होने पर उसे आख्यात कहते हैं[१]। फिर भी पूर्वोक्त शास्त्रों में आख्यातार्थ-निरूपण में तिङ् के ही अर्थ का विचार होता है।

मीमांसक-प्रवर मण्डनमिश्र के अनुसार फल धात्वर्थ है तथा व्यापार आख्यातार्थ। इसकी विस्तृत समीक्षा ऊपर की जा चुकी है। नैयायिक लोग कृति को आख्यातार्थ मानते हैं[२]। कृति का अर्थ है—प्राणधारी का प्रयत्न। तदनुसार क्रियाओं का सामान्य सम्बन्ध 'करोति' से है, जिन्हें सम्पादित करनेवाला अवश्य ही कोई प्राणधारी होना चाहिए; यथा—चैत्रः ओदनं पचति। इस प्रकार सभी क्रियाओं का प्राणधारी से सम्बन्ध रहने के कारण क्रियागत व्यापार को धारण करनेवाले कर्त्ता में प्राणित्व आवश्यक है। मोटर जा रहा है, फूल खिलता है—ऐसे वाक्यों में अप्राणी पर कर्तृत्व का लाक्षणिक प्रयोग उन्हें मानना पड़ता है। वैयाकरणों को अमान्य है कि अचेतन कर्ता नहीं हो सकता। इसका विशद विवेचन हम कर्ता-कारक की विवेचना वाले अध्याय में करेंगे।

न्याय के इस विचार का बीज उनके कारणतावाद में है। उनके अनुसार संसार के परमाणुओं में गति नहीं है। जब तक ईश्वर या अदृष्ट की बाह्य-शक्ति से क्रिया का ग्रहण नहीं होता, उनमें गति नहीं आती। अप्राणी में गति बाहर से ही आती है, क्योंकि केवल आत्मा में ही गति होती है। वैशेषिक-दर्शन में उत्क्षेपणादि कर्मों की पृष्ठभूमि में इसीलिए आत्मा का सम्बन्ध बतलाया गया है। उत्क्षेपण-कर्म में 'मुशलमुत्क्षिपामि' इस इच्छा से जनित प्रयत्न द्वारा प्रयत्नयुक्त आत्मा के संयोगरूप असमवायिकारण से हाथ में उत्क्षेपण-क्रिया होती है। तब उत्क्षेपण से विशिष्ट हस्त-नोदन रूप असमवायिकारण से मुशल में भी उत्क्षेपण उत्पन्न होता है[३]। जहाँ इच्छा या प्रयत्न कारण न हो किन्तु संस्कारमात्र से मुशल ऊपर उठता हो, वहाँ लाक्षणिक रूप से उत्क्षेपण का व्यवहार होता है। इसी प्रकार अनुलोम-प्रतिलोम वायु के संघर्ष से तृणादि पदार्थ का अथवा दो जलधाराओं के संघर्ष से जल का उछलना भी लाक्षणिक रूप से उत्क्षेपण है[४]।

नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत 'कृति आख्यातार्थ है' इस सिद्धान्त का सीधा सम्बन्ध कर्त्ता के चैतन्य से है। अचेतन के कर्तृत्व में उन्हें निरूढ लक्षणा माननी पड़ती है।

---

१. 'आख्यातपदेन तिङन्तस्यैव ग्रहणम्'—इसमें यास्क का 'भावप्रधानमाख्यातम्' तथा पाणिनि-तंत्र का 'आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये' (गणसूत्र) प्रमाण है।
—प० ल० म०, पृ० १०९

२. 'जीवनयोन्यादिनिखिलयत्नगतं यत्नत्वमेव तिङः शक्यतावच्छेदकम्'।
—शब्दशक्तिप्रकाशिका, का० ९७, पृ० ३९६

३. वैशेषिकसूत्रोपस्कार, पृ० ४०।

४. 'एवमुत्क्षेपणावक्षेपणव्यवहारः शरीरतदवयवतत्संयुक्तमुशलतोमरादिष्वेव मुख्यो भवति'। —वही, पृ० ४१

किन्तु लक्षणा सामान्यतया मानी जानेवाली वृत्ति नहीं है। जब शक्ति से काम नहीं चलता, तभी लक्षणा का ग्रहण किया जाता है। हमारे दैनिक व्यवहार में अचेतन पदार्थों का किसी अर्थान्तरण के बोध के बिना कर्तृरूप में प्रयोग होता है। 'गङ्गायां घोष:' के समान 'रथो गच्छति' के प्रयोग में कोई विवशता नहीं है। लक्षणा में प्रयोक्ता तथा बोद्धा दोनों को विशेष श्रम करना पड़ता है, किन्तु 'रथो गच्छति' आदि वाक्य बिना अल्प आयास के ही प्रयुक्त होते तथा समझे भी जाते हैं। चेतन को कर्ता बनाकर प्रयुक्त होनेवाले वाक्यों के समान ही अचेतन-कर्तृक वाक्यों का भी बोध होता है। उनमें अर्थ के परिवर्तन का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। मुख्यार्थ में ही अचेतन के कर्तृत्व की सिद्धि होने से कर्ता को कृति का आश्रय नहीं कहा जा सकता और न ही कृति तिङ् प्रत्यय का अर्थ हो सकती है[1]। वास्तव में कृति की आख्यातार्थता तथा चेतन का कर्तृत्व परस्पर संयुक्त तथ्य हैं। एक के खण्डन से दूसरे का खण्डन अनिवार्य है।

वैयाकरणों के अनुसार तिङ् का अर्थ 'आश्रय' है, जो कर्ता तथा कर्म के रूप में है। यह निरूपण करना तिङ् का काम है कि धात्वर्थ की आश्रयता कहाँ है—कर्ता में या कर्म में? कर्तृवाचक तिङ् प्रत्यय की उपस्थिति में धात्वर्थ का आश्रय कर्ता होता है, किन्तु कर्मवाचक तिङ् की उपस्थिति में धात्वर्थ कर्म पर आश्रित रहता है। भाव-वाच्य में होनेवाला तिङ् धात्वर्थमात्र का अनुवाद करता है। ये तथ्य हमें पाणिनि के उपर्युक्त 'ल: कर्मणि' इत्यादि सूत्र से ज्ञात होते हैं। तदनुसार धातु से फल और व्यापार का बोध होता है तथा उसमें लगने वाले तिङ् प्रत्यय उनके आश्रयों का बोध कराते हैं कि फल तथा व्यापार कहाँ पर स्थित है? 'ओदन: पच्यते' में तिङ् कर्म-वाच्यस्थ होने के कारण फलाश्रय रूप कर्म का बोध कराता है तो 'रामो गच्छति' में कर्तृस्थ तिङ् व्यापार के आश्रय कर्ता का बोधक है। इसे ही व्याकरण में अभिधान कहते हैं। इसीलिए प्रकारान्तर से कर्ता, कर्म या भाव को भी तिङ् का अर्थ कहा जाता है।

धातु व्यापक अर्थ धारण करने वाला शब्द है, जिसे विभिन्न परिस्थितियों तथा प्रकरणों में प्रयुक्त किया जा सकता है। इसकी उक्त व्यापकता पर प्रत्ययों के द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है, जिससे धातु स्थिति-विशेष में सीमित हो। गम्-धातु की अपार शक्ति है, किन्तु जब इसमें तिप्-प्रत्यय लगाकर 'गच्छति' बनाते हैं तब यह केवल प्रथम-पुरुष, एकवचन तथा वर्तमान काल में सीमित हो जाता है। दूसरे पुरुषों, वचनों या कालों के बोध की क्षमता समाप्त हो जाती है। प्रत्ययों के द्वारा धातु के व्यापक अर्थ का नियन्त्रण करके उसे विशिष्ट अर्थ में लाया जाता है, जिससे वह बोधगम्य होता है। बोधगम्य होने के लिए किसी भी पदार्थ को सामान्य से विशेष पर आना ही होता है, क्योंकि बोध अनुवृत्त बुद्धि से नहीं अपितु व्यावृत्त बुद्धि से होता है कि अमुक वस्तु यह

---

१. ल० म०, पृ० ७३७।

नहीं, वह नहीं। व्यावृत्त बुद्धि विशेष की ही होती है[1]। फलस्वरूप यह कहा जाता है कि प्रत्ययार्थ धात्वर्थ की अपेक्षा प्रबल होता है या किसी क्रिया में प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान है। 'पाचकः' कहने से पाकक्रिया-व्यापार के आश्रय का बोध होता है। अतः सामान्य नियम यह है कि प्रकृत्यर्थ तथा प्रकृत्ययार्थ का साथ-साथ अन्वय होने पर प्रत्ययार्थ की प्रधानता होती है।

किन्तु इस सामान्य नियम का अपवाद भी है। यास्क ने कहा है—'भावप्रधान-माख्यातम्' अर्थात् जिसमें भाव (क्रिया) की प्रधानता हो वह आख्यात (तिङन्त) शब्द है। हम देखते हैं कि फल सदा व्यापार पर निर्भर करता है, जबकि व्यापार फल पर निर्भर नहीं करता। व्यापार की परिधि इसलिए बड़ी है कि व्यापार बिना फल के भी हो सकता है, जबकि व्यापार के अभाव में फल की कल्पना भी नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि दोनों के बीच कार्य-कारण भाव है। कारणाभाव से कार्याभाव होता है, किन्तु कार्याभाव कारणाभाव का प्रयोजक नहीं[2]। व्यापार कारणात्मक होने से क्रियात्मक भी है जिसकी प्रधानता सभी क्रियाओं में होती है। यह व्यापार आख्यात के धात्वंश में ही होना चाहिए, तिङंश में नहीं। इसलिए अपवादरूप में धात्वर्थभूत व्यापार की प्रधानता होती है, तिङर्थ की नहीं। इसलिए सामान्यरूप से प्रत्यय के अर्थ की प्रधानता होती है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु तिङन्त में प्रकृत्यर्थ (धात्वर्थ) की ही प्रधानता है। तिङ्-प्रत्यय के अर्थ को प्रधान मानने की प्रथा मीमांसादर्शन में है, जिसमें शाब्दी भावना मुख्यतया प्रत्ययांश में स्वीकृत की गयी है।

धात्वर्थ में फल तथा व्यापार की प्रतीति होती है। इनके अतिरिक्त क्रिया में प्रतीत होने वाले जितने भी तत्त्व हैं—काल, वचन, पुरुष; ये सभी प्रत्यय के अर्थ हैं। व्याकरण-ग्रन्थों में इन सभी के अर्थों का विशद विवेचन है, किन्तु हम अपने विवेच्य विषय में अप्रकृत समझकर उन्हें छोड़ दें।

अभी तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि क्रियापद (तिङन्त) का विश्लेषण करने से दो खण्ड प्राप्त होते हैं—(१) धातु, जिसे क्रिया भी कहते हैं तथा (२) तिङ्प्रत्यय। तिङन्त शब्द में प्रत्ययार्थ-प्राधान्यवाद के अपवादस्वरूप धातु के क्रियात्मक अर्थ की प्रधानता रहती है। इससे यह पता लगता है कि प्रधानता होने के ही कारण 'क्रिया' शब्द के द्वारा पूरे तिङन्त का व्यपदेश किया जाता है, क्योंकि लोकव्यवहार में प्रधान अर्थ के आधार पर ही पदार्थ का नामकरण होता है (प्रधानेन व्यपदेशाः भवन्ति)।

वाक्य में क्रिया का स्थान

भाषा के विश्लेषण में वाक्य के खण्डों का विचार करते हुए हमें दो प्रकार के तत्त्व मिलते हैं—नाम (सुबन्त) तथा क्रिया (तिङन्त)। पाणिनि ने इन्हीं दोनों

१. द्रष्टव्य—वैशेषिकसूत्रोपस्कार १।२।३।

२. वैशे० सू० १।२।१-२।

तत्त्वों को पद-संज्ञा दी है कि ये वाक्य में प्रयुक्त होने की क्षमता रखते हैं (सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४)। वाक्यों के संघटन में सुबन्त तथा तिङन्त के परस्पर सम्बन्धपूर्वक समुदाय की आवश्यकता होती है, जैसे—रामो गच्छति। इसमें प्रथम पद सुबन्त है, दूसरा तिङन्त। इन्हें नाम-पद तथा क्रिया-पद भी कहते हैं। यद्यपि सामान्यतया वाक्यों से दोनों पदों की संघटना होती है, तथापि इनमें भी क्रिया की ही प्रधानता मानी जाती है[१]। निरुक्तकार यास्क तथा वैयाकरणों का पूरा सम्प्रदाय इसी मत का अनुमोदन करता है, जिससे क्रियामुख्यविशेष्यक शाब्दबोध होता है। क्रिया की प्रधानता किसी भी वाक्य में इसी से समझी जा सकती है कि उसके अभाव में सभी नाम-पद विशृंखल होकर कुछ भी अर्थ नहीं दे सकेंगे। दूसरी ओर यदि किसी वाक्य में क्रिया रहे, अन्य पद नहीं भी हों तो भी वाक्य का निर्माण हो जाता है, क्योंकि क्रिया आवश्यक नामार्थ का आक्षेप कर लेती है। 'गच्छ' कहने से बोध होता है—(त्वं) गच्छ। यह पूरा वाक्य है। किन्तु 'रामः स्थाली गजः' इत्यादि अनेक नाम-पदों का उच्चारण करने पर भी वाक्य नहीं बनता। इस प्रकार यह क्रियातत्त्व है जो विभिन्न नामों को संयुक्त करता है। ये नामपद क्रिया के चारों ओर घूमते तथा उससे सम्बन्ध स्थापित करने पर वाक्य का संघटन करते हैं। 'रामः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचति' इस वाक्य में क्रिया एक ही है—'पचति'; किन्तु यह चार-चार नामपदों को अपने में संयुक्त किये हुए है। क्रिया में चारों पदों का संयोजन इसलिए सम्भव है कि व्यावहारिक जगत् में भी इनके अर्थों का पाकक्रिया से संयोजन होता है। वस्तुतः ये चारों अर्थ क्रिया-सिद्धि में सहायता पहुँचा रहे हैं कि पाक हो जाय। पकाने की क्रिया में राम सभी व्यापारों का संचालक होने के कारण उपकार करता है, लकड़ियाँ पकाने का साधन हैं, स्थाली उसका आधार है और ओदन पाक का विषय होने के कारण उसके फल का भागी है। यदि क्रिया नहीं होती तो ये चारों पदार्थ बिखर जाते।

नामार्थ का क्रिया से सम्बन्ध—कारक का बीज

क्रिया का इसीलिए नामार्थ के साथ सम्बन्ध करना वाक्य का मुख्य उद्देश्य है, जिससे वक्ता का अभिप्रेत अर्थ श्रोता तक पहुँच जाय। वाक्य में क्रिया के साथ नामार्थ के सम्बन्ध को व्याकरणशास्त्र में कारक कहते हैं। नामार्थ का क्रिया के साथ यह सम्बन्ध प्रधानतया साक्षात् होता है, किन्तु कभी-कभी उपकार-सामर्थ्य के आधार पर परम्परया सम्बन्ध भी होता है। दोनों प्रकार के सम्बन्ध द्वारा नामार्थ क्रिया की सिद्धि में सहायता करता है। इस प्रकार क्रिया से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक नामार्थ को अपना आश्रय बनाकर कारकतत्त्व वर्तमान रहता है। क्रिया साध्य है तथा कारक साधन। भर्तृहरि इसीलिए कारकों का सामान्य अभिधान 'साधन' रखकर उनका विवेचन साधनसमुद्देश में करते हैं। क्रिया की सिद्धि (निष्पत्ति, निर्वृत्ति, पूर्त्ति) में हमें अनेक साधनों की आवश्यकता होती है। पाक-क्रिया के

---

१. 'तद्यत्रोभे, भावप्रधाने भवतः'। —निरुक्त १।१

उपर्युक्त उदाहरण में ही ईंधन, अग्नि, पात्र, अन्न एवं पकाने वाला व्यक्ति चाहिए। ये सभी तत्त्व क्रिया के साधक हैं, इनका अपने नियत अर्थ में इसीलिए क्रिया से सम्बन्ध है। तदनुसार भाषागत वाक्य में प्रयुक्त होने पर ये कारक का रूप धारण करेंगे। इन साधनों की प्रवृत्तियाँ क्रिया की सिद्धि में भिन्न-भिन्न प्रकार से होती हैं। जिस रूप में ईन्धन क्रिया का साधक है, उसी रूप में पकाने वाला व्यक्ति नहीं। इसका कारण साधनों का प्रवृत्ति-भेद है। वास्तव में भाष्यकार के अनुसार इन साधनों की प्रवृत्ति क्रिया के रूप में प्रतिफलित होती है[१]।

क्रिया की गम्यमानता से कारक की व्यवस्था

क्रिया और कारक की पृथक् कल्पना की ही नहीं जा सकती, क्योंकि वे अविच्छेद्य रूप में परस्पर बँधे हुए हैं। क्रिया के अभाव में कारक की सत्ता नहीं होगी तो दूसरी ओर कारकों के अभाव में क्रिया निरर्थक हो जायेगी। ऊपर जो हमने क्रिया का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए यह कहा है कि केवल क्रिया से भी वाक्य हो सकता है, उसमें भी सूक्ष्मरूप से क्रिया के साधक तत्त्व गम्यमान होते ही हैं। 'गच्छ' में मध्यम-पुरुष एकवचन के रूप में 'त्वम्' कर्ता की प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त प्रकरणा-नुसार कर्म, करण आदि साधनों की भी प्रतीति होगी। यहाँ तक कि अस्ति, भवति आदि सत्तावाचक क्रियाओं में भी 'घटः' प्रभृति प्राकरणिक साधक पदार्थों का बोध होता है। कोई पूछता है—'अप्युपाध्यायो गृहान्निर्गतः' (गुरुजी घर से निकल गये क्या ?) दूसरा उत्तर देता है—'नहि नहि, अस्ति'। इस 'अस्ति' क्रिया में उपाध्याय कर्ता के रूप में तथा गृह अधिकरण के रूप में गम्यमान है कि गुरुजी घर में हैं। अतः क्रिया में सूक्ष्मरूप से ही सही, कारकों का रहना अनिवार्य है अन्यथा क्रिया की पूर्ति ही नहीं होगी। दूसरी ओर कारकों को तो स्थूलरूप में ही क्रिया की आवश्यकता होती है। हाँ, कभी-कभी गम्यमान क्रिया से भी काम चलता है तथा कारकविभक्ति का प्रयोग देखा जाता है; जैसे—अलं श्रमेण। यहाँ साधनरूप क्रिया का करण श्रम है, इसलिए उसमें तृतीया विभक्ति समर्थनीय है। अर्थ है—श्रमेण साध्यं नास्ति (न सिध्यति)। इसी प्रकार विवाह के अवसर पर अर्घ, आचमनीय तथा मधुपर्क का ग्रहण जब कन्या का पिता अपने भावी जामाता को कराता है तो उस समय आचार्य कहते हैं—मधुपर्कः मधुपर्कः मधुपर्कः। इसमें 'वर्तते' क्रिया गम्यमान है जिसका कर्ता मधुपर्क है[२]। यदि क्रिया श्रूयमाण न हो, न ही गम्यमान—तब तो कारक का नाम दिया ही नहीं जा सकता।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि वाक्य में जब क्रिया का होना अनिवार्य है, जिससे

१. 'कारकाणां प्रवृत्तिविशेषः क्रिया'। —महाभाष्य २, पृ० १२३

२. विवाहपद्धति का आरम्भ—'मधुपर्कः मधुपर्कः मधुपर्क इत्याचार्येणोक्ते; मधु-पर्कः प्रतिगृह्यतामिति पिता ब्रूयात्, मधुपर्कं प्रतिगृह्णामीति वरो ब्रूयात्'।

—आश्व० गृह्यसूत्र १।२४।७

सभी नामार्थ संघटित रहें, तब उसमें वर्तमान सभी शब्दों को कारक क्यों नहीं कहा जा सकता ? 'श्रीगणेशाय नमः' में श्रीगणेश कारक क्यों नहीं है ? पुनः 'बालकेन सह धावति' में बालक, 'गृहं विना सुखं नास्ति' में गृह तथा 'शीघ्रं चलति' में शीघ्र शब्द कारक क्यों नहीं माना जाता ?

वस्तुस्थिति यह है कि एक नामार्थ का दूसरे नामार्थ के साथ सम्बन्ध होना कारक नहीं है। यहाँ नामार्थ को व्यापक अर्थ में—क्रिया से भिन्न शब्द-मात्र के अर्थ में—लिया जाता है, जिससे निपात, कर्मप्रवचनीय उपसर्ग आदि भी उसमें आ सकें। जब तक क्रिया का सम्बन्ध किसी नामार्थ के साथ न हो तब तक कारक की उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'गुरुं नमस्करोति' में गुरु का सम्बन्ध नमस्कार-क्रिया से है, अतः इसमें कारक है; जबकि ठीक ऐसे ही अर्थ में 'गुरवे नमः' में क्रियापद के अभाव में गुरु में कारक नहीं है। ऐसे सम्बन्धों को उपपद-सम्बन्ध कहते हैं जहाँ नामार्थ का नामार्थ से सम्बन्ध हो।

कारक-लक्षण

कारक-शब्द का इसी अर्थ में पाणिनि से पूर्व भी प्रयोग होता रहा होगा। अथवा लोक में इसके अर्थ से लोग सम्यक् प्रकार से परिचित होंगे। इसीलिए पाणिनि ने इस कारक-संज्ञा का कोई लक्षण न देकर इससे अधिकार-सूत्र निर्मित किया है—**कारके** (१।४।२३)। यद्यपि इससे कारक-प्रकरण का आरम्भ ज्ञात होता है, तथापि इसे सीमित अर्थों में संज्ञा-निर्देशक सूत्र भी माना जा सकता है, जैसा कि भाष्यकार स्वीकार करते हैं। व्याकरणशास्त्र में दो प्रकार के शब्दों के द्वारा पदार्थों का संकेत कराया जाता है—(१) लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध शब्दों से तथा (२) स्वकल्पित टि, घु, भ आदि शब्दों से। प्रथम कोटि में आनेवाले शब्दों के लक्षण की आवश्यकता नहीं होती जब तक कि हम उन्हें शास्त्रीय अर्थ में कृत्रिम बनाकर ग्रहण न करें। द्वितीय कोटिवाले शब्दों का तो सर्वथा लक्षण ही देना ही चाहिए[1]। अष्टाध्यायी में अन्यत्र भी कारक-शब्द का प्रयोग होने से एक विशेष सन्दर्भ में इसका बोध होने के कारण इसे संज्ञा भी मानते हैं, जिसका अधिकार वहीं से आरम्भ होता है। तदनुसार पतंजलि को इसका लक्षण करना पड़ता है—'साधकं निर्वर्तकं कारकसंज्ञं भवति'। जो (क्रिया का) साधक हो, उसे सम्पादित करता हो उसे कारक कहते हैं।

इस प्रसंग में यह आक्षेप किया गया है कि कारक यदि संज्ञा है तो इसके संज्ञी (संज्ञा से बोध्य, लक्षण) का निर्देश करना चाहिए अन्यथा निम्नरूपेण कई असंगतियाँ उठ खड़ी होंगी—

---

१. 'इह हि व्याकरणे ये वा एते लोके प्रतीतपदार्थकाः शब्दास्तैर्निर्देशाः क्रियन्ते, या वा एताः कृत्रिमाष्टिघुभादिसंज्ञाः'। उद्योत—'भादिसंज्ञाः इत्यस्य ताभिर्वेति शेषः'। —महाभाष्य २, पृ० २४०

(१) **ग्रामस्य समीपादागच्छति**—इस वाक्य में अकारक-रूप ग्राम को अपादान मानना पड़ेगा। वृक्ष की शाखा से गिरने वाला जैसे वृक्ष से भी गिरता हुआ माना जाता है, उसी प्रकार ग्राम के समीप से आनेवाला व्यक्ति ग्राम से भी आ रहा है। 'समीप' के समान 'ग्राम' भी अपाय की स्थिति में ध्रुव ही है। यदि 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' में कारक-लक्षण की अनुवृत्ति ले जायें कि **कारक होने पर** ही ध्रुव को अपादान कहा जा सकता है, तभी ग्राम के अपादानत्व का वारण हो सकेगा। इसलिए कारक के लक्षण का निर्देश आवश्यक है। इसके उत्तर में पतंजलि कहते हैं कि यहाँ ग्राम अपाययुक्त है ही नहीं। यदि अपाययुक्त होता तो 'ग्रामादागच्छति' प्रयोग करके उसे अपादान बनाने में कोई आपत्ति ही नहीं होती।

(२) **वृक्षस्य पर्णं पतति**—इसमें कारक-लक्षण के अभाव में वृक्ष के अपादान होने का अनिष्ट-प्रसंग आ जाता है। यहाँ भी पतंजलि अपाय की अविवक्षा का आलम्बन लेकर सिद्ध कर देते हैं कि वृक्ष अपादान नहीं है। तदनुसार 'कारक' के लक्षण-निर्देश की आवश्यकता उन्हें नहीं प्रतीत होती। कारण यह है कि 'कारक' महती संज्ञा अर्थात् अन्वर्थ संज्ञा है। लौकिक दृष्टि से इसका जो अर्थ है, वही इस शास्त्र में भी है—कारक = करनेवाला, साधक, सम्पादक।

इस अन्वर्थता पर भी शंका हो सकती है, क्योंकि इस अर्थ में कारक-संज्ञा केवल कर्ता को ही हो सकेगी, अन्य कारकों को नहीं। सत्य यह है कि अन्य कारकों में सूक्ष्म रूप में कर्तृभाव रहता ही है, क्योंकि वे यथाशक्ति क्रिया की सिद्धि में विभिन्न अवयवों का सम्पादन करते हैं। इसका विचार हम कर्ता के प्रकरण में करेंगे। कर्ता जहाँ सम्पूर्ण क्रिया पर अपना कारकत्व रखता है, वहाँ अन्य कारकों की शक्ति सीमित मात्रा में है। उदाहरणार्थ पापक्रिया में स्थाली (अधिकरण) की कारकता अन्न को अपने भीतर धारण करने में कारण है, जिससे वह कर्तृभाव प्राप्त करती है। यह स्थिति वास्तव में क्रियासिद्धि में पदार्थों की स्वतन्त्र या परतन्त्र प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। सभी कारक क्रियासिद्धि करते हैं। कभी वे स्वतन्त्र रूप से इसमें प्रवृत्त होते हैं, तब इनका कर्तृभाव उत्पन्न होता है और परतन्त्र रूप से कर्ता के अधीन प्रवृत्ति होने पर ये तत्तत् कारकों का रूप ग्रहण करते हैं। इस सिद्धान्त को ठीक से समझने के लिए कारक को शक्तिरूप में देखना होगा।

कारक की शक्तिरूपता (भर्तृहरि का मत)

भर्तृहरि तथा उनके अनुयायी दार्शनिकों ने साधन (कारक) को शक्ति के रूप में निरूपित किया है। यह समस्त संसार शक्ति का संघात है। घट में जल के उत्पादन की शक्ति है तो बीज में अंकुर के उत्पादन की शक्ति है। सभी पदार्थ कुछ-न-कुछ क्रिया निष्पन्न करने की शक्ति रखते हैं। यह शक्ति द्रव्य में समवेत रहने के कारण द्रव्य से भिन्न है। किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शनों में शक्ति की द्रव्यभिन्नता स्वीकार नहीं की जाती। उनका कहना है कि अग्नि तथा उसकी दाहिका शक्ति भिन्न पदार्थ नहीं—

शक्ति तथा शक्तिमान् दोनों मूलतः एक ही हैं[1]। अद्वैत वेदान्त में भी इसी सिद्धान्त पर ब्रह्म तथा उसकी शक्ति माया का एकत्व सिद्ध किया जाता है।

शक्ति का अर्थ है—कारण में रहने वाला कार्योत्पत्ति के अनुकूल धर्मविशेष। यह धर्म प्रतिबन्धक (शक्ति को रोकने वाले कारण) के अभावरूप कारण के रूप में है[2]। प्रतिबन्धक वस्तु का अभाव कार्यमात्र के प्रति कारण होता है। इसीलिए दाहात्मक कार्य का प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि है, क्योंकि इसके अभाव में अग्नि की दाहात्मिका शक्ति प्रकट होती है। इस प्रकार व्यतिरेक मुख से शक्ति की सिद्धि होती है। यह शक्ति द्रव्य इसलिए नहीं है क्योंकि गुणों में भी रहती है (जबकि द्रव्य गुण में नहीं रह सकता)। इसीलिए यह न गुण है, न कर्म। उत्पत्ति-विनाश से युक्त होने के कारण यह सामान्य, विशेष या समवाय के रूप में भी नहीं है, क्योंकि वे नित्य होते हैं[3]। इस प्रकार पदार्थान्तर के रूप में शक्ति प्राभाकर-मत के मीमांसकों तथा वैयाकरणों को स्वीकार्य है। नैयायिक कहते हैं कि शक्ति को पृथक् पदार्थ मानने पर किसी वस्तु के समीप होने और न होने से शक्ति का पुनः पुनः उत्पादन तथा विनाश मानना पड़ेगा। फलस्वरूप अनन्त शक्तियाँ माननी होंगी, साथ ही उनके प्रागभावों तथा ध्वंसाभावों को स्वीकार करना पड़ेगा। यह गौरव-दोष है। इससे तो कहीं अच्छा है कि अग्निमात्र को दाह का कारण नहीं मानकर 'चन्द्रकान्तमणि के अभाव से विशिष्ट अग्नि' को दाह का कारण मानें। कभी-कभी किसी उत्तेजक मणि के होने पर चन्द्रकान्तमणि कुछ नहीं कर पाती, अग्नि को जलने से रोक नहीं सकती। अतः 'उत्तेजकाभाव से विशिष्ट चन्द्रकान्त के अभाव' को दाह का कारण मानते हैं। अतः शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानने की युक्ति संगत नहीं है।

किन्तु शब्दाद्वैत के प्रवर्तक भर्तृहरि समस्त जगत् रूप कार्य के पीछे उसी शक्ति की भूमिका मानते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व शक्तियों का समूह है। यद्यपि परमार्थतः शक्ति एक ही है, तथापि अविद्याकृत उपाधियों के कारण विभिन्न रूपों में दिखलायी पड़ती है। तदनुसार घटादि भाव पदार्थों में जो शक्तियाँ हैं, उनके प्रकारों का विश्लेषण सम्भव है—(१) कुछ शक्तियाँ अपने कारणों से उत्पन्न होकर आश्रयनाश के साथ ही स्वयं नष्ट हो जाती हैं; जैसे—प्रदीप की प्रकाश-शक्ति। (२) कुछ शक्तियाँ पुरुषस्थ हैं तथा अपने वर्तमान आश्रय में ही सीमित रहती हैं; जैसे—बलादि शक्ति। ऐसी शक्तियाँ व्यायाम, श्रमाभ्यास या पुष्टिकारक पदार्थों के सेवन से उत्पन्न होती हैं। (३) कुछ शक्तियाँ आश्रय में पूर्व से ही विद्यमान रहने पर पुरुष के प्रयास

---

१. द्रष्टव्य—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, का० २।

२. न्या० को०, पृ० ८५१।

३. न्या० को०, पृ० ८५२ पर उद्धृत श्लोक—

'न द्रव्यं गुणवृत्तित्वाद् गुणकर्मबहिष्कृता।
सामान्यादिषु सत्त्वेन सिद्धा भावान्तरं हि सा'॥

से निरूपित होती हैं; यथा—विष की मारण-शक्ति तथा बीज की अंकुरोत्पादन-शक्ति। (४) कुछ शक्तियों को अतिशय प्रभाव के कारण रूपान्तरित भी किया जा सकता है; जैसे योगी सभी पदार्थों का रूपान्तरण करके उनमें अभिनव शक्ति उत्पन्न करते हैं। (५) कुछ शक्तियों को काल के वश में व्यक्त होते हुए देखा जाता है; जैसे—धर्माधर्म की शक्ति फल-प्रदान करने में। इस प्रकार शक्तियों के अनेक स्वभाव हैं[1]।

शक्ति का पारमार्थिक तथा व्यावहारिक स्वरूप-भेद स्वीकार कर लेने पर यह कहा जा सकता है कि नित्य तथा अनित्य पदार्थों की शक्तियों में भी भेद होता है। अनित्य पदार्थों में अपने शरीर से ही शक्ति का **उद्भव** होता है, जबकि नित्य पदार्थों में **स्वाभाविक** शक्ति रहती है[2]। ये शक्तियाँ ही साधन भी कहलाती हैं, क्योंकि शक्ति अथवा साधन का क्रिया-निष्पत्ति में समान योगदान रहता है। विभिन्न पदार्थों की शक्तियाँ किसी-न-किसी क्रिया का ही सम्पादन करती हैं, क्योंकि कार्योत्पादन ही उनके शक्ति होने का प्रमाण है। दूसरी ओर साधन या कारक भी किसी क्रिया के सम्पादन में ही कृतार्थ होते हैं। अतएव दोनों की एकरूपता अनिवार्य है। इसलिए भर्तृहरि ने साधन का लक्षण करते हुए कहा है—

'स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे।
क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदुः' ॥ —वा० प० ३।७।१

क्रियाओं की निवृत्ति में द्रव्य की शक्ति साधन है। पतञ्जलि ने जो **'परोक्षे लिट्'** (पा० सू० ३।२।११५) की व्याख्या में गुण या गुण-समुदाय को साधन कहा है, उस कथन का अभिप्राय यही है कि शक्ति अपने आधार (द्रव्य) के अधीन विकसित होती है, इसीलिए इसे गुण कहते हैं। हम जानते हैं कि गुण द्रव्याश्रित होता है, अतः गुण को शक्ति या साधन कहा गया है, क्योंकि कारक भी द्रव्याश्रित है। अतः द्रव्याश्रितत्व-सामान्य के आधार पर पतञ्जलि ने गुण को वहाँ साधन कहा है। स्थिति यह है कि शक्ति निराधार रह ही नहीं सकती। चाहे ब्रह्म हो, चाहे शब्द, घट हो या पट—शक्ति को कुछ-न-कुछ आधार मिलना ही चाहिए। इसीलिए शक्ति का अनुमान किया जाता है (साधनमप्यनुमानगम्यम्—भाष्य ३।२।११५)। इस अनुमान का लिङ्ग क्रियारूप कार्य है[3]। क्रिया शक्ति का प्रयोजन (फल) है, क्योंकि शक्ति से वह साध्य है।

भर्तृहरि ने अपनी उक्त कारिका में क्रिया के दो रूप दिये हैं—स्वाश्रय समवेत तथा आश्रयान्तर में समवेत। क्रिया के दो अर्थों में व्यापार तथा फल हैं और उन्हें धारण करने वाले पदार्थों में क्रिया समवेत होती है। ये पदार्थ हैं—कर्ता और कर्म। कर्ता में क्रिया इसलिए समवेत है क्योंकि वह व्यापाररूप धात्वर्थ को धारण करता है। दूसरी

---

१. हेलाराज, वा० प० ३।७।२ की टीका में।
२. व्याकरणदर्शनभूमिका, पृ० २१६।
३. 'शक्तेः क्रियालक्षणकार्यानुमेयायाः कार्यद्वारेणैव प्रकर्षः'।—हेलाराज, पृ० २३१

ओर फल-रूप धात्वर्थ को धारण करनेवाले कर्म में भी क्रिया समवेत रहती है। इस प्रकार ये दोनों ही क्रिया के स्वाश्रय हैं जिनमें वह साक्षात् स्थित है, समवेत है। ये क्रिया की निष्पत्ति में मुख्यरूप से सहायक होते हैं। करणादि दूसरे कारक धात्वर्थभूत व्यापार या फल की सहायता कर्ता या कर्म के माध्यम से करते हैं, अतः गौणरूप से कारक हैं अथवा वे क्रिया के स्वाश्रय नहीं अपितु पराश्रय हैं[1]। अतएव कारिका में शक्ति (सामर्थ्य) को साधन कहते हुए क्रिया के इन दोनों रूपों की निष्पत्ति का ध्यान रखा गया है। स्वाश्रय में समवेत क्रिया की निष्पत्ति हो या आश्रयान्तर (करणादि) में समवेत क्रिया की निष्पत्ति हो, दोनों ही स्थितियों में द्रव्य की क्रिया-निर्वर्तिका शक्ति साधन (कारक) है।

इस साधनरूप शक्ति को विभिन्न विभक्तियाँ प्रकाशित करती हैं। उदाहरण के लिए—'मृगो धावति' इस वाक्य में दौड़ने की क्रिया का आश्रय मृग है, जिसमें कर्तृशक्ति दिखलायी जा रही है—इसे प्रथमा विभक्ति प्रकट कर रही है। यदि द्रव्य ही कारक या साधन (शक्ति) होता तो 'स्थाली पचति, स्थालीं पचति, स्थाल्या पचति, स्थाल्यां पचति'—इन विभिन्न कारकरूपों में जहाँ एक ही द्रव्य स्थाली का प्रयोग हुआ है, वहाँ द्रव्य की समानता के कारण सर्वत्र कारक भी समान होता। परन्तु पाकक्रिया के प्रति स्थाली (द्रव्य) की अलग-अलग शक्तियों की अभिव्यक्ति उन वाक्यों में विवक्षित है, अतः कारक भी अलग-अलग हैं। इसलिए भी द्रव्य और शक्ति का पार्थक्य स्पष्ट होता है। तदनुसार द्रव्य कारक नहीं है, अपितु द्रव्यों की शक्ति कारक है। इसे ही व्यवहार में द्रव्यों का क्रिया-सम्बन्ध कहा जाता है। किन्तु सम्बन्ध अतिव्यापक शब्द है, अतः इसे सीमित करके शक्तिरूप कहना अधिक संगत है—कारक का यही शास्त्रीय अर्थ है।

यह सत्य है कि द्रव्य में शक्ति रहती है, अतः द्रव्य के आकार-प्रकार के अनुसार शक्तियों का स्वरूप भी पृथक् होगा। कुठार, दात्र तथा कृपाण—इन तीनों से छेदन-क्रिया सम्पन्न तो होगी, किन्तु इन क्रियाओं का रूप एक-दूसरे से भिन्न होगा। इसी प्रकार द्रव्य के देश-काल के आधार पर भी क्रियानिष्पत्ति की प्रक्रिया में भेद होता है। तथापि द्रव्यों की सभी शक्तियों को छह रूपों में रखा जा सकता है। साधन के प्रसंग में इससे अधिक शक्तियाँ नहीं होतीं, क्योंकि क्रिया की सिद्धि के लिए वास्तव में इतनी ही शक्तियाँ काम करती हैं[2]। भले ही कुठारादि विभिन्न द्रव्यों के द्वारा सम्पन्न होनेवाली छिदि-क्रिया में अन्तर प्रतीत होता हो, किन्तु यदि क्रिया का सम्पूर्णतया संकलित

---

१. 'तत्र कर्तृकर्मणोः क्रिया समवैतीति स्वाश्रयसमवेतक्रियानिष्पत्तौ तयोः कारकता। करणादीनां तु पराश्रयसमवेतायां क्रियायां साधनभावः। न हि करणादिषु क्रिया समवैति'। —हेलाराज, पृष्ठ २३१

२. 'द्रव्याकारादिभेदेन ताश्चापरिमिता इव।
दृश्यन्ते तत्त्वमासां तु षट्शक्तीर्नातिवर्तते'॥ —वा० प० ३।७।३६

रूप ग्रहण करें तो उनमें भेद प्रतीत नहीं होगा और उन सभी द्रव्यों की एक ही स्थिति होगी कि वे छिदि-क्रिया की सिद्धि में साधकतम हैं। तात्पर्यतः वे सभी करण कारक (या करणत्वशक्ति) धारण करते हैं।

कारक-लक्षण विमर्श (अन्य लक्षणों पर विचार)

ऊपर हमने कारक की शक्तिरूपता का निदर्शन किया है। अब यहाँ लोक में प्रचलित विभिन्न कारक-लक्षणों की समीक्षा करेंगे। कारक के सभी लक्षण उसके क्रिया-सम्बन्ध का निरूपण तो करते हैं, किन्तु विभिन्न कारणों से अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष के भागी हो जाते हैं। फिर भी कुछ लक्षणों में कारक के बहिरंग का सम्यक् निरूपण हुआ है।

(१) **क्रियानिमित्तत्वं कारकत्वम्**—कारक का यह लक्षण दुर्गसिंह ने कलाप-व्याकरण में दिया है, जिससे उस सम्प्रदाय-मात्र में इसका प्रचुर प्रचार है। इसमें कारक को क्रिया का निमित्त कारण माना गया है। इस लक्षण पर नैयायिकों तथा पाणिनीय वैयाकरणों की आरम्भ से ही वक्रदृष्टि रही है। वे इसमें अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोनों दोष ढूँढ़ निकालते हैं। 'चैत्रस्य तण्डुलं पचति' इस वाक्य में इस लक्षण के अनुसार चैत्र को, जो सम्बन्धि पद है, क्रिया का निमित्त होने के कारण कारक माना जा सकता है, क्योंकि वह भी अपने घर से चावल देकर या अनुमति से ही पाकक्रिया का निमित्त कारण बना हुआ है। अतः यह लक्षण चैत्रादि-सम्बन्धी को भी कारक में अन्तर्भूत कर लेने के कारण अतिव्याप्ति-दोष से ग्रस्त है[१]।

दूसरी ओर इसमें अव्याप्ति भी है। निमित्त कारण को अपने कार्य से पूर्ववर्ती होना चाहिए तभी उसकी कारणता उत्पन्न हो सकती है। किन्तु 'घटं करोति' में, जहाँ घट निर्वर्त्य कर्म है, क्रिया (कार्य) ही अपने तथाकथित निमित्त (कारण) के पूर्व हो जाती है, क्योंकि क्रिया के ही द्वारा घट की उत्पत्ति होती है। इसलिए घट क्रिया का निमित्त नहीं रह सकेगा और इसीलिए कारक भी नहीं होगा। कलाप के सुप्रसिद्ध टीकाकार सुषेण कविराज ने इसका उत्तर दिया है कि यहाँ क्रिया की सिद्धि में घट का ज्ञान पूर्ववर्ती है, यह पूर्ववर्तिका घट पदार्थ पर भी उपचरित होती है। अतः कोई दोष नहीं रह जाता[२]। सांख्यदर्शनोक्त सत्कार्यवाद के आधार पर भी इस दोष का निवारण किया जा सकता है, क्योंकि तदनुसार घट सूक्ष्मरूप से अव्यक्ततया अपने कारण में तो विद्यमान है ही; वही क्रिया का निमित्त कारण है। क्रिया-निमित्तत्व की ही स्थिति में इस प्रकार के अन्य लक्षण भी हैं; जैसे—**क्रियाजनकत्वम्, क्रियानिष्पादकत्वम्**। न्यूनाधिकरूप से उक्त कारकलक्षण ही इनमें भी विद्यमान है।

---

१. 'चैत्रस्य तण्डुलं पचतीति सम्बन्धिनि चैत्रादावतिव्याप्तेः। अनुमत्यादिप्रकाशन-द्वारा सम्प्रदानादेरिव तण्डुलादिद्वारा सम्बन्धिनोऽपि क्रियामिमित्तत्त्वात्'।

—प० ल० म०, पृ० १६९

२. Cf. P. C. Chakravarti, P. S. G. p. 218.

(२) **क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्**—क्रिया से अन्वय अर्थात् वाक्यगत सम्बन्ध रखनेवाले को कारक कहते हैं। इस लक्षण में यह दोष है कि 'शीघ्रं धावति' जैसे वाक्यों में क्रियाविशेषण का क्रिया से साक्षात् अन्वय होने के कारण उन्हें कारक मानना पड़ेगा, किन्तु सिद्धान्ततः क्रियाविशेषण कभी कारक नहीं कहला सकते। भवानन्द ने कारकचक्र में इसी लक्षण में विशेषण लगाकर इसका परिष्कार किया है—**विभक्त्यर्थद्वारा क्रियान्वयित्वं मुख्यभाक्तसाधारणं कारकत्वम्**। कारक विभक्त्यर्थ के माध्यम से क्रिया से अन्वित होता है। 'स्तोकं पचति' इत्यादि क्रियाविशेषणों में विभक्ति अभेदार्थक नहीं है, उसका उद्देश्य साधुत्वमात्र का सम्पादन करना है। इसलिए उसमें विभक्ति रहने पर भी नैयायिकों को अभिमत विभक्त्यर्थ-रूप (कर्मत्वादि) विषय आश्रित नहीं है। इसलिए कारक होना सम्भव नहीं।

जगदीश इस विषय में कहते हैं कि 'स्तोक' शब्द क्रिया में प्रकारीभूत होने पर भी इसलिए कारक नहीं है क्योंकि सुप्-प्रत्यय उसे उपस्थित नहीं करता। द्वितीया विभक्ति तो उसमें नपुंसकलिंग के समान केवल शास्त्रदृष्टि से (आनुशासनिकी) पदसाधुत्व के निर्वाहार्थ लगायी गयी है[1]। क्रिया के अन्वय से कहीं तो मुख्य कारकत्व होता है; जैसे—'ग्रामं गच्छति' में ग्राम, किन्तु कहीं गौण कारक भी होता है; जैसे—'घटं जानाति' में घट[2]। भवानन्द कहते हैं कि क्रिया का निमित्त होने पर मुख्य कारक होता है। तदनुसार यह लक्षण निष्पन्न होता है कि मुख्य कारक वह है जो क्रिया का निमित्त होने के साथ-साथ विभक्त्यर्थ द्वारा क्रिया से अन्वित भी हो। इसी प्रकार क्रिया का अनिमित्त होने पर जो विभक्त्यर्थ के द्वारा क्रिया से अन्वित होता है, वह गौणकारक कहा जाता है। दोनों ही स्थितियों में क्रिया की निमित्तता—साक्षात् हो या परम्परागत—प्रयोजक रहती है। कारक कहने से दोनों का संनिवेश होता है—मुख्य और गौण। किन्तु अन्त में भवानन्द को विभागमुखेन कारक का लक्षण करना पड़ता है जो सर्वथा उचित है—'कर्तृकर्मत्वादिषट्कान्यतमत्वे सति क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्'[3]।

(३) **धात्वर्थांशे प्रकारो यः सुबर्थः सोऽत्र कारकम्**—कारक का यह लक्षण जगदीश के द्वारा शब्दशक्तिप्रकाशिका में स्वीकार किया गया है। उन्होंने सुप् विभक्ति के दो भेद किये हैं—कारकबोधिका तथा तदितरबोधिका (उपपदविभक्ति)। धातु के द्वारा उपस्थित कराये जाने वाले अर्थ के अन्वय में जो प्रकार के रूप में (विशेषण-तया) प्रतीत होनेवाला सुबर्थ है वही कारक है। 'वृक्षात्पतति' में जो पत्-धातु का पतन अर्थ है, उसमें पञ्चमी के द्वारा विभागरूप अर्थ उपस्थित कराया जाता है। वह अर्थ (विभाग) पतन क्रिया का प्रकाररूप है तथा कारक है। इसलिए इस स्थल

---

१. शब्दशक्तिप्र०, कारिका ६७।

२. कारकचक्रव्याख्या, माधवी पृ० ५-६।

३. का० च०, पृ० ७।

की पञ्चमी को कारकविभक्ति कहेंगे[१]। सारांश यह है कि जगदीश भी क्रिया से सम्बन्ध का ग्रहण करके सुप्-प्रत्यय के कर्मत्वादि अर्थ को कारक कहते हैं। भवानन्द जहाँ कारक में विभक्त्यर्थ को साधक मानते हैं, वहीं जगदीश विशिष्ट विभक्त्यर्थ को ही कारक कहते हैं। सुप्‌विभक्ति का कर्मादि वाच्य होता है—यह सिद्धान्त वैयाकरणों में भी मान्य है। वार्तिककार कात्यायन स्वयं **'सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः सङ्ख्या चैव तथा तिङाम्'** इस प्रकार **'बहुषु बहुवचनम्'** (पा० सू० १।४।२१) के वार्तिक में स्वीकार करते हैं, किन्तु वे संख्या को भी विभक्त्यर्थ मानते हैं। वैसे व्याकरण के सभी सम्प्रदाय (कातन्त्र के अध्येता जगदीश भी) संख्या तथा कारक दोनों अर्थों को विभक्त्यर्थ मानते हैं—वे कण्ठतः कहें या नहीं। यह स्पष्ट है कि विभक्ति ही कारक नहीं है, वह कारक की अभिव्यक्ति का साधनमात्र है। वह (विभक्ति) अपने अर्थ के प्रति साधन मानी जाती है, वह अर्थ कारक है। तदनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सुप्-विभक्ति कारक का बोध कराती है और कारक क्रिया की सिद्धि करता है।

जगदीश के इस लक्षण की आलोचना गिरिधर भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थ विभक्त्यर्थ-निर्णय में की है[२]। जगदीश स्वयं भी इस लक्षण के द्वारा 'मम प्रतिभाति' इत्यादि कुछ स्थलों में कारकत्व की अतिव्याप्ति का उल्लेख करते हैं, किन्तु वे अपने लक्षण में दोष न दिखलाकर षष्ठी-विभक्ति के तादृश प्रयोग को ही विभावनीय (चिन्त्य) बतलाते हैं। वास्तव में 'मम प्रतिभाति, कान्तस्य त्रस्यति' इत्यादि उदाहरणों में शेष-षष्ठी का धात्वर्थ से अन्वय हो जाने के कारण लक्षण की अतिव्याप्ति स्पष्ट है।

(४) **अपादानाद्यन्यतमत्वं कारकत्वम्**—अपादानादि विशेषों में से कोई एक रूप [धा]रण करना कारक का लक्षण है। इस लक्षण का भी अनुवाद करके गिरिधर ने खण्डन किया है। पहली बात तो यह है कि अपादानादि भी कभी-कभी षष्ठी के अर्थ में होते हैं। उस स्थान पर इनकी कारकता समाप्त हो जायेगी। दूसरे, अपादानत्वादि कई प्रकार के हैं; जैसे—ध्रुवत्व, असोढत्व, ईप्सितत्व इत्यादि। इनमें किसी एक ही को (साकल्येन नहीं) कारक कैसे कहा जा सकता है? कतिपय अपादानों को जानने वाला, जो सभी को नहीं जानता होगा, केवल ध्रुवादि में कारकत्व का ग्रहण नहीं कर सकेगा। कारक के ज्ञान के अभाव में अपादानादि भेदों का ही ज्ञान प्राप्त करना कठिन है और उस अपादान के भी भेदों को जानना तो सुतरां कठिन है।

वास्तव में कारक के लक्षणों की कठिनाई बढ़ती ही जाती है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कोई भी लक्षण निर्दोष नहीं मालूम पड़ता। तथापि क्रिया के जनक, निर्वर्तक, निष्पादक, सम्पादक, उत्पादक इत्यादि के रूप में इसके लक्षण किये गये हैं

१. 'यद्धातूपस्थाप्ययादृशार्थेऽन्वयप्रकारीभूय भासते यः सुबर्थः स तद्धातूपस्थाप्यतादृशक्रियायां कारकम्'। —श० श० प्र०, पृ० २९४

२. द्रष्टव्य—विभक्त्यर्थनिर्णय, पृ० २–३।

जो कारक के बहिरंग का निरूपण करते हैं। यदि भाषा-प्रयोग के क्षेत्र में वक्ता की उदारता तथा यदृच्छा पर ध्यान दें तो कोई-न-कोई ऐसा उदाहरण मिल ही जायेगा जिसमें लक्षण की अतिव्याप्ति या अव्याप्ति होगी। अतएव भर्तृहरि के 'शक्तिः साधनम्' का दार्शनिक सिद्धान्त ही इस दिशा में एकमात्र ज्योतिःस्तम्भ है। नागेश ने लघुमञ्जूषा के सुबर्थ प्रकरण में यही सिद्धान्त अपनाया है, तथापि अपने अन्य ग्रन्थों में वे लौकिक दृष्टि रखने वालों के लिए उपर्युक्त लक्षणों की ही अरण्यानी में विचरण करते रहे हैं।

कारक क्रिया को उत्पन्न करने की शक्ति का ही दूसरा नाम है (**कारकं क्रिया-जनकत्वशक्तिः**)। यह शक्ति द्रव्य में स्थित होती है, इसे साधन भी कहा जाता है। जिस प्रकार 'कारक' नामकरण क्रिया (कृ-धातु) की अपेक्षा से हुआ है, इसी प्रकार क्रिया के साध्यतारूप लक्षण की अपेक्षा से इसे 'साधन' नाम भी दिया गया है। चूँकि सिद्ध द्रव्य स्वरूपतः क्रियाजनक नहीं हो सकता, अतः उसमें शक्ति का आधान करना आवश्यक है, जिससे वह क्रिया की सिद्धि कर सके। यद्यपि द्रव्यों में सभी शक्तियाँ सदा ही समवाय-सम्बन्ध से रहती हैं, किन्तु विवक्षा के अधीन उनमें किसी एक समय में एक ही शक्ति का प्रकाशन होता है। यही कारण है कि किसी द्रव्य में एक समय में एक ही कारक-शक्ति उद्भूत होती है। जब 'स्थाली पचति' कहते हैं तब पता चलता है कि स्थाली की कर्तृत्वशक्ति प्रकट हुई है। कालान्तर में हम 'स्थाल्यां पचति' भी कह सकते हैं। तब इसमें अधिकरणत्वशक्ति का उद्भव विवक्षित होता है।

नागेश कहते हैं कि यदि द्रव्य ही कारक होता तो उसकी एकरूपता के कारण जगत् के कार्यों में पायी जानेवाली विचित्रता का उपपादन नहीं हो सकता। 'घटं पश्य, घटेन जलमाहर, घटे जलं विधेहि' इत्यादि में घटादिगत कार्य-वैचित्र्य का अनुभव हमें अहर्निश होता रहता है। द्रव्यगत शक्ति को साधन मानने पर इस कार्य-वैचित्र्य की उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि उपर्युक्त रीति से सभी द्रव्यों में सभी शक्तियों की आश्रयता रहने से कालविशेष में शक्तिविशेष की ही विवक्षा होगी तथा ये विविध कार्य सरलता से व्याख्येय होंगे[१]। कभी-कभी लोक-व्यवहार में शक्ति से आविष्ट द्रव्य को भी साधन के रूप में कहा जाता है; जैसे—वृक्ष अपादान कारक है, राम कर्ता है इत्यादि। इसका कारण है शक्ति तथा शक्तिमान् का अभेद-बोध[२]। हेलाराज ने इसे संसर्गवादी वैशेषिकों का मत बतलाया है। 'शक्त्या करोति' इस

१. 'शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वस्यानेकधर्मणः।
सर्वदा सर्वथा भावात् क्वचित् किञ्चिद् विवक्ष्यते'॥ —वा० प० ३।७।२

२. 'शक्तयः शक्तिमन्तश्च सर्वे संसर्गवादिनाम्।
भावास्तेष्वथ शब्देषु साधनत्वं निरूप्यते'॥ —वा० प० ३।७।९

वाक्य-प्रयोग में शक्ति को द्रव्यवत् व्यवहृत किया गया है, अतः इसमें दूसरी करणत्व-शक्ति का योग है[1]।

कारक के इस शक्ति-सिद्धान्त का निर्वाह नागेश ने लघुमञ्जूषा के सुबर्थ-विचार मेंसभी कारकविशेषों के निरूपण में किया है।

कारक-भेद तथा उनका युक्तिमूलक विकास

द्रव्यों की उपर्युक्त प्रकार से क्रियाजनक शक्तियाँ छह प्रकार की होती है—यह अन्तिमरूप से संस्कृत व्याकरणशास्त्र में सर्वमान्य सिद्धान्त है। तदनुसार छह कारक-भेद होते हैं। यद्यपि कारक-शब्द का व्युत्पत्ति-निमित्त (अवयवों की अर्थबोधकता-शक्ति) केवल कर्ता की ही शक्ति का सन्धान करता है, तथापि शास्त्रतः जब इसे व्यापक अर्थ में लेते हैं तब यह छहों स्वीकृत कारकों का बोधक होता है। वे हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण। इस वैविध्य का जन्म वास्तव में एक ही द्रव्यशक्ति से होता है। यदि द्रव्य से केवल क्रिया-निष्पत्ति का बोध हो तो ये सभी कारक अपने में निहित कर्तृत्वशक्ति का प्रदर्शन करेंगे, क्योंकि प्रत्येक कारक-विशेष में दो प्रकार की क्रियोत्पादिका शक्ति रहती है—सामान्य तथा विशेष। सामान्य शक्ति तो सभी में एक-सी ही रहती है, इसलिए उसका प्रदर्शन विवक्षित होने पर उनकी अव्यक्त कर्तृशक्ति व्यक्त हो जाती है। जैसे—'स्थाली पचति, एधाः पचन्ति, असिश्छिनत्ति'। द्रव्यों में एक दूसरी विशेष शक्ति है, जिससे उनमें परस्पर व्यावृत्ति का बोध होता है। एक ही पाकक्रिया में काष्ठ, स्थाली, ओदन, अग्नि तथा सूपकार का सामान्य व्यापार (पाकक्रियासिद्धि) एक रहने पर भी विशेष व्यापार एक ही नहीं है। काष्ठ जिस प्रकार से उपकार करता है उसी प्रकार से स्थाली का व्यापार नहीं होता। व्यापार-विशेष की यह अभिव्यक्ति ही कारकों को वैयक्तिक स्वरूप प्रदान करती है, जिससे वे कर्ता, कर्म, करणादि कहलाते हैं[2]।

हम इसी अध्याय में देख चुके हैं कि क्रिया के व्यापार तथा फल से साक्षात् सम्बन्ध क्रमशः कर्ता तथा कर्म का होता है, क्योंकि आश्रयी के रूप में व्यापार कर्ता में तथा फल कर्म में समवेत होता है। यही कारण है कि ये दो कारक क्रिया के व्यापार-सम्पादन में तथा फल की प्राप्ति में सर्वाधिक सहायक हैं, प्रत्युत सद्यः उपकारक हैं। इस प्रकार प्रथम चरण में सभी कारकों में कर्तृत्वशक्ति निहित होने के कारण कर्ता को मुख्य स्थान दिया गया है। द्वितीय चरण में साक्षात् क्रियोपकारक होने से कर्ता तथा कर्म को वह स्थान प्राप्त होता है। अन्य कारक इन्हीं दोनों में से किसी एक के

---

१. द्रष्टव्य—ल० म०, पृ० ११९४।

२. (क) 'निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके।
व्यापारभेदापेक्षायां करणत्वादिसम्भवः'॥ —वा० प० ३।७।१८

(ख) 'निमित्तभेदादेकैव भिन्ना शक्तिः प्रतीयते।
षोढा कर्तृत्वमेवाहुस्तत्प्रवृत्तेर्निबन्धनम्'॥ —वही, ३।७।३७

माध्यम से क्रियोपकारक होते हैं। अतएव वे गौण अर्थ में कारक कहलाते हैं। यथा—'स्थाल्यां पचति' अधिकरण कारक का उदाहरण है। यहाँ स्थालीगत अधिकरणत्व-शक्ति इसीलिए क्रियोपकारक कही जाती है कि स्थाली क्रिया के फल को धारण करने वाले ओदन (कर्म) को धारण किये हुई है। इसीलिए यह क्रिया से परोक्षतः सम्बद्ध है। इसी प्रकार 'असिना छिनत्ति' में असि-निष्ठ करणत्वशक्ति छेदन-क्रिया में कर्ता की सहायता करती है। कर्ता छेदन-क्रिया में स्वतन्त्रतया प्रवृत्त होने पर भी इसमें असिरूप साधन की आवश्यकता समझता है, जिसके प्रयोग के बाद क्रिया अव्यवहित तथा सुचारु रूप से सम्पन्न हो जाती है।

कर्ता, कर्म, करण तथा अधिकरण—इन चार कारकों की ही सूक्ष्म कर्तृत्वशक्ति सामान्यतया अभिव्यक्त होने की क्षमता रखती है। इस दृष्टि से सम्प्रदान तथा अपादान पीछे पड़ जाते हैं। अतएव तृतीय चरण में हम इन चारों को ही प्रधान कारक स्वीकार कर सकते हैं।

सम्प्रदान तथा अपादान की कारकता

किन्तु यह बात नहीं कि सम्प्रदान तथा अपादान में क्रियाजनकता नहीं है। प्रकार तथा उपकार के तारतम्य के कारण थोड़ा अन्तर अवश्य है। अपादान की स्वीकृति का स्वरूप हम पहले स्पष्ट करें। कर्ता में स्थित गति भी होती है, जिसके दो प्रकार हैं—अन्तर्गत तथा बहिर्गत। बहिर्गत गतिविधि की स्थिति में एक ऐसी वस्तु की आवश्यकता होती है जहाँ से गति का प्रारम्भ हुआ हो। गतिक्रिया में विभाग तो होता ही है जिसमें दो अनिवार्य तत्त्व हैं—एक तो गति धारण करनेवाला कर्ता, दूसरा वह पदार्थ जहाँ से गति का आरम्भ हुआ हो। इस अन्तिम को ही अवधि कहते हैं। यह भी दो प्रकार की होती है—या तो यह कर्ता की गति में क्रियाशील होगी या उदासीन रहेगी। क्रियाशील रहने की स्थिति में यह स्वयं भी कर्ता ही हो जायगी; जैसे—मेषावपसरतः (दोनों भेंड़ें अलग हो रही हैं)। किन्तु यदि यह अवधि उदासीन है तो अपादान कारक है; जैसे—वृक्षात् पत्रं पतति। उदासीन अवधिभूत वृक्ष से कर्ता (पत्र) की गति आरम्भ होती है, अतः कर्ता के द्वारा निष्पन्न होतेवाली गतिक्रिया में अपादान उपकारक है[1]। अपादान सभी धातुओं के प्रयोग की स्थिति में नहीं होता, केवल विभागजनक धातुओं की दशा में ही यह होता है। इसमें भी यह आवश्यक है कि प्रकृत धातु का वाच्यार्थ विभाग नहीं हो; त्यज् का अर्थ ही विभाग है, इसके प्रयोग में अपादान नहीं हो सकता—'वृक्षं त्यजति'।

इसी प्रकार सम्प्रदान में भी क्रिया का परोक्षतया उपकार होता है। क्रिया का कुछ फल तो होता ही है जिसे कर्म धारण करता है। 'घटमानय' में आनयन-क्रिया इस प्रकार की जाती है कि घट यथाशीघ्र सामने आ जाय। किन्तु कुछ स्थितियों में यह सद्यः फल किसी दूसरे फल की प्राप्ति में साधक बन जाता है; जैसे—'ब्राह्मणाय घटं

1. R. C. Pandey, Problen of Meaning in Indian Phil., p. 144.

देहि' । इस वाक्य में दान-क्रिया का फल घटरूप कर्म में निहित है, घट फलाश्रय है। किन्तु यह फल ब्राह्मण को प्राप्त होनेवाले फल का साधन है। दान का कर्म घट है और घट का दान ब्राह्मण को फल मिलने के लिए हो रहा है। इस प्रकार फलाश्रय-भूत कर्म एक दूसरे आश्रय ब्राह्मण का निर्देश करता है। तदनुसार ब्राह्मण घट-कर्म के द्वारा दान-क्रिया के फल के सम्पादन में उपकारक है, अतः इसे पृथक्-कारक-सम्प्रदान कहा जाता है[1]।

सम्प्रदान में भी अपादान के ही समान सभी क्रियाओं का उपयोग नहीं होता। कुछ वैयाकरण तो केवल दानार्थक धातुओं तक ही सम्प्रदान को सीमित करते हैं, किन्तु दूसरे कतिपय अन्य धातुओं के साथ भी इसकी स्थिति की कल्पना करते हैं। फिर भी इनकी संख्या सीमित है। यद्यपि अन्तिम चरण में जाकर इन दोनों को भी कारकों के बीच स्थान मिल जाता है, क्योंकि कर्ता (अपादान की स्थिति में) या कर्म (सम्प्रदान की स्थिति में) के माध्यम से ये कुछ सीमित-संख्यक क्रियाओं का उपकार करते हैं, तथापि कुछ स्थानों में इनका कारकत्व संशय के साथ देखा गया है[2]। संशय के मुख्य कारण इस प्रकार है—

(१) जो भी कारक होता है वह अवश्य ही कर्ता भी हो सकता है, क्योंकि तत्तत् कारकों की अविवक्षा होने पर द्रव्य की अन्तर्निहित कर्तृत्वशक्ति अभिव्यक्त हो जाती है। सम्प्रदान तथा अपादान के साथ ऐसी बात नहीं होती। 'शृङ्गात् शरो जायते', 'अजाविलोमभ्यो दूर्वा जायते' इत्यादि उदाहरणों में जो अपादान की अविवक्षा में 'शृङ्गं शरो जायते' इत्यादि दिखलाये जाते हैं वहाँ वास्तव में मूलतः अधिकरण-कारक ही युक्तियुक्त है—'शृङ्गे शरो जायते'। केवल पञ्चमी विभक्ति के विधान के लिए ही जन् धातु के प्रयोग में अपादान का विधान पाणिनि ने किया है[3]। किन्तु यह कहना युक्तिसंगत नहीं लगता कि पञ्चमी के विधान मात्र के लिए इसमें कारक की कल्पना हुई है। यदि वही करना पाणिनि को अभीष्ट होता तो वे 'क्रियाजन्यापायावधौ पञ्चमी' कह देते। इसीलिए वैयाकरणों ने अवधि के रूप में स्थित रहना ही अपादान का व्यापार माना है। अतः यह कारक है।

(२) कर्ता, कर्मादि चार कारकों में जिस प्रकार क्रिया-सामान्य का बोधक कृ-धातु अनुस्यूत है उस प्रकार सम्प्रदान-अपादान में नहीं। यहाँ वास्तविक बात यह है कि सम्प्रदान तथा अपादान सभी धातुओं की स्थिति में नहीं होते, कुछ निश्चित धातुओं के प्रयोग में ही ये कारक होते हैं। किन्तु यह सबल युक्ति नहीं है जो इनकी कारकता पर आक्षेप करे, क्योंकि कर्म-कारक भी तो केवल सकर्मक धातुओं तक ही सीमित है। यह सत्य है कि भाषा-विकास की आरम्भिक स्थिति में क्रिया-सामान्य के सम्बन्ध के

1. R. C. Pandey, Problem of Meaning in Indian Phil., 145.
२. रामाज्ञा पाण्डेय, व्याकरणदर्शनभूमिका, पृ० २०८–१४।
३. वही, पृ० २०९।

कारण प्रमुख चार ही कारक स्वीकार्य हुए होंगे, बाद में क्रिया-विशेष से सम्बन्ध रखने के कारण सम्प्रदान-अपादान भी कारकों में अन्तर्भूत हुए। ऊपर हम लोग देख ही चुके हैं कि छहों कारकों के विकास में चार चरण लगे हैं।

(३) धातु से वाच्य क्रिया की वृत्ति उक्त चार ही कारकों में होती है, सम्प्रदान-अपादान में नहीं। यही कारण है कि इन दोनों की कर्तृत्वविवक्षा नहीं होती। किन्तु क्रिया के प्रकृत धातु से अवाच्य होने का यह अर्थ नहीं है कि उसमें क्रियाबोध हो ही नहीं रहा है। क्रिया तो सम्प्रदान-अपादान में रहती ही है। हाँ, यह अवश्य है कि अपादान में मुख्य स्थान जो अपाय (विभाग) का है, वह प्रयुक्त धातु का वाच्य नहीं हो। अपादान में अवधि-स्थित व्यापार तथा सम्प्रदान में अनुमति आदि देने का व्यापार तो है ही। व्यापार धातु से वाच्य ही हो, यह आवश्यक नहीं। प्रतीयमान व्यापार भी कारक-व्यवहार का प्रयोजक है[1]।

भाष्यकार पतञ्जलि ने जो अन्य कारकों के कर्तृत्व-निदर्शन के समय **'अपादानादीनां त्वप्रसिद्धिः'** (पृ० २४३) कहा है वह वास्तव में पूर्वपक्ष से दिया गया आक्षेप-वार्तिक है। इसका अभिप्राय यही है कि अपादान-सम्प्रदान का कर्तृत्व हो सकता है किन्तु व्यवहार में नहीं चलता। 'कारक' शब्द में दो खण्ड हैं—प्रकृति (कृ—धातु) तथा प्रत्यय (तृच्-प्रत्यय—कर्त्रर्थक)। यदि प्रत्यय पर बल देंगे तो इन दोनों कारकों के कारकत्व-व्यवस्थापन में कठिनाई होगी, किन्तु यदि प्रकृति पर ध्यान दें तो क्रिया से सम्बन्ध तो उनका भी है ही[2]।

निष्कर्षतः सम्प्रदान तथा अपादान भी कारक ही हैं, यद्यपि इन्हें कारकों के बीच स्थान अन्तिम चरण में मिला होगा—ऐसा अनुमान होता है। तदनुसार कारकों की कुल संख्या छह होती है। इनकी संख्या में वृद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि नाम तथा क्रिया में दूसरे प्रकार के (छह के अतिरिक्त) सम्बन्धों के होने पर भी वे सम्बन्ध बहुत ही दूर से अन्वित होते हैं, जिन्हें न्याय की भाषा में हम 'अन्यथासिद्ध' कह सकते हैं। कुम्भकार का पिता घट का कारण नहीं कहला सकता, भले ही वह घट-कर्ता कुम्भकार का कारण है। उसी प्रकार दूरान्वय-दोष से ग्रस्त पदार्थ क्रिया के निमित्त नहीं होते। इन सम्बन्धों को उपपद-सम्बन्ध कहते हैं जिसका विचार हम अगले अध्याय में करेंगे। किसी भी भाषा में कारक का उपर्युक्त लक्षण देने पर छह से अधिक कारक हो ही नहीं सकते। उनकी न्यूनतम संख्या दो है, क्योंकि क्रिया के फल तथा व्यापार को धारण करनेवाले तो कोई होंगे ही।

---

१. 'शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्चापादानसम्प्रदानव्यापारे धातुर्न वर्तते। वस्तुतस्त्व-पादानस्यावधिभावेनावस्थानं व्यापारोऽस्ति, सम्प्रदानस्याप्यनुमननादिलक्षणः। प्रतीय-मानोऽपि व्यापारः कारकव्यपदेशनिबन्धनम्। यथा—प्रविश पिण्डीमिति'।

—कैयटकृत प्रदीप २, पृ० २४४।

२. नागेशकृत उद्योत २, पृ० २४४।

कारकों के क्रम का निर्देश मुख्यतया विभक्ति के क्रम के आधार पर किया जाता है। अतएव कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण—ये कारक इस क्रम से गिनाये जाते हैं। पाणिनि के सूत्रों में 'विप्रतिषेध-परिभाषा' का अनुरोध रखकर दूसरा क्रम रखा गया है—अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण, कर्म तथा कर्ता। इसमें परस्पर तुल्य बल से विरोध या युगपत्-प्राप्ति होने पर परवर्ती कारक का प्राधान्य होता है[1]। हम लोग इन कारकों के चरण क्रम से महत्त्व का निरूपण कर चुके हैं, उस दृष्टि से क्रमशः महत्त्वपूर्ण बनने वाले कारकों का पाणिनीय क्रम अतिशय वैज्ञानिक है।

---

१. श० श० प०, पृ० ३४५ पर भर्तृहरि के नाम से उद्धृत—
'अपादानसम्प्रदानकारणाधारकर्मणाम्। कर्तुश्चोभयसम्प्राप्तौ परमेव प्रवर्तते'॥

अध्याय : ३

कारक तथा विभक्ति

कारक-सम्बन्ध तथा उपपद-सम्बन्ध

पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि किसी वाक्य में पदों के बीच दो प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। पहला सम्बन्ध नाम तथा क्रिया के बीच में है जिसे **कारक-सम्बन्ध** कहते हैं। दूसरा सम्बन्ध दो नाम-पदों के बीच अथवा नाम (सुबन्त) का अव्यापक अर्थ लेने पर[1] नाम एवं क्रियेतर तत्त्वों (निपात, कर्मप्रवचनीय तथा नाम) के बीच होता है जिसे **उपपद-सम्बन्ध** कहते हैं। यथा—गुरवे नमः। यहाँ 'नमः' निपात है, जिसका सम्बन्ध गुरु के साथ प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार 'आ कैलासात्', 'अधि रामे भूः', 'वृक्षं प्रति' इत्यादि उदाहरणों में आ, अधि, प्रति—ये कर्मप्रवचनीय हैं, जो तत्तत् सुबन्तों से सम्बद्ध हैं। यहाँ परम्परया किसी क्रिया का सम्बन्ध भले ही हो किन्तु सुबन्तों का साक्षात् सम्बन्ध उन क्रियेतर तत्त्वों से ही है, क्योंकि ये तत्त्व ही उन सुबन्तों का नियमन करते हैं कि किसी के साथ द्वितीयादि विभक्तियाँ होंगी।

दोनों प्रकार के सम्बन्ध विभक्तियों के द्वारा व्यक्त होते हैं। 'वृक्षं पश्यति' में वृक्ष-शब्द में लगी हुई द्वितीया एकवचन की विभक्ति (अम्) दर्शन-क्रिया तथा वृक्ष के बीच प्रवृत्त होने वाले सम्बन्ध को व्यक्त करती है। यहाँ दोनों का सम्बन्ध कारकात्मक है, क्योंकि इसका क्रिया से साक्षात् संसर्ग है। दूसरी ओर 'वृक्षं प्रति' में ठीक वही विभक्ति 'प्रति' (कर्मप्रवचनीय) तथा वृक्ष के बीच के सम्बन्ध को प्रकट करती है। यहाँ विभक्ति के द्वारा उपपद-सम्बन्ध की अभिव्यक्ति हो रही है। सम्बन्धों के इस वैषम्य के कारण विभक्ति-सादृश्य होने पर भी दोनों विभक्तियों में भेद है—उपपद-सम्बन्ध प्रकट करनेवाली विभक्ति कारक-सम्बन्ध प्रकट करनेवाली विभक्ति से पृथक् है।

न्यायशास्त्र में विभक्ति-शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है। वहाँ पद की वृत्ति (व्यवहार-हेतु) को विभक्ति कहते हैं। इसी अर्थ में गौतम ने **'ते विभक्त्यन्ताः पदम्'** (न्या० सू० २।२।५७) सूत्र में विभक्ति-शब्द का प्रयोग किया है। तदनुसार पद बनानेवाले प्रत्यय को विभक्ति कहते हैं। हम जानते हैं कि सुप् तथा तिङ् ये दो ही प्रत्यय पद बनाने की क्षमता रखते हैं, अतएव विभक्ति के अन्तर्गत सुप् तथा तिङ् दोनों प्रत्यय आते हैं। जगदीश ने[2] प्रत्ययों के ४ भाग करते हुए विभक्ति को

१. 'द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा'। —वा० प० ३।१।१

२. श० श० प्र०, का० ६०।

प्रथम वर्ग में रखा है तथा पुनः इसे सुप् एवं तिङ् इन दो भागों में विभक्त किया है। सुप् तथा तिङ् तो पाणिनि के प्रत्याहार के आधार पर व्यवहृत होनेवाली काल्पनिक संज्ञाएँ है, लाघव के लिए स्वीकृत हैं। वात्स्यायन ने इन्हें क्रमशः नामिकी (नाम शब्दों में प्राप्त विभक्ति) तथा आख्यातिकी (आख्यात शब्दों में प्राप्त विभक्ति) कहा है। 'ब्राह्मणः पचति' में इन दोनों के उदाहरण हैं। प्रथम पद में प्रथमा एकवचन ही 'सु' विभक्ति तथा दूसरे में लट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन की 'तिप्' विभक्ति है। दोनों ही पद बनाने के काम आते हैं[1]। पाणिनि-व्याकरण में भी विभक्ति-शब्द का लक्षण ऐसा दिया गया है कि सुप् तथा तिङ् दोनों प्रत्ययों को अन्तर्भूत करे। **'विभक्तिश्च'** (पा० सू० १।४।१०४) के अनुसार सुप् तथा तिङ् दोनों में तीन-तीन प्रत्ययों के गण विभक्ति कहलाते हैं; जैसे—सु औ जस्, अम् औट् शस् इत्यादि। ये सुप् के गण हैं। इसी प्रकार तिङ् के गण हैं—तिप् तस् झि, सिप् थस् थ इत्यादि।

विभक्ति और सुप् की पर्यायरूपता

इसी पाणिनीय अर्थ में विभक्ति-शब्द का ग्रहण करने के कारण नागेश अपनी लघुमंजूषा में विभक्त्यर्थ जैसे शब्द का प्रयोग न करके स्पष्टीकरण के लिए सुबर्थ-विचार तथा तिङर्थ-विचार—ये दो पृथक्-पृथक् प्रकरण रखते हैं, यद्यपि उपर्युक्त अर्थ में दोनों ही विभक्त्यर्थ के अंग होंगे। इतना होने पर भी विभक्ति-शब्द मुख्य रूप से सुप्-प्रत्ययों के अभिधायक के रूप में प्रयुक्त होता है। तिङ् प्रत्ययों की शास्त्रतः विभक्ति-संज्ञा होने पर भी इस अर्थ में उसका नगण्य प्रयोग है। यहाँ तक कि पाणिनि के सूत्रों में भी सुप् के ही अर्थ में विभक्ति-शब्द बहुधा प्रयुक्त है। यथा—**'अव्ययं विभक्तिसमीप०'** (पा० सू० २।१।६), **'प्राग्दिशो विभक्तिः'** (५।३।१), **'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः'** (६।१।१६८), **'इकोऽचि विभक्तौ'** (७।१।७३), **'अष्टन आ विभक्तौ'** (७।२।८४) इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि भी विभक्ति के व्यावहारिक अर्थ के समक्ष उसके कल्पित शास्त्रीय अर्थ का तिरस्कार करते हैं। पतञ्जलि के भी ऐसे कई प्रयोग लिये जा सकते हैं जहाँ उन्होंने सुबर्थ को विभक्त्यर्थ कहा है। यथा **'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः'** (पा० सू० १।१।३८) पर दिये गये भाष्य में वे कहते हैं कि कुछ अव्ययों में विभक्त्यर्थ (— सुबर्थ) की प्रधानता होती है तो कुछ में क्रिया प्रधान होती है। विभक्त्यर्थ-प्रधान अव्ययों के उदाहरण हैं—उच्चैः, नीचैः इत्यादि। हिरुक्, पृथक् इत्यादि क्रिया-प्रधान अव्यय हैं। अव्यय होने वाले तद्धित भी विभक्त्यर्थ-प्रधान होते हैं—यथा, यत्र, तत्र, अतः। नाना, विना इत्यादि क्रिया-प्रधान हैं[2]।

सुबर्थ के ही रूप में विभक्त्यर्थ शब्द का ग्रहण करते हुए इस प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ भी लिखे गये हैं; जैसे—कमलाकरभट्ट कृत विभक्त्यर्थप्रकाश, गिरिधर भट्टाचार्य

१. वात्स्यायन भाष्य, २।२।५७।

२. महाभाष्य, कीलहार्न-सम्पादित १, पृ० ९५।

कृत विभक्त्यर्थ-निर्णय[1] इत्यादि। प्रस्तुत अध्याय में हम इसी सन्दर्भ में विभक्ति शब्द का ग्रहण करते हुए यह कहते हैं कि विभक्ति के द्वारा कारक तथा उपपद—ये दोनों वाक्य-सम्बन्ध प्रकट होते हैं। इन सम्बन्धों को प्रकट करनेवाली विभक्तियाँ भी क्रमशः कारकविभक्ति तथा उपपदविभक्ति कहलाती हैं। इन विभक्तियों के सात भेद हैं जिन्हें पाणिनि ने तीन वचनों के गणों में रखा है—(१) प्रथमा—सु औ जस्। (२) द्वितीया—अम् औट् शस्। (३) तृतीया—टा भ्याम् भिस्। (४) चतुर्थी—ङे भ्याम् भ्यस्। (५) पञ्चमी—ङसि भ्याम् भ्यस्। (६) षष्ठी—ङस् ओस् आम्। (७) सप्तमी—ङि ओस् सुप् (पा० सू० ४।१।२)। सभी प्रातिपदिकों से इन विभक्तियों का विधान होता है। इन्हें ही प्रत्याहारतः 'सुप्' कहा जाता है।

विभक्तियों के दो रूप : कारकविभक्ति तथा उपपदविभक्ति

सुप्-प्रत्ययों (विभक्तियों) के अर्थ के विषय में पाणिनि-व्याकरण में विशद विचार हुआ है। विभिन्न विभक्तियों के विषय में प्रमुख नियम निम्नलिखित हैं—

(१) प्रथमा

कारकविभक्ति—अभिधानमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है, चाहे कोई भी कारक हो। यथा—**ज्वलत्यग्निः** (कर्ता), **पच्यते ओदनः** (कर्म), **स्नानीयं चूर्णम्** (करण), **दानीयो विप्रः** (सम्प्रदान), **भीमो राक्षसः** (अपादान), **आसनं पीठम्** (अधिकरण)। इसीलिए पाणिनि ने प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा का विधान किया है (२।३।४६), जिसके अनुसार सत्ता, लिंग, परिमाण या वचन मात्र में प्रथमा होती है—उच्चैः, कुमारी, द्रोणः, एकः। इन सबों में अभिहितकर्ता है, जो गम्यमान अस्त्यादि-क्रिया से सम्बद्ध है। यदि कोशादि ग्रन्थों में क्रिया-विरहित रूप में प्रथमा का प्रयोग हो तो इसे उपपदविभक्ति कहा जा सकता है।

अभिधान के कई साधन हैं; जैसे—तिङ् (क्रियते कटः), कृत् (कृतः कटः), तद्धित (शतेन क्रीतः शत्यः) तथा समास (प्राप्तोदको ग्रामः)[2]। कभी-कभी निपात-शब्दों के द्वारा भी अभिधान देखा जाता है—'**विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्**' (कुमारसंभव २।५५), '**क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः**' (शिशु० १।३)। किन्तु यह नियम सार्वत्रिक नहीं है—'**परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय प्रणिजगदुः**' (शिशु० ११।१)।

उपपदविभक्ति—(क) सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है—हे राम! (ख) सम्बन्ध के भी अभिहित होने पर प्रथमा होती है; यथा—**गोमान् रामः** (गावो देवदत्तस्य)[3]।

---

१. 'इह खलु सर्वेषां विभक्त्यर्थानां भवत्यन्वयः इति विभक्त्यर्थो निरूप्यते। तत्र कारकाकारकभेदात्स द्वेधा'। —विभक्त्यर्थनिर्णय, पृ० १

२. काशिका २।३।१।

३. रभसनन्दि, कारकसम्बन्धोद्योत, पृ० ४–६।

(२) द्वितीया

कारकविभक्ति—(क) सभी प्रकार के अनिभिहित कर्मों में द्वितीया विभक्ति होती है (२।३।२)। जैसे—**घटं** करोति (निर्वर्त्य)। **स्वर्णं** कुण्डलं करोति (विकार्य)। **ग्रामं** गच्छति (प्राप्य)। **विषं** भुङ्क्ते (द्वेष्य)। ग्रामं गच्छन् **तृणं** स्पृशति (उदासीन)। **गां** दोग्धि पयः (अकथित)। स्वर्गमध्यास्ते (अन्यपूर्वक)।

(ख) कतिपय प्रयोज्य कर्ताओं में भी कर्म-कारक मानकर (१।४।५२-५३) द्वितीया विभक्ति होती है। यह भी अन्यपूर्वक कर्म है, किन्तु स्पष्टीकरण के लिए पृथक् विन्यास किया जाता है—**विप्रं** ग्रामं गमयति। **शिशुं** शाययति। भृत्यं (भृत्येन वा) भारं हारयति।

उपपदविभक्ति—(क) अन्तरा, अन्तरेण (२।३।४), उभयतः, सर्वतः, धिक्, उपरि आदि (=अधः, अधि) की द्विरुक्ति होने पर यावत्, अभितः, परितः, समया, निकषा, हा, प्रति, विना—इत्यादि अव्ययों के साथ द्वितीया होती है।

(ख) कालवाचक तथा अध्ववाचक शब्दों में द्वितीया होती है, यदि अत्यन्त-संयोग (व्याप्ति) का बोध हो; यथा—**मासं** कल्याणी, **क्रोशं** कुटिला नदी। मासमधीते, क्रोशमधीते—इत्यादि में सकर्मक धातुओं के साथ भी व्याप्ति के अर्थ में उदाहरण होते हैं। अर्थ है—मासं व्याप्याधीते। 'मासमास्ते, मासं तिष्ठति' में अकर्मक धातुओं के योग में वार्तिककार ने देश, काल, भाव तथा गन्तव्य मार्ग को कर्मसंज्ञा मानकर द्वितीया का विधान किया है। अतएव वह कारकविभक्ति है। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (२।३।५) से होनेवाली पूर्वोक्त द्वितीया उपपदविभक्ति ही व्यवस्थित होती है। 'मासं व्याकरणं पठति' कहें या केवल 'मासं पठति' दोनों में मासगत उपपदविभक्ति ही है। अकर्मक धातुओं के साथ कालादि के कर्मत्व की उपपत्ति शास्त्र (वार्तिक) से होती है। वास्तव में 'कालाध्व०' सूत्र के उदाहरणों में 'यावत्' गम्यमान रहता है—मासं (यावत्) काव्यं पठति। नागेश यहाँ व्यापकत्व को द्वितीया का अर्थ मानते हैं[1]। इसी प्रकार **'एकादशीमुपवसन्ति'** एकादशी-तिथि की व्याप्तिपर्यन्त उपवास का विधान है। अकर्मक धातु होने से काल को कर्मसंज्ञा हुई है तथा यह कारकविभक्ति है। अथवा 'यावत्' की गम्यमानता से प्रस्तुत सूत्र द्वारा भी विभक्ति विधेय है।

(ग) कर्मप्रवचनीयों के योग में सामान्य रूप से द्वितीया होती है (२।३।८)। इसके कई अपवाद भी हैं। पाणिनि ने **'अनुर्लक्षणे'** (१।४।८४) से **'अधिरीश्वरे'** (२।४।९७) तक कर्मप्रवचनीय-संज्ञक अनु, उप, अप, परि, आङ्, प्रति, अभि, अधि, सु, अति, अपि—इन शब्दों का अर्थसहित उल्लेख किया है। इनमें आधिक्यार्थक शब्दों के योग में सप्तमी (अधि रामे भूः, अधि भुवि रामः—२।३।९) तथा अप, आङ्, परि के योग में पञ्चमी होती है। शेष शब्दों में द्वितीया विहित है—जपमनु प्रावर्षत्। वृक्षं प्रति।

---

१. ल० म०, पृ० १३३९।

(३) तृतीया

कारकविभक्ति—(क) अनभिहित कर्ता तथा करण में तृतीया होती है; यथा—रामेण बाणेन हतो वाली (**कर्तृकरणयोस्तृतीया** २।३।१८) । कभी-कभी क्रिया के श्रूयमाण न होने पर भी कारकविभक्ति होती है—अलं श्रमेण (=साध्यं नास्ति) । यहाँ गम्यमान साधनक्रिया के प्रति श्रम करण है, जिसकी निषेधमुखी प्रवृत्ति हुई है । इसी प्रकार '**अक्षैर्दीव्यति**' (१।४।४३), '**शतेन परिक्रीतः**' (१।४।४४)—ये भी स्थिति-विशेष में करण के उदाहरण हैं ।

(ख) वैदिक भाषा में हु-धातु के कर्म में तृतीया होती है—यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति (यवागू-रूप हव्य प्रदान करता है) । अग्निहोत्र=हवि[1] ।

(ग) सम्-पूर्वक ज्ञा-धातु के कर्म को वैकल्पिक तृतीया होती है (२।३।२२) । जैसे—मात्रा (मातरं वा) सञ्जानीते ।

उपपदविभक्ति— (क) काल तथा अध्व वाचक शब्दों के प्रयोग में यदि व्याप्ति के साथ-साथ फलप्राप्ति (अपवर्ग-कार्यसमाप्ति) का भी बोध हो तो उनमें तृतीया होती है—**मासेन** तद्धिताः अधीताः, **क्रोशेनानु**वाकोऽधीतः (पा० सू० २।३।६) ।

(ख) प्रकृति, चरित्र, गोत्र, प्राय, स्वभाव, सुख इत्यादि में तृतीया लगाने की शैली है; यथा—**प्रकृत्या चारुः, प्रायेण याज्ञिकः, नाम्ना रावणः, जात्या क्षत्रियः, सुखेन याति** । तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार इन प्रयोगों की सिद्धि गम्यमान क्रियाओं के करण के रूप में ही हो सकती है । वास्तव में वार्तिककार ने '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' के प्रसंग में ही इस वार्तिक-विधान की स्थापना की है । यदि हम इसका करण-कारक से पृथक् विधान करें तो इन शब्दों में तृतीया के अतिरिक्त कोई दूसरी विभक्ति हो ही नहीं सकेगी । तदनुसार 'प्रकृत्या' इत्यादि रूढ होकर अव्ययवत् हो जायेंगे । दूसरी ओर प्रश्न होता है कि जब करण से ही काम चल जाता है तो वार्तिककार ने पृथक् उपसंख्यान करने की आवश्यकता ही क्यों समझी ? वस्तुस्थिति यह है कि तृतीया-विभक्ति में इन शब्दों के रहने से मुहावरेदार (idiomatic) प्रयोग होते थे । अतः यहाँ करण-कारक नहीं है ।

(ग) सहार्थक शब्दों के योग में अप्रधान के बोधक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है; यथा—**शशिना सह याति कौमुदी** । कभी-कभी सहादि के गम्यमान रहने पर भी यह नियम लगता है—**मरुद्भिरग्न आ महि** (ऋ० सं० १।१९।२), **पयसा खल्वोदनं भुञ्जीय** (महाभाष्य १।४।४९) ।

(घ) जिस अंग के विकार से पूरे अंगी का विकार लक्षित हो उस अंग के वाचक शब्द में तृतीया होती है—**अक्ष्णा काणः** । यदि केवल अंग का ही विकार ज्ञात हो तो तृतीया नहीं होती—अक्षि काणमस्य (उसकी एक आँख कानी है) । यहाँ 'काण' अक्षि का विशेषण है, अंगधारी मनुष्य का नहीं । (**येनाङ्गविकारः** २।३।२०) ।

---

१. तृतीया च होश्छन्दसि (पा० सू० २।३।३) । द्रष्टव्य—सिद्धान्तकौमुदी में वैदिकी प्रक्रिया का सम्बन्ध-स्थल ।

(ङ) जिस लक्षण (चिह्न) के द्वारा किसी वस्तु का प्रकार-विशेष ज्ञात हो उसमें तृतीया होती है; यथा—**जटाभिस्तापसः, पुस्तकेन छात्रमपश्यम्** । यहाँ जटा तथा पुस्तक क्रमशः तापस तथा छात्र के विशिष्ट लक्षण हैं, जिनसे उन्हें पहचाना जा सकता है। किन्तु 'कमण्डलुपाणिः छात्रः' में तृतीया नहीं होगी, क्योंकि समास में लक्षण अन्तर्भूत हो गया है। विग्रह होगा—कमण्डलुः पाणौ यस्य (बहुव्रीहि)। नागेश बतलाते हैं कि यद्यपि 'जटाभिस्तापसः' में ज्ञानक्रिया के करण के रूप में जटा की सिद्धि हो जाती है तथापि वह यहाँ अविवक्षित है। केवल लक्ष्यलक्षणभाव की यहाँ विवक्षा है[1]।

(च) हेतु-बोधक शब्द में तृतीया होती है—**धनेन कुलम् । विद्यया यशः** । करण तथा हेतु का विचार हम करण-कारक के प्रसंग में करेंगे[2]। यदि हेतुवाचक शब्द गुण हो तो उससे वैकल्पिक तृतीया होती है (पक्ष में—पञ्चमी)—जाड्येन बद्धः (जाड्याद् वा)। स्त्रीलिंग गुण-शब्दों से केवल तृतीया होती है—बुद्ध्या मुक्तः, प्रज्ञया मुक्तः।

(छ) हेतु-शब्द या उसके पर्याय का प्रयोग हो तो सर्वनाम से तृतीया इत्यादि सभी विभक्तियाँ होती हैं—केन हेतुना, केन निमित्तेन वसति। कस्मै निमित्ताय इत्यादि। (सर्वनाम्नस्तृतीया च २।३।२७)।

(ज) पृथक्, विना, नाना—इनके योग में तृतीया तथा पञ्चमी विभक्तियाँ होती हैं।

(झ) तुल्यार्थक शब्दों में तृतीया (तथा षष्ठी) होती है—कृष्णेन (कृष्णस्य) तुल्यम्, सदृशम्, समानम् ।

(४) चतुर्थी

कारकविभक्ति—(क) सभी सम्बद्ध सूत्रों तथा वार्तिकों के द्वारा विहित अनभिहित सम्प्रदाय कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है। यथा—**ब्राह्मणाय गां ददाति । पत्ये शेते । बालकाय मोदकः स्वदते । शताय (शतेन) परिक्रीतः भृत्यः ।**

(ख) चेष्टा का बोध करानेवाले गत्यर्थक धातुओं के कर्म-कारक में मार्ग-वाचक शब्दों को छोड़कर द्वितीया तथा चतुर्थी—ये दोनों विभक्तियाँ होती हैं। यथा—**ग्रामं (ग्रामाय वा) व्रजति** । चेष्टा का अर्थ नहीं होने पर केवल द्वितीया होती है—मनसा पाटलिपुत्रं व्रजति। यहाँ मानसिक गति का अर्थ है—चेष्टा (बाह्य गति का नहीं)। इसी प्रकार मार्गवाचक शब्द कर्म में हो तो केवल द्वितीया होती है—मार्गं, पन्थानं गच्छति। किन्तु जहाँ कुपथ से सुपथ पर जाने का अर्थ हो वहाँ चतुर्थी होती है—पथे गच्छति (पा० सू० २।३।१२)। गत्यर्थक धातुओं के प्रयोग में द्वितीया,

१. लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ४३६।

२. द्रष्टव्य—हरिहरकृपालुद्विवेदी शताब्दी ग्रन्थ में लेखक का निबन्ध—हेतु-करणविवेकः।

चतुर्थी तथा सप्तमी—ये विभक्तियाँ होती हैं, किन्तु अर्थ में सूक्ष्म अन्तर रहता है[1]। 'ग्रामं गच्छति' में मुख्यतः गति की दिशा का निर्देश है कि गाँव की ओर उसकी गति है तथा वहाँ तक उसे पहुँचना है। 'ग्रामाय गच्छति' में गति के लिए दिशा का निर्देश है कि कर्ता उस स्थान तक पहुँचने के उद्देश्य से चलता है। 'ग्रामे गच्छति' में स्थान तक पहुँचने तथा वहाँ पर ठहरने का भी अर्थ है।

(ग) अप्रयुक्त तुमुन्नन्त क्रिया के कर्म-कारक में चतुर्थी होती है। यदि उसका प्रयोग हो जाय तो उसमें द्वितीया ही होगी। यथा—**पुष्पेभ्यो याति** (पुष्पाणि हर्तुं याति)। 'हर्तुम्' क्रिया अप्रयुज्यमान है, जिसका कर्म पुष्प है, अतः उसमें चतुर्थी हुई है। (**क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः** २।३।१४)।

(घ) दिवादि-गणवाले मन्-धातु के अप्राणिवाचक कर्म-कारक में अनादर (तिरस्कार) का अर्थ होने पर चतुर्थी तथा द्वितीया—ये दोनों विभक्तियाँ होती हैं। यथा—**न त्वां तृणं (तृणाय वा) मन्ये** (पा० सू० २।३।१७)। कात्यायन के अनुसार अप्राणिवाचक शब्द से यहाँ नौ, काक, अन्न, शुक, शृगाल—इन शब्दों से भिन्न शब्द का बोध करना चाहिए, वह प्राणिवाचक हो या अप्राणिवाचक। तदनुसार 'न त्वा शुने (श्वानं वा) मन्ये' होता है। किन्तु उक्त परिगणित शब्दों के साथ केवल द्वितीया ही होती है—न त्वा शुकं मन्ये। ये संसृष्ट प्रयोग संस्कृत के जीवित भाषा होने के पर्याप्त प्रमाण हैं।

उपपदविभक्ति—(क) तादर्थ्य (एक वस्तु का दूसरी वस्तु के लिए होना) ज्ञात होने पर चतुर्थी होती है—**यूपाय दारु** (खूँटे के लिए लकड़ी)। **कुण्डलाय हिरण्यम्। रन्धनाय स्थाली। ब्राह्मणाय दधि। काव्यं यशसे।**

(ख) क्लृप् के अर्थ वाले धातुओं का प्रयोग होने पर उत्पन्न किये जाने वाले पदार्थ के वाचक शब्द में चतुर्थी विभक्ति होती है—**भक्तिः ज्ञानाय कल्पते,** सम्पद्यते, जायते, भवति। यहाँ उत्पाद्य पदार्थ ज्ञान है।

(ग) प्राणियों के शुभ या अशुभ के सूचक भौतिक विकार (उत्पात) के द्वारा जिसका बोध कराया जाय उसके वाचक शब्द में चतुर्थी होती है—**वाताय कपिला विद्युत्**। कपिल वर्ण की बिजली प्राकृतिक विकार है जो भविष्यत्काल में आनेवाली आँधी का ज्ञापन करती है। यहाँ 'क्रियार्थोपपद०' के अनुसार 'वातं ज्ञापयितुं कपिला विद्युत् भवति' के रूप में विश्लेषण करके चतुर्थी कारक-विभक्ति की भी उपपत्ति की जा सकती है।

(घ) तुमुन् प्रत्यय के समानार्थक जो कृत्प्रत्यय (घञ्, ल्युट् आदि) भाव अर्थ में विहित हो तो उससे बने हुए कृदन्त शब्द में चतुर्थी होती है—पाकाय (—पक्तुम्) अग्निमाहरति। श्रवणाय (श्रोतुं) समागतः। तुमुन्नन्त को क्रियार्था क्रिया कहते हैं, क्योंकि एक दूसरी क्रिया के सम्पादन के लिए यह होती है।

---

1. Cf. I. J. S. Taraporewala, Sanskrit Syntax, p. 40.

(च) नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम्, वषट् आदि के योग में चतुर्थी होती है। यथा—**गुरवे नमः। राज्ञे स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। अलं मल्लो मल्लाय।** 'अलम्' यहाँ पर पर्याप्त के अर्थ में लिया गया है, अतएव तदर्थक अन्य शब्दों के योग में भी चतुर्थी होती है। यथा—**दैत्येभ्यो हरिरलम्,** प्रभुः, समर्थः, शक्तः। प्रभु आदि शब्दों के योग में षष्ठी भी होती है; जैसे—'**प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः**' (शिशु०)।

(छ) आशीर्वाद का अर्थ ज्ञात होने पर आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ तथा हित—इन शब्दों के योग में चतुर्थी तथा षष्ठी—ये दोनों विभक्तियाँ होती हैं। यथा—आयुष्यं देवदत्ताय (देवदत्तस्य वा) भूयात्। इन्हीं अर्थों में निरामय, शम्, प्रयोजन आदि शब्दों के योग में भी ये विभक्तियाँ होती हैं—'शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये' (अथर्व०)।

(५) पञ्चमी

कारकविभक्ति—(क) सभी प्रकार के अनभिहित अपादानों में पंचमी विभक्ति होती है; यथा—**वृक्षात्पतति। चौराद् बिभेति। उपाध्यायादधीते।**

(ख) कात्यायन के अनुसार ल्यप्-प्रत्ययान्त क्रिया का लोप होने पर उसके कर्म तथा अधिकरण कारकों में पंचमी होती है। यथा—**प्रासादात्** (प्रासादमारुह्य) **प्रेक्षते। आसनात्** (आसने उपविश्य) **प्रेक्षते।** पतंजलि ने इस वार्तिक का खण्डन करते हुए कहा है कि अपादान से ही इसकी सिद्धि हो जायगी, क्योंकि दर्शन का प्रासाद से अपक्रमण होता है। विषय का ग्रहण करनेवाली नयन-रश्मियाँ सूर्य-रश्मि के समान प्रासाद पर स्थित पुरुष के नयन से निकल कर विषय-देश में पहुँचती हैं, जिससे कहा जाता है कि नयन प्रासाद से देख रहा है। वास्तव में प्रासाद से अपक्रान्त होकर वह विषय को जान लेता है। मुख्यतः प्रासादस्थ पुरुष से निर्गमन होने पर भी लक्षण के द्वारा प्रासाद से निर्गमन होने का व्यवहार होता है[१]।

(ग) जब स्तोक, अल्प, कृच्छ्र तथा कतिपय—ये शब्द धर्ममात्र के वाचक हों, द्रव्य के बोधक न हों तथा करण-कारक में आ रहे हों तो इनसे पञ्चमी तथा तृतीया—ये दोनों विभक्तियाँ होतीं हैं। यथा—**स्तोकान्मुक्तः** (स्तोकेन वा—थोड़ा-सा से बच गया)। द्रव्यवाचक होने पर करण में तृतीया ही होगी—**स्तोकेन विषेण मृतः** (थोड़े विष से मर गया)।

उपपदविभक्ति—(क) जिस (अवधि) से मार्ग और समय की नाप की जाय उसमें पंचमी होती है। मार्ग—**पाटलिपुत्राद्** राजगृहं सप्त योजनानि (सप्तसु योजनेषु वा)। मार्गवाचक शब्द में कात्यायन प्रथमा या सप्तमी ही का प्रयोग साधु (शुद्ध) बतलाते हैं। उसी प्रकार कालवाचक में सप्तमी होती है। काल—**कार्तिक्या** आग्रहायणी मासे (कार्तिक पूर्णिमा से आग्रहायण की पूर्णिमा एक मास है)[२]।

---

१. उद्योत खण्ड २, पृ० ५०६।

२. 'यतश्चाध्वकालनिर्माणम्; तद्युक्तात्काले सप्तमी; अध्वनः प्रथमा च'।
—भाष्य (२।३।२८) में उद्धृत वार्तिक।

(ख) अन्य, आरात् (समीप), इतर, ऋते, (विना) तथा सामान्यतया सभी दिशावाचक शब्दों के योग में पंचमी होती है। 'अन्य' के अर्थवाले दूसरे शब्दों के साथ भी यह विभक्ति होती है—**तस्मादन्यः**, भिन्नः, विलक्षणः, इतरः। ऋते रवेः। उत्तरो **ग्रामात्**, उत्तरा **ग्रामात्**, उत्तराहि **ग्रामात्**। प्राक् ग्रामात्। किन्तु अतसुच्-प्रत्यय (उत्तरतः, दक्षिणतः) के अर्थ में निष्पन्न दिशावाचक शब्द के साथ केवल षष्ठी विभक्ति होती है—**ग्रामस्योत्तरतः, तस्य पुरः**, उपरि, उपरिष्टात्। इसी प्रकार एनप् प्रत्ययान्त दिशावाचक शब्द के योग में द्वितीया विभक्ति होती है—**उत्तरेण ग्रामम्।** कालिदास ने उत्तरमेध में प्रयोग किया है—'**तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयम्**'। यहाँ 'उत्तरेण' के योग में पंचमी के प्रयोग का भ्रम नहीं होना चाहिए, क्योंकि यहाँ एनप्-प्रत्ययान्त 'उत्तरेण' शब्द नहीं है, प्रत्युत उसके अनन्तर आयी हुई पंक्ति 'दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन' में स्थित तोरण का विशेषण तृतीयान्त पद है। 'गृहात्' में पंचमी दूर के योग में है[1]।

(ग) पृथक्, विना, नाना के योग में इसका तृतीया विभक्ति से विकल्प होता है—**रामात्** (**रामेण**) विना, नाना।

(घ) दूर तथा निकट के बोधक शब्दों के योग में पंचमी तथा षष्ठी—ये दोनों विभक्तियाँ होती हैं—**ग्रामस्य** (**ग्रामात्**) दूरं निकटं, विप्रकृष्टं, समीपम्, अन्तिकम्, अभ्याशम् (पा० सू० २।३।३४)। इस स्थल में यह भी ज्ञातव्य है कि दूर तथा अन्तिक शब्दों में द्वितीया, तृतीया, पंचमी तथा सप्तमी होती है—दूरं, दूरेण, दूरात्, दूरे **ग्रामस्य** (२।३।३५-६)।

(ङ) वर्जनार्थक अप तथा परि एवं मर्यादा-अर्थवाले आङ्—इन तीन कर्म-प्रवचनीयों के योग में पंचमी होती है (२।३।१०, १।४।८८-९)। यथा—**अप हरेः, परि हरेः** (हरिं वर्जयित्वा) संसारः। **आ समुद्रात्** (समुद्र तक)।

(च) प्रतिनिधि (मुख्य के अभाव में स्थानापन्न) तथा प्रतिदान (दिये गये पदार्थ को प्रकारान्तर से लौटाना) के अर्थ में 'प्रति' कर्मप्रवचनीय है। उसके योग में ये दोनों जिससे सम्बद्ध हों उसमें पंचमी होती है[2]। यथा—प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति (प्रद्युम्न कृष्ण के प्रतिनिधि हैं)। तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् (तिल के प्रतिदान-स्वरूप—बदले में उड़द देता है)।

(छ) हेतु (कारण) के रूप में जो ऋण हो उससे पंचमी होती है—शताद् बद्धः (सौ रुपयों के ऋण के कारण वह बँधा हुआ है)। जहाँ हेतुकर्ता के रूप में ऋण हो उसमें पंचमी विभक्ति नहीं होती, तृतीया का प्रयोग होगा (यदि कर्मवाच्य

---

१. तत्त्वबोधिनी, पृ० ४६४।

२. 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्' (२।३।११)—'प्रतिनिधिप्रतिदाने यत्सम्बन्धिनी ततः कर्मप्रवचनीययुक्तात्पञ्चमीत्यर्थः'। —ल० श० शे०, पृ० ४५९

में हो)—शतेन बन्धितः (सौ रुपयों के ऋण ने उसे बँधवा दिया है)। यह अन्तर विवक्षापेक्ष है।

(ज) सामान्य रूप से न्यायशास्त्रीय हेतु में पंचमी का प्रयोग होता है—पर्वतोऽग्निमान्, **धूमवत्त्वात्**। नास्ति घटः, **अनुपलब्धेः**।

(झ) जब दो वस्तुओं के स्पष्ट पार्थक्य के आधार पर निर्धारण (गुणों के उत्कर्षापकर्ष के कारण एकांश का पृथक्करण) किया जाय तब जिस वस्तु से निर्धारण होता है उसमें पंचमी होती है—**धनाद्** विद्या गरीयसी। माथुराः **पाटलीपुत्रकेभ्यः** आढ्यतराः। निर्धारण में विभाग गम्यमान रहता है, क्योंकि एक समुदाय से अंशमात्र को पृथक् किया जाता है। यह अंश समुदाय का अंग ही होता है। ऐसे स्थलों में षष्ठी या सप्तमी होती है। दूसरी ओर पंचमी के स्थल में दोनों तुलनीय पदार्थों में अन्योन्याभाव रहता है। धन विद्या नहीं है, विद्या धन नहीं है। इस प्रकार विभाग स्पष्ट रहता है।

(ञ) प्रभृति, बहिः, अनन्तरम् आदि अव्ययों के योग में भी पंचमी होती है—**शैशवात्प्रभृति, पुराद् बहिरस्तु, पाणिपीडनविधेरनन्तरम्**।

(६) षष्ठी विभक्ति तथा शेष का अर्थ

कारकविभक्ति—यद्यपि षष्ठी-विभक्ति का अपना कोई कारक नहीं होता क्योंकि षष्ठी से मुख्यतया द्योतित होने वाला 'सम्बन्ध' कारक नहीं है, तथापि कतिपय दूसरे कारकों में षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग होता है। इसके लिए पाणिनि-सूत्रों का समर्थन प्राप्त है। किन्तु कुछ वैयाकरण षष्ठी का प्रयोग सम्बन्ध-मात्र में मानते हैं, यहाँ तक कि कर्मादि में भी सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा होने पर ही षष्ठी होती है[1]। नागेश इस विषय में कहते हैं कि कर्मादि में केवल क्रियायोग की विवक्षा होने पर (ईप्सिततमत्वादि की विवक्षा नहीं होने पर) षष्ठी होती है[2]। उनका यह अभिप्राय है कि कारक-विभक्तियाँ क्रियाजनकत्व या कर्तृत्वादि शक्तियों का बोध कराती हैं। यदि उक्त शक्तिमूलक सम्बन्ध की विवक्षा हो तो षष्ठी होती है। दूसरे शब्दों में, वे प्रकारान्तर से षष्ठी की कारकबोधिका शक्ति मानते हैं। यह सत्य है कि षष्ठी मुख्यतः सम्बन्ध में नियत है, किन्तु कारकशेष (कर्तृशेष, कर्मशेष आदि) के रूप में इसे ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं। **'सतां गतम्'** (सज्जनों का जाना) कर्तृशेष षष्ठी का उदाहरण है। 'सत्' का कर्तृत्व प्रधान रूप से विवक्षित नहीं हो रहा है—सम्बन्ध (सत् तथा गतम्) के रूप में उसकी विवक्षा हुई है। यदि कर्तृत्व की प्रधानता विवक्षित हो तो **'सन्तो गच्छन्ति'** या **'सद्भिर्गतम्'** (अनभिहितावस्था में) के

१. सिद्धान्तकौमुदी 'षष्ठी शेषे' के अन्तर्गत—'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव'।

२. 'यद्वा क्रियाकारकभावमूलकसम्बन्धस्यैव विवक्षायां, न तु तद्विवक्षायामित्यर्थः'। —ल० श० शे०, पृ० ४६२

प्रयोग हो सकते हैं। जगदीश सम्बन्धार्थ षष्ठी को कारकविभक्ति नहीं मानते[1] किन्तु हेलाराज शेषषष्ठी के कारकत्व के समर्थक हैं[2]।

जगदीश का मन्तव्य है कि धात्वर्थ में प्रकारतया भासित होनेवाला ही कारक होता है। चूँकि सम्बन्ध के रूप में षष्ठी का अर्थ क्रिया का प्रकार नहीं हो सकता, अतः इसे कारक नहीं मान सकते। 'तण्डुलस्य पचति' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग होता ही नहीं कि षष्ठ्यर्थ को क्रिया का प्रकार कह सकें। 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' में रजक का सम्बन्ध वस्त्र में प्रतीत होता है—इसका बोध षष्ठी कराती है। तथापि कई स्थितियों में कारकार्था षष्ठी जगदीश को स्वीकार्य है, क्योंकि क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध होने पर कर्त्रादि कारकों में वह षष्ठी आती है; यथा—(१) **तण्डुलस्य** पाचकः। (२) **गुरुविप्रतपस्विदुर्गतानां** प्रतिकुर्वीत भिषक् स्वभेषजैः। कुछ लोग इस उदाहरण में 'रोगान्' के अध्याहार का परामर्श देकर सम्बन्ध में ही षष्ठी मानते हैं, जब कि दूसरे लोग 'प्रतिकार' क्रिया में रोगनाश का अर्थ निहित मानकर अध्याहार अर्थ समझते हैं। (३) **पद्मस्यानुकरो**त्येष कुमारीमुखमण्डलः। (४) **मातुः** स्मरति। (५) **चौरस्य** हिनस्ति। इत्यादि[3]।

इन सभी मत-मतान्तरों से ऊपर होकर हम पाणिनीय सूत्रों के प्रामाण्य पर भी षष्ठी में कारकविभक्ति की पुष्टि कर सकते हैं; यथा—'ज्ञोऽविदर्थस्य **करणे**' (२।३।५१), 'अधीगर्थदयेशां **कर्मणि**' (२।३।५२), '**कर्तृकर्मणोः** कृति' (२।३।६५) इत्यादि। तदनुसार हम निम्नलिखित रूप से षष्ठी की कारक-विभक्ति का निर्देश करते हैं—

(क) ज्ञा-धातु का प्रयोग यदि ज्ञान के अर्थ में न हो, प्रत्युत लक्षणा से ज्ञान-पूर्वक प्रवृत्ति के अर्थ में वह प्रयुक्त हो तो उसके करण-कारक में षष्ठी होती है; यथा—मधुनो जानीते (मधु के द्वारा उसकी प्रवृत्ति होती है)। मिथ्याज्ञान के अर्थ में भी ऐसा प्रयोग होता है। उपर्युक्त उदाहरण का तदनुसार यह भाव भी हो सकता है कि आसक्ति के कारण उसके द्वारा (उसी रूप में) अन्य पदार्थों को भी समझता है (कि ये मधु हैं)। यह मिथ्याज्ञान भी ज्ञान-भिन्न अर्थ है[4]।

(ख) स्मरणार्थक धातु, दय्-धातु तथा ईश्-धातु के कर्म में षष्ठी होती है, यदि शेषरूप में विवक्षा हो; यथा—**मातुः स्मरति। सर्पिषो दयते। बहूनामीष्टे**[5]।

---

१. 'सम्बन्धो न कारकम्, न वा तदर्थिकापि षष्ठी कारकविभक्तिः'।

—श० श० प्र०, पृ० २९५

२. 'क्रियाकारकपूर्वकः' इत्यनेन कारकत्वं व्याचष्टे शेषस्य।

—वा० प० ३।७।१५६, पृ० ३५५

३. श० श० प्र०, २९५-९६।

४. द्रष्टव्य—काशिका (२।३।५१)।

५. 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (पा० सू० २।३।५२)। तत्त्वबोधिनी—**'इङिकाबध्युपसर्गं न व्यभिचरतः'**।

(ग) प्रतियत्न (सत्तावान् पदार्थ में गुणान्तर का आधान) के अर्थ में कृ-धातु हो तो उसके कर्म में शेषविवक्षा होने पर षष्ठी होती है; यथा—अग्निः स्वर्णस्य उपस्कुरुते। कर्मत्व-विवक्षा में द्वितीया होती है। ('कृञः प्रतियत्ने'—पा० सू० २।३।५३)।

(घ) रोग के अर्थवाले धातुओं के (ज्वर्-धातु को छोड़कर) प्रयोग में यदि भाववाचक शब्द कर्ता हो तो उनके कर्म में षष्ठी होती है—'चौरस्य रुजति रोगः'। यहाँ कर्ता भाववाचक रोग-शब्द है, अतः रुज्-धातु के कर्म में षष्ठी हुई है। यदि कर्ता के रूप में भाववाचक शब्द न हो तो कर्म में द्वितीया ही होती है—'नदी कूलानि रुजति'। इसी प्रकार शेष-विवक्षा नहीं होने पर भी—'चौरं रुजति रोगः'; यहाँ द्वितीया हुई है। ज्वर तथा सन्तापन-क्रियाओं के प्रयोग में भी द्वितीया होती है—'चोरं सन्तापयति तापः, ज्वरयति ज्वरः' (**'राजार्थानां भाववचनानामज्वरेः'**—पा० सू० २।३।५४)।

(ङ) आशीर्वाद याचना (आशा करना) के अर्थ में नाथ्-धातु का प्रयोग हो तो उसके कर्म में शेष-विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है; यथा—सर्पिषो नाथते (मुझे घी मिले, ऐसी आशा करता है)।

(च) हिंसा के अर्थ में जासि-जातु (जस+णिच्), नि तथा प्र (संयुक्त या व्यस्त) के बाद हन्-धातु, नाटि, क्राथि (दोनों णिजन्त) तथा पिष्—इन सभी धातुओं का प्रयोग हो तो उनके कर्म-कारक में शेष-विवक्षा होने पर षष्ठी होती है; जैसे—'चौरस्योज्जासयति, निहन्ति, प्रहन्ति, प्रणिहन्ति, उन्नाटयति, क्राथयति, पिनष्टि'। कर्मत्व-विवक्षा में यथापूर्व द्वितीया होगी (पा० २।३।५६)।

(छ) वि तथा अव (संयुक्त) पूर्वक हृ-धातु तथा पण-धातु समानार्थक हों तो इनके कर्म में शेष-विवक्षा होने पर षष्ठी होती है। द्यूत तथा क्रय-विक्रय के व्यवहार में ये दोनों समानार्थक होते हैं; यथा—शतस्य व्यवहरति, शतस्य पणते (सौ रुपयों का क्रय-विक्रय करता है, या जुए में बाजी रखता है)। यदि दोनों भिन्नार्थक हों तो षष्ठी नहीं होती—'शलाकां व्यवहरति' (गिनता है)। 'ब्राह्मणान् पणायते' (स्तुति करता है) (पा० सू० २।३।५७)।

(ज) क्रय-विक्रय व्यवहार तथा द्यूत के अर्थ में दिव् धातु का प्रयोग हो तो उसके कर्म में षष्ठी होती है—**शतस्य दीव्यति**। अर्थ उपर्युक्त धातुओं के समान है। यदि दिव-धातु उपसर्गयुक्त हो तो कर्म में षष्ठी विकल्प से होती है—'शतस्य (शतं वा) प्रतिदीव्यति'। इससे सिद्ध होता है कि उपसर्गरहित दिव्-धातु के कर्म में नित्य रूप से षष्ठी होती है (पा० २।३।५८-९) यदि उपर्युक्त अर्थ हों। हाँ, दूसरे अर्थों में द्वितीया हो सकती है—'ब्राह्मणं दीव्यति' (– स्तौति)।

(झ) यज्-धातु के करण में वेदों में बहुधा षष्ठी (तथा तृतीया) का प्रयोग देखा जाता है—'सोमस्य (सोमेन वा) यजते'।

(ञ) कृत्वसुच्-प्रत्यय या उसके अर्थ का प्रयोग हो तो कालवाचक अधिकरण में षष्ठी होती है (**कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे**—२।३।६४)। यथा—पञ्चकृत्वोऽह्नो भुङ्क्ते (दिन में पाँच बार खाता है—कृत्वसुच् का प्रयोग)। द्विरह्नोऽधीते (दिन

में दो बार पढ़ता है—अर्थ का प्रयोग) शेष-विवक्षा नहीं होने पर अधिकरण के अनुसार सप्तमी-विभक्ति होती है—'द्विरह्न्यधीते'।

(ट) यदि धातु में कृत्-प्रत्यय लगे हों तो कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है (कर्तृकर्मणोः कृति—२।३।६५)। यथा—कृष्णस्य कृतिः (कर्ता में)। धनस्य दानम् (कर्म में)। तिङ् प्रत्यय लगने पर इनमें प्रथमा द्वितीया होगी—कृष्णः करोति। धनं ददाति। जब उपर्युक्त नियम से कृत् के योग में युगपत् कर्ता तथा कर्म की प्राप्ति हो तब केवल कर्म में ही षष्ठी होती है, कर्ता में नहीं—**शिशुना पयसः पानम्।** किन्तु अक तथा अ—इन दो स्त्रीवाचक कृत्-प्रत्ययों के योग में कर्म में ही षष्ठी होने का उक्त नियम नहीं है, कर्ता में भी साथ-साथ षष्ठी होती है—भेदिका (भिन्न करना, धात्वर्थे ण्वुल्) बिभित्सा (भिन्न करने की इच्छा) वा रुद्रस्य (कर्ता) जगतः (कर्म)—रुद्र के द्वारा जगत् का भेदन या जगत् को नष्ट करने की रुद्र की इच्छा। अन्य स्त्री-वाचक कृत्प्रत्ययों के योग में कर्ता को भी वैकल्पिक षष्ठी होती है—'विचित्रा सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः' (पाणिनिना वा)। कुछ लोग यह विकल्प सर्वत्र मानते हैं—'शब्दानामनुशासनमाचार्येण (आचार्यस्य वा)'।

कतिपय कृत्प्रत्ययों के योग में कर्ता और कर्म में षष्ठी बिलकुल नहीं होती। ये कृत् हैं—लकारार्थक (शतृ, शानच् आदि), उ, उक, अव्यय (क्त्वा, तुमुन् आदि), निष्ठा (क्त, क्तवतु), खल्-प्रत्यय के अर्थवाले तथा तृन् (२।३।६९)। इसी प्रकार भविष्यत्काल के अर्थ में अक-प्रत्यय (ण्वुल्) तथा भविष्यत् एवम् आधमर्ण्य के अर्थ में इन्-प्रत्यय के प्रयोग में भी उपर्युक्त कारकों में षष्ठी नहीं होती, अन्य अर्थों में होती है—'लोकस्य रक्षकः' (सदा रक्षा करनेवाला)। 'अवश्यं कारी कटस्य'।

मति, बुद्धि तथा पूजा के अर्थ में (पा० ३।२।१८८) जो वर्तमानकालिक क्त-प्रत्यय का विधान हुआ है, उसके प्रयोग में उपर्युक्त नियम से षष्ठी-विभक्ति का निषेध नहीं होता। निष्ठा-प्रत्यय क्त का प्रयोग होने पर भी कर्ता में षष्ठी होती है—'राज्ञं मतः, इष्टः, बुद्धः, ज्ञातः, पूजितः' इत्यादि। इनका कर्तृरूप होगा—राजानो मन्यन्ते इत्यादि। इसी प्रकार अधिकरण के अर्थ में होनेवाले क्त-प्रत्यय के प्रयोग में कर्ता में षष्ठी होती है—इदमेषां शयितं, गतं, भुक्तम्। भाववाचक क्त-प्रत्यय के प्रयोग में भी कर्ता को षष्ठी होती है—'गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः' (शिशु० १।२), 'न तु **ग्रीष्मस्यैवं** सुभगमपराद्धं युवतिषु' (अभिज्ञानशा० ३।६) (पा० सू० २।३।६७–६८)।

कृत्य-प्रत्ययों के योग में कर्ता में नित्य षष्ठी नहीं होती, वैकल्पिक तृतीया भी होती है (अनभिहित कर्ता में)—मम (मया) सेव्यो हरिः।

(ठ) तृप्ति के अर्थवाले धातुओं के करण में वैकल्पिक षष्ठी होती है; जैसे—**'अपां हि तृप्ताय न वारिधारा···स्वदते'** (नैषध ३।९३), **'नाग्निस्तृप्यति काष्ठानाम्। फलानां (फलैर्वा) तृप्तः'**।

इस प्रकार कारकविभक्तियों की लम्बी सूची दी जा सकती है।

उपपदविभक्ति—(क) कर्मादि से भिन्न तथा प्रातिपदिकार्थ से भी पृथक्

स्वस्वामिभावादि सम्बन्धों को शेष कहते हैं—इसमें षष्ठी होती है। कारक-विभक्ति के उपर्युक्त नियम भी प्रायः शेष-षष्ठी के अन्तर्गत हैं। 'शेष' शब्द वस्तुतः अष्टाध्यायी के सूत्रों की आनुपूर्वी से सम्बद्ध है। **'षष्ठी शेषे'** (२।३।५०) सूत्र सभी विभक्तियों के निरूपण के बाद आया है। इसके पूर्व में जिन-जिन विभक्तियों के जो-जो अर्थ बतलाये गये हैं; जैसे—द्वितीया का कर्म, प्रथमा का प्रातिपदिकार्थ इत्यादि—उन सभी से बचे खुचे अर्थों में (उक्तादन्यः शेषः) षष्ठी होती है। इसी क्रम में कुछ कारक भी आ गये हैं, जो कुछ विशिष्ट धातुओं से विशिष्ट स्थिति में षष्ठी-विभक्ति का ग्रहण करते हैं। उनके अतिरिक्त कई प्रकार के सम्बन्ध भी षष्ठी के अर्थ हैं, जो उसकी उपपद-विभक्ति का नियमन करते हैं। अतएव शेष-षष्ठी के दो स्पष्ट भेद हैं—कारकों की शेष विवक्षा होने पर शेषषष्ठी तथा सम्बन्ध की शेष-षष्ठी। प्रथम भेद में क्रिया-सम्बन्ध रहता है, जब कि दूसरे प्रकार में नहीं रहता, नाम-पदों का परस्पर सम्बन्ध रहता है; यथा—राज्ञः पुरुषः। पशोः पादः। पितुः पुत्रः। इनमें क्रमशः स्वस्वामिभाव, अवयवावयविभाव तथा जन्यजनकभाव हैं। हेलाराज कहते हैं कि राजा पुरुष को दान करता है, इसीलिए उनमें उक्त सम्बन्ध अवस्थित है। अतएव उनमें कभी क्रिया-कारक-सम्बन्ध भी कारणरूप में था, किन्तु अब फल के रूप में शेष-सम्बन्ध विद्यमान है। पूर्व-सम्बन्ध उत्तर-सम्बन्ध का निवेश करके स्वयं विरत हो गया है[1]। इसी से भर्तृहरि ने सम्बन्ध का लक्षण इस प्रकार किया है—

> **'सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।**
> **श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते'** ॥ —वा० प० ३।७।१५६

हमने देखा कि राजा और पुरुष पहले क्रमशः कर्ता तथा सम्प्रदान थे। भाष्यकार पतंजलि ही इसका समर्थन करते हैं—'राज्ञः पुरुषः इति राजा कर्ता, पुरुषः सम्प्रदानम्'[2]। किन्तु शेष-सम्बन्ध के समय इनके कर्तृत्वादि विशेष रूपों का बोध नहीं होता, इसलिए यहाँ कारक-शेष का रूप हो गया है। 'कारकों से भिन्न' होने का अर्थ इतना ही है कि उस (शेष-सम्बन्ध) में कारकों की विवक्षा नहीं होती।

यह विचारणीय है कि नाम-पदों को (जो द्रव्य के बोधक हैं) परस्पर सम्बद्ध करना तब तक कठिन है जब तक क्रिया का आश्रय न लें—क्रिया श्रुत हो या अश्रुत हो—कोई भेद नहीं होता। द्रव्य तो सिद्ध पदार्थ होने के कारण लौह-शलाकाओं के समान हैं, जिनमें बिना किसी बाह्य निमित्त के परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्रिया के ही द्वारा कोई भी सम्बन्ध बनाया जा सकता है। यह क्रिया द्रव्यों का उपश्लेषण

---

१. 'क्रियाकारकसम्बन्धो हि वृत्तः स्वाश्रये शेष-सम्बन्धं फलं निवेश्योपरमते'।
—हेलाराज ३, पृ० ३५५

२. द्रष्टव्य—महाभाष्य २, पृ० ५१८—प्रदीप (वहीं)—'राजा पुरुषाय ददातीत्यर्थसम्प्रत्ययात्'।

करती है[1]। 'राज्ञः पुरुषः' में दो द्रव्यों का सम्बन्ध अश्रुत दान-क्रिया के कारण हुआ है। यह उपपदविभक्ति का विषय है। दूसरी ओर जो सम्बन्ध श्रूयमाण क्रिया का विषय होता है उसमें विभिन्न कारकों की प्रवृत्ति होती है[2]। यह दूसरी बात है कि तत्तत् कारकों की अविवक्षा के कारण शेष-षष्ठी हो जाती है[3]।

सम्बन्ध का बोध करानेवाली शेष-षष्ठी के भेदों की कोई सीमा नहीं, क्योंकि संसार में अनेक प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। भरतमल्लिक ने अपने कारकोल्लास में[4] प्रायः आठ सम्बन्धों की गणना की है—

(१) नृपस्य धनम्—स्वस्वामिभाव। (२) हरेर्वदनम्—अवयवावयविभाव। (३) अध्यापकस्य व्याख्यानम्—वाच्यवाचकभाव। (४) गङ्गाया जलम्—आधाराधेयभाव। (५) पितुस्तनयः—योनि(जन्य)सम्बन्ध। (६) भट्टस्य शिष्यः—विद्या-सम्बन्ध। (७) अश्वस्य घासः—भक्ष्यभक्षकभाव०। (८) वस्त्रस्य तन्तुः—कार्यकारणभाव। प्रकारान्तर से संयोग तथा समवाय नाम के दो सम्बन्ध न्यायशास्त्र में स्वीकृत हैं जिनके उदाहरण होंगे—राज्ञो धनम्। पुष्पाणां गन्धः।

पतंजलि ने **'षष्ठी स्थानेयोगा'** (१।१।४९) की व्याख्या में कहा है कि षष्ठी-विभक्ति के एक सौ एक अर्थ होते हैं, जो षष्ठी विभक्ति के उच्चारणमात्र से प्राप्त हो जाते हैं। इसीलिए पाणिनीय सूत्रों में नियम किया गया है कि 'स्थाने' के अर्थ में ही उसका ग्रहण हो, अन्य अर्थों में नहीं[5]।

(ख) हेतु-शब्द के प्रयोग में षष्ठी होती है—अल्पस्य हेतोः।

(ग) तुल्यवाचक शब्दों के योग में तृतीया या षष्ठी होती है। इसके उदाहरण तृतीया में दिये जा चुके हैं। तुला और उपमा शब्दों के योग में केवल षष्ठी ही होती है—**'रामस्य तुला उपमा वा नास्ति'** (पा० २।३।७२)। **'तुलां यदारोहति दन्तवाससा'** (कुमार० ५।३४), **'स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना'** (शिशु० १।४) इत्यादि में गम्यमान 'सह' के अर्थ में तृतीया हुई है।

(घ) कई स्थितियों में सप्तमी विभक्ति के साथ षष्ठी का विकल्प होता है, जिनका निर्देश सप्तमी में ही करना समुचित है।

---

१. 'द्रव्याणां हि सिद्धस्वभावानामयः शलाकाकल्पानां परस्परसम्बन्धाभावात् क्रियाकृत एव सः। क्रिया हि निःश्रयणीव द्रव्याण्युपश्लेषयति'।

—हेलाराज ३, पृ० ३५५

२. 'श्रूयमाणक्रियाविषयस्तु सम्बन्धः कारकभेद एव'। —वही, पृ० ३५६

३. 'एवं मातुः स्मरति, न माषाणामश्नीयात्, सर्पिषो जानीते इत्यादौ कर्मादि-कारकभेद एवाविवक्षिततद्रूपः शेष इत्युक्तम्'। —वही

४. प्रकाशन—संस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता, १९२४।

५. 'एकशतं षष्ठ्यर्था यावन्तो वा ते सर्वे षष्ठ्यामुच्चारितायां प्राप्नुवन्ति'।

—महाभाष्य (कीलहॉर्न संस्करण), पृ० ११८

(७) सप्तमी

कारकविभक्ति—(क) अनभिहित अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति होती है। यथा—वने वसति। धर्मे वेदाः प्रमाणम्। तिलेषु तैलम्। गङ्गायां घोषः। स्थाल्यां पचति।

(ख) क्त-प्रत्ययान्त शब्द में यदि इन्-प्रत्यय लगा हो तो कर्म में सप्तमी होती है—अधीती व्याकरणे। आम्नाती छन्दसि।

(ग) जहाँ 'लुप्' शब्द से प्रत्यय का लोप करके तद्धितार्थ में नक्षत्र-शब्द का ग्रहण हो वैसे नक्षत्र-शब्द से अधिकरण में तृतीया तथा सप्तमी विकल्प से होती है—'मूलेनावाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् (मूले, श्रवणे वा)'। 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' (४।२।३) इस सूत्र से अण्-प्रत्यय का विधान होता है, किन्तु 'लुबविशेषे' से नक्षत्र-वाचक शब्द में उसका लोप हो जाता है। जहाँ इस प्रकार के लुप् का अर्थ नहीं हो वहाँ केवल सप्तमी ही होगी; जैसे—पुष्ये शनिः (इस समय शनि-ग्रह पुष्य नक्षत्र में है)। उपर्युक्त उदाहरणों में (मूलादि) नक्षत्र से युक्त काल' का अर्थ (तद्धितार्थ) है यद्यपि प्रत्यय का लोप हो गया है।

उपपदविभक्ति—(क) साधु तथा असाधु शब्दों के प्रयोग में, तत्त्व-कथन मात्र का अर्थ रहने पर सप्तमी विभक्ति होती है—साधुः कृष्णो मातरि, असाधुः मातुले।

(ख) साधु तथा निपुण के योग में यदि प्रशंसा का बोध हो तो सप्तमी होती है, किन्तु प्रति, परि आदि शब्दों का प्रयोग होने पर नहीं—साधुः (निपुणः) पितरि (यह प्रशंसा की बात है कि वह पिता के लिए अच्छा है)। किन्तु—साधुः मातरं प्रति (पा० २।३।४३)।

(ग) निमित्तवाचक शब्द में सप्तमी होती है, यदि निमित्त कर्म के साथ युक्त हो (निमित्तात्कर्मयोगे)। जैसे—चर्मणि द्वीपिनं हन्ति। चर्म निमित्त है, जो बाघ (कर्म) से संयुक्त है। यदि वह निमित्त कर्म-संयुक्त न हो तो सामान्य रूप से हेतु में तृतीया होती है—वेतनेन धान्यं लुनाति। वेतन का धान्य से संयोग नहीं है। नागेश यहाँ निमित्त में कर्म के साथ संयोग तथा समवाय दोनों प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं—किसी प्रकार वह सम्बद्ध तो रहे[१]। इसे 'निमित्त-सप्तमी' भी कहते हैं। 'मुक्ताफलाय करिणं हरिणं पलाय' इत्यादि उदाहरणों में चतुर्थी की सिद्धि 'क्रियार्थोपपदस्य०' के कारण 'मुक्ताफलमाहर्तुं घ्नन्ति' इस अर्थ में की जाती है[२]।

(घ) जिसकी क्रिया से दूसरे का क्रियान्तर लक्षित हो उस क्रियायुक्त पदार्थ में सप्तमी होती है—गोषु दुह्यमानासु गतः, दुग्धासु आगतः। यहाँ कर्मवाचक प्रयोग है। कर्तृवाचक में—एकस्मिन् पठति सर्वे शृण्वन्ति। गायों के दुहे जाने की क्रिया से गमना-

१. 'द्वीपिचर्मणोरण्डकोशमृगयोश्च समवायः, इतरयोः संयोगः'।

—ल० श० शे०, पृ० ४७९

२. द्रष्टव्य—वही।

गमन रूप क्रियान्तर का बोध होता है । अतः गौ में सप्तमी हुई है, उसके विशेषण दोहन-क्रिया में भी सप्तमी है (**यस्य च भावेन भावलक्षणम्** २।३।३७) । इसे 'भावे सप्तमी' या 'सति सप्तमी' भी कहते हैं । इसमें लक्ष्यलक्षणभाव की विवक्षा होती है । संस्कृत-भाषा की अच्छी शैली का निर्माण इसमें निहित है ।

उपर्युक्त स्थिति में जब अनादर का भाव रहे तब षष्ठी विभक्ति भी होती है । यथा—रुदति परिजने (रुदतो वा तस्य) प्राव्राजीत् (परिवार के लोग रोते रह गये, उनकी उपेक्षा करके उसने संन्यास ले लिया) । यहाँ संन्यास लेनेवाले के द्वारा प्रिय-जनों के स्नेह के तिरस्कार का भाव है (२।३।३८) ।

(ङ) स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू, प्रसूत—इन शब्दों के योग में भी षष्ठी तथा सप्तमी दोनों विभक्तियाँ विकल्पित हैं—गवां (गोषु वा) स्वामी । गवामधिपतिः, गोष्वीश्वरः इत्यादि ।

(च) आसेवा (तत्परता, किसी काम में निरन्तर लगना) का अर्थबोध होने पर आयुक्त (व्यापारित) तथा कुशल शब्दों के योग में सप्तमी तथा षष्ठी भी होती है । यथा—धनी भोगेषु (भोगानां वा) आयुक्तः (धनी व्यक्ति विषयों में निरन्तर लगा हुआ है) । छात्रः पाठे (पाठस्य वा) कुशलः । आसेवा का अर्थ नहीं होने पर केवल सप्तमी होती है—शकटे गौः आयुक्तः (ईषद् युक्तः, बद्धः) । अधिकरण के कारण यह कारकविभक्ति है (काशिका २।३।४०) ।

(छ) जब जाति, गुण, नाम या क्रिया के द्वारा समुदाय में से एक अंश को पृथक् किया जाय तो उस समुदायवाचक शब्द में सप्तमी या षष्ठी विभक्ति होती है । इसे निर्धारण कहते हैं । यथा—(१) जाति—नृषु नृणां वा क्षत्रियः शूरतमः । (२) गुण—गोषु गवां वा कृष्णा बहुक्षीरा । (३) नाम—छात्रेषु छात्राणां वा माधवो निपुणतमः । (४) क्रिया—अध्वगेषु अध्वगानां वा धावन्तः शीघ्रतमाः (**यतश्च निर्धारणम्** २।३।४१) ।

(ज) प्रसित (तत्पर) तथा उत्सुक शब्दों के योग में तृतीया तथा सप्तमी विभक्तियाँ विकल्पित हैं—विद्यायां (विद्यया वा) प्रसितः, उत्सुकः । (पा० २।३।४४) ।

(झ) जब दो कारक-शक्तियों के बीच में काल या अध्व का वाचक शब्द हो तो उसमें सप्तमी या पंचमी विभक्ति होती है । यथा—अद्य भुक्त्वा सप्ताहे (सप्ताहाद् वा) भोक्ता । कालवाचक सप्ताह-शब्द यहाँ दो कर्तृशक्तियों के मध्य है । आज के भोजन तथा सप्ताहान्तर के भोजन की कर्तृशक्तियाँ पृथक् हैं, यद्यपि भोजनकर्ता समान है । एक शक्ति आजवाली भोजन-क्रिया के प्रति साधन है तो दूसरी शक्ति सप्ताहान्तर की भोजन-क्रिया का साधन है । दोनों के बीच कालवाचक सप्ताह शब्द है । इसी प्रकार 'इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद्वा लक्ष्यं विध्यति'—इसमें कर्तृशक्ति (यहाँ रहने-वाला पुरुष) तथा कर्मशक्ति (लक्ष्य) के बीच में देश है, जिसका वाचक क्रोश-शब्द

सप्तमी या पंचमी ग्रहण करता है। इसे अपादान और कर्मशक्तियों के बीच भी मान सकते हैं[१]।

(ज) कुछ कर्मप्रवचनीयों के योग में भी सप्तमी होती है। जिससे अधिक होने या जिसके अधिकारी (ईश्वर) होने का निर्देश हो उसके वाचक शब्द में कर्मप्रवचनीयों के योग में सप्तमी होती है। यथा—उप निष्के कार्षापणम् (निष्क से कार्षापण अधिक होता है)। उप परार्धे हरेर्गुणाः (हरि के गुण परार्ध-संख्या से भी ऊपर हैं)। ईश्वर का अर्थ रहने पर स्व और स्वामी दोनों में पर्याय से सप्तमी होती है—अधि रामे भूः, अधि भुवि रामः। दोनों का समान अर्थ है कि राम भू के अधिपति हैं (**यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी** २।३।९)। ईश्वर के अर्थ में अधि कर्मप्रवचनीय है (अधिरीश्वरे १।४।९७)। कृ-धातु के पूर्व अधि-शब्द विकल्प से कर्मप्रवचनीय होता है (विभाषा कृञि १।४।९८), तदनुसार सप्तमी होती है—इह कार्येऽधिकृतोऽस्मि (इस कार्य में नियुक्त हुआ हूँ)। यहाँ नियुक्त करने वाले की ईश्वरता ज्ञात होती है।

इस प्रकार सभी विभक्तियों के परिनिष्ठित प्रयोगों के स्थलों का निरूपण किया गया। अन्य प्रयोगों का भी समर्थन यथासाध्य इन नियमों से किया जा सकता है। आइ० जे० एस्० तारापुरवाला के अपने ग्रन्थ 'संस्कृत सिंटैक्स' में आधुनिक भाषाविज्ञान के आधार पर विभक्तियों के अतिव्यापक प्रयोग संस्कृत-वाङ्मय के प्रसिद्ध ग्रन्थों से संकलित किये हैं, जो अपने-आप में बहुत उपयोगी तथा रोचक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं[२]। इस अध्ययन में उपपद-विभक्ति तथा कारक-विभक्ति का मिश्र निर्देश हुआ है, क्योंकि अंग्रेजी व्याकरण के समान भाषाशास्त्र भी विभक्ति तथा कारक (Case) में कोई विशेष अन्तर नहीं मानता। यह संस्कृत वैयाकरण की सूक्ष्म विश्लेषण विधि प्रतिकूल है।

कारकविभक्ति का प्राबल्य

यद्यपि कारक-विभक्ति तथा उपपद-विभक्ति के स्थल पृथक्-पृथक् हैं तथापि दोनों विभक्तियों में कुछ स्थलों में परस्पर संघर्ष होता है। उपपद-सम्बन्ध किसी शब्द को दूसरी विभक्ति में व्यवस्थित करता है तो कारक के कारण उसे अन्य ही विभक्ति प्राप्त होती है। यह दोनों की युगपत्-प्राप्ति का स्थल है। उदाहरण के लिए '**नमस्करोति**' क्रियापद लें। इस क्रिया के फलाश्रयरूप देवादि-शब्द को कर्म-कारक के कारण द्वितीया-विभक्ति (कारक-विभक्ति) होनी चाहिए तो दूसरी ओर 'नमः' शब्द के योग में चतुर्थी-विभक्ति (उपपद-विभक्ति) की भी प्राप्ति है। अब प्रश्न है कि 'देवम्' रहे या 'देवाय' या दोनों का विकल्प हो ?

---

१ 'सप्तमीपञ्चम्योः कारकमध्ये' (२।३।७) पर काशिका।

२. द्रष्टव्य—संस्कृत सिण्टैक्स, (मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली) प्रकाशित, १९६७ अध्याय ३, पृ० २१-६३।

इसका समाधान '**उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी**' इस परिभाषा में है कि उपपद-विभक्ति की अपेक्षा कारकविभक्ति प्रबलतर होती है। तदनुसार 'देवाय' न होकर 'देवं नमस्करोति' यही शुद्ध प्रयोग है। वैसे प्रकारान्तर से 'देवाय नमस्करोति' के भी साधुत्व की उपपत्ति हो सकती है। 'क्रियार्थोपपदस्य०' सूत्र के अनुसार तुमुन्नन्त क्रिया का लोप करके उसके कर्म में चतुर्थी होती है। अतएव 'देव-मनुकूलयितुं नमस्करोति' के अर्थ में उसकी सिद्धि हो सकती है। किन्तु यहाँ भी यह उपपद-विभक्ति नहीं; कर्म-कारक में ही चतुर्थी विभक्ति है। संघर्ष समान विभक्तियों के बीच नहीं, प्रत्युत विजातीय विभक्तियों के बीच हो सकता है। सजातीय विभक्तियों की स्थिति में तो द्वितीया तथा चतुर्थी दोनों का विकल्प हो जायगा। तात्पर्य यह है कि उक्त स्थल में उपपद-चतुर्थी नहीं हो सकेगी।

उक्त परिभाषा का सर्वप्रथम उल्लेख कात्यायन के वार्तिक में मिलता है। 'सह-युक्तेऽप्रधाने' सूत्र में 'अप्रधान' शब्द की व्यर्थता बतलाते हुए वार्तिककार कहते हैं—'**सहयुक्तेऽप्रधानवचनमनर्थकमुपपदविभक्तेः कारकविभक्तिबलीयस्त्वादन्यत्रापि**'[1]। 'पुत्रेण सहागतः पिता' में पुत्र-शब्द को सह-शब्द के योग में अप्रधान के कारण तृतीया हुई है। कात्यायन का मन्तव्य है कि सूत्र में 'अप्रधाने' नहीं कहकर यदि केवल 'सहयुक्ते' इतना ही कहा जाता तो भी पुत्र को तृतीया प्राप्त हो सकती थी। इस पर आशंका हो सकती है कि तब तो पिता और पुत्र दोनों को तृतीया की प्राप्ति हो जायगी, क्योंकि दोनों एक-दूसरे के साथ जा रहे हैं। यह तो पुत्र की अप्रधान-विवक्षा है जो उसमें ही तृतीया की व्यवस्था करती है। अतएव 'अप्रधान' का रहना आवश्यक है। इस पर कात्यायन कहेंगे कि नहीं, कारकविभक्ति (कर्ता में प्रथमा) उपपद-विभक्ति (सह के योग में तृतीया) की अपेक्षा अधिक प्रबल होती है, अतः 'अप्रधान' शब्द नहीं रहने पर भी पिता में कारक-विभक्ति के कारण प्रथमा होगी, तृतीया होने का अवकाश नहीं रहेगा।

भाष्यकार ने इस परिभाषा का अनेकत्र उद्धरण दिया है—(१) 'अधि ब्रह्म-दत्ते पञ्चालाः' इस उदाहरण में ब्रह्मदत्त में सप्तमी की प्राप्ति होती है, किन्तु उक्त परिभाषा के कारण 'तिष्ठन्ति' इत्यादि गम्यमान क्रिया की अपेक्षा रखकर कर्तृत्व रहने के कारण प्रथमा (कारक) विभक्ति होती है। कर्मप्रवचनीय-संज्ञा का कार्यक्षेत्र तो 'अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः' इसी उदाहरण में है[2]। (२) 'अन्तरा त्वां मां च कमण्डलुः' यह उदाहरण 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (२।३।४) इस सूत्र का है। इस सूत्र में कात्यायन सुझाव देते हैं कि 'अप्रधानवाचक में द्वितीया होती है'—ऐसा कहना चाहिए, अन्यथा कमण्डलु में भी द्वितीया की प्राप्ति हो जायगी। कमण्डलु के प्रधान होने से उसमें द्वितीया नहीं हुई है। इस पर भाष्यकार उक्त परिभाषा का आश्रय

---

१. महाभाष्य २, पृ० ५०२।

२. द्रष्टव्य—वही २, पृ० ४९५ तथा प्रदीप।

लेकर कारकविभक्ति के कारण (=अस्ति-क्रिया के कर्ता) कमण्डलु में प्रथमा का उपपादन करते हैं[1]।

उक्त विवेचन सम्यक् प्रकार से यह स्पष्ट करता है कि कारक तथा विभक्ति दो भिन्न पदार्थ हैं। विभक्ति कारक तथा उपपद दोनों प्रकार के सम्बन्धों को व्यक्त करती है। अतः विभक्ति का कार्यक्षेत्र कारक की अपेक्षा विस्तृत है। कारक सूक्ष्म तथा अव्यक्त सम्बन्ध के रूप में द्रव्य की वह शक्ति है जिसे विभक्ति व्यक्त करती है। इस प्रकार दोनों के मध्य व्यङ्ग्य-व्यंजकभाव है। कारक व्यंग्य है तो विभक्ति व्यंजक। किन्तु इस विषय में नियम नहीं है कि विभक्ति एकमात्र कारक को ही व्यक्त करती है अथवा कारक केवल विभक्ति से ही व्यक्त होता है।

जहाँ तक **व्यंग्य-नियम** (विभक्तिः कारकमेव व्यनक्ति—व्यंग्यगत नियम) का प्रश्न है, हम इसका निरूपण कर चुके हैं कि विभक्ति न केवल कारक को व्यक्त करती है, प्रत्युत उपपद-सम्बन्ध भी उसी के द्वारा व्यक्त होता है। इतना ही नहीं, कात्यायन ने 'बहुषु बहुवचनम्' (पा० १।४।२१) के अन्तर्गत श्लोकवार्तिक दिया है—

'सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम्।
प्रसिद्धो नियमस्तत्र नियमः प्रकृतेषु च'॥

तदनुसार विभक्ति का अर्थ एक ओर तो कर्मत्वादि है तो दूसरी ओर एकत्वादि संख्या भी उससे प्रकट होती है। तथापि यह कहना उचित है कि विभक्ति का अर्थ एकत्वादि संख्या होने पर भी उसमें कर्मत्वादि निमित्त रहते हैं[2]। हम यह जान चुके हैं कि विभक्ति एक प्रकार का प्रत्यय है, जो प्रातिपदिक में लगाया जाता है। इससे कर्मत्वादि कारक तथा संख्या—दोनों व्यक्त होते हैं। यथा 'अम्' विभक्ति से कर्मत्वादि सम्बन्ध तथा एकत्व भी प्रकट होता है। यदि वाक्य में दिखलायें तो कारक-शक्ति सुस्पष्ट हो जायेगी। जैसे—चन्द्रं पश्य। इसमें अम् विभक्ति कर्मकारक मात्र तथा एकवचन की व्यंजिका है। कारकों के विषय में तो दृढ़ नियम नहीं है कि कर्म में द्वितीया ही होगी या द्वितीया कर्म में ही होगी, किन्तु एकत्वादि संख्या इसका सम्यक् पालन करती हैं—एकवचन केवल एक का ही द्योतक है, दो या बहुत का नहीं[3]। कहीं-कहीं इसका भी अपवाद मिलता है, जैसे—सम्मानार्थ या आत्मद्योतनार्थ एक ही व्यक्ति को बहुवचन में रखना।

भट्टोजिदीक्षित प्रभृति नव्य वैयाकरण न्यायानुमोदित शब्दावली में विभक्तियों का अर्थ रखते हैं। उनके अनुसार—आश्रय, अवधि, उद्देश्य, सम्बन्ध या शक्ति—ये ही

---

१. वही २, पृ० ४८९।

२. 'एकत्वादिष्वपि वै विभक्त्यर्थेषु अवश्यं कर्मादयो निमित्तत्वेनोपादेयाः—कर्मण एकत्वे, कर्मणो द्वित्वे, कर्मणो बहुत्व इति'। —भाष्य २, पृ० २३६

३. भाष्य २, पृ० २२९।

पाँच यथायोग्य विभक्तियों के अर्थ हैं[1]। कौण्डभट्ट के अनुसार सामान्यरूप से आश्रय द्वितीया, तृतीया तथा सप्तमी विभक्तियों का अर्थ है, अवधि पंचमी का, उद्देश्य चतुर्थी का, सम्बन्ध षष्ठी का तथा शक्ति प्रथमादि सभी का अर्थ है। इसमें से कुछ अर्थों का विवेचन हम विभिन्न कारकों के निरूपण के अवसर पर करेंगे। इतना विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि करण तृतीया में आश्रय के साथ व्यापार का भी बोध होता है। 'षष्ठी शेषे' के आधार पर षष्ठी का सम्बन्ध मात्र अर्थ तो है, किन्तु कारक-षष्ठी का अर्थ केवल शक्ति है। शक्ति को कौण्डभट्ट भर्तृहरि के अनुसार सभी कारक विभक्तियों का अर्थ मानते हैं (शक्तिरेव वा—षण्णामपीति शेषः)।

अब हम विभक्ति के **व्यंजक नियम** (विभक्तिरेव कारकं व्यनक्ति) पर दृष्टिपात करें। इसका भी व्यभिचार प्राप्त होता है, क्योंकि विभक्ति प्रधानतया कारक को भले ही अभिव्यक्त करती है किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य कई शब्दशास्त्रीय तत्त्व भी कारक को प्रकट करते हैं, जिनका निर्देश हेलाराज ने किया है[2]। 'ग्रामं गच्छति' में **अम्-विभक्ति** ही कर्म को व्यक्त करती है तो 'शत्यः' या 'शतिकः' (शतेन क्रीतः) में **तद्धित-प्रत्यय** यत् या ठन् (शताच्च ठन्यतावशते ५।१।२१) क्रय-क्रिया के प्रति साधकतमत्व (करणत्व) का बोध कराता है। यत्र, तत्र आदि में भी त्रल्-प्रत्यय अधिकरण का बोधक है। 'मधु निरीक्षते, दधि समश्नाति' में **प्रातिपदिक** से ही कर्मत्व-शक्ति की प्रतीति हो रही है। 'अन्तरा त्वां च मां च कमण्डलुः' में अन्तरा-शब्द **अव्यय** है, जो अधिकरण का बोध करा रहा है। 'भीमो राक्षसः' में **कृत्-प्रत्यय** (उणादि का) मक् अपादान का तथा 'दानीयो विप्रः' में अनीयर् सम्प्रदान का बोधक है। अतएव विभक्ति के अतिरिक्त भी कई तत्त्व कारक के व्यंजक हैं। तथापि इस विषय में विभक्ति की मुख्य व्यंजकता अक्षुण्ण है।

सम्बोधन का अर्थ

सम्बोधन में पाणिनि ने प्रथमा विभक्ति का विधान किया है। सामान्यरूप से संस्कृत वैयाकरण इसका कारकत्व स्वीकार नहीं करते, क्योंकि इसमें साक्षात् क्रियान्वय नहीं होता। कुछ लोग तो इसे वाक्य-परिशिष्ट अर्थात् बाहर से लाकर वाक्य में जड़े गये शब्द के रूप में देखते हैं, मानो यह विस्मयादिबोधक पद (इण्टरजेक्शन) हो[3]। तथापि व्याकरण-दर्शन में इसके वाक्यगत सम्बन्ध का सम्यक् विश्लेषण हुआ है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के साधनसमुद्देश में प्रथमा विभक्ति का अर्थ निरूपण करते हुए सम्बोधन का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है—

---

१. भूषणकारिका २४।

२. द्रष्टव्य—वा० प० ३।७।१३—'विभक्त्यादिभिरेवासावुपकारः प्रतीयते'। तथा इसकी व्याख्या।

३. द्रष्टव्य—ह्विटने का 'संस्कृत ग्रामर' पैरा० ५९४ (ए)।

'सिद्धस्याभिमुखीभावमात्रं सम्बोधनं विदुः ।
प्राप्ताभिमुख्यो ह्यर्थात्मा क्रियासु विनियुज्यते' ॥ —वा० प० ३।७।१६३

जिसका रूप निश्चित हो चुका है ऐसे सिद्ध पदार्थ को क्रिया में लगाने के लिए (विनियोगार्थ) कर्ता अपनी ओर अभिमुख करता है । इसी अभिमुख करने को सम्बोधन कहते हैं, जो प्रातिपदिकार्थमात्र से कुछ अधिक अर्थ धारण करता है । इसीलिए 'प्रातिपदिकार्थ०' सूत्र से प्रथमा नहीं करके इसकी विभक्ति के उपादान के लिए 'सम्बोधने च' सूत्र देना पड़ा है ।

सम्बोधन को अभिमुखीकरण-मात्र कह देने से इसकी व्यावृत्ति कर्मादि साधनों से होती है । अभिमुखीकरण के बाद वह पदार्थ सन्नद्ध (प्राप्ताभिमुख्य) हो जाता है । अब उसकी नियुक्ति क्रियासाधन में हो सकती है, अतः उसमें कर्तृत्वशक्ति का आधान होता है । अतः सम्बोधन परम्परा से क्रिया का उपकारक हो सकता है, साक्षात् नहीं[1] । जैसे—मां पाहि विश्वेश्वर । इसमें पा-धातु से विश्वेश्वर का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है । अन्यत्र आसक्त विश्वेश्वर को वक्ता स्वक्रिया में नियोग के उद्देश्य से अभिमुख कर रहा है । जब वे अभिमुख हो जायेंगे तब 'त्वम्' के रूप में उनका प्रतिनिधि (सर्वनाम) पा-धातु से साक्षात् सम्बद्ध होगा ।

क्रिया से इस प्रकार परम्परया सम्बन्ध होने पर भी सम्बोधन पदार्थमात्र ही रहता है, वाक्यार्थ नहीं होता—

'सम्बोधनं न वाक्यार्थ इति वृद्धेभ्य आगमः' ।
—वा० प० ३।७।१६४ पूर्वार्द्ध

क्रिया की आकांक्षा होने पर भी उस पदार्थ की सम्बोध्यता का ज्ञान हमें दूसरे पदों से निरपेक्ष रूप में ही होता है । यही कारण है कि उसे पदार्थ कहा जाता है । किन्तु यह पदार्थ प्रातिपदिकार्थ से कुछ अधिक है, क्योंकि इसमें सत्ता के अतिरिक्त उसकी सम्बोध्यता (क्रियानियोग के उद्देश्य से अभिमुखीकरण) का भी बोध होता है । कर्मादि में जिस प्रकार क्रिया की अपेक्षा रखते हुए ही साधन-भाव का ज्ञान होता है और इसीलिए क्रिया का आश्रय लिया जाता है, किन्तु इससे उनकी वाक्यार्थता नहीं प्रकट होती (कर्मादि भी पदार्थ है, वाक्यार्थ नहीं; क्योंकि वाक्यार्थ क्रियामात्र है)—यही दशा सम्बोधन की भी है । हाँ, यह बात अवश्य है कि गम्यमान क्रिया के आधार पर एक पद भी वाक्य हो सकता है; यथा—वृक्षः (अस्ति) । इस रूप में सम्बोधन को भी वाक्य कहा जा सकता है; यथा—हे राम । यहाँ 'अभिमुखो भव, शृणु' इत्यादि रूप में यथा-प्रकरण क्रियावगति होती है ।

सम्बोधन की दो गतियाँ हैं । पहली यह कि प्रकृत्यर्थ के प्रति यह विशेष्य होता है । अतः 'हे राम' में राम-सम्बन्धी सम्बोधन का बोध होता है, जिसमें प्रकृत्यर्थ राम विशेषण है और सम्बोधन विशेष्य । किन्तु दूसरी ओर क्रिया के प्रति यही

१. हेलाराज—वा० प० ३।७।६३ पर ।

सम्बोधन विशेषण हो जाता है। इसलिए क्रिया की निष्पत्ति में इसका योगदान नहीं रहता। विशेषण विशेष्य को उत्पन्न नहीं कर सकता, प्रत्युत विशेष्य के साथ (सगुणोत्पत्तिवाद) या उसके अनन्तर (निर्गुणोत्पत्तिवाद) उत्पन्न होता है। 'स्तोकं पचति' में क्रियाविशेषण होने के कारण ही स्तोक में किसी कारक का अभाव है, क्योंकि उससे क्रियासिद्धि नहीं होती। 'व्रजानि देवदत्त' इस वाक्य में व्रजन-क्रिया तथा देवदत्त का सामानाधिकरण्य (एकत्रावस्थान) भी नहीं है, इसलिए देवदत्त-स्थित सम्बोधन व्रजन-क्रिया का विशेषण भी है तो व्यधिकरण-सम्बन्ध से।

भर्तृहरि ने इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

'सम्बोधनपदं यच्च तत्क्रियायां विशेषणम्।
व्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति'।। —वा० प० २।५

अर्थ यह है कि सम्बोधन विभक्ति वाला पद क्रिया का विशेषण होता है, जिससे 'व्रजानि देवदत्त' (देवदत्त ! यह जान लो कि मैं जा रहा हूँ)—इसमें निघात हो सके[1]। कात्यायन ने 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ८।१।१९) सूत्र के अन्तर्गत एक वार्तिक दिया है कि निघात तथा युष्मद्-अष्मद् के आदेश (त्वा, ते, वां, वः, मा, मे, नौ, नः) समान वाक्य में ही होते हैं। अतः 'आमन्त्रितस्य च' सूत्र के अनुसार आमन्त्रित (देवदत्त पद) का निघात होने के लिए 'व्रजानि' के साथ समानवाक्यता होनी चाहिए, अन्यथा निघात (पूरे पद का अनुदात्त हो जाना) सम्भव नहीं। यदि 'व्रजानि' क्रिया के प्रति देवदत्त विशेषण हो जाय तो समानवाक्यता के साथ-साथ निघात भी उपपन्न हो सकेगा। कात्यायन के अनुसार 'एकतिङ्विशेष्यकं वाक्यम्' यह वाक्य का लक्षण है[2]। 'व्रजानि' तिङन्त पद विशेष्य के रूप में है, अतः उक्त पदों की वाक्यरूपता सिद्ध है। इसका बोध होगा—**'देवदत्तसम्बन्धि-सम्बोधन-विषयो मत्कर्तृकं गमनम्'**। भूषणसार के व्याख्याकार हरिवल्लभ अपने दर्पण में 'जानीहि' पद का अध्याहार करके देवदत्त-पद की एकवाक्यस्थता सिद्ध करते हुए शाब्दबोध कराते हैं—**'सम्बोधनविषय-देवदत्तोद्देश्यक-प्रवर्तनाविषयो मत्कर्तृकव्रजनकमकं ज्ञानम्'**[3]। इस अध्याहार को नागेश का भी समर्थन प्राप्त है[4]।

लघुमंजूषा में (पृ० ११८५–९२) नागेश ने अपेक्षाकृत विस्तार से सम्बोधन पद का विचार करते हुए अपने समस्त पूर्ववर्ती विचारों का संग्रह किया है। इन्होंने

---

१. (क) 'सम्बोधनान्तस्य क्रियायामन्वयः'। —वै० भू०, पृ० ६४
(ख) 'विशेषणमिति। स्वोद्देश्यकप्रवर्तनाविषयत्वरूपपरम्परासम्बन्धेनेत्यर्थः'। —भूषणसारदर्पण, पृ० ८९

२. वै० भू०, पृ० ६५।

३. भूषणसारदर्पण, पृ० ९०।

४. "व्रजानि देवदत्त इत्यादावपि 'जानीहि' इत्यादिः शेषो बोध्यः। तत्र व्रजनस्य कर्मत्वाद् देवदत्तस्योद्देश्यत्वादुभयोः समानवाक्यस्थत्वम्"।—ल० श० शे०, पृ० ४०१

सम्बोधन का फल प्रवृत्ति या निवृत्ति-रूप माना है, क्योंकि विधिवाक्यों में प्रवृत्ति तथा निषेधवाक्यों में निवृत्ति उसका प्रयोजन रहता है। अभिमुखीकरणार्थक होने से सम्बोधन की विभक्ति अनुवाद्य (पूर्व से ज्ञात, उद्देश्य) के विषय में ही चरितार्थ होती है। जब तक सम्बोध्य पदार्थ की पूर्वसिद्धि नहीं हो जाती, जिससे कि वह वाक्य में उद्देश्य का रूप धारण कर सके, तब तक सम्बोधन विभक्ति भी उपपन्न नहीं होगी। यही कारण है कि 'राजा भव, युध्यस्व' (राजा हो जाओ, युद्ध करो), 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' (इन्द्र का नाशक बनकर बढ़ो) —इत्यादि वाक्यों में सम्बोधन विभक्ति नहीं है। स्पष्टीकरण यह है कि उस दशा में राजत्व या इन्द्रनाशकत्व सिद्ध नहीं है। अतः वह उद्देश्य नहीं हो सकता कि 'हे राजन्' या 'हे इन्द्रनाशक' कह सकें। इसीलिए कुमारावस्था में 'राजन्, युध्यस्व' तथा राजावस्था में 'राजा भव, युध्यस्व' प्रयोग असंगत हैं। इनके विपरीतात्मक प्रयोग साधु होंगे[1]।

कुछ लोग सम्बोधन का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ स्वीकार करते हैं—'सम्यक् बोधनं ज्ञापनम्'। सम्बोध्य पदार्थ को ज्ञापित करने के लिए यह अर्थ होता है। यहाँ 'सम्यक्' विशेषण से यही प्रतीत होता है कि सम्बोध्य पदार्थ में अवश्यकर्तव्यता आदि के विषय में ज्ञान उत्पन्न किया जाता है। सम्बोध्य पदार्थ को यह ज्ञान हो जाता है कि वक्ता हमें जो प्रवृत्त या निवृत्त कर रहा है, हमें उसे अवश्य मानना है। कभी-कभी आग्रहादि अर्थ होने पर उसे अपनी इच्छा के अनुकूल काम करने का अवकाश भी दिया जाता है।

'हे' आदि शब्द सम्बोधन के तात्पर्य-ग्राहक होते हैं, व्यर्थ नहीं हैं। 'शृणोतु ग्रावाणः' (पत्थरो, सुनो), 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (छुरी, इससे कष्ट मत पहुँचाओ) इत्यादि में अ नन पर चेतनता का आरोप करके गौण प्रयोग हुआ है। अन्यथा सम्बोध्य की चेतनत अनिवार्य है। 'हे राम ! त्वं सुन्दरः' में 'असि' का अध्याहार करके वाक्य की उपपत्ति की जाती है। इसी प्रकार 'धिङ् मूर्ख' में क्रिया का अध्याहार करने से ही प्रथमा विभक्ति सिद्ध होती है, अन्यथा 'धिक्' के योग में द्वितीया ही होगी। दोनों ही उपपद विभक्तियाँ हैं, इसलिए वैकल्पिक हैं।

सम्बोधन के वाक्यगत सम्बन्ध को (जैसे—'व्रजानि देवदत्त' में) आधार मान कर ही प्राचीन आचार्यों ने इसे कर्ता-कारक के रूप में भी व्यवहृत किया है, क्योंकि सम्बोधन ही 'त्वम्' शब्द के रूप में प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है—राम ! त्वं गच्छ। देवदत्त ! त्वं जानीहि[2]। यह वार्तिककार का मत है कि जिन्होंने 'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा' कह कर प्रथमा की सिद्धि की है[3]। पतंजलि-प्रभृति वैयाकरणों को यह मान्य

---

१. ल० म०, पृ० ११८६।

२. 'एतन्मूलकमेव सम्बोधनस्य कर्तृकारकत्वव्यवहारो वृद्धानाम्। तस्यैव त्वंपदार्थत्वेन विनियोज्य क्रियाकर्तृत्वात्'। —ल० म०, पृ० ११९०

३. द्रष्टव्य—भाष्य २, पृ० ५१६।

नहीं है, क्योंकि तब 'सम्बोधने च' सूत्र की व्यर्थतापत्ति हो जायगी। दूसरी बात यह है कि 'व्रजानि देवदत्त' में समानाधिकरणता है ही नहीं। 'जानीहि' का अध्याहार कर लेने से कोई असंगति नहीं रहती। नागेश ने सिद्ध किया है कि सम्बोधन की कर्तृ-कारकता में आपाततः कोई दोष नहीं है[1]। यह तो गतानुगत परम्परा है जो इसे कर्ता नहीं मानती। 'हे राम ! त्वं पच' में स्पष्टतः पाकक्रिया का कर्तृत्व 'त्वम्' के माध्यम से राम में है। किन्तु 'हे राम ! अयं पचति' इस वाक्य में राम पाककर्ता नहीं है, क्योंकि शब्द-शक्ति का यह स्वभाव है कि सम्बोध्यमान पदार्थ 'इदम्' (अयम्) शब्द का अर्थ नहीं होता। सम्बोध्य का बोध युष्मद् या भवत् से होता है। 'हे राम ! मामुद्धर' में निश्चय ही राम उद्धरण क्रिया का कर्ता है[2]।

विवक्षातः कारकाणि

इस अध्याय की समाप्ति करने के पूर्व हम कारक-सम्बन्धी एक ऐसे विषय का विवेचन करना अपेक्षित समझते हैं जिसमें भाषा-प्रयोग को लोक के अधीन स्वीकार किया गया है। व्याकरण के सभी नियम उसके समक्ष विनत हैं। कारकों का व्यवहार प्रायशः वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है, द्रव्य की वस्तुनिष्ठ स्थिति पर नहीं। हम ऊपर कह चुके हैं कि द्रव्यों की विविध शक्तियाँ हैं; यह सारा संसार ही शक्तियों का समूह है, किन्तु एक बार में कोई-कोई शक्ति ही वक्ता की बुद्धि का विषय बनती है, सभी शक्तियाँ नहीं। यदि द्रव्यों की सभी शक्तियाँ बुद्धि के द्वारा निरूपित होने लगें तो सभी कारकों की युगपत् प्राप्ति तथा सांकर्य का प्रसंग आ जायगा। यही कारण है कि 'घटं पश्य, घटेन जलमानय, घटे जलं निधेहि'—इत्यादि में कर्म-करण-अधिकरण की नियमपूर्वक व्यवस्था होती हैं, क्योंकि किसी समय कर्मत्व-शक्ति विवक्षित होती है तो कभी करणत्व-शक्ति। इसी प्रकार सभी कारकों की कर्तृत्वविवक्षा भी उनकी कारकत्वशक्ति की उपपत्ति के लिए होती है।

विवक्षा एक लौकिक तथ्य है। दृष्टार्थ या लोकतः प्राप्त होने के कारण इसका विधान शास्त्र में नहीं किया गया है। विधान अदृष्टार्थ अथवा अत्यन्त अप्राप्त विषय का ही होता है[3]। इसीलिए शास्त्रों में 'विवक्षा भवति' 'विवक्षा दृश्यते' इत्यादि वाक्य मिलते हैं; 'विवक्षां कुर्यात्' जैसे नहीं। आचार्यों ने इस लोक-विवक्षा को बहुत महत्त्व दिया है तथा इसी के आधार पर भाषा-प्रयोगों का विवेचन भी किया है।

पतञ्जलि ने विवक्षा का उल्लेख करते हुए कहा है कि कभी-कभी सत्-पदार्थ की

---

१. 'तस्मात्कर्तृकारकत्वं सम्बोधनस्येति वृद्धोक्तं साध्वेव'।

—ल० म०, पृ० ११९१

२. ल० म० कलाटीका, पृ० ११९२।

३. (क) सायण की ऋग्भाष्य-भूमिका में स्वाध्याय-प्रकरण—'अदृष्टार्था त्वधीतिर्विहितत्वात्'।

(ख) 'विधिरत्यन्तमप्राप्ते'। —अर्थसंग्रह, पृ० ५४

भी अविवक्षा होती है; जैसे—'अलोमिका एडका'। अनुदृश कन्या। यहाँ अल्परोम तथा अल्प उदर तथ्य हैं, किन्तु नञ् का प्रयोग करके उनकी अविवक्षा की गयी है। इसी प्रकार असत् पदार्थ की भी विवक्षा होती है; जैसे—समुद्रः कुण्डिका। समुद्र का पार करना कुण्ड को पार करने के समान सरल है अथवा कुण्ड में समुद्र के समान बहुत जल है। समुद्र तथा कुण्ड का सामानाधिकरण्य असत् हैं, किन्तु विवक्षा के बल से उक्त अर्थों में इसकी उपपत्ति मानी गयी है[1]। पतञ्जलि ने ये उदाहरण अध्रुवता की अविवक्षा के प्रसंग में दिये हैं। उक्त विवक्षा कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु लौकिक सत्य है। 'क्तस्य च वर्तमाने' सूत्र की व्याख्या में इन्हीं पंक्तियों को पतञ्जलि ने दुहराया है। कर्मादि की अविवक्षा को 'शेष' कहते हैं। 'छात्रो हसति' में छात्र का कर्तृत्व एक तथ्य है, किन्तु वही अविवक्षित होकर शेष-विवक्षा से 'छात्रस्य हसितम्' में षष्ठी ग्रहण करता है। इसी प्रकार 'मयूरो नृत्यति—मयूरस्य नृत्तम्' 'कोकिलो व्याहरति—कोकिलस्य व्याहृतम्'।

भर्तृहरि ने साधन-समुद्देश के दूसरे ही श्लोक में विवक्षा की शक्ति का विशद विवेचन किया है—

'शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वस्यानेकधर्मणः।
सर्वदा सर्वथा भावात् क्वचित् किञ्चिद् विवक्ष्यते'॥—वाक्यपदीय ३।७।२

अर्थात् अनेक धर्मों से युक्त तथा शक्तियों के समुदाय-स्वरूप विश्व की सब समय सभी प्रकार से सत्ता है, किन्तु एक समय में एक ही धर्म तथा शक्ति विवक्षित होती है। अतएव एक ही द्रव्य में कालभेद से भिन्न-भिन्न शक्तियों की विवक्षा हो सकती है।

वे पुनः कहते हैं कि कारक का व्यवहार बुद्धि की अवस्था पर आश्रित है। जब बुद्धि किसी वस्तु का निरूपण कर लेती है तभी वह (वस्तु) शब्द का विषय बनती है। बुद्धि उसे जिस रूप में निरूपित करेगी, उसका वही रूप शब्द में प्रकट होगा। केवल सत् पदार्थ का ही निरूपण बुद्धि के द्वारा हो, ऐसी बात नहीं—असत् की भी कल्पना बुद्धि का व्यापार है। भविष्यत्काल में सम्पन्न होने वाले कार्यों की पूर्वकल्पना हम कर लेते हैं, यद्यपि वे कार्य वर्तमान में निरूपणीय नहीं है। अतः बुद्धि के द्वारा निरूपण एवं कल्पना का पूर्ण योगदान भाषा-प्रयोग के क्षेत्र में होता है। भर्तृहरि के ही शब्दों में—

'साधनं व्यवहारश्च बुद्धचवस्थानिबन्धनः।
सन्नसन्वार्थरूपेषु भेदो बुद्धचा प्रकल्प्यते'॥ —वा० प० ३।७।३

'स्थाली पचति' में पतली (स्थाली) होने के कारण पाकक्रिया में कर्ता के नियोग की अपेक्षा नहीं रखने वाली स्थाली स्वतन्त्र रूप से विवक्षित होने के कारण कर्ता है, तो 'स्थाल्या पचति' में इन्धन द्वारा उपकार की अपेक्षा नहीं रखने के कारण

१. महाभाष्य २, पृ० २४९।

उसकी करणत्व-विवक्षा भी होती है। वैसे वह अधिकरण तो है ही। इसी प्रकार अभाव को भी बुद्धि से निरूपित करके द्रव्याकार में देखते हुए कारक-व्यवहार करते हैं—'आत्मानमात्मना वेत्सि' (कुमार० २।१०)। आत्मा से भिन्न न तो कोई करण है, न कर्म, तथापि भेद की कल्पना की गयी है। बुद्धि के द्वारा एक पदार्थ भी भिन्न किया जा सकता है और भिन्न पदार्थों को भी एक रूप में देखा जा सकता है[1]। अभिरूपता (सुन्दरता)—धर्म की समानता पंचाल तथा कुरु जातियों में है—बुद्धि की यह एकता यदि वक्ता को अभीष्ट न हो तो अतिशय अभिरूपता के कारण विभाग करने पर 'पंचाल-जाति कुरु-जाति से अधिक अभिरूप है' ऐसा प्रयोग होता है।

सभी कारक क्रिया-निष्पत्ति मात्र के प्रति कर्तृत्व-शक्ति धारण करते हैं, किन्तु जब उनके व्यापारों का भेद विवक्षित होता है तब करणत्वादि शक्तियाँ उत्पन्न होती है—

'निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके।
व्यापारभेदापेक्षायां करणत्वादिसम्भवः'[2] ॥ —वा० प० ३।७।१८

इसका दृष्टान्त दिया जाता है कि पुत्र के जन्म के लिए माता-पिता दोनों कर्ता हैं, किन्तु जब भेद-विवक्षा होती है तब इस प्रकार प्रयोग होते हैं—(क) अयमस्यां जनयति तथा (ख) इयमस्माज्जनयति। अभेद-विवक्षा में कहा जाता है—'पितरौ पुत्रं जनयतः'[3]। इसी प्रकार मनु का यह प्रयोग भी सिद्ध होता है—'**ब्राह्मणाद् वैश्य-कन्यायामम्बष्ठो नाम जायते**' (मनु० १०।८)।

करण का निरूपण करने के समय भी भर्तृहरि विवक्षा-शक्ति का स्मरण करा देते हैं कि कोई वस्तु सदा करण ही रहेगी—ऐसा नियम नहीं, क्योंकि अधिकरण के रूप में प्रसिद्ध स्थाली का करणरूप देखा जाता है। अतः सभी कारक विवक्षा के द्वारा, जिसे बुद्धि की अवस्था कह सकते हैं, प्रवृत्त होते हैं[4]। इस प्रकार कई स्थानों पर भर्तृहरि विवक्षा-शक्ति का निर्देश करते हैं, जिनका वर्णन हम तत्तत् कारकों के विचार के समय करेंगे।

यह सत्य है कि विवक्षा के कारण कारकों का व्यत्यय होता है, किन्तु प्रयोक्ता इस विषय में स्वच्छन्द नहीं है कि जहाँ-तहाँ विवक्षा का दुरुपयोग करता रहे। विवक्षा के लिए तीन आवश्यक बातें हैं—

---

१. 'बुद्ध्यैकं भिद्यते भिन्नमेकत्वं चोपगच्छति'।
—हेलाराज ३, पृ० २३४ पर उद्धृत।

२. 'तथा हि साधनान्तरविनियोगव्यापारः कर्ता। निर्वृत्ति-विकार-प्राप्त्याहित-संस्कारं कर्तुः क्रिययेप्सिततमं कर्म। '····इत्यादि'। —हेलाराज ३।७।१८ पर

३. वा० प० ३।७।१९।

४. वा० प० ३।७।९१।

(१) शास्त्र द्वारा स्वीकार्य कारक-विभक्ति के बदले जाने पर भी अर्थ में मौलिक परिवर्तन नहीं होना चाहिए। 'ग्रामादागच्छति' की विवक्षा 'ग्राममागच्छति' नहीं हो सकती।

(२ सुबन्त तथा तिङन्त शब्दों की प्रकृति (प्रातिपदिक तथा धातु) में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। हाँ, समानार्थक प्रकृतियों के प्रयोग में कोई-कोई आपत्ति नहीं है। 'ग्रामादागच्छति' की विवक्षा 'ग्रामं त्यजति' के रूप में नहीं दिखलायी जा सकती, क्योंकि दोनों की प्रकृतियाँ भिन्न हैं।

(३) विवक्षा शिष्ट प्रयोगों पर आश्रित होती है। प्रमत्तों तथा अवैयाकरणों के असाधु प्रयोगों को विवक्षित रूप कहकर शास्त्र में ग्रहण नहीं किया जा सकता। इससे सिद्ध है कि विवक्षा का क्षेत्र भी नियत है।

विवक्षा का शास्त्रत्व तथा उसके प्रकार

अपने समय तक होनेवाली विवक्षाओं को तो पाणिनि तथा कात्यायन ने अपने सूत्रों-वार्तिकों में ही अन्तर्भूत कर लिया था, किन्तु उनके बाद के शिष्ट प्रयोग पाणिनि-व्याकरण में अन्तर्भूत नहीं किये जा सके। भट्टोजिदीक्षित को इतनी बड़ी संख्या में ऐसे 'अशास्त्रीय' प्रयोग मिले कि प्रौढ़मनोरमा तथा शब्द-कौस्तुभ में उन्हें सिद्ध करने या 'चिन्त्य' बतलाने में दीक्षित को महान् श्रम करना पड़ा। उनके पूर्व भी शरणदेव अपनी दुर्घटवृत्ति में तथा वामनादि आचार्य अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ऐसे प्रयोगों का विचार कर चुके थे। पाणिनि-व्याकरण में निर्दिष्ट एक विवक्षा का उदाहरण लें— 'ग्रामे वसति' में ग्राम अधिकरण है, किन्तु 'ग्राममुपवसति, अनुवसति' इत्यादि में वही अधिकरण कर्म के रूप में विवक्षित बनकर शास्त्र का रूप ले लेता है। पाणिनि ने इसे 'उपान्वध्याङ्वसः' सूत्र देकर समाहित किया। इसी प्रकार 'गोः (अपादान) पयो दोग्धि' की विवक्षा 'गां पयो दोग्धि' के रूप में होती थी। इसे तथा ऐसे ही कई अन्य प्रयोगों के समाधान के लिए 'अकथितं च' सूत्र दिया कि अपादानादि से अविवक्षित कारक को कर्मसंज्ञा होती है। एक स्थान में अविवक्षित होने पर दूसरे स्थान में विवक्षा होगी ही। इसी प्रकार सम्बन्ध की विवक्षा का भी पाणिनि ने निरीक्षण किया है। 'मातरं स्मरति' के स्थान पर 'मातुः स्मरति' तथा 'छात्रेण हसितम्' के स्थान पर शेष-विवक्षा में 'छात्रस्य हसितम्' होता है। ये विवक्षाएँ वैकल्पिक हैं।

यह आवश्यक नहीं कि विवक्षा होने पर उसके मूल तथा विवक्षित दोनों रूप साधु ही माने जायँ, क्योंकि अधिकांश विवक्षास्थलों में मूल रूप 'असाधुत्व' की स्थिति में पहुँच गये रहते हैं। 'ग्रामे आवसति' का प्रयोग असाधु है। 'धनुषा विध्यति' (धनुष से निकले हुए बाणों से विद्ध करता है)—इसमें धनुष का मूल रूप अपादान प्रयोग करना असाधु है, करण की विवक्षा हुई तथा वही एकमात्र शुद्ध रूप रह गया। भाषा के प्रयोगों का इसी प्रकार संक्रमण होता है। कुछ मूल रूप अशुद्ध तो नहीं है

किन्तु प्रयुक्त नहीं होते—विवक्षित रूप उन्हें उखाड़ फेंकने की स्थिति में रहा है। अन्त में, बहुत से स्थलों में विवक्षित तथा मूल रूप दोनों विकल्प की स्थिति में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना है कि विभक्ति-भेद से वाक्यार्थ में अत्यन्त सूक्ष्म ही सही, भेद तो होता ही है। हम ऊपर देख चुके हैं कि 'ग्रामं ग्रामाय ग्रामे वा गच्छति' बिलकुल पर्याय ही नहीं हैं। 'स्थाली पचति' तथा 'स्थाल्या पचति' में स्थाली की परस्पर भिन्न शक्तियाँ उद्भूत होती हैं।

कारक की विवक्षाओं को हम मुख्यत: ४ वर्गों में रख सकते हैं—

(क) **सभी कारकों की कर्तृ-विवक्षा**—ओदन: पच्यते स्वयमेव (कर्म)। **असिश्छिनत्ति** (करण)। **स्थाली** पचति (अधिकरण)। सम्प्रदान तथा अपादान की कर्तृविवक्षा प्रसिद्ध नहीं है। अपादान का फिर भी एक उदाहरण मिलता है—बलाहको (मेघ:) विद्योतते।

(ख) **कर्म के रूप में विवक्षा**—अपादानादि से अविवक्षित पदार्थों की कर्म-विवक्षा होती है, जिसे अकथित कर्म कहते हैं। यथा—गां दोग्धि पय: (अपादान)। माणवकं धर्मं ब्रूते (सम्प्रदान)।

(ग) **सम्बन्ध-विवक्षा**—अनेक कारकों की अपने वर्ग में अविवक्षा होने तथा उनमें सम्बन्धमात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है। यथा—**मातु:** स्मरति। **पशूना**मीष्टे।

(घ) **सभी कारकों की व्यत्यय-विवक्षा**—इस वर्ग में पाणिनीय सूत्रों के अनुशासन से अधिक शिष्टों के प्रयोग ही नियायक तत्त्व हैं। कुछ शिष्ट प्रयोग इस प्रकार हैं—स्कन्धेन भारं वहति। स्कन्ध में अधिकरण के स्थान पर करण की विवक्षा करके तृतीया हुई है। कालान्तर में यही एकमात्र शुद्ध प्रयोग रह गया तथा अधिकरण ही अशुद्ध हो गया। इसका समर्थन महाकवियों के प्रयोगों से भी होता है—

१. 'यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति'। —कुमार० १।४

२. 'मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला'।—कुमार० १।३९

३. 'गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम्'। —किरात० १।२१

इन उदाहरणों में गति या प्रापण अर्थ नहीं है कि करण-कारक का अवकाश हो। 'धारण करना' अर्थ ही सर्वत्र अभिप्रेत है[1]। अत: अधिकरण की ही प्राप्ति थी—वही वास्तव में होना चाहिए। किन्तु करण के रूप में शिष्टों की विवक्षा होती है। इसी प्रकार वास्तविक करण के स्थान में विवक्षा से शिष्टों ने इन उदाहरणों में अधिकरण नियत कर दिया है—

१. 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्'। —पंचतन्त्र।

२. 'रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम्'। —रघु० २।२८

---

१. पं० चारुदेव शास्त्री, प्रस्तावतरङ्गिणी, पृ० १९५–६।

वैसे इसका संकेत पाणिनि ने ही 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' (२।२।२७) में किया है, जिससे 'केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम्' विग्रह-वाक्य होता है। इस प्रकार विवक्षा की शक्ति इतनी प्रबल है कि इन उदाहरणों में शास्त्र के अनुसार प्रयोग करनेवाले ही उपहासास्पद होंगे। लोकोक्ति भी है—

'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्'।

निषेध-वाक्यों में विभक्ति

पुरुषोत्तमदेव ने अपने कारकचक्र के अन्त (पृ० ११६) में निषेध-मूलक (निगेटिव) वाक्यों में विभक्ति का विवेचन किया है। प्रश्न यह है कि 'कटं न करोति, परशुना न छिनत्ति, विप्राय न ददाति' इत्यादि वाक्यों में द्वितीयादि विभक्तियों के निमित्त जो कर्मादि कारक हैं वे नञ् के प्रयोग से निषिद्ध हो जाते हैं, तब किस आधार पर ये विभक्तियाँ होंगी ? इसका उत्तर यह है कि प्रतिषेध प्राप्ति के अनन्तर ही होता है। जब तक किसी की प्राप्ति की सम्भावना नहीं होती तब तक उसका निषेध नहीं हो सकता (प्राप्तिपूर्वको हि प्रतिषेधो भवति)। इसीलिए जैमिनि ने असम्भव वस्तु के प्रतिषेध की निन्दा मीमांसासूत्र के अर्थवादाधिकरण में पूर्वपक्ष की ओर से की है– 'अभागिप्रतिषेधात्' (मी० सू० १।२।५)। तात्पर्य यह है कि सम्भव तथा प्राप्त वस्तु का ही प्रतिषेध होता है। 'कटं न करोति' में सर्वप्रथम प्रतिषेध-विषय (कट) का उपदर्शन करना चाहिए, इसलिए द्वितीया विभक्ति हो जाती है। बाद में उसका सम्बन्ध नञ् से किया जाता है।

विधि की काल्पनिक सत्ता के आधार पर विभक्ति की व्यवस्था होने से उसके अनन्तर नञ् से सम्बन्ध होने पर भी वह विभक्ति यथापूर्व रहती है। इस विषय में एक कारिका भी पुरुषोत्तम ने दी है—

'लब्धरूपे क्वचित् किञ्चित् तादृगेव निषिध्यते।
विधानमन्तरेणातो न निषेधस्य सम्भवः'॥

तदनुसार जब किसी वस्तु की रूपोपलब्धि या सत्ता (भौतिक या मानसिक) हो जाती है, तभी निषेध होता है। इसलिए निषेध-वाक्यों में भी कारक तथा अनुकूल विभक्ति की उपपत्ति हो सकती है।

चतुर्थ अध्याय

कर्तृ-कारक

व्युत्पत्ति

कृ-धातु (डुकृञ् करणे, तनादि, उभयपदी) से कर्तृवाचक तृच्-प्रत्यय लगाकर निष्पन्न 'कर्ता' (प्राति०—कर्तृ) शब्द इस दृष्टि से कारक शब्द का पर्याय है कि दोनों में समान सूत्र ('ण्वुल्तृचौ' पा० ३।१।१३७) से ही कर्तृवाचक प्रत्यय विहित होते हैं तथा दोनों का अर्थ हैं—करनेवाला । कारकों के प्रकरण में कर्ता का स्थान इस अर्थ-साम्य से सम्यक् प्रकट होता है । व्याकरणशास्त्र में, विशेषत: पाणिनि-तन्त्र में यह नियम-सा है कि किसी प्रकरण का नाम (संज्ञाकरण) उस प्रकरण में स्थित किसी प्रधान या अतिप्रसिद्ध विषय के आधार पर रखा जाता है (प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति)। उदाहरण के लिए कृत्-प्रकरण का नाम उस प्रकरण में निष्पन्न होनेवाले सुप्रसिद्ध शब्द कृत् (कृ + क्विप्) पर आश्रित है । घि, नदी, तद्धित इत्यादि संज्ञाओं में भी यह नियम मिलता है । अत: कर्ता के समानार्थक 'कारक' संज्ञाकरण में कोई आश्चर्य की बात नहीं है । इसी से कारकों में कर्ता का प्रधान-भाव ज्ञात होता है ।

पाणिनि-कृत लक्षण

पाणिनीय अष्टाध्यायी में कर्ता का सुप्रसिद्ध लक्षण है—'स्वतन्त्र: कर्ता' (१।४।५४) अर्थात् क्रिया की सिद्धि में जो स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त हो उसे कर्ता कहते हैं। जैसे—रामो गच्छति । रामेण गम्यते । इन दोनों उदाहरणों में गमन-क्रिया की सिद्धि के लिए राम की स्वतन्त्र-रूप से प्रवृत्ति प्रदर्शित है । प्रथम में कर्ता (राम) अभिहित है, दूसरे में अनभिहित ।

'स्वतन्त्र' का पतञ्जलि द्वारा विवेचन

पतञ्जलि ने इस सूत्र की व्याख्या के अवसर पर 'स्वतन्त्र' शब्द के अर्थ का बड़ा मनोरंजक वर्णन किया है । 'तन्त्र' शब्द को साधारण अर्थ (तन्तु, सूत्र) में लेने से 'स्वं तन्त्रं यस्य स: स्वतन्त्र:' ऐसा समास करने पर केवल तन्तुवाय (जुलाहे) को ही कर्ता कह सकेंगे, दूसरे किसी को नहीं । किन्तु 'तन्त्र' शब्द दूसरे अर्थों में भी प्रयुक्त होता है; जैसे—विस्तार, प्रधानता इत्यादि । पतंजलि के अनुसार यहाँ यह प्रधानता वाले अर्थ में है[१] । तदनुसार 'स्वतन्त्र' का अर्थ है—'स्व आत्मा तन्त्रं प्रधानं यस्य स:' (कैयट) । कारक का अधिकार-क्षेत्र होने से यहाँ 'प्रधान' अर्थ का ही उपयोग हो सकता है, अन्य अर्थों का नहीं । वैसे क्रिया की सिद्धि अनेक कारकों के संयुक्त प्रयास

१. 'तद्य: प्राधान्ये वर्तते तन्त्रशब्द: तस्येदं ग्रहणम्' । —भाष्य २, पृ० २७७

से होती है, किन्तु उनमें भी किसी कारक की प्रधानता या स्वतन्त्रता रहती ही है। जब धातु के द्वारा किसी साधन के व्यापार को प्रधानरूप से प्रकट किया जाता है तब उसी को स्वतन्त्र कहते हैं तथा वह कर्ता होता है।

किसी के व्यापार की स्वतन्त्रता मुख्यतः विवक्षा पर निर्भर करती है। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक कारक की स्वतन्त्रता विवक्षित होने पर उसके कर्तृत्व की उपपत्ति होती है। पतञ्जलि ने 'कारके' सूत्र (१।४।२३) का व्याख्यान करते हुए स्थालीपुलाक-न्याय से करण तथा अधिकरण कारकों के कर्तृभाव का प्रदर्शन किया है। यह सही है कि प्रत्येक कारक में क्रियाभेद से एक ओर जहाँ उन विशिष्ट कारकों की व्यवस्था होती है दूसरी ओर वहीं कर्तृत्व भी उपपन्न होता है। कात्यायन के प्रामाण्य पर पतंजलि कहते हैं कि जब पाक-क्रिया का अर्थ अधिश्रयण (पात्र को चूल्हे पर रखना), उदकासेचन (उसमें जल छोड़ना), तण्डुलावपन (चावल डालना) तथा एधोऽपकर्षण (इन्धन हटाकर आग बुझाना) होता है तब यह प्रधान कर्ता (देवदत्तादि) की पाक-क्रिया समझी जाती है। अतः प्रयोग होता है—'देवदत्तः पचति' अर्थात् देवदत्त पात्र को चूल्हे पर रखता है, उसमें जल छोड़ता है इत्यादि। प्रधान कर्ता का कर्तृत्व यहाँ इसलिए उपपन्न है कि वह उक्त व्यापारों के सम्पादन में स्वतन्त्र है।

पुनः जब कहते हैं कि 'पाँच सेर पकाता है, ढाई सेर पकाता है' (द्रोणं पचति, आढकं पचति) तब यहाँ पाँच सेर आदि परिमाण से युक्त अन्न को ग्रहण करने (सम्भवन) तथा धारण करने का बोध होता है—रन्धन-पात्र (स्थाली) उस परिमाण को ग्रहण-धारण करके पाक-क्रिया का सम्पादन कर रहा है। इस स्थिति में सामान्यतया अधिकरण-कारक के रूप में उद्दिष्ट रन्धन-पात्र कर्ता बन जाता है। यही अधिकरण की पाकक्रिया है जिससे 'स्थाली पचति' जैसे वाक्य सिद्ध होते हैं।

अन्त में करण की पाक-क्रिया भी देखें। जब हम कहते हैं—एधाः पचन्ति (लकड़ियाँ पका रही हैं), तब यहाँ पाक-क्रिया का अर्थ है—'अन्न के कोमल हो जाने तक (आ विक्लित्तेः) जलते रहना'। इस क्रिया का सम्पादन करनेवाली लकड़ियाँ कर्ता के रूप में दिखलायी गयी हैं, यद्यपि साधारणतः वे मुख्य पाकक्रिया की सिद्धि के लिए करण या साधकतम के रूप में निर्दिष्ट होती हैं (एधैः पचति)। इस प्रकार जब जहाँ जैसी विवक्षा हो धातुओं की वैसी संगत वृत्ति दिखलायी जा सकती है।

कर्म-कारक के कर्तृत्व का निरूपण तो पाणिनि ने ही 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' (३।१।८७) सूत्र में किया है, जिसके अनुसार पाकक्रिया की सुसाध्यता तथा प्रधान कर्ता के व्यापार की अनुपस्थिति में 'पच्यते ओदनः स्वयमेव' (ओदन अपने आप पक रहा है) ऐसा प्रयोग होता है। इसी प्रकार काटने (छिदि-क्रिया) के क्रम में उद्यमन (कुठार ऊपर उठाना) तथा निपातन (उसे गिराना) करने वाला व्यक्ति प्रधान कर्ता है; जैसे—देवदत्तश्छिनत्ति। पुनः 'परशुश्छिनत्ति' तथा 'छिद्यते काष्ठं स्वयमेव'—इन उदाहरणों में क्रमशः करण और कर्म की कर्तृत्वविवक्षा हुई।

अपादान तथा सम्प्रदान कारकों की कर्तृत्व-विवक्षा पर आशंका प्रकट करके भी अन्त में कात्यायन तथा पतञ्जलि यह स्वीकार करते हैं कि किसी भी कारक की स्वतन्त्रता और परतन्त्रता पर्याय-रूप में वाक्य-प्रयोग पर निर्भर करती है। किसी-किसी वाक्य में अपादान-कारक को भी कर्ता के पर्याय के रूप में देखा जा सकता है; जैसे—बलाहको विद्योतते (मेघ चमकता है)। यह वाक्य-प्रयोग मेघ तथा विद्युत् की अभेद-विवक्षा पर आश्रित है (कैयट)। जब निःसरण-क्रिया के अंग के रूप में विद्योतन विवक्षित होकर मेघ और विद्युत् का अन्तर दिखलाना अभिमत हो तब 'बलाहकाद् विद्योतते' प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त अधिकरणत्व-विवक्षा से 'बलाहके विद्योतते' प्रयोग भी होता है, जिसमें स्थिति-क्रिया के अंग के रूप में द्योतन-क्रिया का प्रदर्शन इष्ट है अर्थात् मेघ में स्थित होकर ज्योतिःस्वरूप विद्युत् चमक रही है[1]।

इतना होने पर भी पतञ्जलि यह स्वीकार करते हैं कि अपादानादि संज्ञाओं की प्रसिद्धि कर्तृरूप में नहीं है। यद्यपि इसके लिए अन्य कारण हैं तथापि भाष्यकार यह युक्ति देते हैं कि कारक-प्रकरण में सर्वत्र स्वातन्त्र्य तथा पारतन्त्र्य का पर्याय होता है और दोनों की प्राप्ति होने पर परवर्तिनी कर्तृसंज्ञा अपादानादि संज्ञाओं की स्वातन्त्र्य-विवक्षा कभी नहीं होने देती। इन संज्ञाओं के स्वतन्त्र व्यापार की अविवक्षा के कारण ही सम्भवतः अष्टाध्यायी में विप्रतिषेध-परिभाषा का ध्यान रखकर इन्हें कारक-चक्र के आरम्भ में स्थान दिया गया है, जिससे ये संज्ञाएँ संज्ञान्तर के रूप में विवक्षित होने का साहस न कर सके। 'ग्रामादागच्छति' का 'ग्राम आगच्छति' नहीं हो सकता और न ही 'ब्राह्मणाय ददाति' की विवक्षा 'ब्राह्मणो ददाति' के रूप में हो सकती है—यह हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। यदि प्रयोग किया जाय तो बिलकुल नये अर्थ की प्रतीति होगी। जब तक स्वयं व्यापार का संचालन नहीं किया जाता तब तक किसी पदार्थ का उपयोग प्रधान क्रिया के व्यापार में नहीं हो सकता कि वह कर्ता बन सके। अतएव सम्प्रदान तथा अपादान के व्यापार में (जो शब्द के द्वारा वाच्य नहीं) धातु की वृत्ति नहीं होती[2]।

अब पतञ्जलि के समक्ष दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है। रन्धनपात्र को वे ग्रहण-क्रिया तथा धारण-क्रिया से सम्बद्ध मानकर स्वतन्त्र अर्थात् कर्ता सिद्ध कर देते हैं। तब वह अपने अधिकरणत्व की अधिकार-रक्षा के लिए परतन्त्र कहाँ रहेगा? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि पाक्य वस्तु के प्रक्षालन तथा परिचालन (चलाना) की क्रिया की अपेक्षा से रन्धन-पात्र परतन्त्र होगा, क्योंकि इन क्रियाओं का वह आधार है। किन्तु यह उत्तर युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि कोई व्यक्ति इसलिए रन्धनपात्र का उपादान नहीं करता कि मैं इसमें प्रक्षालन या परिचालन करूँगा। सभी लोग यही सोच-

---

१. द्रष्टव्य—कैयट : प्रदीप २, पृ० २४४।

२. 'स्वव्यापारानुष्ठानमन्तरेण प्रधानक्रियायामुपयोगाभावात्।······शब्दशक्ति-स्वाभाव्याच्चापादानसम्प्रदानव्यापारे धातुर्न वर्तते'। —कैयट, वहीं

कर पात्र लाते हैं कि वह (पात्र) इतना अन्न ग्रहण और धारण कर सकेगा—इन क्रियाओं में वह स्वतन्त्र है।

तब यह कहा जा सकता है कि पात्र में स्थित व्यापार का कथन होने पर पात्र स्वतन्त्र होता है और जब प्रधान कर्ता में स्थित व्यापार प्रकट किया जाय तब वह परतन्त्र भी होता है। किन्तु इस समाधान में भी आशंका का अवकाश है कि कर्तृस्थ व्यापार के प्रकट होने पर भी उपर्युक्त ग्रहण तथा धारण-क्रियाओं का सम्पादन करनेवाला रन्धन-पात्र स्वतन्त्र ही तो रहता है। तब अन्त में यह समाधान दिया जा सकता है कि प्रधान (कर्ता) के साथ समवाय (सान्निध्य) होने पर रन्धन-पात्र परतन्त्र रहता है और जब उससे दूरी रहे (किसी वाक्य में प्रधान कर्ता अनुपस्थित हो) तो स्वतन्त्र हो जाता है। इसे पतञ्जलि एक लौकिक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। राजा के सामने रहने पर अमात्य अपने काम में परतन्त्र रहते हैं और जब उससे दूर हटकर अपने सम्बद्ध विभाग में जाते हैं तो स्वतन्त्र हैं। यही स्थिति प्रधान कर्ता के सान्निध्य में करणादि कारकों की है। ऐसा कभी नहीं होता कि प्रधान कर्ता की उपस्थिति में कोई दूसरा कारक कर्ता के रूप में विवक्षित हो; जैसे—रामः स्थाली पचति[1]। यह प्रयोग असंगत है।

चूंकि सभी कारक सामूहिक रूप से क्रिया के उत्पादक हैं अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किसे प्रधान माना जाय? केवल कर्ता को प्रधान कह देने से तो काम नहीं चल सकता, कुछ युक्ति देनी होगी। पतञ्जलि इसके उत्तर में कहते हैं कि कर्ता चूंकि अन्य सभी साधनों (कारकों) के वर्तमान होने पर उन्हें कार्य में प्रवृत्त कराकर क्रिया का उत्पादन करता है इसलिए वह प्रधान है[2]। इसका स्पष्टीकरण यह है कि पाकक्रिया के सम्पादन के लिए सामान्य रूप से उपकार करनेवाले पदार्थ इन्धन, अग्नि, जल, पात्र इत्यादि सभी साधनों के रहने पर भी हम तब तक 'पचति' का प्रयोग नहीं कर सकते जब तक पाककर्ता अपने कार्य में सन्नद्ध नहीं हो जाता। कर्ता इसीलिए स्वतन्त्र कहलाता है कि उसका अपना रूप ही तन्त्र अर्थात् प्रधान होता है। करणादि में पर (अर्थात् कर्ता) की प्रधानता होती है। कर्ता ही उन्हें कार्य में प्रयोजित करता है और तब वे क्रियासिद्धि करने में समर्थ होते हैं। कर्ता किसी के द्वारा प्रयोज्य नहीं होता, अतः वह स्वतन्त्र या प्रधान है।

कर्ता की स्वतन्त्रता : भर्तृहरि के विचार

कर्ता की उक्त प्रधानता की उपपत्ति भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की दो कारिकाओं (३।७।१०१-२) में की है, जिनका भावार्थ कैयट ने भाष्य की उक्ति के व्याख्यान में प्रायः अन्वय करके ही दिया है। ये कारिकाएँ इस प्रकार हैं—

---

१. भाष्य २, पृ० २४५।

२. 'यत्सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कर्ता प्रवर्तयिता भवति'।

—भाष्य २, पृ० २४५

'प्रागन्यतः शक्तिलाभान्न्यग्भावापादनादपि ।
तदधीनप्रवृत्तित्वात्प्रवृत्तानां निवर्तनात् ॥
अदृष्टत्वात्प्रतिनिधेः प्रविवेके च दर्शनात् ।
आरादप्युपकारित्वे स्वातन्त्र्यं कर्तुरिष्यते' ॥

(१) **प्रागन्यतः शक्तिलाभात्**—क्रियासिद्धि के निमित्त कारण के रूप में विद्यमान कर्ता की अपनी शक्ति होती है । यह शक्ति उसे दूसरे निमित्तों में शक्ति उत्पन्न होने के पूर्व ही मिल जाती है, क्योंकि अन्य निमित्त (कारक) जहाँ अपनी-अपनी शक्ति कर्ता-कारक से प्राप्त करते हैं, कर्ता ऐसा नहीं करता (निमित्तान्तर से शक्ति ग्रहण नहीं करता) । वह स्वयं क्रियासिद्धि के लिए पर्याप्त शक्ति रखता है । इसलिए केवल सार्थक शब्द होने से ही—अभिधेयमात्र में (अर्थित्वात्)—कर्ता के आधार पर प्रथमा विभक्ति होती है—गौः, अश्वः । इनमें 'अस्ति' या 'विद्यते' क्रिया ही पर्याप्त है ।

(२) **न्यग्भावापादनादपि**—दूसरे कारक कर्ता के समक्ष न्यग्भूत अर्थात् सहकारी के रूप में आते हैं । कर्ता क्रियासिद्धि के लिए उन्हें नियुक्त करता है तथा वे अप्रधान बनकर उसकी अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता करते हैं । यह कर्ता की प्रधानता का ही द्योतक है ।

(३) **तदधीनप्रवृत्तित्वात्**—इससे स्पष्ट है कि अन्य कारकों की प्रवृत्ति कर्ता कारक के व्यापार के अधीन होती है । कर्ता तथा करणादि कारकों के बीच प्रयोजक-प्रयोज्य का सम्बन्ध हैं जहाँ कर्ता साक्षात् प्रवर्तक है । जिसके अधीन दूसरों के क्रिया-कलाप या व्यापार सञ्चालित हों उसे प्रधान कहना सर्वथा न्यायोचित है ।

(४) **प्रवृत्तानां निवर्तनात्**—चूँकि कर्ता का व्यापार क्रिया की सिद्धि के लिए होता है अतः इस विषय में वह पूर्णतः स्वाधीन है कि जिस किसी साधन का चाहे वह उपयोग करे या न करे । यही नहीं, जब वह देखता है कि करणादि कारक अपने अधिकार-क्षेत्र से बाहर निकल कर काम करने पर तुले हैं तो वह उन प्रवृत्त कारकों को रोक भी देता है[1] । इसके अतिरिक्त जब कर्ता फलप्राप्ति के बाद स्वयं निवृत्त होता है तब उसके अधीन काम करनेवाले दूसरे कारक भी साथ-ही-साथ निवृत्त हो जाते हैं । इस प्रकार साधनान्तर की प्रवृत्ति-निवृत्ति का नियमन करने के कारण कर्ता प्रधान कहा जाता है ।

(५) **अदृष्टत्वात्प्रतिनिधेः**—करणादि कारकों का प्रतिनिधि कर्ता कारक हो सकता है, किन्तु कर्ता का कोई प्रतिनिधि नहीं देखा गया है, जो उसका स्थानापन्न हो सके । किसी क्रियाविशेष की सिद्धि के लिए एक ही कर्ता हो सकता है । यदि वह बदला जाता है तो समझना चाहिए कि क्रिया में भी परिवर्तन होगा । दूसरे कारकों

---

१. 'कर्ता तु फलार्थमीहमानः स्वयं व्यापारवान् । अतिप्रवृत्तानि करणादीनि निवर्त्यन्ते कर्ता' । —हेलाराज (उक्त कारिकाओं की व्याख्या में)

का कर्तृत्व हम ऊपर देख आये हैं जहाँ उन कारकों के स्थान पर कर्ता काम कर रहा है; यथा---स्थाली पचति। किन्तु जो मूलतः कर्ता है उसे हम बदल नहीं सकते[१]। यह भी उसकी प्रधानता का सूचक है।

(६) **प्रविवेके च दर्शनात्**—कर्ता के अभाव में दूसरे कारक नहीं ठहर सकते, जब कि दूसरे कारकों के अभाव में कर्ता देखा जाता है। यथा—घटोऽस्ति, भवति, विद्यते। यहाँ कर्ता अकेला ही क्रिया का सम्पादक है[२]। किन्तु यदि कर्ता नहीं रहे तो दूसरे कारक क्रियासिद्धि कभी नहीं कर सकते—यही कर्ता की प्रधानता या स्वतन्त्रता है।

इन युक्तियों से भर्तृहरि सिद्ध करते हैं कि कर्ता दूर रहकर भी क्रिया का उपकार क्यों नहीं करे (क्योंकि करण-कारक क्रियासिद्धि के सर्वाधिक निकट होता है), वह स्वतन्त्र रहेगा ही। हेलाराज इन युक्तियों को भाष्य की उपर्युक्त पंक्ति की विश्लेषणात्मक व्याख्या मानते हैं। उनके ही शब्दों में '...इति समस्याभिहितं भाष्यं व्यस्य व्याख्यातम्'। कुछ भी हो, ये युक्तियाँ कर्ता की स्वतन्त्रता का सम्यक् उपपादन करती हैं।

प्रयोज्य का कर्तृत्व

पतञ्जलि कर्तृलक्षण में प्रयुक्त 'स्वतन्त्र' शब्द के विषय में एक शंका उठाते हैं कि यदि स्वतन्त्र (स्वप्रधान) को ही कर्तृसंज्ञा होती तब तो प्रयोज्य व्यक्ति को कर्ता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रयोज्य स्वतन्त्र नहीं होता---प्रयोजक की प्रधानता के अधीन काम करता है—'पाचयति ओदनं देवदत्तः (प्रयोजक) सूपकारेण (प्रयोज्य)'। फलतः हमें प्रयोज्य कर्ता मानने के लिए उपसंख्यान करना पड़ेगा; जैसे—स्वतन्त्रः कर्ता (प्रयोज्यश्चेत्युपसंख्यानम्)। किन्तु ऐसी बात नहीं है, प्रयोज्य भी स्वतन्त्र ही है। यदि वह स्वतन्त्र नहीं होता तो दूसरे कारकों के विनियोग द्वारा क्रियासिद्धि नहीं कर सकता और प्रयोज्य के द्वारा काम न किये जाने की स्थिति में भी (अकुर्वत्यपि) 'प्रयोजकः कारयति' ऐसा प्रयोग होने लगता[३]। फलस्वरूप 'कारयति' प्रयोग प्रयोज्य के काम करने पर ही होता है, जिससे उसकी स्वतन्त्रता बनी रहे। तब यह कहना कदाचित् उचित हो कि प्रयोज्य काम करे (क्रियासिद्धि करे) तब स्वतन्त्र है, काम न करे तब परतन्त्र है। इसलिए प्रयोजक का संनिधान रहने पर भी प्रयोज्य स्वार्थ-

---

१. 'कर्त्रन्तरं हि क्रियां निर्वर्तयत् प्रतिनिहितं नोच्यते। तस्याप्यर्थिनः समर्थस्यापर्युदस्तस्याधिकारात्'। —वही

२. 'यद्यपि अत्राधिकरणादयः सम्भवन्ति तथापि नान्तरीयकास्ते शब्दव्यापारादप्रतीयमानाः'। —वही पृ० ३१२

३. 'यदि प्रयोज्यस्य स्वातन्त्र्यं न स्यान्नैवासौ साधनान्तरविनियोगादिनां क्रियां कुर्यात्। तथा चाकुर्वत्यपि प्रयोज्ये प्रयोजकः कारयतीति व्यपदिश्येत'। —कैयट २, पृ० २७८

साधन में लगा ही है तथा काम करने में स्वतन्त्र है । कैयट ने इस सन्दर्भ में भाष्यकार का वचन प्रमाण माना है—'न हि कश्चित्परोऽनुग्रहीतव्य इति प्रवर्तते, सर्वं इमे स्वभूत्यर्थं यतन्ते' । सब अपने-अपने स्वार्थ-साधन में लगे हैं, कोई दूसरे पर अनुग्रह करने के लिए अपना काम नहीं करता । चेतन की यही विशेषता है ।

स्वतन्त्र तथा अस्वतन्त्र का निश्चय प्रयोज्य (प्रेषित) पुरुष में क्रिया वा अक्रिया देखकर किया जाता है कि काम करने पर वह स्वतन्त्र है और यदि काम नहीं करता तो स्वतन्त्र भी नहीं है । पहली स्थिति में 'कारयति' का प्रयोग हो सकता है, दूसरी में नहीं । किन्तु पतञ्जलि अन्त में निर्णय देते हैं कि प्रेषित पुरुष यदि काम नहीं भी करे तो वह स्वतन्त्र है[1] तथा उस स्थिति में भी 'कारयति' का प्रयोग हो सकता है । बात यह है कि प्रयोजक जब किसी को प्रेषित करता है तभी हम हेतुमान् अर्थात् प्रेषणादि व्यापार के कारण 'कारयति' प्रयोग करते हैं । यह प्रयोग इसकी अपेक्षा नहीं रखता कि प्रयोज्य काम करेगा या नहीं । कार्य-सम्पादन पूर्णतया प्रयोज्य की इच्छा के अधीन है—वह करें या न करे । इस प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप इच्छा के होने से ही इसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहती है । वह स्वतन्त्रता ही क्या जिसमें अपनी इच्छा से काम करने या न करने की छूट नहीं ? चूँकि ऐसी छूट प्रयोज्य को मिली हुई है अतः वह स्वतन्त्र है, कर्ता है ।

प्रयोज्य को कर्ता मानने का संकेत पाणिनि ने भी किया है—'तत्प्रयोजको हेतुश्च' (१।४।५५) अर्थात् **स्वतन्त्र कर्ता** को प्रयोजित करनेवाले (व्यापार में लगाने वाले, प्रयोजक) को भी कर्तृसंज्ञा होती है । साथ ही उसे हेतुसंज्ञा भी दी जाती है । इस सूत्र के आधार पर प्रयोजक को कर्ता तथा हेतु कह सकते हैं । प्रयोजक और प्रयोज्य सापेक्ष शब्द हैं—प्रयोजक जिसे काम में लगाता है, वही प्रयोज्य है । इस सूत्र में आये हुए 'तत्' पद के द्वारा अव्यवहित पूर्व में प्रयुक्त स्वतन्त्र कर्ता का ही परामर्श होता है, जो इस सन्दर्भ में (प्रयोजक-प्रयोग के कारण) प्रयोज्य कर्ता के अतिरिक्त और कोई नहीं । तदनुसार हम अर्थ कर सकते हैं कि प्रयोज्यभूत स्वतन्त्र कर्ता का प्रयोजक भी कर्ता (तथा हेतु) कहलाता है । इसे संयुक्त करके **'हेतुकर्ता'** कहने की परम्परा वैयाकरणों में देखी जाती है ।

पतञ्जलि ने उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखकर शंका उठायी है कि प्रेषण-व्यापार में अस्वतन्त्र का प्रयोजक होने पर हेतुसंज्ञा नहीं हो सकती, हेतुसंज्ञा तभी होगी जब स्वतन्त्र व्यक्ति को प्रेषित किया जाय (स्वतन्त्र-प्रयोजको हेतुसंज्ञो भवतीत्युच्यते)—परम्परा ऐसी ही है । अतएव यह सत्य है कि हेतु या प्रयोजक स्वतन्त्र कर्ता को ही प्रयोजित करता है । किन्तु प्रयोज्य को स्वतन्त्र मानने में एक कठिनाई आती है जिसका निर्देश एक वार्तिक में किया गया है—'स्वतन्त्रत्वात् सिद्धमिति चेत्,

---

१. 'यदि च प्रेषितोऽसौ न करोति, स्वतन्त्रोऽसौ भवति' । —भाष्य २, पृ० २७९

स्वतन्त्रपरतन्त्रत्वं विप्रतिषिद्धम्'[1]। प्रयोजक के सन्निधान में प्रयोज्य की परतन्त्रता साधारण अनुभव का ही विषय है और उधर आप कहते हैं कि प्रयोजक स्वतन्त्र को प्रयोजित करता है। इस प्रकार प्रयोज्य एक ओर से स्वतन्त्र कहा जा रहा है, दूसरी ओर परतन्त्र हो रहा है—यह परस्पर विरोध (विप्रतिषेध, तुल्य बलों का संघर्ष) विचित्र स्थिति उत्पन्न करता है। किन्तु इसका उचित समाधान वार्तिककार ने अन्यत्र किया है।

वार्तिककार का प्रथम समाधान हम अभी-अभी देख चुके हैं कि यदि प्रयोज्य स्वतन्त्र नहीं होता तो वह क्रियासिद्धि नहीं कर पाता तथा उसके काम न कर पाने की स्थिति में भी (अकुर्वत्यपि) 'कारयति' क्रिया का प्रयोग होने लगता[2]। 'कारयति' क्रिया प्रयोज्य के काम करने या स्वतन्त्र होने की स्थिति में ही प्रयुक्त होती है—यह कात्यायन का मत है। भाष्यकार इस विषय में उदारतापूर्वक लौकिक अनुभव रखते हुए प्रयोज्य के काम न करने की स्थिति में भी उसकी स्वतन्त्रता की सिद्धि करते हैं। अब स्थिति यह है कि जब प्रयोज्य के काम करने और न करने—इन दोनों ही स्थितियों में 'कारयति' का प्रयोग हो सकता है तब प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों में स्वेच्छाधीन काम करनेवाले को स्वतन्त्र क्यों नहीं माना जा सकता? स्वतन्त्रता का उपभोग उसके द्वारा नहीं होने की स्थिति में 'कारयति' इस णिजन्त क्रिया का प्रयोग नहीं होता। स्वतन्त्र कर्ता के प्रयोजक को हेतु कहते हैं और हेतु-स्थित प्रेषणादि व्यापार के द्योतित होने पर ही 'हेतुमति च' के द्वारा णिच्-प्रत्यय लगता है। इससे सिद्ध है कि प्रयोज्य होने पर भी उसकी स्वतन्त्रता बनी रहती है।

उनका दूसरा समाधान वहाँ देखा जा सकता है जहाँ 'हेतुमति च' (पा० ३।१।२६) सूत्र के अन्तर्गत 'आख्यानात्कृतस्तदाचष्टे' वार्तिक का आक्षेप करने के लिए स्वयं कात्यायन कहते हैं कि उक्त वार्तिक से जो 'कंसं घातयति' इत्यादि उदाहरणों की सिद्धि होती है वह 'हेतुमति च' सूत्र से ही सम्भव है, वार्तिक की आवश्यकता नहीं है। वास्तविक कंसवध के हेतुकर्ता इन्द्रादि हैं, उनके प्रयोग में—'इन्द्रः कृष्णेन कंसं घातयति' इस प्रकार 'हेतुमति च' से सिद्ध होता है। किन्तु उसी तथ्य को नट अभिनय के द्वारा जब रंगमंच पर प्रस्तुत करता है तब इस वार्तिक की आवश्यकता पड़ती है और 'कंसं घातयति' का प्रयोग होता है। इस पर कत्यायन का कथन है कि इस अभिनयात्मक कंसवध पर वास्तविक कंसवध का आरोप कर दें तो दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता तथा 'हेतुमति च' से ही दोनों प्रकार के कंसवधों (वास्तविक

---

१. भाष्य २, पृ० २८०।

२. 'न वा स्वातन्त्र्याद्, इतरथा ह्यकुर्वत्यपि कारयतीति स्यात्' (वा०)। तथा—'यो हि मन्यते, नासौ स्वतन्त्रः, अकुर्वत्यपि तस्य कारयतीत्येतत्स्यात्' (भाष्य)।
—भाष्य २, पृ० २७८

तथा अभिनीत) के अभिव्यंजन में 'कंसं घातयति' का प्रयोग सिद्ध होगा[१]। इसी प्रसंग में वे आगे चलकर कहते हैं कि स्वतन्त्र का प्रयोजक यदि हेतुकर्ता है और इससे यदि प्रयोज्य में स्वतन्त्रता का अभाव होता है तो प्रयोजक कभी हेतु कहला ही नहीं सकता। अतः प्रयोज्य कर्ता की स्वतन्त्रता के कारण ही प्रयोजक का हेतुत्व उपपन्न होता है[२]। तदनुसार इन्द्र का हेतुकर्तृत्व तभी माना जायगा जब कृष्ण (प्रयोज्य) में भी स्वातन्त्र्य रहे। इसी का आरोप नाटच-शिक्षक (हेतुकर्ता) तथा कृष्ण की भूमिका धारण करनेवाले नट (प्रयोज्यकर्ता) पर भी हुआ है। इस प्रकार जैसे इनमें अभेद-दर्शन हुआ है, दोनों को समान स्तर पर देखा गया है उसी प्रकार प्रयोज्य कर्ता तथा उस कर्ता में भी समानता है जो बिना किसी प्रेरणा के स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक काम करता है। 'यज्ञदत्तः देवदत्तेन कारयति' तथा 'देवदत्तः करोति' इन दोनों वाक्यों में देवदत्त में समान रूप से स्वतन्त्रता है।

व्याकरणशास्त्र के त्रिमुनि के द्वारा निरूपित कर्तृविषयक विचार करते समय आनुषंगिक रूप से भर्तृहरि की दो कारिकाओं का उद्धरण देकर कर्ता की स्वतन्त्रता के कारणों पर भी विचार किया गया। अब हम भर्तृहरि के एतद्विषयक अन्य विचारों की व्याख्या करें।

अचेतन का कर्तृत्व

भर्तृहरि ने कर्ता की स्वतन्त्रता की विशद व्याख्या की है, जिसमें कर्ता को अनेक शक्तियों से परिपूर्ण घोषित किया गया है। उक्त स्वतन्त्रता का उपयोग चेतन पदार्थ ही कर सकता है, अचेतन नहीं[३]। किन्तु 'रथो गच्छति', 'नदी वहति', 'अग्निर्दहति', 'स्थाली पचति' इत्यादि उदाहरणों में हम अचेतन पदार्थों को कर्ता का काम करते देखते हैं। इनका प्रयोग किस प्रकार समाधेय है? इन अचेतन पदार्थों के कर्तृत्व की पुष्टि भर्तृहरि निम्न कारिका में करते हैं—

'धर्मैरभ्युदितैः शब्दे नियमो न तु वस्तुनि।
कर्तुर्धर्मविवक्षायां शब्दात्कर्ता प्रतीयते'॥

—वा० प० ३।७।१०३

कर्ता की स्वतन्त्रता के बोधक जितने धर्मों का ऊपर उल्लेख हो चुका है; जैसे—अन्य कारकों के पहले ही शक्तिलाभ करना, उन्हें प्रवृत्त करना इत्यादि—उनका यह

१. तुल०—शब्दकौस्तुभ २, पृ० ३५७—'कंसं घातयतीति तावदारोपः। ये हि कंसाद्यनुकारिणां नटानां व्याख्यानोपाध्यायाः ते कंसानुकारिणं नटं सामाजिकैः कंस-बुद्धया गृहीतं तादृशेनैव वासुदेवेन घातयतीव।···तथा च स्पष्ट आरोपः'।

२. 'न वा सामान्यकृतत्वाद् हेतुतो ह्यविशिष्टम्। तथा—स्वतन्त्रप्रयोजकत्वाद-प्रयोजक इति चेत् मुक्तसंशयेन तुल्यम्'। —३।१।२६ पर भाष्य तथा वार्तिक

३. 'अचेतनेषु तर्हि एवंविधकर्मकलापाभावात् कर्तृता न प्राप्नोति—इत्या-शङ्क्याह'। —हेलाराज, काण्ड ३, पृ० ३११

स्वातन्त्र्य-नियम शब्द के विषय में ही समझना चाहिए। इन धर्मों की प्रतीति शब्द-मात्र में होने से भी कर्ता की सिद्धि होती है। इनकी वास्तविक सत्ता हो या न हो—कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसीलिए अचेतन पदार्थ के विषय में भी कर्तृत्व की उपपत्ति हो जाती है, क्योंकि उनके शब्द-संसार में इन धर्मों की सम्यक्-प्रतीति उपपाद्य है, भले ही वस्तुतः वे पाये नहीं जायें। 'अग्निर्दहति' में इसी प्रकार अचेतन अग्नि को कर्ता माना जाता है। हेलाराज कहते हैं कि शब्दशास्त्र में शब्दार्थ ही अर्थ है, वस्तु को अर्थ नहीं कहा जा सकता, यदि वह शब्दगम्य नहीं हो (व्याकरणे हि शब्दार्थोऽर्थः, न वस्त्वर्थः)। उपर्युक्त धर्म कर्ता के लक्षण की उपपत्ति अचेतन पर करने के लिए जब विवक्षित होते हैं, शब्द के द्वारा तदनुसार प्रतीत कराये जाते हैं तब शब्द से कर्ता की भी प्रतीति होती है। यह कर्तृत्व मुख्य रूप से तो नहीं होता, लाक्षणिक (औपचारिक) रूप ही इसे दिया जा सकता है[1]। करणादि कारकों का जो वैवक्षिक कर्तृत्व होता है उसमें प्रायः अचेतन ही पदार्थ होते हैं—उनकी पुष्टि भी इस नियम से हो जाती है। मुख्य रूप से कर्ता वही हो सकता है जो शब्दतः और वस्तुतः दोनों प्रकार से उन धर्मों को धारण करता है; जैसे—देवदत्तः पचति।

शब्दजगत् की विलक्षणता

स्वतन्त्रता के विवक्षाधीन होने से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक ही पदार्थ कभी-कभी युगपत् अनेक कारकों का रूप धारण कर सकता है, यदि उसका बोध विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाय। एक ही आत्मा को कर्ता, कर्म और करण के रूप में समान वाक्य में देखा जाता है; जैसे—आत्मानमात्मना हन्ति[2]। यदि वास्तविक संसार में इसका समाधान खोजें तो हमें निराशा होगी, किन्तु शब्द-जगत् का कारक-व्यवहार हमें ऐसा करने की अनुमति देता है। वस्तु-जगत् में इस उदाहरण का विश्लेषण करने पर अनेक दोष मिलेंगे—एक वस्तु एक ही बार अनेक तथा परस्पर विलक्षण रूपों में नहीं रह सकती और न अमूर्त आत्मा को शस्त्रादि से मारा ही जा सकता है[3]। किन्तु शब्द पर आश्रित विवक्षा का संसार ही दूसरा है—कवि-निर्मिति के समान वह भी 'नियतिकृत नियम से रहित' है। शस्त्रादि के उठाने-गिराने के व्यापार से युक्त पुरुष हनन-क्रिया का कर्ता है। विषय के रूप में विवक्षित (हन्तव्य) आत्मा ही कर्म है। सौकर्यातिशय की विवक्षा होने से शस्त्रादि के व्यापार की अनुपस्थिति में वही आत्मा करण भी है। इस प्रकार शाब्द कर्तृत्व की उपपत्ति होती है।

---

१. 'एवं च कृत्वाचेतनेषूपचरितामपि न भवति कर्तृत्वम्, सर्वत्रास्खलद्वृत्तित्वात् प्रयोगस्य मुख्यतासम्भवात्'। —हेलाराज, वही

२. 'एकस्य बुद्धयवस्थाभिर्भेदे च परिकल्पिते।
कर्मत्वं करणत्वं च कर्तृत्वं चोपजायते'॥ —वा० प० ३।७।१०४

३. '…नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि'। —गीता २।२३

'अङ्कुरो जायते' का विवेचन

शब्द-जगत् की विचित्रता का दूसरा उदाहरण हमें 'अङ्कुरो जायते' के प्रयोग में मिलता है, जिस पर भर्तृहरि दार्शनिक दृष्टि से कार्य-कारण सिद्धान्त का विवेचन भी करते हैं। वाक्यपदीय के सम्बन्ध-समुद्देश में एक स्थान पर वे उपचार-सत्ता (लाक्षणिक प्रयोग) की पुष्टि करने के लिए मुख्यसत्ता (वास्तविक सत्ता) को असम्भव बतलाते हैं। 'जायते' में जन्म का अर्थ होता है—वस्तु के स्वरूप की प्राप्ति (आत्मलाभ)। उसमें तीन तत्त्वों की आवश्यकता होती है—लब्धा (जन्म लेने वाले) कर्ता की, लभ्य कर्म (वस्तु-स्वरूप) की तथा लाभात्मक क्रिया की। ये तीनों ही सत्पदार्थ से सम्बन्ध रखनेवाले होते हैं। सत् वह है जो पहले से स्वरूपलाभ किया हुआ है (लब्धात्मा हि सन्नुच्यते) अर्थात् सत् का पुनः आत्मलाभ सम्भव नहीं। फलतः सत्-पदार्थ के जन्म की उपपत्ति नहीं हो सकती। दूसरी ओर, असत्-पदार्थ के भी जन्म की बात नहीं की जा सकती, क्योंकि स्वरूपलाभ के ही अर्थ में जनन-क्रिया होती है और सर्वथा असत्-पदार्थ स्वरूपलाभ क्या कर सकेगा ?

यह स्वीकार करना अनिवार्य है कि वस्तु कारणावस्था में शक्तिरूप में अवस्थित है तथा किसी अपूर्व अंश का लाभ करती है, जिसे जन्म कहते हैं। तदनुसार जिस रूप के आधार पर वस्तु को सत् कहते हैं उस रूप के द्वारा जन्म नहीं होता और जिस रूप से जन्म होता है ठीक उसी रूप के कारण वह सत् नहीं कहला सकता—यह 'अङ्कुरो जायते' के प्रयोग की सबसे बड़ी कठिनाई है। जन्म की मर्यादा रखकर असत् को स्वीकार करते हैं तो धात्वर्थ में कर्तृत्व की सिद्धि नहीं होती तथा प्रत्यय का विरोध भी होता है और यदि कर्तृत्व की रक्षा करते हुए सत् को स्वीकार करें तो जन्मात्मक धात्वर्थ का विरोध होगा[1]। तात्पर्य यह है कि 'जायते' की उपपत्ति अंकुर को असत् मानकर होगी (ऐसी स्थिति में अंकुर कर्ता नहीं हो सकेगा), अथवा सत् मान कर अंकुर की ही उपपत्ति होगी, किन्तु उसका सम्बन्ध 'जायते' क्रिया से नहीं हो सकेगा। फलस्वरूप असत् या सत् दोनों ही पक्षों में स्थिति असाध्य है। यह इसलिए होता है कि हम मुख्य या बाह्य सत्ता का आश्रय लेते हैं। उपचार-सत्ता स्वीकार करने पर अनुपपत्ति का प्रश्न नहीं उठता।

उपचार-सत्ता के जगत् में यह आवश्यक नियम नहीं है कि सर्वथा सिद्ध पदार्थ ही जन्म लेता है या सर्वथा असद्रूप वाला पदार्थ ही उत्पन्न होता है। वहाँ तो सत् हो या असत्, पूर्व तथा अपर अवस्थाओं पर आश्रित पदार्थ का (जो सत्ता प्राप्त करने के लिए उन्मुख हो) जन्म समझा जाता है[2]। इस प्रकार उत्तरवर्ती अवस्था-विशेष

---

१. 'आत्मलाभस्य जन्माख्या सत्ता लभ्यं च लभ्यते।
यदि सज्जायते कस्मादथासज्जायते कथम्'॥ —वा० प० ३।३।४३

२. "इह सर्वात्मना परिनिष्ठितं जायत इति न व्यपदिश्यते। नापि सर्वात्मनाऽसद्रूपम्। अपि तु सदसद्रूपमाश्रितपूर्वापरावस्थं सत्तासादनोन्मुखं वस्तु 'जायते' शब्दविषयः"। —हेलाराज ३।३।४५

(असद्रूप) को कारणों की कार्योन्मुखता का द्योतन करनेवाली पूर्वावस्था पर आरोपित किया जाता है तथा अंकुर की प्रवृत्ति सत्तोन्मुख होने से उसे 'जायते' क्रिया का कर्ता बनाया जाता है। बाह्यसत्ता में जन्म आत्मलाभ को ही कहते हैं, जब कि उपचारसत्ता में या शब्दजगत् में आत्मलाभ की प्रवृत्ति भी जन्म कहलाती है।

इसलिए मुख्य प्रश्न यह है कि 'अङ्कुरो जायते' में सत् पदार्थ जन्म लेता है या असत् ? हम देख चुके हैं कि वास्तविक रूप का आश्रय लेने पर दोनों ही पक्ष असंगत प्रतीत होंगे। इसलिए उपचार-सत्ता को स्वीकार कर उपपत्ति की व्यवस्था की जाती है[1]। अनुभव की दृष्टि से उत्पत्ति के पूर्व अंकुर की सत्ता मालूम नहीं होती, किन्तु वास्तविक रूप से असत् पदार्थ को कर्ता नहीं बनाया जा सकता। इस विपत्ति का निराकरण दो ही प्रकार से सम्भव है—(१) उपर्युक्त प्रकार से अवास्तविक होने पर भी सत्ता का आरोप अंकुर की पूर्वावस्था पर किया जाय (उपचार-सत्ता) अथवा (२) इस प्रकार के स्थानान्तरण को विवक्षाधीन किया जाय। कर्तृत्व यदि वैवक्षिक हो जाय तो उपचार का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। विवक्षा-रूप बुद्धि शब्द-प्रयोग का कारण है। उसमें शब्द पर निर्भर करनेवाली अवस्थाएँ रहती हैं, जिनसे अन्य क्रियाओं के कर्ता के समान स्वतन्त्रता का उपभोग करनेवाला कर्ता जनि-क्रिया को भी दिया जाता है। यह आरोप नहीं है, विवक्षा इसका नियमन करती है।

सम्बन्ध-समुद्देश में उपचार-सत्ता की मुक्तकंठ से स्तुति करने पर भी साधन-समुद्देश में भर्तृहरि उसे विवक्षा के समक्ष महत्त्व नहीं देते। प्रत्युत हेलाराज तो यहाँ तक कह देते हैं कि 'शब्दार्थ ही अर्थ है'—इस नियम का व्यभिचार नहीं होता, जिससे सर्वत्र मुख्य ही प्रयोग होता है, उपचार की आवश्यकता नहीं[2]। किन्तु इससे उपचार का सर्वथा उच्छेद नहीं हो जाता, किसी स्थान में अनन्य गति होने के कारण वह अनिवार्य सत्ता है। जैसे गृहस्थाश्रम में निषिद्ध होने पर भी परान्नभोजन दूसरे आश्रमों में विहित होता है, उसी प्रकार कारक के प्रकरण में विवक्षा के द्वारा न्यग्भूत किये जाने पर भी उपचार अन्यत्र विधेय है। जो कुछ भी हो, भर्तृहरि विवक्षा का गुणगान करते हुए बुद्धि की अवस्था को बहुत महत्त्व देते हैं, जिससे जन्-धातु के कर्ता की उपपत्ति होती है। उत्पत्ति के पूर्व वस्तु का असद्भाव रहने पर भी बुद्धि की अवस्था पर आश्रित होने से, सत्तायुक्त दूसरे कर्ता की समानता से (=जैसे दूसरी क्रियाओं के कर्ता सत् होते हैं उसी प्रकार) जन्-धातु के भी वैवक्षिक सत् कर्ता की उपपत्ति होती है—

> **'उत्पत्तेः प्रागसद्भावो बुद्ध्यवस्थानिबन्धनः ।**
> **अविशिष्टः सतान्येन कर्ता भवति जन्मनः' ॥** —वा० प० ३।७।१०५

---

१. 'उपचर्य तु कर्तारमभिधानप्रवृत्तये'। —वा० प० ३।३।४५

२. 'शब्दार्थ एव चार्थः इत्यस्खलद्वृत्तित्वात् प्रयोगस्य मुख्यतैव सर्वत्र। नोपचारार्थः कश्चित्'। —हेलाराज, काण्ड ३, पृ० ३१५

'अङ्कुरो जायते' की उपपत्ति के उपर्युक्त दोनों प्रकारों (उपचार-सत्ता तथा विवक्षा) के अतिरिक्त एक तीसरा प्रकार भी भर्तृहरि सुझाते हैं, जिससे वस्तुवृत्त के आधार पर भी कर्तृत्व-सिद्धि हो सके[1]। ऊपर हमलोग कार्य के द्वारा कर्तृत्व तथा जन्म की अनुपपत्ति देखकर विभिन्न उपायों की सहायता ले रहे थे। यदि कारण के द्वारा (कारणमुखेन) सिद्धि-मार्ग पर चलें तो उपर्युक्त सहायता की आवश्यकता ही नहीं रहे।

कारण-कार्य के सम्बन्ध पर मुख्यरूप से कर्म-कारक के प्रकरण में विचार होगा, किन्तु दोनों के अभेद-पक्ष का आश्रय लेकर जो परिणामवाद (सांख्य-दर्शन में) चला है उसके आधार पर यहाँ कारण में कार्य का प्रकृतिरूप देखा जा सकता है। परिणामवादी कारण तथा कार्य के बीच प्रकृति-विकृतिभाव मानते हैं, जिससे 'क्षीरं दधि सम्पद्यते' (दूध दही के रूप में परिणत होता है) तथा 'बीजमङ्कुरो जायते' (बीज अंकुर बन जाता है) इनमें प्रकृति तथा विकृति के बीच अभेद व्यवहार देखा जाता है। इस प्रकार एक अवस्था-विशेष में रहनेवाले पदार्थ दूसरी अवस्था को स्वीकार कर लेता है—उसका तात्त्विक परिवर्तन हो जाता है। कार्य की ओर उन्मुख कारण ही विशिष्ट विकार के निर्वर्तन की प्रक्रिया में विशिष्ट उत्तरावस्था (अंकुरादि) के रूप में जनि-क्रिया का कर्ता है। अतः बीजरूप कारण कर्ता होकर 'उत्तरावस्था की सिद्धि' के अर्थ में जन्म ग्रहण करता है, जिससे 'अङ्कुरो जायते' प्रयोग होता है। निष्कर्ष यह है कि परिणामवाद के आधार पर कारण-कार्य की अभिन्नता दिखला कर सदवस्थापन्न बीज के विकार रूप अंकुर का जन्म वास्तविक सत्ता में भी दिखलाया जा सकता है। इसके उपपादन के लिए भर्तृहरि ने एक दूसरी कारिका में[2] कहा है कि जैसे सर्प का कुण्डलबन्धन या पृथक्-पृथक् (व्यग्र) अंगुलियों का संघातरूप मुष्टिबन्ध कोई अर्थान्तर नहीं, केवल अवस्था-विशेष का ग्रहणमात्र है; उसी प्रकार सत्-पदार्थों का जन्म भी अवस्था-विशेष का आपादन है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

इसी प्रकार कारण तथा कार्य के अभेद पर आश्रित होकर तो वास्तविक सत्ता में जन्म-क्रिया के कर्ता की सिद्धि की ही जाती है, उन दोनों का यदि भेद भी स्वीकार करें तो भी उसके उपपादन में कठिनाई नहीं आती। वाक्यपदीय की अगली कारिका इसका निर्देश करती है—

'विभक्तयोनि यत्कार्यं कारणेभ्यः प्रवर्तते।
स्वजातिव्यक्तिरूपेण तस्यापि व्यवतिष्ठते' ॥ —वा० प० ३।७।१०८

अपने कारण से पृथक् होकर ('विभक्ता योनिः कारणमस्येति विभक्तयोनि') चलने वाला कार्य जब कारणों से उत्पन्न होता है तो उत्पत्ति से पूर्व व्यक्तिरूप में

---

१. 'कारणं कार्यभावेन यथा वा व्यवतिष्ठते।
कार्यशब्दं तदा लब्ध्वा कार्यत्वेनाथ जायते' ॥ —वा० प० ३।७।१०६

२. वही, ३।७।१०७।

विकार्य कार्य भले ही असत् हो किन्तु जाति के रूप में तो अवश्य ही सत् है, क्योंकि जाति नित्य होती है। अतः यह जाति साधनों का विनियोग करती है तथा व्यक्ति के रूप में जन्म लेती है। यह सत्य है कि जाति स्वयं उत्पत्ति-विनाश के धर्मों से पृथक् है, तथापि उसका व्यक्तिरूप तो जन्म-ग्रहण कर ही सकता है। तदनुसार कर्ता तथा उत्पन्न होनेवाले पदार्थ में कोई भेद नहीं—एक जातिरूप है तो दूसरा व्यक्तिरूप[1]।

इस प्रकार कारण तथा कार्य (बीज और अंकुर) में भेद का सिद्धान्त रखकर भी 'अङ्कुरो जायते' की व्यवस्था की जा सकती है। उपर्युक्त विवेचन से जाति-विषयक न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त की पुष्टि की जा सकती है कि अंकुरत्व-जाति, नित्य-रूप से वर्तमान होने के कारण, जन्म लेनेवाले (अंकुर-व्यक्ति) पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व की असत्ता से सम्बद्ध समस्या का समाधान कर देती है। अंकुरत्व-जाति तथा अंकुर-व्यक्ति एक-दूसरे के पूरक के रूप में रहकर उक्त वाक्य की व्यवस्था करते हैं। जाति में जन्यता नहीं, कर्तृत्व है तो उधर व्यक्ति में कर्तृत्व नहीं, जन्यता है। अतः कार्य-कारण में भेद रखें या अभेद—इन दोनों ही दशाओं में अंकुर-जन्म की व्यवस्था सम्भव है। बीज अंकुर के रूप में विकृति होता है (अभेद) अथवा अंकुर-कार्य नये रूप में उत्पन्न होता है (भेद); दोनों ही संगत हैं। दूसरे विकल्प में कार्य को जाति तथा व्यक्ति के रूप में विभक्त किया जाता है।

कार्य-कारण का अभेद-दर्शन एक नयी समस्या उत्पन्न कर देता है। हम ऊपर बीज को कर्ता के रूप में दिखला चुके हैं। बीज प्रकृति है तथा अंकुर के रूप में विकृत होता है। बीज और अंकुर में अभेदाध्यवसाय करनेवाले पक्ष में यह प्रश्न होता है कि कर्तृत्व वास्तव में किसमें रहता है—प्रकृति (कारण) में या विकृति (कार्य) में? कुछ लोग कह सकते हैं कि अभेद होने पर भी जन्म का कर्ता केवल कार्य ही है, कारण नहीं, क्योंकि कारण तो सिद्ध पदार्थ है—पहले ही जन्म लेकर अब तक सत्तायुक्त हो चुका है। जन्म के द्वारा स्वरूप-लाभ करनेवाला पदार्थ तो कार्य (विकृति-अंकुर) ही है। इस पर भर्तृहरि निर्णय देते हैं कि जहाँ कार्यकारण भाव प्रकृति तथा विकृति के रूप में हो वहाँ दोनों में पर्याय से कर्तृत्व हो सकता है, प्रयोग-भेद अवश्य होगा—

'विकारो जन्मनः कर्ता प्रकृतिर्वेति संशये।
भिद्यते प्रतिपत्तॄणां दर्शनं लिङ्गदर्शनैः'॥ —वा० प० ३।७।११४

अर्थात् जन्म-क्रिया का कर्ता प्रकृति है या विकृति—ऐसा संशय होने पर बोध करने वाले पुरुषों के सिद्धान्त अलग-अलग होते हैं, क्योंकि प्रयोग-भेद पर आश्रित हेतु भी अलग-अलग दिखलायी पड़ते हैं। इसमें स्थिति यह है कि प्रकृति और विकार के बीच सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है, जैसे—'क्षीरं दधि सम्पद्यते'। 'बीजमङ्कुरो जायते' यह

---

१. 'जातिरेव···व्यक्त्यात्मना जायत इति व्यवहारात् जातिरूपेण कर्तृत्वं व्यक्ति-रूपेण जन्यत्वम्—इत्यत्यन्तं व्यतिरेकाभावाज्जातिव्यक्त्योः सामानाधिकरण्यादुपपद्यत इत्यर्थः'। —हेलाराज ३, पृ० ३१६

प्रयोग भी कारण और कार्य अथवा प्रकृति-विकृति के बीच अभेद का प्रदर्शन करता है। इसलिए 'अङ्कुरो जायते' का अर्थ यही होता है कि सत् कारण अंकुर के रूप में एक नया रूप पाता है। यहाँ सन्देह का कारण है—प्रकृति-विकृति में पर्याय से गुणप्रधान भाव का होना। यदि प्रकृति प्रधान है और विकृत अंग, तो प्रधानभूत प्रकृति ही जन्-धातु का कर्ता है और अंगभूत विकृति प्रधान के द्वारा उस क्रिया से सम्बद्ध होगी—इससे सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। और यदि तथ्य इसके विपरीत हो (—विकृतिप्रधान हो, प्रकृति अंग) तो विकृति कर्ता का काम करेगी। यहाँ सामानाधिकरण्य ही गुण-प्रधानभाव-विषयक संशय का कारण है। इन दोनों में यदि भेद-निर्देश किया जाय (व्यधिकरण-सम्बन्ध हो) तो निश्चय ही विकृति को कर्ता बनाया जाता है, जैसे—'बीजादङ्कुरो जायते'। 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा० सू० १।४।३०) से प्रकृति तो अपादान है, विकार पर ही कर्तृत्व का भार आता है।

प्रकृति-विकृति का पर्याय से कर्तृत्व

इस प्रकार दो भिन्न पक्ष हो जाते हैं—१. विकार को कर्ता मानना तथा २. प्रकृति को कर्ता मानना।

(१) विकार को कर्ता माननेवालों का यह आशय है कि वस्तु का स्वरूप-लाभ करना 'जन्म' कहलाता है (आत्मलाभस्य जन्माख्या) और असत् पदार्थ ही आत्म-रूप की प्राप्ति करता है (असता चात्मा लब्धव्यः)। अतएव पूर्व से असत् विकार (कार्य) का जन्म होता है अर्थात् वह जनि-क्रिया का कर्ता है। भर्तृहरि ने इसके समर्थन में दो निदर्शन दिये हैं[1]। **पहला निदर्शन** 'क्लृपि सम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या' (पा० २।३।१३ पर वार्तिक) इस वार्तिक में है। इसका अर्थ है—सम् + पद-धातु के कर्ता में चतुर्थी होती है। यहाँ प्रकृति-विकृतिभाव की स्थिति में विकार-वाचक शब्द को ही चतुर्थी होती है। जैसे—'**मूत्राय** सम्पद्यते यवागूः' अर्थात् 'यवागूः **मूत्रं** जायते' (यदि प्रथमा में लाकर समानाधिकरण बनाया जाय)। प्रकृति (यवागू) का क्रिया से साक्षात् अन्वय न होकर विकार (मूत्र) के द्वारा होता है। अतः विकार को कर्ता मानकर उक्त वार्तिक की संगति होती है। भेद-विवक्षा होने पर 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' से अपादान-प्रञ्चमी (कारकविभक्ति) होगी—'यवाग्वाः मूत्रं सम्पद्यते'। चतुर्थी-विभक्ति का अवकाश अभेद-विवक्षा के कारण होता है। विकार के कर्तृत्व का दूसरा उदाहरण पतञ्जलि (भाष्य १।१।१) के 'सुवर्णपिण्डः कुण्डले भवतः' इस प्रयोग में मिल सकता है। सुवर्णपिण्ड प्रकृति तथा एकवचन है; कुण्डल विकार तथा द्विवचन है। 'भवतः' क्रिया का द्विवचनत्व विकारभूत कुण्डल से अन्वित होता है। स्पष्टतः विकार को कर्ता माना गया है।

---

१. 'क्लृपि सम्पद्यमाने या चतुर्थी सा विकारतः।
सुवर्णपिण्डे प्रकृतौ वचनं कुण्डलाश्रयम्'॥ —वा० प० ३।७।११५

(२) प्रकृति को कर्ता माननेवालों की मान्यता है कि जो विकार असत् है वह आत्मलाभ के लिए अभिमुख नहीं हो सकता। हम जानते हैं कि जन्म लेने का अर्थ स्वरूपलाभ के प्रति उन्मुखता ही है। अतः उस अभिमुखता के अभाव में विकार जनि-क्रिया का कर्ता नहीं होगा। स्वरूप की प्राप्ति (जन्म-ग्रहण) सदवस्थापन्न प्रकृति को ही हो सकती है। उत्तरावस्था में स्थित अपने दूसरे रूप की प्राप्ति के लिए वही अभिमुख भी हो सकती है। पूर्वावस्था और उत्तरावस्था में तात्त्विक भेद है—एक को प्रकृति और दूसरी को विकृति (विकार) कहते हैं। अतः विकार-रूप के लाभ के लिए प्रकृति में आभिमुख्य होने से वही (प्रकृति) कर्ता है। इसका भी उपपादन कई उदाहरणों से सम्भव है। सर्वप्रथम हम पतञ्जलि के 'अत्वं त्वं सम्पद्यते =त्वद्भवति' इस वचन को ले सकते हैं[1]। यहाँ अयुष्मद्-रूप (अत्वं) प्रकृति है तथा युष्मदर्थ (त्वं) विकार है। क्रियापद पथमपुरुष में होने के कारण विकार से अन्वित नहीं है। अन्ततः प्रकृति-रूप (अयुष्मदर्थ) ही 'सम्पद्यते' क्रिया का कर्ता है[2]।

कभी-कभी एक ही उदाहरण की विभिन्न वृत्तियों (forms) में कभी प्रकृति को तो कभी विकार को कर्ता के रूप में निर्दशित किया जाता है[3]। जब च्विप्रत्यय का अर्थ-प्रदर्शन करने के लिए वाक्य बनाते हैं तब विकार का कर्तृत्व होता है—'असङ्घो ब्राह्मणाः सङ्घो भवति'। यहाँ 'संघ' में विद्यमान एकवचन के आधार पर 'भवति' क्रिया प्रयुक्त हुई है। ब्राह्मण प्रकृति है तथा संघ विकृति, क्योंकि ब्राह्मणों से ही संघ बनेगा। तदनुसार विकृति-रूप संघ 'भवति' का कर्ता है। पुनः उपर्युक्त वाक्य को बदल कर च्वि-प्रत्यययुक्त प्रयोग दिखलाया जाता है—'सङ्घीभवन्ति ब्राह्मणाः', तब प्रकृतिभूत ब्राह्मण से बहुवचनात्मक क्रिया का अन्वय होता है और ब्राह्मण कर्ता रहता है। इस प्रकार वृत्तिभेद से प्रकृति तथा विकार दोनों में पर्याय से कर्तृत्व देखा जाता है। यह विवक्षा की विचित्र रीति है। प्रकृति तथा विकृति दोनों के कर्तृत्व की सिद्धि के लिए भर्तृहरि को जन्म-क्रिया का विश्लेषण करना पड़ता है—

> **'पूर्वामवस्थामजहत् संस्पृशन्धर्ममुत्तरम्।**
> **सम्मूर्च्छित इवार्थात्मा जायमानोऽभिधीयते'** ॥ —वा० प० ३।७।११८

यह नहीं समझना चाहिए कि बौद्धिक सत्ता (विवक्षा) के संसार में भी सर्वथा अपूर्व वस्तु ही उत्पन्न होती है। इसके विपरीत तथ्य यह है कि पूर्व में स्थित कारणावस्था का सर्वथा परित्याग किये बिना ही जन्म होता है—इससे प्रकृति के कर्तृत्व की पुष्टि होती है। इसी प्रकार उत्तरावस्था-विशेष का संस्पर्श (ग्रहण) करते हुए पदार्थ

---

१. पा० सू० १।४।१०८ पर भाष्य।

२. द्रष्टव्य—वा० प० ३।७।११७ तथा उस पर हेलाराज।

३. **'वाक्ये सम्पद्यते कर्ता सङ्घः च्व्यन्तस्य कथ्यते।**
इतो सङ्घीभवन्तीति ब्राह्मणानां स्वतन्त्रता' ॥ —वा० प० ३।७।११९

जन्म लेता है अर्थात् विकार का भी कर्तृत्व समर्थित है । पूर्व और उत्तर अवस्थाएँ वस्तु की विभिन्न उपाधियाँ हैं । उनसे अवच्छिन्न होने पर एक ही वस्तु पूर्वावस्था से सामंजस्य रखकर उत्तरावस्था को प्राप्त करने के लिए जब उन्मुख होती है तब कहते हैं—जायते । इस प्रकार प्रकृति तथा विकार की समानाधिकरणता तथा कर्तृत्व की भी सिद्धि हो जाती है ।

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि सर्वत्र दोनों (प्रकृति तथा विकार) को एक ही साथ कर्तृत्व होगा । यह सत्य है कि उपर्युक्त विवेचन से हम प्रकृति तथा विकृति में अभेद-दर्शन करते हैं तथा जन्-धातु के साथ दोनों का अन्वय हो सकता है, किन्तु कर्तृप्रत्यय की उत्पत्ति में कहीं तो केवल विकृति व्यापारयुक्त होती है तो कहीं केवल प्रकृति ही । सव्यापार होने पर ही किसी पदार्थ को कर्तृत्वशक्ति मिलती है, तटस्थ होने पर नहीं । पदार्थों की अनेक शक्तियों में कोई शक्ति कहीं उद्भूत होती है तो कोई कहीं[1] । शक्ति के इसी उद्भव के कारण पदार्थ सव्यापार कहलाता है । वे भिन्न शक्तियाँ कहीं पर संसर्ग भी प्राप्त करती हैं, जिससे कर्तृत्व का आधान होता है । यदि प्रकृति में शक्ति-संसर्ग हुआ तो वही कर्ता होगी; यदि विकार में ऐसा हुआ तो विकार कर्ता होगा । दोनों में एक ही साथ शक्ति-संसर्ग होना सम्भव नहीं—पर्याय से ही ऐसा हो सकता है । यही कारण है कि दोनों में सव्यापारत्व की समान सम्भावना रहने पर भी एक में साक्षात् प्रकर्ष रहता है, जिससे वह अधिक व्यापार-युक्त कहलाता है और दूसरा गौण या अप्रकृष्ट व्यापारयुक्त ही रह जाता है[2] । जो भी हो, प्रकृति और विकार का कर्तृत्व सम्भव है, किन्तु पर्याय से, युगपत् नहीं; यही वैयाकरण सिद्धान्त है ।

हेलाराज इस समस्त विवेचन को आनुषंगिक कहते हैं, क्योंकि यह कर्ता के स्वातन्त्र्य के मुख्य प्रश्न से पृथक् हटकर अचेतन को कर्ता के रूप में ग्रहण करने से सम्बद्ध है । इस प्रश्न के अतिरिक्त भर्तृहरि पतञ्जलि द्वारा विवेचित 'प्रयोज्य के कर्तृत्व' पर भी विचार करते हैं । उन्हें भी यह आशंका है कि प्रयोजक के अधीन प्रयोज्य की प्रवृत्ति (व्यापार) रहने से उसकी स्वतंत्रता की क्षति होती है । इस विषय में भर्तृहरि का कथन है कि जब प्रयोज्य क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता दिखलायी दे तब यह अनुमान करना पड़ता है कि उसमें क्रिया की सामर्थ्य है—इसी अनुमान या क्रियासिद्धि की सम्भावना के फलस्वरूप उसे स्वतंत्र (कर्ता) के रूप में प्रयुक्त किया जाता है[3] । यदि ऐसा न मानें तो प्रयोग करना निरर्थक होगा, क्योंकि किसी

---

१. द्रष्टव्य—हेलाराज, ३।७।२ पर—'अनेकशक्तेरपि पदार्थस्य सदेव तथावस्थानेऽपि काचिच्छक्तिः क्वचिदुद्भूता विवक्ष्यते' । —पृ० २३२

२. 'सव्यापारतरः कश्चित् क्वचिद् धर्मः प्रतीयते ।
संसृज्यन्ते च भावानां भेदवत्योऽपि शक्तयः' ॥ —वा० प० ३।७।११९

३. 'यस्तावदप्रवृत्तक्रियः प्रयोज्यः सोऽनुमितक्रियासामर्थ्य एव प्रयुज्यते' ।
—हेलाराज ३, पृ० ३२३

असमर्थ पदार्थ को कोई बुद्धिमान् काम में लगा ही नहीं सकता। इस प्रकार प्रयोज्य में निहित (भले तत्काल वह प्रवृत्त नहीं हो) शक्ति का निश्चय करके ही प्रयोजक उसे कार्यनियुक्त करता है, अतएव वह प्रयोज्य नियुक्ति के बाद तात्कालिक आत्म-साध्य क्रिया की सिद्धि के लिए अन्य अपेक्षित साधनों का विनियोग करके स्वयं प्रयोजक बन जाता है अर्थात् स्वातन्त्र्य का उपभोग करता है[1]। उदासीन, आलसी या असमर्थ व्यक्ति को कर्ता नहीं बनाया जा सकता, अतः जिसमें स्वातंत्र्य की सम्भावना हो वही प्रयोज्य हो सकता है।

इस पर आपत्ति हो सकती है कि जब प्रयोज्य कर्ता प्रयोजक हो सकता है तब अपने व्यापार में स्वतंत्र रूप से विवक्षित करणादि को प्रयोजित करने के फलस्वरूप प्रयोज्य कर्ता की भी हेतुसंज्ञा हो जायगी। तदनुसार 'गृहस्थः सूपकारेण (प्रयोज्य) पाचयति' के सादृश्य पर '**सूपकारः** (प्रयोज्य > प्रयोजक) **स्थाल्या** (अधिकरण > विवक्षा से कर्ता > प्रयोज्य) **पाचयति**' का अनिष्ट प्रयोग होने लगेगा। अतएव पूर्व-पक्षी कहते हैं कि 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' सूत्र में हेतु-संज्ञा के द्वारा करणादि के प्रयोजक की (जो वस्तुतः प्रयोज्य कर्ता है) हेतुसंज्ञा वारित समझनी चाहिए[2]। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि करणादि अपने व्यापार में स्वतंत्र रहने पर भी प्रधान व्यापार में परतंत्र ही रहते हैं। अतएव उन्हें मुख्य रूप से कर्तृसंज्ञा नहीं होती। प्रधान कर्ता के व्यापार से वे अभिभूत रहते हैं, जिससे उनकी स्वतंत्रता प्रकृष्ट नहीं होती। ध्यातव्य है कि प्रकृष्ट स्वातंत्र्य से युक्त पदार्थ को ही मुख्य कर्तृत्व होता है। निष्कर्षतः करणादि कर्ता होने पर भी प्रेषित नहीं किये जा सकते अर्थात् वे प्रयोज्य नहीं होते। दूसरी ओर, प्रयोज्य कर्ता प्रयोजक के द्वारा प्रेषित होता है तथा दूसरे साधनों का क्रियासिद्धि के लिए विनियोग करने के कारण प्रकृष्ट स्वातंत्र्य नहीं छोड़ता। इसीलिए वह कर्ता है।

तदनुसार हम निष्कर्ष निकालते हैं कि (१) मुख्य कर्ता ही प्रयोज्य हो सकता है। करणादि यदि कर्ता के रूप में विवक्षित हो भी जाय तो प्रकृष्ट स्वातंत्र्य के अभाव में प्रयोज्य नहीं होते। (२) प्रकृष्ट स्वातंत्र्य धारण करने वाले कर्ता को प्रेषित करने वाला ही प्रयोजक कर्ता होता है, जिसे हेतु भी कहते हैं।

हेतु (प्रयोजक) का विचार

कर्ता के विचार के प्रसंग में उक्त 'हेतु' का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाक्य-पदीय में भी इसीलिए कर्तृनिरूपण के अनन्तर चार कारिकाओं में हेतु का विवेचन है (३।७।१२५-८)। भर्तृहरि ने हेतुसंज्ञा का लक्षण प्रथम कारिका में ही दिया है—

---

१. 'सम्भावनात् क्रियासिद्धौ कर्तृत्वेन समाश्रितः।
क्रियायामात्मसाध्यायां साधनानां प्रयोजकः' ॥ —वा० प० ३।७।१२२

२. 'तस्मात्स्वतन्त्रस्य प्रयोजक इति करणादिप्रयोजकस्य हेतुसंज्ञाव्युदासे प्रयत-नीयम्'। —हेलाराज ३, पृ० ३२४

'प्रेषणाध्येषणे कुर्वंस्तत्समर्थानि चाचरन् ।
कर्तैव विहितां शास्त्रे हेतुसंज्ञां प्रपद्यते' ॥

किसी को आदेश देकर कार्य में प्रवृत्त करना 'प्रेषण' कहलाता है। आदेश सदा उत्कृष्ट व्यक्ति अपकृष्ट को देता है। दूसरी ओर, जब कोई अपकृष्ट व्यक्ति अपने से बड़े या अभ्यर्हित को कार्य में व्यापारित करे तो इसे 'अध्येषण' (आग्रह) कहते हैं। जब कर्ता उक्त दोनों में से किसी एक व्यापार में लगा हो तथा प्रयोज्य व्यक्ति (उत्कृष्ट या अपकृष्ट) की क्रिया के सम्पादन के अनुकूल आचरण भी कर रहा हो तो उसे शास्त्रविहित हेतुसंज्ञा होती है। प्रयोजक का यही मुख्य व्यापार है कि वह प्रयोज्य की क्रियासिद्धि के अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करता है[1]।

यद्यपि हेतुसंज्ञा के इस लक्षण के प्रथम अंश से ही लक्षण की पूर्ति हो जाती है तथापि 'तत्समर्थानि चाचरन्' (प्रयोज्य की क्रियासिद्धि के अनुकूल चेष्टाएँ करते हुए)—इतना अंश इसलिए अधिक रखा गया है कि अचेतन भिक्षादि पदार्थों को भी हेतुसंज्ञा हो सके, जिससे 'भिक्षा वासयति' (भिक्षा की सुलभता उसे वहाँ रहने की प्रेरणा देती है), 'पुस्तकमासयति' (पुस्तक उसे वहाँ बिठाये हुए है) इत्यादि प्रयोगों का समर्थन हो। इस विषय में कात्यायन 'हेतुमति च' (पा० ३।१।२६) सूत्र के वार्तिक में हेतु को निमित्त का पर्याय मानते हैं, क्योंकि भिक्षा, पुस्तक आदि हेतु-संज्ञक शब्द वास्तव में निमित्त हैं—'हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रं, भिक्षादिषु दर्शनात्'। इनमें निवासादि की अनुकूलता के रूप में अभिप्राय आरोपित होता है, अतः भिक्षादि की प्रयोजकता निःसन्दिग्ध है। हेलाराज बतलाते हैं कि जैसे किसी के अभिप्राय का अनुविधान करने वाला प्रयोज्य है, उसी प्रकार उस अभिप्राय का प्रकाशन करने वाला प्रयोजक होता है। अतः समर्थाचरण करना सर्वत्र प्रयोजक का मुख्य व्यापार है—यह सिद्ध हुआ।

हेतु शब्द पाणिनि-तंत्र में दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—एक तो उपर्युक्त प्रयोजक को हेतु कहते हैं, जिस अर्थ में यह कारक है। दूसरा लौकिक हेतु कारण के अर्थ में आता है। फल-साधन के योग्य पदार्थ को यह लौकिक हेतु कहते हैं जो द्रव्यादि के विषय में ही होता है; अनिवार्यतया क्रिया के ही विषय में नहीं। इसीलिए यह कारक नहीं है। इसका विशद विचार हम करण-कारक के साथ इसका भेद दिखलाते हुए करेंगे। सुविधा के लिए इन दोनों हेतुओं को क्रमशः हम पारिभाषिक (प्रयोजक हेतु, कारक) तथा लौकिक (कारणार्थक, अकारक) हेतु कहते हैं। पाणिनि के सूत्रों में यथास्थान इन दोनों अर्थों में हेतु का प्रयोग हुआ है, जिसकी विशेष प्रतिपत्ति व्याख्यान के द्वारा ही की जा सकती है। उदाहरणार्थ 'हेतुमति च' (३।१।२६), 'भियो हेतुभये षुक्' (७।३।४०) इत्यादि में पारिभाषिक हेतु का ग्रहण है। जैसे—देवदत्तः कारयति, मुण्डो भीषयते। यहाँ देवदत्त तथा मुण्ड हेतुकर्ता हैं। द्वितीय सूत्र

---

१. 'अयमेव च मुख्यः प्रयोजकव्यापारो यत्प्रयोज्यक्रियासम्पत्तिसमर्थाचरणम्'।
—हेलाराज ३, पृ० ३२६

में जहाँ हेतुकर्ता से भय का अर्थ न हो वहाँ षुक् का आगम नहीं होता—'कुञ्चिकया एनं भाययति'। कुंजी डराने का साधन है, प्रयोजक हेतु नहीं[1]।

तृतीया-विभक्ति के विधान में एक सूत्र आया है—'हेतौ' (२।३।२३)। यहाँ लौकिक हेतु का ग्रहण है, क्योंकि प्रयोजक अर्थवाला हेतु लेने पर तो कर्तृत्व के ही कारण तृतीया की सिद्धि हो जायेगी और सूत्र व्यर्थ होगा। उदाहरण हैं—धनेन कुलम्, कन्यया शोकः, विद्यया यशः। धनादि लौकिक हेतु हैं। किन्तु उसके बाद के सूत्र 'अकर्तर्यृणे पञ्चमी' (२।३।२४) में हेतु की अनुवृत्ति होने पर लौकिक हेतु का ग्रहण करके भी पारिभाषिक प्रयोजक हेतु का पर्युदास किया जाता है—कर्तृ-वर्जित ऋणरूप हेतु से पञ्चमी विभक्ति होती है। यथा—शताद् बद्धः। कर्तृरूप हेतु होने से 'शतेन बन्धितः' होगा। इसी से जयादित्य कहते हैं[2]—'शतमृणं च भवति, प्रयोजकत्वाच्च कर्तृसंज्ञकम्'।

'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (पा० ३।२।१२६) में लौकिक हेतु है, क्योंकि यहाँ हेतु धात्वर्थ का विशेषण है। लक्षण तथा हेतु के अर्थ में वर्तमान धातु से लट् के स्थान में शतृ-शानच् प्रत्यय होते हैं, यदि ये लक्षण-हेतु क्रिया-विषयक हों। लक्षण—'शयाना भुञ्जते यवनाः'। हेतु—'अर्जयन् वसति। निवास का हेतु है—द्रव्यार्जन, जो क्रिया-विषयक है। यदि यहाँ प्रयोजक हेतु लिया जाय तो वह धात्वर्थ का विशेषण (विषय) नहीं बन सकता, क्योंकि वह तो सदैव क्रिया से युक्त रहता है, कभी व्यभिचरित नहीं होता। किन्तु विशेषण की सार्थकता सम्भव तथा व्यभिचार से होती है[3]। यदि लौकिक हेतु का ग्रहण किया जाय (जो द्रव्य, गुण तथा क्रिया तीनों के विषय में होता है) तभी सम्भव तथा व्यभिचार की पूर्ति सम्भव है। इसी प्रकार 'हेतुहेतुमतोर्लिङ् (३।३।१५६), 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' (३।३।२०) इत्यादि में भी लौकिक हेतु का ग्रहण किया गया है।

प्रयोजक तथा प्रयोज्य के सम्बन्ध को लेकर एक आशंका उठायी जा सकती है। सब कुछ रहने पर भी प्रयोज्य को प्रयोजक अपने प्रेषण तथा अध्येषण व्यापार से व्याप्त करता है। इस प्रकार आप्यमान होने से प्रयोज्य की कर्मसंज्ञा का प्रसंग हो जाता है। कुछ स्थितियों में प्रयोज्य को कर्मसंज्ञा हो भी जाती है, जिसे पाणिनि ने 'गतिबुद्धि०' (१।४।५२) सूत्र में समाविष्ट किया है। शंका करने वाले का तात्पर्य यह

---

१. 'नात्र हेतुः प्रयोजको भयकारणं, किं तर्हि ? कुञ्चिका'।

—काशिका, पृ० ६६२

२. वही, पृ० ११६।

३. अज्ञात-स्रोत की एक प्रसिद्ध उक्ति—

'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्।
नहि शीतेन चोष्णेन वह्निः क्वापि विशिष्यते'॥

है कि केवल उन्हीं स्थितियों में नहीं, अपितु सभी प्रयोज्यों को कर्मसंज्ञा हो जायगी[१]। इसका समाधान भर्तृहरि की इस कारिका में देखा जा सकता है—

'गुणक्रियायां स्वातन्त्र्यात्प्रेषणे कर्मतां गतः ।
नियमात्कर्मसंज्ञायाः स्वधर्मेणाभिधीयते' ॥ —वा० प० ३।७।१२७

प्रयोजक के प्रेषण-व्यापार में पराधीन होने पर भी प्रयोज्य अपने व्यापार में स्वतंत्र ही रहता है। न तो प्रयोज्य अपनी स्वतंत्रता का परित्याग करता है और न प्रयोजक ही उसकी स्वतंत्रता का खंडन करता है। यदि ऐसी बात नहीं होती तो प्रयोज्य के काम न करने की स्थिति में 'कारयति' प्रयोग नहीं होता। हम इस विषय में पतंजलि का विवेचन देख चुके हैं। अतः सामान्यतया स्वतंत्र होने के कारण प्रयोज्य को कर्तृसंज्ञा होती है तथा तदनुकूल 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (पा० सू० २।३।१८) से अनभिहित कर्तृत्व के कारण तृतीया-विभक्ति होती है—पाचयत्यन्नं **बटुना**। यह ठीक है कि 'गतिबुद्धि० आदि सूत्र तथा उसके अन्तर्गत आने वाले वार्तिकों से परिस्थिति-विशेष में कर्मसंज्ञा नियमित होती है। किन्तु यह कहना कि सभी प्रयोज्य प्रेषणादि व्यापार से आप्यमान होने के कारण कर्मसंज्ञक है, बिलकुल अनर्गल कथन है। इसी से भर्तृहरि ने कारिका में कहा है कि इन स्थितियों में कर्मसंज्ञा का नियम-विशेष होने के कारण सामान्यतया (गत्यादि धातुओं से अन्यत्र) प्रयोज्य को अपने धर्म अर्थात् कर्तृसंज्ञा के ही रूप में निर्दिष्ट किया जाता है।

इस स्थान पर हेलाराज भी एक प्रश्न उठाते हैं कि प्रेषणव्यापार होने पर भी जब प्रयोज्य की स्वतंत्रता की निवृत्ति नहीं होती तब सर्वत्र कर्तृसंज्ञा ही परत्व के कारण होनी चाहिए। 'गतिबुद्धि०' आदि सूत्र का नियम क्यों किया जाता है? यदि कर्तृसंज्ञा के प्रसंग में कर्मसंज्ञा का आरम्भ करते हैं तो यह नियम नहीं अपितु विधि है, क्योंकि कर्मसंज्ञा की आत्यन्तिक अप्राप्ति है, पाक्षिक प्राप्ति नहीं[२]। इसका उत्तर यह है कि व्याकरण-शास्त्र में गौण तथा प्रधान क्रियाओं के विषय में गौण तथा प्रधान शक्तियाँ होती हैं, जिनमें प्रधान शक्ति ही अपने कार्य का प्रयोग करती है, गौण शक्ति नहीं। अब हमें यहाँ निर्णय करना है कि कौन-सा व्यापार प्रधान है? प्रयोज्य का व्यापार तो धातु से वाच्य होता है तथा णिजर्थ का विशेषण भी है, इसलिए वह अप्रधान है। दूसरी ओर, प्रयोजक का व्यापार णिच् प्रत्यय से वाच्य होने के कारण प्रधान है। प्रकृत्यर्थ (धात्वर्थ) से अवच्छिन्न होने के कारण प्रत्ययार्थ सदा प्रधान होता है। किन्तु इसके साथ यह भी तथ्य है कि प्रकृति और प्रत्यय दोनों मिलकर प्रत्ययार्थ का कथन करते हैं। अतएव प्रयोजक के प्रत्ययार्थ वाच्य व्यापार की प्रधानता होने के कारण उसकी अपेक्षा रखते हुए कर्मशक्ति ही कार्य तक पहुँचाती है, अप्रधान

१. 'इह प्रयोज्यस्य प्रेषणाध्येषणादिना सर्वस्य प्रयोजकव्यापारेणाप्यमानत्वात् कर्मसंज्ञाप्रसङ्गः इत्याशङ्क्याह'। —हेलाराज, पृ० ३३०

२. 'विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति'। —अर्थसंग्रह, पृ० ५४

प्रयोज्य-व्यापार से सम्बद्ध कर्तृशक्ति नहीं। उदाहरणार्थ ओदन विक्लित्ति में स्वतंत्र होने पर भी कर्तृसंज्ञा प्राप्त नहीं करता प्रत्युत विक्लेदन करना देवदत्त का व्यापार है, जिसके द्वारा ईप्सिततम होने के कारण कर्मसंज्ञा होती है—पाचयत्योदनम्।

ऐसा होने पर कर्ता और कर्म दोनों संज्ञाओं की युगपत् प्राप्ति नहीं हो सकती और इसीलिए विप्रतिषेध-परिभाषा भी नहीं लग सकती है। फलतः कर्तृसंज्ञा की अप्राप्ति होने से यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि गत्यादि के विषय में भी कर्म-संज्ञा होती है। अतएव 'गतिबुद्धि०' सूत्र नियम करने के ही लिए उपक्रान्त हुआ है, क्योंकि उक्त प्रकार से इसकी पाक्षिक प्राप्ति तो है ही। पच्-आदि धातुओं के विषय में नियमपूर्वक प्रधानकार्य का प्रसारण होता है, जिसके अनन्तर गौणक्रिया स्वतंत्रतारूप स्वकार्य का कर्तृसंज्ञा के रूप में निर्द्वन्द्व प्रवर्तन करती है। इस पूरे विवेचन का सारांश यह है कि गत्यादि धातुओं के विषय में प्रयोजक व्यापार की प्रधानता होने से प्रयोज्य ईप्सिततम हो जाता है, जब कि अन्य धातुओं के विषय में उक्त नियामक सूत्र के अभाव में प्रयोज्य कर्तृसंज्ञक ही रहता है[1]। वास्तव में प्रयोज्य की विभक्ति प्रयोग पर निर्भर करती है, कर्मत्व-कर्तृत्व-विवेचन से कोई निश्चित सूत्र पता नहीं लगता।

भर्तृहरि अब अंतिम शंका रखते हैं कि जब प्रयोजक को हेतु कहते हैं तो फलरूप कर्म को भी क्रिया के प्रति प्रयोजक क्यों नहीं कहा जाय? और इसीलिए वह भी हेतुसंज्ञा का अधिकारी क्यों नहीं माना जाय? यहाँ समाधान के लिए कर्म और हेतु का स्पष्ट भेद समझ लेना चाहिए। कर्म जहाँ क्रिया का प्रेरक है वहाँ हेतु कर्ता का प्रयोजक है। निर्वृत्ति, विकार तथा प्रतिपत्ति के द्वारा क्रमशः निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य के रूप में त्रिविध कर्मों का सम्पादन करने के कारण क्रियाफलात्मक कर्म अपनी स्थिति की व्यवस्था के लिए क्रिया को प्रेरित करता है। दूसरी ओर, हेतु क्रियार्थी होते हुए भी साधनों का विनियोग करने के समय साक्षात् क्रिया को नहीं, प्रत्युत कर्ता को प्रेरित करता है। अब उसके समर्थन में कर्ता की प्रवृत्ति आरम्भ होती है। इससे स्पष्ट है कि हेतु तथा कर्म के विषय-क्षेत्र पृथक् हैं। उत्पत्ति-प्रभृति उपकारों के कारण क्रिया की प्रवृत्ति कर्मार्थ होती है, अतः कर्म को क्रिया का प्रयोजक कहा गया है। यह लौकिक व्यवहार है कि जो जिसके लिए होता है वह उसका प्रयोजक कहलाता है ('यद्धि यदर्थं तत्तस्य प्रयोजकम्'—हेलाराज), क्योंकि उसी के उद्देश्य से उसकी प्रवृत्ति होती है। दूसरे कारक क्रिया के निमित्त प्रवृत्त होते हैं, न कि क्रिया उनके निमित्त प्रवृत्त होती है। इसलिए वे उसके (क्रिया के) प्रयोजक नहीं कहे जा सकते। कर्म-कारक उसका प्रयोजक अवश्य है[2]।

---

१. द्रष्टव्य—हेलाराज ३, पृ० ३३०-१।

२. 'क्रियायाः प्रेरकं कर्म हेतुः कर्तुः प्रयोजकः।
कर्मार्था च क्रियोत्पत्तिः संस्कारप्रतिपत्तिभिः'॥ —वा० प० ३।७।१२८

नव्यन्याय में कर्तृ-विचार

त्रिमुनि तथा भर्तृहरि में कर्तृत्व का विवेचन इतना व्यापक है कि परवर्ती ग्रन्थकारों के समक्ष कर्तृत्व-दर्शन में कुछ नव्यता का प्रदर्शन करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया है। तथापि अभिनव शब्दावली के प्रयोग द्वारा अदृष्टपूर्व रीति से कर्तृत्व का विचार नव्यन्याय तथा उससे प्रभावित व्याकरणग्रन्थों में भी दिखलायी पड़ता है।

प्राचीन तथा नव्यन्याय के संक्रमण-काल में निम्नलिखित लक्षण नैयायिकों के बीच बहुत प्रचलित जान पड़ता है—'कर्तृत्वं चेतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारक-प्रयोक्तृत्वलक्षणं ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वम्'[१]। तदनुसार कर्ता वह है जो कर्म-करणादि दूसरे कारकों से प्रयोजित नहीं हो प्रत्युत सभी कारकों को स्वयं प्रयोजित करे। इसके साथ-साथ वह ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न का आधार भी होता है अर्थात् ये तीनों कर्ता में निहित होते हैं। इस लक्षण में दो भाग हैं। प्रथम भाग कर्ता तथा कारकान्तर के सम्बन्ध का निर्धारण करता है, तो द्वितीय भाग कर्ता की स्वरूप-निष्ठ विशेषता का निरूपक है।

इस लक्षण का प्रथम भाग व्याकरण-दर्शन में मुख्यतः पतंजलि तथा भर्तृहरि के विचारों का संक्षिप्त रूप है, क्योंकि सभी साधनों के विद्यमान रहने पर कर्ता स्वतन्त्रता-पूर्वक सबका 'प्रवर्तयिता' है, यह सिद्धान्त पतंजलि बहुत पहले ही रख चुके थे। भर्तृ-हरि भी कर्ता की स्वतन्त्रता के कारणों का उल्लेख करते हुए यह दिखला चुके हैं कि सभी साधनों के आगमन के पूर्व कर्ता का व्यापार आरम्भ हो जाता है। तदनुसार यह कहने में कोई नवीनता नहीं कि दूसरे कारक कर्ता को प्रयोजित नहीं कर सकते। अतएव यह लक्षणांश न्यूनाधिक रूप में प्राचीन वैयाकरण मत का ही आंशिक रूपान्तर है। भवानन्द अपने कारकचक्र में इस लक्षण का उल्लेख मतान्तर के रूप में करते हैं[२] जिसका निरसन करना वे अनिवार्य समझते हैं। यहाँ पूर्वपक्षी का कथ्य है कि यदि केवल 'कारकान्तरप्रयोजकत्व' के रूप में कर्तृलक्षण किया जाता तो अतिव्याप्ति हो जाती। 'देवदत्तः कुठारेण वृक्षं छिनत्ति' इस वाक्य में कुठार को भी कर्तृत्वापत्ति होती है, क्योंकि कुठार से भिन्न वृक्षरूप कर्म-कारक (कारकान्तर) है, जिससे जन्य छेदनात्मक कार्य के अनुकूल जो वृक्ष-कुठार-संयोगव्यापार है उसे कुठार ही प्रयोजित करता है—अतः कुठार कर्ता हो जायगा और अतिव्याप्ति-दोष उत्पन्न होगा। इस-लिए उक्त दोष के निरसनार्थ 'कारकान्तराप्रयोज्यत्वे सति' यह विशेषण लगाया गया

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, अक्षपाद-दर्शन, पृ० ५०६।

२. "यत्तु 'कारकान्तराप्रयोज्यत्वे सति कारकान्तरप्रयोजकत्वं कर्तृत्वम्' इति।··· तदप्यसत्। ईश्वरप्रयोज्यानां संसारिणां तत्तत्क्रियास्वकर्तृतापत्तेः"।

—कारकचक्र, पृ० १३

है। चूँकि कुठार देवदत्त-रूप कारकान्तर से प्रयोज्य है अतः उसके कर्तृत्व का प्रसंग नहीं होगा। पूर्वपक्षी इस प्रकार उपर्युक्त लक्षण की संगति बैठाता है। किन्तु भवानन्द को इस विशेषण के सामर्थ्य पर आपत्ति है। जितने संसारी प्राणी कर्ता के रूप में विवक्षित होते हैं उन्हें ईश्वर ही विभिन्न क्रियाओं में प्रयोजित करता है। उपर्युक्त उदाहरण में देवदत्त (कर्ता) भी कारकान्तर (ईश्वर) से प्रयोज्य है, अतः उसे भी कर्ता नहीं कह सकते; क्योंकि लक्षणानुसार तो कर्ता को कारकान्तर से अप्रयोज्य रहना चाहिए।

भवानन्द पूर्वपक्ष की ओर से 'अप्रयोज्य' का परिष्कार करते हैं कि फल के अनुकूल, कारकान्तर के रूप में लक्षित पदार्थ से उत्पन्न होनेवाले व्यापार का आश्रय न होना ही अप्रयोज्यता है, तब तो कुम्भकार भी कर्ता नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि दण्डादि कुम्भकार से भिन्न होने के कारण कारकान्तर है, उससे उत्पन्न होने वाले संयोगादिरूप व्यापार का आश्रय चक्रादि है, कुम्भकार नहीं। अतः व्यापार का अनाश्रय कुम्भकार अप्रयोज्य अर्थात् अकर्ता है। अप्रयोज्य का इसके अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ सम्भव नहीं दीखता, इसलिए उपर्युक्त कर्तृलक्षण अनुपपन्न है।

नागेशभट्ट भी परमलघुमंजूषा में इस लक्षणांश का उद्धरण देकर खण्डन करते हैं, किन्तु उनकी खण्डन-विधि दूसरे सिद्धान्त पर आश्रित है। वैयाकरण-मत में करणादि अचेतन पदार्थों को भी विवक्षा से मुख्य कर्तृसंज्ञा होती है। यदि कर्ता के उक्त लक्षण को स्वीकार कर लें तो 'स्थाली पचति' 'असिश्छिनत्ति' इत्यादि वाक्यों में स्थाली प्रभृति को कर्तृसंज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि अचेतन होने के कारण स्थाली दूसरे कारकों को प्रयोजित नहीं कर सकती है और दूसरी ओर, कारकान्तर (चैत्रादि मुख्य कर्ता) से प्रयोज्य भी है[१]।

जहाँ तक लक्षण के दूसरे भाग का प्रश्न है तो हम देखते हैं कि ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न का आधार होना नव्यन्याय में ही नहीं, दर्शन के सभी सम्प्रदायों में कर्ता का मान्य लक्षण है। इसी के बल पर ईश्वर या उस प्रकार की किसी चेतनशक्ति के द्वारा जगत् के निर्माण की भी उपपत्ति की गयी है। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त-परिभाषा में ब्रह्म के जगज्जन्मादिकारणत्व-रूप तटस्थ लक्षण का निरूपण करते हुए 'कारण' का अर्थ 'कर्ता' किया है तथा इससे अविद्यादि जड़-समूह की कारणता की व्यावृत्ति होने की बात कही है। इसी प्रसंग में कर्तृत्व का लक्षण हुआ है—'तत्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्' (विभिन्न उत्पाद्य वस्तुओं के उपादान कारणों से सम्बद्ध साक्षात् ज्ञान, उन्हें उत्पन्न करने की इच्छा तथा तद्विषयक कृति या प्रयत्न धारण करना कर्तृत्व है)[२]। यह दूसरी बात है कि इन लक्षणों से सम्पन्न ब्रह्म ईश्वर

१. प० ल० म०, पृ० १७०।
२. वे० प०, पृ० १५२।

कहलाता है। ज्ञान, इच्छा तथा कृति से युक्त ईश्वर की सत्ता के प्रमाण उपनिषद्-वाक्यों में दिखलाये गये हैं[1]।

नव्यन्याय में ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न को समन्वित करके कृति या प्रयत्न के रूप में संक्षिप्त किया गया है। इसका कारण यह है कि ये तीनों 'हेतूपनिबन्धन समुदाय' हैं—ज्ञान से इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा से कृति[2]। निषेध-मुख से भी इसे समझा जा सकता है, क्योंकि किसी विषय की इच्छा तब तक उत्पन्न नहीं होती जब तक उसका ज्ञान न हो और जब तक इच्छा नहीं होती तब तक उसके प्रति प्रयत्न भी उपपन्न नहीं होता। इन तीनों में अन्तिम स्थिति प्रयत्न की है, जिसे नैयायिक लोग 'कृति' भी कहते हैं। इस कृति में ही अन्य दोनों का समावेश हो जाता है, अतः इसे आधार मानकर न्याय में कर्ता के लक्षण का प्रवर्तन हुआ है।

भवानन्द

इसी आधार पर भवानन्द ने कारकचक्र में कर्ता का लक्षण दिया है—'अनुकूल-कृतिमत्त्वं कर्तृत्वम्' अर्थात् क्रिया के अनुकूल कृति को धारण करने वाला कर्ता है। अलग-अलग क्रियाओं के अनुकूल कृति भी अलग-अलग होती है। तदनुसार उन-उन क्रियाओं के कर्तृत्व का उपपादन होता है। इस लक्षण के समर्थन में भवानन्द कर्तृ शब्द का निर्वचन करते हुए योगार्थत्वसाधन करते हैं कि कृत तथा अकृत के विभाग द्वारा कृ-धातु की यत्नार्थकता सिद्ध होती है। स्पष्टीकरण यह है कि ओदन-पाक के साथ-साथ यदि अविच्छेद्यतया द्विदल का पाक भी हो रहा हो तो हम कहते हैं कि द्विदल का पाक तो अपने आप हो गया, मैंने नहीं किया (न मया कृतः)। ओदन-पाक में कृति लगी है, अतः कहते हैं कि मैंने ओदन का पाक किया है (कृतः), द्विदल का नहीं। अतएव यत्न होने पर कृत और नहीं होने पर अकृत—ऐसा विभाग किया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि कृ-धातु का प्रयोग प्रयत्न के ही अर्थ में होता है। दूसरी ओर तृच्-प्रत्यय आश्रयार्थक है। इस प्रकार कर्ता यत्नाश्रय का पर्याय है। यत्न की आश्रयता केवल चेतन में ही होती है, अतः मुख्य कर्तृत्व चेतन में तथा काष्ठादि अचेतन में गौण या लाक्षणिक कर्तृत्व मानने की प्रथा पूरे न्यायशास्त्र में है।

---

१. ज्ञानसत्ता—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'। —मुण्ड० १।१।९
इच्छासत्ता—'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय'। —तैत्ति० २।६
कृतिसत्ता—'तन्मनोऽकुरुत'। —बृह० १।२।१

२. (क) 'फलेच्छां प्रति फलज्ञानमात्रं कारणम्। सुखज्ञानेनैव सुखेच्छा उत्पद्यते'।
—न्या० सि० मु० (१४७ कारिका) की वृत्ति।

(ख) 'आत्मजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृतिः।
कृतिजन्या भवेच्चेष्टा चेष्टाजन्या भवेत्क्रिया'॥
—न्या० को, पृ० १३७ पर उद्धृत।

उपर्युक्त स्थिति में जहाँ अन्य-विषयक (जैसे ओदन-पाक से सम्बद्ध) कृति से नान्तरीयक (अविच्छेद्य) रूप से द्विदलपाकादि सम्पन्न होते हैं वहाँ द्विदलपाकादि के विषय में मुख्य कर्तृत्व की व्यवस्था नहीं हो पाती है, क्योंकि कर्ता तो ओदनपाक के अनुकूल कृति (यत्न) कर रहा है, द्विदल-पाक अपने आप हो रहा है। इसे भी गतार्थ करने के लिए 'साध्यत्व से अभिन्न विषयत्व' विशेषण का निवेश उपर्युक्त लक्षण में करने का परामर्श लक्षणकार देते हैं। तदनुसार जिस प्रकार ओदनपाक कृतिसाध्य है उसी प्रकार उस पाक से सम्बद्ध होने के कारण द्विदलपाक भी कृति-साध्य ही है। पिष्टक-भोजन करनेवाला व्यक्ति न केवल पिष्टक ही खाता है प्रत्युत उसके अन्दर भरे गये गुड़, दाल या अन्य पदार्थों को भी खा ही जाता है, क्योंकि अन्दर भरा गया पदार्थ पिष्टक से सम्बद्ध है। एक की कृतिसाध्यता दूसरे सम्बद्ध पदार्थ की कृतिसाध्यता उत्पन्न करती है।

यदि साध्यता के रूप में विषयता नहीं मानें तो 'भोजनं करोति' के समान 'सुखं करोति' का प्रयोग होने लगे। स्थिति यह है कि भोजन के अनुकूल कृति के उद्देश्य (विषय) के रूप में सुखादि विषय हैं, तथापि भोजनकर्ता को सुखकर्ता नहीं कह सकते[1]। ओदन और द्विदल के पाकों के समान भोजन और सुख नान्तरीयक है, उनमें विषयता-सम्बन्ध भी है; किन्तु भोजनकर्ता का तत्काल साध्य भोजन है, सुख नहीं। पाकों के कर्ता एक ही हैं, किन्तु इन दोनों के कर्ता एक नहीं हैं। इसी प्रकार यागादि कृति के उद्देश्य के रूप में वर्तमान स्वर्गादि विषय हैं, किन्तु यागकर्ता (यागं करोति) ही स्वर्ग का कर्ता (स्वर्गं करोति) नहीं। यागकर्ता के लिए याग साध्य है, स्वर्ग नहीं। इसलिए दोनों के कर्तृत्व भिन्ननिष्ठ हैं। मीमांसक यागकर्ता तो यजमान को मानते हैं, किन्तु स्वर्गकर्ता धर्मरूप अदृष्ट को कहते हैं (अदृष्ट स्वर्ग उत्पन्न करता है)। ऊपर के उदाहरण में भी भोजन करनेवाला व्यक्ति सुख उत्पन्न नहीं करता- दोनों के कर्ता अलग हैं।

गदाधर

गदाधर भी व्युत्पत्तिवाद में चेतन पदार्थों का मुख्य कर्तृत्व तथा अचेतन का गौण कर्तृत्व मानते हुए[2] भवानन्द की मान्यताओं का पोषण करते हैं। विभक्ति तथा आख्यातविषयक आनुषंगिक प्रश्नों का समाधान करते हुए वे अचेतन के कर्तृत्व का विवेचन करते हैं। कृ-धातु की यत्नवाचकता होने से प्रयत्नवान् पदार्थ को ही कर्ता कहा जा सकता है, तथापि काष्ठादि अचेतन पदार्थों की स्वतंत्र रूप से विवक्षा होने पर उनका कर्तृत्व सूपपाद्य होता है। स्वतंत्र-शब्द के परिष्कार में गदाधर प्राचीन पद्धति

१. 'विषयत्वं च साध्यत्वेन बोध्यम्। तेन भोजनकृतेरुद्देश्यत्वेन सुखादिविषयकत्वेऽपि तत्कर्तुर्न सुखकर्तृत्वम्'। —कारकचक्र, पृ० १६

२. 'कर्तृत्वं च मुख्यं क्रियानुकूलकृतिरेव'। एवं 'कर्तृपदमपि व्यापारादिमत्यचेतनादौ भाक्तमेव। अचेतनादौ स्वरसतः कर्तृपदाप्रयोगात्'।—व्युत्पत्तिवाद, पृ० २१०, २१४।

का ईषत् नवीन संस्करण प्रस्तुत करते हैं—'स्वतन्त्रत्वं च कारकान्तरव्यापारानधीन-व्यापारवत्त्वे सति कारकत्वम्' (व्यु० वा०, पृ० २१५)। स्वतंत्र उस प्रकार के व्यापार से युक्त कारक है जो दूसरे कारकों के व्यापार के अधीन न हो[1]। काष्ठ में व्यापार है जो पुरुष के व्यापार के अधीन क्रिया के अनुकूल है, किसी दूसरे के व्यापार के अधीन क्रिया के अनुकूल नहीं। अतएव काष्ठ की स्वतन्त्रता सिद्ध होती है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। काष्ठ में लक्षित कर्तृत्व की सिद्धि के लिए कारकान्तर का अर्थ 'कर्तृभिन्न कर्मादि कारक' है। यदि 'काष्ठभिन्न कारकान्तर' अर्थ लेंगे तो कर्तृभूत पुरुष भी इसमें पदार्पण करेगा और उसके व्यापार के अधीन काष्ठ-व्यापार होने से काष्ठ को कर्तृत्व नहीं हो सकेगा। गदाधर के अनुसार उक्त लक्षण में 'अनधीन'-पर्यन्त जो शब्द समूह लगाये गये हैं उनका फल यही है कि 'चैत्रः काष्ठैः स्थाल्यां पचति' के स्थल में केवल चैत्र को ही कर्तृत्व हो सकता है। उसकी उपस्थिति में दूसरे किसी को कर्तृत्व नहीं हो सकता।

नव्यव्याकरण तथा कर्तृत्व-लक्षण

नव्यन्याय में जिस प्रकार कृत्याश्रय के आधार पर कर्तृलक्षण किया गया है उसी प्रकार नव्यव्याकरण में 'व्यापार के आश्रय' के चारों ओर यह लक्षण घूमता है। भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट तथा नागेश—इन तीनों प्रख्यात वैयाकरणों की इस केन्द्रीभूत लक्षण में सहमति है।

भट्टोजिदीक्षित अपनी सिद्धान्तकारिका (सं० २४) में आश्रय को कर्तृविभक्ति का अर्थ मानते हुए शब्दकौस्तुभ में यह स्वीकार करते हैं कि क्रिया में स्वतन्त्र-रूप से विवक्षित पदार्थ कर्ता है। अब यह जिज्ञासा होती है कि यह स्वतन्त्रता क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है—'धातूपात्तव्यापाराश्रयत्वं स्वातन्त्र्यम्'[2]। किसी धातु के द्वारा जिस व्यापार का ग्रहण (उपादान) किया जाता हो उसी व्यापार का आश्रय होना उस धातु से सम्बद्ध क्रिया की निष्पत्ति करने में कर्ता की स्वतन्त्रता है। कर्तृ-लक्षण में नव्यवैयाकरण प्रायः कर्ता को लक्षित न कर 'स्वतन्त्र' को परिष्कृत करते हैं, क्योंकि स्वतन्त्र-रूप कर्तृलक्षण का परिष्कार करने से लक्ष्य तथा लक्षण दोनों की व्याख्या हो जाती है। दीक्षित के द्वारा अन्यत्र किया गया स्वातन्त्र्य-परिष्कार इस प्रकार है—'प्रधानीभूतधात्वर्थ प्रत्याश्रयत्वं स्वातन्त्र्यम्'[3]। धातु के प्रधान अर्थ का आश्रय होना स्वातन्त्र्य है। दीक्षित के मत में यहाँ धातु के प्रधान अर्थ से व्यापार

---

१. 'क्रिया क्वापि न कर्तृविनाकृतेति कारकान्तराणां कर्तृसापेक्षत्वनियमः। कर्तु-श्रापादानादिविनाकृताया अपि सम्बन्ध इति न कारकान्तरापेक्षानियमः'।

—विभक्त्यर्थविचार, पृ० १९४

२. श० कौ० भाग २, पृ० १३९।

३. प्रौढमनोरमा, पृ० ५०६।

अभिप्रेत है, क्योंकि सिद्धान्तकारिका में उन्होंने व्यापार की प्रधानता निरूपित की है[१]। अतएव **धातु का प्रधान अर्थ** या **उसके द्वारा उपात्त व्यापार** एक ही है—किसी के आश्रय के रूप में 'स्वतन्त्र' का लक्षण करना एक ही बात है। इस स्थान पर भर्तृहरि के नाम से एक कारिकांश का उद्धरण दीक्षित के ग्रन्थों में, वैयाकरणभूषण में तथा परमलघुमंजूषा में दिया गया है—

'धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते'।[२]

उसे उपजीव्य मानकर दीक्षित ने जो स्वतन्त्र (कर्ता) का लक्षण किया है वह सर्वथा उचित ही है।

भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट तथा नागेश का योगदान

भट्टोजिदीक्षित का अभिमत यह है कि नैयायिक लोग जिस प्रकार गौण और मुख्य के रूप में कर्तृभेद मानकर 'देवदत्तः पचति' तथा 'स्थाली पचति' में पार्थक्य की व्यवस्था करते हैं वैसी बात वस्तुतः नहीं है। स्वतन्त्र रूप में अर्थात् धात्वर्थ-व्यापार के आश्रय के रूप में जिसकी भी स्थिति हो जाय—इसमें वक्ता की इच्छा प्रधान नियामक होती है[३]—वह कर्ता है। अन्न के पाक के समय उसकी विक्लित्ति के पूर्व अनेकानेक व्यापार काष्ठ, स्थाली आदि को भी विवक्षा से दे सकते हैं। अतएव इनमें भी कर्तृत्व होता है, अन्यथा प्रथमा (काष्ठानि पचन्ति) या तृतीया (काष्ठैः पच्यते) कर्तृमूलक विभक्तियाँ इनमें नहीं होती।

दीक्षित के 'प्रधानीभूतधात्वर्थाश्रयत्वं स्वातन्त्र्यम्' के विरोध में शंका हो सकती है। 'देवदत्तेनौदनः पच्यते' इस कर्मवाच्य वाले प्रयोग में कर्म की प्रधानता होने से वैयाकरण-मत में फलमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकार किया जाता है, क्योंकि लकार सीधा कर्म का अभिधान करता है। फलतः देवदत्त में वर्तमान धात्वर्थव्यापार कर्ता के द्वारा व्याप्त नहीं हो सकेगा। इस दोष के निराकरणार्थ शब्दरत्नकार हरिदीक्षित तथा नागेश स्वातंत्र्य-परिष्कार में 'कर्तृप्रत्यय के सहोच्चारण की स्थिति में' इतना विशेषण लगा देते हैं[४]। इस विशेषण के जोड़ने से यह स्थिति आ जाती है कि अब-

---

१. 'फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्'॥ —भूषणकारिका २

२. यह वास्तव में श्लोकवार्तिक ७१वीं कारिका का उत्तरार्ध है। गुरुपद हाल्दार इसे इस प्रकार पूरा करते हैं—'व्यापारे च प्रधानत्वात्स्वतन्त्र इति चोच्यते'।

३. (तुलनीय—सि० कौ०) 'क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्'।

४. (क) 'प्राधान्यं च कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपित-प्रकारतानाश्रयधात्वर्थत्वम्'। —शब्दरत्न, पृ० ५०६

(ख) "कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे इत्यनेन 'पक्वस्तण्डुलो देवदत्तेन' इत्यादौ फलस्य विशेष्यत्वेऽपि देवदत्तस्य कर्तृत्वसिद्धिः"। —ल० म०, पृ० १२४२

कर्तृवाचक प्रत्यय का सहोच्चारण धातु के साथ हो (जैसे--पठति, पचति, पाठकः, पक्ता इत्यादि) तभी धात्वर्थ व्यापार का आश्रय कर्ता कहलाता है। 'देवदत्तः पचति' में कर्तृवाचक प्रत्यय (तिप्) धातु के साथ उच्चरित है, अतः विक्लेदनानुकूल व्यापार का आश्रय देवदत्त कर्ता है।

यह परिष्कार हमें अन्योन्याश्रय में डाल देता है, क्योंकि कर्तृप्रत्यय का बोध कर्ता के आधार पर और कर्ता का बोध कर्तृवाचक प्रत्यय के आधार पर होगा। परन्तु हरिदीक्षित का यह आशय नहीं है कि सर्वत्र कर्तृप्रत्यय के समभिव्याहार के आधार पर ही कर्ता का निरूपण हो। यह विशेषण तो वास्तव में कर्म के अभिधान की दशा में उसमें कर्तृत्व के वारणार्थ है कि कर्मप्रत्यय हटाकर कर्तृप्रत्यय लगाकर देख लें कि प्रधान धात्वर्थ का आश्रय कौन है ? तदनुसार यदि वह अनभिहित हो तब भी कर्तृत्व-शक्ति से युक्त तो है ही।

कौण्डभट्ट भट्टोजिदीक्षित की मान्यता स्वीकार करते हैं कि धातु के द्वारा उपात्त व्यापार को धारण करनेवाला स्वतंत्र (कर्ता) कहलाता है। इसीलिए जब स्थाली आदि अचेतन के व्यापार भी धातु के द्वारा अभिहित होते हैं तब उन्हें भी कर्तृत्व-शक्ति प्राप्त होती है। यहाँ भी उपर्युक्त 'कर्तृ-प्रत्यय-समभिव्याहार' विशेषण लगाना आवश्यक है। यद्यपि भट्टोजिदीक्षित के समान भूषणकार भी इस विषय में मौन हैं; किन्तु इस सत्य की उपेक्षा उनके टीकाकार नहीं कर पाते कि उसके अभाव में कर्म-वाच्यगत धातु के द्वारा अनभिहित होने के कारण देवदत्तादि को कर्तृत्व नहीं प्राप्त हो सकता[१]।

कौण्डभट्ट इस स्थल में एक अन्य महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन करते हैं। एक ही वस्तु बुद्धि के अवस्था-भेद या विवक्षा के कारण कर्ता, कर्म और करण भी हो सकती है तथा धातु द्वारा (कर्तृवाच्य के उदाहरणों में) किसी के व्यापार का अभिधान होने पर उसे कर्ता कहा जा सकता है। दूसरी ओर, ब्रह्मसूत्र के 'कर्मकर्तृ-व्यपदेशाच्च' (१।२।४) इस सूत्र के अन्तर्गत 'एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि' (छा० उ० ३।१४।४—इस शरीर से मुक्त होने पर मैं उस परमात्मा को प्राप्त करूँगा)—इस वाक्य में व्यास का निर्णय है कि 'मनोमयः प्राणशरीरः' में निर्दिष्ट मनोमयादि गुण आत्मा (या ब्रह्म) के नहीं अर्थात् ब्रह्म उस स्वरूप का नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त वाक्य में आत्मा को प्राप्ति का कर्म कहा गया है (एतम्) और उसे प्राप्ति-क्रिया का कर्ता भी कहा गया है। 'एतम्' के द्वारा उसका प्राप्य होना तथा 'अभिसम्भवितास्मि' के द्वारा उसका प्रापक होना निर्दिष्ट किया गया है। इति या भेद के बिना कर्ता तथा कर्म का उक्त रूप में व्यपदेश करना सम्भव नहीं, अतः दोनों

---

१. 'पक्वस्तण्डुलो देवदत्तेनेत्यत्र व्यापारस्य फलं प्रति विशेषणत्वाद् देवदत्तस्य कर्तृत्वानापत्तिरिति कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहार इति'। (द्रष्टव्य दर्पणटीका भी, पृ० १५४) —वै० भू० सा० काशिका, पृ० १७५

में विरोध है; जिससे सिद्ध होता है कि मनोमयत्वादि गुण से विशिष्ट जीव उपासक है, उपास्य नहीं[१]। तात्पर्य यह हुआ कि व्यास के निर्णयानुसार एक ही वस्तु को कर्म तथा कर्ता नहीं कहा जा सकता, जब कि वैयाकरणों के मत से यह संभव है। इस प्रकार व्यास के निर्णय का विरोध होता है।

इसके अतिरिक्त जगत्कारण ब्रह्म को शरीर से अधिक (ऊपर) दिखलाने के लिए 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' (बृ० उप० २।४।५) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में कर्तृत्व तथा कर्मत्व के भेद को आधार माना गया है। 'भेदव्यपदेशात्' (ब्र० सू० १।३।५) सूत्र में कहा गया है कि प्राणधारी मुमुक्षु तथा पृथ्वी-स्वर्गादि के आयतन स्वरूप प्राप्य या ज्ञेयभाव का उपदेश (तमेवैकं जानथात्मानम्) होने से भेद की व्यवस्था होती है। ऐसी स्थिति में वैयाकरण-मत किस प्रकार ग्राह्य हो सकता है ?

इस पर कौण्डभट्ट समाधान देते हैं कि वैयाकरण-मत तथा वेदान्त के उक्त निर्णय में कोई विरोध नहीं है। तथ्य यह है कि जीव में ही कर्तृत्व तथा कर्मत्व दोनों है। जब वह ज्ञेय या प्राप्य कहलाता है तब उसमें कर्मत्व की व्यवस्था होती है और जब आख्यात के द्वारा उसका अभिधान होता है (धातुनोक्तक्रिये कारके) तब वह कर्ता भी होता है। वैयाकरणों का यह सिद्धान्त नहीं कि किसी पदार्थ को विवक्षा से युगपत् (एक ही साथ) कर्तृत्व तथा कर्मत्व दोनों की प्राप्ति हो जायगी। ऐसा मानने पर 'विप्रतिषेध-परिभाषा' प्रक्रान्त होगी तथा परवर्तिनी कर्तृसंज्ञा कर्मसंज्ञा को रोक देगी। तब तो 'एतम्' में द्वितीया-विभक्ति होती ही नहीं। अतएव बुद्धि की अवस्थाओं के द्वारा भेद-कल्पना करके एक ही पदार्थ को पृथक्-पृथक् शब्दों की सहायता से विभिन्न कारकों में रखा जाता है। इस पृथक् शब्द-व्यवस्था के कारण परवर्तिनी संज्ञा के द्वारा किसी पूर्ववर्तिनी संज्ञा के बाध का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी से 'आत्मानमात्मना हन्ति' तथा 'एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि' इत्यादि वाक्यों की व्यवस्था होती है। निष्कर्षतः जीव के बोधक शब्द तथा परमात्मा के बोधक शब्द में जो विरोध है वही उन दोनों में भेद का कारण है[२]। भेद के व्यपदेश या निर्देश का यही रहस्य है। वास्तविक (पारमार्थिक) भेद नहीं होने पर भी शाब्दिक विरोध या भेद तो है ही।

इस प्रसंग में भामती तथा कल्पतरु में किये गये कर्तृत्व के उपपादन का भी उद्धरण कौण्डभट्ट देते हैं। दोनों ही स्थानों में 'घटो भवति' में घट के कर्तृत्व की सिद्धि में कहा गया है कि घटगत व्यापार धातु के द्वारा उपात्त है, अतः कर्ता का यह लक्षण उस पर अच्छी तरह घट जाता है—'धातूपात्तव्यापाराश्रयः कर्ता'[३]। गिरिधर

---

१. द्रष्टव्य—उक्त सूत्र पर शांकरभाष्य—'तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव'।

२. 'शब्दविरोधद्वारा स भेदहेतुः'। —वै० भू०, पृ० १०७

३. वै० भू०, पृ० १०७।

भट्टाचार्य ने भी अपने विभक्त्यर्थ-निर्णय (पृ० १३६-७) में इस विषय का विवेचन किया है ।

वैयाकरणभूषण में नव्यन्याय के कर्तृलक्षण का अनुवाद करके खण्डन किया गया है । नैयायिकों के अनुसार कर्ता कृति का आश्रय है, जिसका समर्थन योगार्थ के बल से होता है (कृ=कृति, तृच्=आश्रय) । आश्रयांश की प्राप्ति इस प्रकार कर्तृभूत देवदत्तादि अर्थात् प्रकृति से हो जाने के कारण वे लोग कृति को कर्तृतृतीया का अर्थ मानते हैं, जो वैयाकरणों के 'आश्रयः तृतीयार्थः' इस मत के विपरीत है । कौण्डभट्ट तथा नागेश अपने धात्वर्थ-विवेचन के अवसर पर मान्यता देते हैं कि कृति भी धातुलभ्य ही है । यदि कृति को तृतीयार्थ माना जाय तो 'रथेन गम्यते' यहाँ अचेतन रथ की स्थिति में कृति की व्यवस्था कठिन हो जायगी । नागेश कहते हैं[1] कि यदि यहाँ अचेतन में लक्षणा का आश्रय लें तो यह अनुचित है, अतः आश्रयार्थ में लक्षणा ठीक नहीं । अन्तिम बात यह है कि कृ-धातु का अर्थ केवल कृति ही नहीं है । कृति का अर्थ यत्न है, जिससे कृ-धातु के अकर्मक होने का प्रसंग होगा[2] ।

इस स्थान में यह ज्ञातव्य है कि कुछ लोग धात्वर्थ की सत्ता चेतनमात्र में मानते हैं । अचेतन पदार्थों में दो प्रकार से कर्तृत्व व्यवस्थित हो सकता है—(१) चेतनता का आरोप करके या (२) चेतननिष्ठ क्रिया का आरोप करके । इसका विवेचन यास्क (निरुक्त ७।७) तथा पतंजलि (महाभाष्य, ४।१।२७) ने भी किया है । नैयायिक लोग अचेतन में गौण कर्तृत्व स्वीकार करते हैं, किन्तु वैयाकरणों को इसमें गौणता मानने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि धातु के द्वारा उपात्त व्यापार का आश्रय कर्ता होता है । दूसरी ओर नैयायिक कृति के आश्रय के रूप में कर्तृलक्षण स्वीकार करते हैं, जिससे अचेतन के कर्तृत्व में लक्षणा के बिना काम नहीं चलता । कृति एक प्रवृत्ति या प्रयत्न है, जो चेतन में ही सम्भव है । दूसरी ओर, व्यापार उन अवयवभूत क्रियाओं को कहते हैं जो पूर्वापर के क्रम से एक ही क्रिया में उत्पन्न होती है; जैसे—'पचति' में अधःसन्तापन, फूत्कार, ओदन-धारण इत्यादि । इनमें से किसी भी व्यापार का निर्देश धातु के द्वारा विवक्षित हो सकता है और वैसी स्थिति में तत्तद् व्यापारों को धारण करने के कारण अचेतन को भी कर्ता कहा जा सकता है, जिसमें गौण और मुख्य के भेद का प्रश्न ही नहीं ।

नागेश ने लघुमंजूषा में तृतीया-विभक्ति का विवेचन करते हुए 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' सूत्र का उद्धरण देकर कर्ता तथा करण इन दोनों कारकों का पूर्वापर-क्रम से निरूपण किया है । यही दशा उनके लघुशब्देन्दुशेखर की भी है । मंजूषा में निरूपित कर्तृशक्ति का सविस्तर परिष्कार इस प्रकार है—'सा शक्तिश्च कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे

---

१. ल० म०, पृ० १२४४

२. 'व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया ।
कृञोऽकर्मकतापत्तेर्न हि यत्नोऽर्थ इष्यते' ॥ —वै० भू० कारिका ४

व्यापारतावच्छेदकसम्बन्धेन तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यता-निरूपित-प्रकारतानाश्रय-तद्धात्वर्थाश्रये वर्तते'[1]। इसके आगे नागेश कहते हैं कि उक्त रूप में किसी धात्वर्थ का आश्रय होना स्वातन्त्र्य या कर्तृत्व है। इस परिष्कार में तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) किसी विशेषण, प्रकारादि से रहित विशुद्ध धात्वर्थ का आश्रय होने से ही स्वातन्त्र्य का उपभोग कोई कर सकता है, जिसमें चेतन-अचेतन का भेद-भाव बिलकुल नहीं रहता।। इस दृष्टि से नागेश पतंजलि के घोर समर्थक हैं, जिनके अनुसार स्थाली में स्थित यत्न का कथन यदि पच्-धातु के द्वारा हो रहा हो तो स्थाली भी स्वतन्त्र है ('स्थालीस्थे यत्ने पचिना कथ्यमाने स्थाली स्वतन्त्रता')। इस प्रकार धातु के द्वारा व्यापार का अभिधान होना स्वातन्त्र्य का लक्षण है, जिसे प्रकारान्तर से धातु के अर्थ (व्यापार) का आश्रय भी कहा जाता है। किसी वस्तु के अभिधान (प्राधान्य-द्योतन) के कई साधन व्याकरण में पाये जाते हैं (जैसे—तिङ्, कृत्, तद्धित, समास तथा निपात), जिनका निरूपण हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। 'स्थाली पचति, रामो गच्छति' आदि में धातु तिङ् प्रत्यय के माध्यम से स्थाली, रामादि को अभिहित करता है, अतः उसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण है।

(२) **व्यापारतावच्छेदक सम्बन्ध**—धात्वर्थ का आश्रय कोई पदार्थ कई प्रकारों या सम्बन्धों से होता है; जैसे कालिक, दैशिक आदि सम्बन्ध। कोई क्रिया किसी काल या देश में ही घटती है, अतः धात्वर्थ का आश्रय काल या देश भी होने के कारण उनके कर्तृत्व की आपत्ति हो जायगी ('कालो हि जगदाधारः कालाधारो न कश्चन')। प्रकृत विशेषण इस आपत्ति का वारण करता है, क्योंकि केवल व्यापार-सम्बन्ध के आधार पर ही धात्वर्थ का आश्रय कर्ता होता है, कालिकादि सम्बन्धों के आधार पर नहीं। 'घटो भवति' में घट का व्यापार है, काल के व्यापार का निर्देश बिलकुल नहीं है कि वह कर्ता हो सके। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काल के व्यापार का निर्देश किया जाने पर उसके कर्ता होने में आपत्ति नहीं; जैसे—'कालः पचति भूतानि'। किन्तु ऐसा शब्दतः निर्देश होना चाहिए।

स्वातन्त्र्य के लक्षण में प्रयुक्त यह विशेषण एक अन्य शंका का भी समाधान करता है। प्रायः यह धारणा देखी जाती है कि जब क्रिया सामग्री के द्वारा निष्पन्न की जाती है तब प्रत्येक साधन की ही अपने-अपने व्यापार में स्वतन्त्रता होती है। इसलिए 'स्वतन्त्रः कर्ता' सूत्र में स्वतन्त्र शब्द अनन्य रूप से कर्ता का ही लक्षण है—यह मानना युक्तियुक्त नहीं। किन्तु व्यापारतावच्छेदक सम्बन्ध से जब हम धात्वर्थाश्रय को स्वतन्त्र कहते हैं तब एक बार में किसी एक पदार्थ को ही स्वतन्त्र कहा जा सकता है, क्योंकि धातु के द्वारा उसी पदार्थ का व्यापार व्याप्त हो सकता है—युगपत् सभी साधनों के व्यापार व्याप्त नहीं होंगे। जिस साधन के व्यापार को अभिहित किया

---

१. ल० म०, पृ० १२४२।

जायगा उसे कर्ता कहने में आपत्ति नहीं होती। हम देख चुके हैं कि पतञ्जलि ने इसे राजा और अमात्य का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है[1]।

(३) किन्तु उपर्युक्त सभी स्थितियों के होने पर भी स्वातन्त्र्य की सत्ता तभी होती है जब कर्तृप्रत्यय का प्रयोग हो। कर्म तथा भाववाच्यों में कर्तृत्व का निर्णय उनके कल्पित कर्तृवाच्य में धातुव्यापार से अवच्छिन्न पदार्थ को देखकर होता है। ऐसा इसलिए करना पड़ता है कि कर्मवाच्य के फलमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध में भी कर्तृत्व की सिद्धि हो सके। हम यह देख चुके हैं कि इस विशेषण (कर्तृप्रत्यय-समभिव्याहार) का सुझाव हरिदीक्षित के शब्दरत्न में दिया गया है, जिसे नागेश ने भी अपने सम्बद्ध ग्रन्थों में ग्रहण किया है।

नागेश आगे चलकर बतलाते हैं कि यह कर्तृत्व-शक्ति उसी पदार्थ में निवास करती है जिसमें सम्बद्ध धात्वर्थ की कृति तथा व्यापार दोनों आश्रित होते हैं। नैयायिक लोग जो केवल कृति की आश्रयता में कर्तृत्व मान लेते हैं—वह ठीक नहीं है, क्योंकि गुरुतर भार के ऊपर उठाने में केवल कृति (प्रयत्न) की सिद्धि तथा सम्बद्ध व्यापार की असिद्धि होने से कर्तृत्व-व्यवहार नहीं होता। नैयायिक लोग यहाँ कर्तृत्व-व्यवहार के अभाव के लिए सफाई देते हैं कि यहाँ यत्न के होने का कोई प्रमाण नहीं[2]। किन्तु भवानन्द के अनुसार इसमें तद्विषयक कृति होने पर भी क्रिया की अनिष्पत्ति के ही कारण कर्तृत्व-व्यवहार नहीं होता[3]। तदनुसार 'तत्तत्क्रियानुकूल-कृति को धारण करनेवाले को' स्वतन्त्र मानना पड़ता है। नागेश इसे ही कृति तथा व्यापार—दोनों का आश्रय कहते हैं।

धात्वर्थ की कृति का विषय उससे साध्य फल को कहते हैं, इसलिए साध्यत्व के रूप में विद्यमान विषयता कृति में ही रहती है। इसके फलस्वरूप भवानन्द के प्रकरण में उद्धृत 'मत्तो भूतं, न तु मया कृतम्' (मुझसे यह कार्य हो गया, किया नहीं गया) सिद्ध प्रयोग नहीं रह जाता, क्योंकि जो कार्य यहाँ साध्य होता है वह कृति का विषय नहीं। यह आनुषंगिक स्थिति है कि दूसरे विषय की कृति थी और उसके साथ-साथ दूसरे विषय का कार्य भी सम्पन्न हो गया। भात पकाने की कृति से दाल भी पक गयी। इसमें ऐसा नहीं कह सकते कि दाल पक गयी, मैंने नहीं पकायी। दाल के पकाने का कर्तृत्व भात पकानेवाले में नहीं देखा जा सकता। इसीलिए जो व्यक्ति पीठे में भरी हुई शर्करा (जब कि दोनों क्रियाएँ अविच्छेद्य कृति से साध्य हैं) का भक्षण कर रहा है, शर्कराभक्षण का कर्ता नहीं हो सकता। कुछ लोग जो यह समझते हैं कि

---

१. "एतेन सामग्रीसाध्यायां क्रियायां सर्वेषां स्वस्वव्यापारे स्वातन्त्र्यात् सूत्रे 'स्वतन्त्रः' इत्यव्यावर्तकमित्यपास्तम्। प्रागुक्तस्वातन्त्र्यस्य युगपत्सर्वेष्वभावात्"।
—ल० म०, पृ० १२४२

२. ल० म०, पृ० १२४३।

३. कारकचक्र, पृ० १६।

कृति व्यापार से भिन्न नहीं है (व्यापार-विशेष ही कृति है), उनका खण्डन इस विवेचन से हो जाता है। वास्तव में कृति और व्यापार दोनों भिन्न पदार्थ हैं। अथवा यह कहा जा सकता है कि कृति आन्तरिक चेष्टा-विशेष का नाम है, जब कि व्यापार बाह्य चेष्टा है। व्यापार का ज्ञान तो धातु से होता ही है, कृति भी धातुलभ्य है (नैयायिक कृति को तृतीयार्थ समझते हैं)। किन्तु केवल कृति ही धात्वर्थ हो तो सभी धातुओं को अकर्मक मानना पड़ेगा—यह निरूपित किया गया है।

स्वातन्त्र्य का परिष्कृत लक्षण पतञ्जलि के प्रामाण्य पर नागेश ने दो प्रकार से किया है—

(१) 'तद्धात्वर्थीयकारकचक्रप्रयोक्तृत्वं स्वातन्त्र्यम्'। धात्वर्थ-विशेष से सम्बद्ध कर्मादि कारकों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करनेवाला स्वतन्त्र कर्ता है।

(२) 'स्वेच्छाधीनप्रवृत्तिनिवृत्तिकत्वं स्वातन्त्र्यम्'। स्वतन्त्र वह है जो अपनी इच्छा के अनुसार क्रिया की निष्पत्ति में प्रवृत्त या निवृत्त हो। उक्त प्रकार की स्वतन्त्रता का उपयोग प्रयोज्य प्रयोजक के समक्ष रहने पर भी करता है, क्योंकि अपने व्यक्तित्व को अक्षुण्ण रखकर वह स्वार्थ होने पर प्रवृत्त होता है, स्वार्थ नहीं होने पर नहीं[१]।

उक्त स्वतन्त्रता भी आरोपित तथा अनारोपित के रूप में दो प्रकार की होती है; स्थाली में आरोपित स्वातन्त्र्य है तो पुरुष में अनारोपित। शब्दशक्ति का स्वभाव ही है कि जिसमें वक्ता स्वातन्त्र्य की विवक्षा करता है उसी का व्यापार धातु के द्वारा अभिहित होता है, प्रधानतया प्रकाशित होता है। इसलिए जहाँ पतञ्जलि कहते हैं कि स्थाली स्वतन्त्र है वहाँ उनका अभिप्राय समझना चाहिए कि स्थाली आरोपित स्वातन्त्र्य से युक्त है। कारण यह है कि जब तक स्वातन्त्र्य आरोपित नहीं होता, तब तक स्थाली के व्यापार में धातु प्रधानतया प्रवृत्त नहीं हो सकता, उसके व्यापार को प्रकाशित नहीं कर सकता।

नागेश अपने पूर्वाचार्यों (दीक्षित, कौण्डभट्ट) के स्वातन्त्र्य-परिष्कार का खण्डन करना भी आवश्यक समझते हैं। प्रधान धात्वर्थ-व्यापार के आश्रय को स्वतन्त्र मानने वाले वे आचार्य नागेश के अनुसार यह नहीं देखते कि कोश या व्याकरण से 'स्वतन्त्र' शब्द का उक्त अर्थ प्रकट नहीं होता। लोक में उपर्युक्त दोनों अर्थों में ही स्वतन्त्र-पद का व्यवहार दिखलायी पड़ता है। इस प्रकार पतञ्जलि तथा नागेश लोक-प्रामाण्य पर स्वतन्त्र की प्रतिष्ठा करते हैं, क्योंकि 'स्वतन्त्र' पाणिनि के अनुसार कोई संज्ञा नहीं कि कृत्रिम हो तथा लोकप्रयोग से भिन्न शास्त्रीय दृष्टिमात्र से स्वीकृत हो। 'स्वतन्त्रः कर्ता' कहते हुए पाणिनि यह मानकर चलते हैं कि स्वतन्त्र का अर्थ सभी जानते हैं, लोकप्रयुक्त स्वतन्त्र-शब्द ही लक्षण में गृहीत हुआ है। संसार में उसे ही स्वतन्त्र कहते हैं जो अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करे, चाहे प्रवृत्त हो चाहे

---

१. ल० म०, पृ० १२४४-५।

निवृत्त हो। प्रयोज्य की स्वतन्त्रता का निरूपण करते हुए पतञ्जलि इसका विधिवत् विश्लेषण कर चुके हैं।

प्रयोजक और प्रयोज्य

दीक्षितादि प्राचीन वैयाकरणों का (संभवतः गुरु-परम्परा से आगत) मत नागेश उद्धृत करते हैं कि स्वतन्त्ररूप से अभिमत पदार्थ साक्षात् या परम्परा से धात्वर्थ का आश्रय होता है। प्रयोजक कर्ता तो साक्षात् आश्रय नहीं होता, अतः उसके लिए परम्परा की विधि अनिवार्य है। एक प्रयोग है—'पञ्चभिर्हलैः कर्षति' (पाँच हलों से खेत जोतता है)। पाँच हलों को चलानेवाले पाँच व्यक्ति होंगे जिन्हें कोई बड़ा किसान (प्रयोजक) प्रेरित करता है। यहाँ हल जोतने वाले (कर्षक) में स्थित विलेखन-व्यापार के आश्रयरूप कर्षकों को प्रयोजित करनेवाले भू-स्वामी में परम्परा से धात्वर्थ-व्यापार की आश्रयता है। यदि 'परम्परा'-सम्बन्ध स्वीकार नहीं करें तो प्रयोज्य का व्यापार धात्वर्थ हो जायगा, जिसके आश्रय एक नहीं, पाँच हैं; अतः बहु-वचन-क्रिया की आपत्ति होगी। यदि प्रयोजक-व्यापार को साक्षात् धातुवाच्य (धात्वर्थ) मानें तो णिच्-प्रत्यय (हेतुमति च) की आपत्ति होगी। इसलिए 'परम्परया' सम्बन्ध अनिवार्य है। प्राचीन वैयाकरण अन्तर्भावितण्यर्थ का भी यही अर्थ स्वीकार करते हैं कि जहाँ परम्परा से प्रयोजक का व्यापार धातुवाच्य हो रहा हो (वहाँ ण्यर्थ अन्तर्भूत—छिपा हुआ है)।

यह पूरा विवेचन नागेश को अमान्य है, किन्तु वे अन्तर्भावितण्यर्थ का विशेष रूप से विचार करते हैं। परम्परा से प्रयोजक का व्यापार धातुवाच्य होने पर सर्वत्र णिच् का प्रयोग अपेक्षित है, किन्तु यदि वह किसी कारण से अप्रयुक्त रह गया हो तो इष्ट-सिद्धि के लिए णिजर्थ का अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए। उदाहरणार्थ 'राजनि युधि कृञः' (पा० सू० ३।२।९५) में कहा गया है कि राजन्-शब्द कर्म के रूप में उपपद में रहे तो युध् तथा कृ धातुओं से क्वनिप्-प्रत्यय होता है। अब समस्या यह है कि युध्-धातु तो अकर्मक है तब राजा उसका कर्म कैसे होगा? जयादित्य उत्तर देते हैं—'अन्तर्भावितण्यर्थः सकर्मको भवति' (काशिका, पृ० १८५)। तदनुसार युध्-धातु में णिजर्थ का अन्तर्भाव मान लेने पर सकर्मकता आ जायेगी और 'राजयुध्वा' (राजानं योधितवान्) शब्द निष्पन्न हो सकेगा। किन्तु यदि स्वैरवृत्ति से हम जहाँ-तहाँ इस अन्तर्भावितण्यर्थ का उपयोग करने लगें तो अकर्मक क्रिया की सत्ता लुप्त हो जायेगी। नागेश का निर्णय है कि णिच् के अभाव में भी उसका अर्थ व्यक्त हो रहा हो तभी इस शस्त्र का उपयोग होता है—धातु की इस प्रकार की वृत्ति वास्तव में होती है, इसमें सन्देह नहीं[1]।

---

१. 'तस्माद् धातूनामनेकार्थत्वात् ण्यर्थान्तर्भावेणापि धातोर्वृत्तिः। परन्तु यत्र णिचोऽभावेऽपि तदर्थद्योतकमस्ति, तत्रैव। यथा प्रकृते पञ्चभिर्हलैरिति'।

—ल० म०, पृ० १२४९

णिजर्थ का अन्तर्भाव यदि सकर्मक क्रिया में हुआ (जैसा कि उक्त 'पञ्चभिर्हलैः कर्षति' में किया जाता है) और द्वितीय कर्म ('भूमिं कर्षति' में भूमि) से रहित प्रयोग दिखलायी पड़े तो प्रयोजक के व्यापार को ही धात्वर्थ (धातुवाच्य) मानकर समाधान करना चाहिए। इसकी पुष्टि ब्रह्मसूत्र (२।४।२०) के शांकरभाष्य से होती है। शंकर लौकिक प्रयोग देते हैं—'चारेणाहं परसैन्यमनुप्रविश्य सङ्कलयानि' (गुप्तचर के द्वारा शत्रुसेना के भीतर घुसकर मैं उस सेना की गतिविधि जान लूँ)। यह राजा की उक्ति है जो चर के द्वारा (चर-कर्तृक) किये गये सैन्य संकलन (क्रिया) को हेतुकर्ता होने के कारण अपने ऊपर आरोपित करता है, क्योंकि 'संकलयानि' का उत्तमपुरुष-प्रयोग इसी तथ्य का द्योतक है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् (६।३।२) के समानान्तर प्रयोग की व्याख्या की गयी है—'देवतानेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नाम-रूपे व्याकरवाणि'। नाम और रूप को व्याकृत करना (विश्लेषण) जीव का काम है, किन्तु देवता हेतुकर्ता होने के कारण उस क्रिया को अपने ऊपर आरोपित करता है। वाचस्पतिमिश्र इस स्थान पर भामती में गुप्तचर तथा जीवात्मा को इसीलिए करण मान लेते हैं कि राजा तथा देवता का व्यापार (=प्रयोजक-व्यापार) ही धातुवाच्य है। सिद्धान्ततः प्रयोजक का व्यापार णिच्-प्रत्यय से वाच्य होता है, वह प्रेषणादि व्यापार का संचालन करता है। प्रयोज्य का व्यापार सीधे धातु से वाच्य होता है। वाचस्पति समझते हैं कि संकलन-क्रिया चर (प्रयोज्य) से सम्बद्ध नहीं है। चर तो केवल अनुप्रवेश करता है, उसके द्वारा लायी गयी सूचना के आधार पर राजा सैन्य का संकलन करते हैं; जिनका व्यापार उस धातु से सीधा वाच्य होता है। इसीलिए चर को करण कहा गया है। नागेश के मतानुसार यहाँ ण्यर्थ का अन्तर्भाव मानें ('कलयति' में णिच् स्वार्थ में है, चुरादि-गण है) तो प्रयोजक (राजा) के व्यापार का अभिधान धातु कर सकता है और चर प्रयोज्य हो सकता है।

नागेश के कथन का आशय यह है कि सामान्यतया धातु प्रयोजक के व्यापार को अभिहित करता है, जिसकी स्वतन्त्रता अविच्छिन्न रहती है; यद्यपि वह प्रयोजक के ही अधीन उक्त व्यापार का संचालन क्यों न करता हो। प्रयोज्य स्वेच्छा से क्रिया में प्रवृत्त-निवृत्त होने के कारण स्वातन्त्र्य का द्वितीय लक्षण तो धारण करता ही है, किन्तु कारकचक्र को प्रयोजित करनेवाला प्रथम लक्षण भी उसमें घटित होता है—इसकी सिद्धि नागेश को अभीष्ट है। 'पञ्चभिर्हलैः कर्षति' आदि वाक्यों में भी प्रयोजक-व्यापार की प्रधान धातुवाच्यता अगतिक गति से ही माननी चाहिए। प्रेरणा से उत्पन्न परतन्त्रता होने पर प्रयोज्य की स्वतन्त्रता उपायरूप हो जाती है तथा धातु से वाच्य क्रियाकृत स्वतन्त्रता उसमें विवक्षित होती है (प्रयोजक की प्रधानता हो जाने से उस समय वास्तविक स्वतन्त्रता उसमें नहीं रहती)[१]।

'घटो भवति' इस प्रयोग में घट के कर्तृत्व का निरूपण करते हुए नागेश दो अन्य व्याख्याओं के साथ अपनी व्याख्या देते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. ल० म०, पृ० १२४७।

(१) बुद्धिस्थ घट (भौतिक नहीं) कर्ता है।

(२) घट शब्द से इसके उपादान-कारण मृत्तिका का बोध होता है, जो कार्य-कारण की अभिन्नता के कारण कार्यात्मक होकर उत्पन्न होता है। इसका पूर्ण विश्लेषण भर्तृहरि तथा हेलाराज ने किया है।

(३) ब्रह्म के द्वारा जब अविद्यावशात् नानात्व, भाव, अभावादि के रूप धारण किये जाते हैं (जो गौण-प्रयोग नहीं, मिथ्या-प्रयोग है) तब उन्हीं रूपों के समान किसी वस्तु के जन्म या नाश का व्यवहार भी मिथ्याज्ञान के फलस्वरूप ही होता है। अद्वैत वेदान्त के इसी सिद्धान्त को कला-टीका में नागेश का 'परम सिद्धान्त' कहा गया है[१]।

परमलघुमञ्जूषा बहुत संक्षेप में 'प्रकृतधातुवाच्यव्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वम्' की व्याख्या करके कर्ता की उक्त तथा अनुक्त अवस्थाओं के उदाहरणों का वैयाकरण-सम्मत शाब्दबोध कराती है। उक्तावस्था का उदाहरण है—'चैत्रो भवति'। इसका शाब्दबोध इस प्रकार होगा—

'एकत्वावच्छिन्न-चैत्राभिन्नकर्तृकं भवनम्'।

अर्थात् एकत्व-संख्या से निर्धारित चैत्र से अभिन्न कर्ता के द्वारा होने की क्रिया। इस स्थल में 'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा' तथा 'अभिहिते प्रथमा' ये दो वार्तिक प्रथमा का विधान करते हैं। सूत्र के मत से जो कर्ता-कर्मादि अर्थवाले प्रत्यय से कर्ता आदि के उक्त रहने पर प्रथमा का प्रातिपदिकार्थ ही अर्थ है। इसीलिए तिङर्थ के द्वारा क्रिया में अन्वय होने के कारण प्रथमार्थ के क्रियाजनक होने से प्रथमा को भाष्य में 'कारकविभक्ति कहा गया है[२]। यहाँ वार्तिक तथा भाष्य का आशय यह है कि तिङ्-कृत् आदि से कर्ता आदि के अभिहित होने पर प्रथमाविभक्ति अनुद्भूत (अप्रकाशित) कर्तृत्वादि शक्तियों (धर्मों) को प्रतिपादित करती है।

कर्मवाचक तिङन्त का उदाहरण है—'चैत्रेण ग्रामो गम्यते'। नागेश के अनुसार इसका शाब्दबोध इस प्रकार होगा—

'चैत्रकर्तृकव्यापारजन्यः एकत्वाववच्छिन्नग्रामाभिन्नकर्मनिष्ठः संयोगः'।

यहाँ क्रियाफल को मुख्य विशेष्य रखा गया है। ग्राम कर्म है, जो प्रथमाविभक्ति में है। अतः उसी में एकत्व-संख्या को विशेषण बनाकर क्रिया का निर्धारण हुआ है।

कर्ता के भेद

कर्ता के सर्वत्र तीन भेद किये गये हैं—शुद्धकर्ता, हेतुकर्ता (प्रयोजक) तथा कर्मकर्ता।

(१) **शुद्धकर्ता**—'स्वतन्त्रः कर्ता' के द्वारा इसी का विधान होता है। अन्य

---

१. द्रष्टव्य—ल० म०, पृ० १२४७ पर कला।

२. 'अत एवाख्यातार्थद्वारकक्रियान्वयात् तदर्थस्य क्रियाजनकत्वादस्याः कारक-विभक्तित्वेन भाष्ये व्यवहारः'। —प० ल० म०, पृ० १६७

कारकों का नियमन करने वाला यह प्रधान कर्ता है। अभिहित या अनभिहित होने के कारण इसमें क्रमशः प्रथमा या तृतीया विभक्ति लगती है—रामो गच्छति, रामेण गम्यते। न्यायकोश में इसका लक्षण दिया गया है कि जो प्रेरणार्थक णिच् से भिन्न प्रकृतिवाले धातु के द्वारा गृहीत व्यापार का आश्रय हो; जैसे—देवदत्तः पचति[1]। स्वार्थ णिच् की प्रकृति वाले धातु में भी यही कर्ता होता है; यथा—रामः कथयति। किन्तु प्रेरणार्थक णिच् होने पर धातु और प्रत्यय मिलकर जिसके व्यापार का बोध कराते हैं वह शुद्धकर्ता नहीं होता। 'रामः पाचयति' में राम शुद्धकर्ता नहीं है, हेतुकर्ता है। हाँ, एक मत से प्रयोज्य को अवश्य ही शुद्धकर्ता कहा जा सकता है, क्योंकि वह भी कभी (अणिजन्तावस्था में) शुद्धकर्ता ही रहा है।

(२) **हेतुकर्ता (प्रयोजक)**—णिजर्थभूत प्रेरणा-व्यापार का आश्रय हेतुकर्ता कहलाता है। यह भी अभिहित होने पर प्रथमा विभक्ति ग्रहण करता है; यथा—रामः पाचयति। यहाँ पाक-क्रिया तथा प्रेरणा-क्रिया—इस प्रकार दो क्रियाएँ 'पाचयति' में अन्तर्भूत हैं। उनमें पाक-क्रिया का आश्रय तो प्रयोज्य (शुद्ध) कर्ता है, किन्तु प्रेरणा-व्यापार रामरूप हेतुकर्ता में निहित है। अनिभिहित होने पर इसमें भी तृतीया विभक्ति होती है—पाच्यते देवदत्तेन, कार्यते हरिणा। अन्तिम उदाहरण का शाब्दबोध न्यायकोश में उपर्युक्त स्थल में दिया गया है—'हर्यभिन्नाश्रयक उत्पादनानुकूलो व्यापारः'। गुरुपद हाल्दार ने चेतन तथा अचेतन के भेद से इस हेतुकर्ता के दो भेद किये हैं। चेतन का उदाहरण है—'**गृहपतिः** देवदत्तेनान्नं पाचयति'। अचेतन का उदाहरण है—'**भिक्षा** वासयति'। यहाँ भिक्षा की सुलभता है, जिससे प्रवृत्त होकर कोई भिक्षु स्थल-विशेष में निवास कर रहा है। अतः कहा गया है कि भिक्षा उसे निवास की प्रेरणा दे रही है[2]।

जैन वैयाकरणों की परम्परा में हेतुकर्ता के तीन भेद किये गये हैं—

(क) प्रेषक—जब प्रयोजक वरीय तथा प्रयोज्य कनीय हो; जैसे—'**यज्ञदत्तः** सूपकारणौदनं पाचयति'।

(ख) अध्येषक—जब प्रयोजक कनीय तथा प्रयोज्य वरीय हो। इसमें आदरपूर्वक आग्रह का भाव रहता है; यथा—'देवदत्तः गुरुं भोजयति'। प्रेषण तथा अध्येषण की चर्चा भर्तृहरि ने भी की है।

(ग) आनुकूल्यभागी—जब कोई प्रयोजक अपने प्रयोज्य में मानसिक या भौतिक अनुकूलता उत्पन्न करता है; यथा—'सुपुत्रो जनकं हर्षयति'। यहाँ सुपुत्र अपने पिता में हर्षोदय के द्वारा मानसिक अनुकूलता उत्पन्न करते हुए उन्हें नियुक्त करता है। इस प्रकार का हेतुकर्ता अचेतन पदार्थ भी हो सकता है; यथा—'**कारीषो**ऽध्यापयति

---

१. 'प्रेरणार्थकणिजप्रकृतिधातूपात्तव्यापाराश्रयत्वमिति यावत्'।
—न्या० को०, पृ० २०२

२. व्या० द० इ०, पृ० २६७।

माणवकम्' । कारीष (निर्धूमाग्नि) शैत्य का निवारण करके अध्ययन के लिए भौतिक अनुकूलता उत्पन्न करते हुए छात्र को अध्ययन में प्रयुक्त करता है[१] ।

(३) **कर्मकर्ता**—इसकी व्याख्या दो प्रकार से की जाती है । एक प्रकार, जो बहुत कम प्रचलित है, यह है[२] कि धातु से उपात्त व्यापार का आश्रय होने के साथ-साथ जो णिजर्थ के व्यापार के द्वारा व्याप्य हो; यथा—'गमयति कृष्णं गोकुलं गोपः' । यहाँ कृष्ण कर्मकर्ता है । कर्मकर्ता का यही लक्षण और उदाहरण वैयाकरणभूषण (पृ० १०८) में स्वीकृत है जहाँ इसका शाब्दबोध भी कराया गया है—'गोकुलकर्मक-गमनानुकूल-कृष्णाश्रयक-तादृश-व्यापारानुकूलो व्यापारः' । वास्तव में यह पाणिनि के सूत्र 'गतिबुद्धिप्रत्यवसान०' का उदाहरण है, जो कुछ निश्चित धातुओं के कर्ता में णिजन्तावस्था में कर्मसंज्ञा का विधान होने से दिया गया है । पाणिनि के अनुसार तो उसे 'कर्म' कहना चाहिए, अन्यथा सभी प्रयोज्यों को 'शुद्धकर्ता' मानना ही उचित है—वे प्रयोज्य चाहे द्वितीया में हों या तृतीया में । यह तो लौकिक प्रयोग है, जो कुछ धातुओं के प्रयोग में प्रयोज्य को द्वितीया-विभक्ति में रखता है तो शेष धातुओं का प्रयोग होने पर तृतीया में । इस व्यत्यय के कारण प्रयोज्य के कर्तृत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

उक्त उदाहरण का शुद्धकर्ता में अन्तर्भाव होने के कारण लोगों ने कर्मकर्ता का दूसरा लक्षण किया है । हम जानते हैं कि जब सौकर्य का अतिशय द्योतित करने के लिए कर्तृव्यापार की विवक्षा नहीं होती तब दूसरे कारक भी कर्तृसंज्ञा ग्रहण करते हैं । इस रीति से जब कर्म की कर्ता के रूप में विवक्षा होती है तब उसे **कर्मकर्ता** कहा जाता है । दुर्गसिंह ने कातन्त्रवृत्ति में इसका लक्षण दिया है—

> 'क्रियमाणं तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिद्धयति ।
> सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्तुः कर्मकर्तेति तद् विदुः'[३] ॥

किया जानेवाला कर्म जब अपने आप सम्पन्न होता हो तथा सुकरता के कारण कर्ता के गुणों को अपने में धारण करता हो तब उसे कर्मकर्ता कहते हैं; यथा—पच्यते ओदनः स्वयमेव । भिद्यते काष्ठं स्वयमेव । 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' (पा० सू० ३।१।८७) सूत्र से कर्मकर्ता को कर्मवद्भाव होता है, यदि क्रिया कर्मस्थ होने की क्षमता रखती है । क्रिया यदि केवल कर्तृस्थ ही रह सकती है तो कर्मवद्भाव नहीं होता; यथा—मासमास्ते[४] । कर्मकर्ता केवल निर्वर्त्य तथा विकार्य कर्मों का ही हो सकता है, प्राप्य कर्म को नहीं[५] ।

---

१. रभसनन्दि, कारकसम्बन्धोद्योत, पृ० १५ ।

२. न्या० को०, पृ० २०२ ।

३. न्या० को०, पृ० २०२ में उद्धृत ।

४. 'कर्मस्थः पचतेर्भावः कर्मस्था च भिदेः क्रिया ।
मासासिभावः कर्तृस्थः कर्तृस्था च गमेः क्रिया' ॥ —काशिका, पृ० १५८

५. 'निर्वर्त्ये च विकार्ये च कर्मवद्भाव इष्यते ।
न तु प्राप्ये कर्मणीति सिद्धान्तो हि व्यवस्थितः' ॥ —वै० भू० कारिका ७

कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण में (पृ० १०८) किसी कारक-परीक्षा नामक ग्रन्थ में निर्दिष्ट कर्तृभेद का खण्डन किया है। उक्त परीक्षाकार ने अभिहित तथा अनभिहित इन दो अतिरिक्त कर्तृभेदों को स्वीकार कर कर्ता के कुल पाँच भेद किये थे। भूषणकार इसे भ्रान्ति बतलाते हैं, क्योंकि उक्त तीनों भेदों में ही अभिधान तथा अनभिधान होते हैं। तीनों के साथ व्यावृत्ति न होने के कारण इन्हें भेदान्तर मानना असंगत है।

अन्यथा तीनों के ये दो-दो भेद मानने पर छह भेद हो जायेंगे। यही नहीं, कर्म-कारक के भेदों में भी इन्हें जोड़ने का प्रश्न उपस्थित होने पर कर्म की सप्तविधता के स्थान पर नवविधता स्वीकार करनी पड़ेगी। अतएव सभी दोषों से रहित कर्ता का त्रैविध्य ही सिद्धान्त है।

अध्याय : ५

कर्म-कारक

व्युत्पत्ति

कृ-धातु (डुकृञ् करणे, तनादि, उभय०) से भाववाचक मनिन्-प्रत्यय[1] लगाकर निष्पन्न किये गये 'कर्म' (प्राति०—कर्मन्) का वास्तविक अर्थ क्रिया है। इसी अर्थ में वैशेषिक दर्शन में यह एक पदार्थ-विशेष है। इस प्रकार यह चलनात्मक तथा संयोग-विभाग के अनुकूल होता है। किन्तु भावेतर अर्थ में भी इसका निर्वचनजन्य अर्थ प्रवृत्त हुआ है, जिससे दर्शनशास्त्र में, विशेषतः आचारशास्त्र में फल की कामना से किये गये कार्यों को 'कर्म' कहा गया है—'क्रियते फलार्थिभिरिति कर्म धर्माधर्मात्मकम्'[2]। कार्य के अर्थ में इस कर्मशब्द का तन्त्र,[3] हठयोग,[4] धर्मशास्त्र,[5] पूर्व-मीमांसा,[6] वेदान्त[7] इत्यादि शास्त्रों में विभिन्न प्रकार से विश्लेषण किया गया है। सर्वत्र इसका निर्वचन होगा—'यत् क्रियते तत्कर्म' अर्थात् जिस पर कृ-धातु का फल पड़े, जिसे किया जाय। व्याकरण में इसी अर्थ को थोड़ा अधिक व्यापक बनाकर ग्रहण किया जाता है। अन्य शास्त्र केवल कृ-धातु से कर्म का सम्बन्ध मानते हैं और उसी में लौकिक व्यवहार भी चलता है, किन्तु व्याकरण सभी सकर्मक धातुओं तथा कुछ स्थितियों में अकर्मक धातुओं से भी कर्म का सम्बन्ध स्वीकार करता है। यह दूसरी बात है कि इन धातुओं का भी रूपान्तरण 'करोति' में हो सकता है।

'भाव' अर्थ वाले कर्म-शब्द (करना, क्रिया) की 'कार्य' अर्थ तक की यात्रा अत्यन्त संघटित है, दोनों समन्वित हैं। संस्कृत के सभी धातुओं में, चाहे वे सकर्मक हों या अकर्मक, भाववाचक प्रत्यय लगाकर उन्हें 'करोति' क्रिया का कर्म बनाया जा सकता है; यथा—दानं करोति (ददाति), अध्ययनं करोति (अधीते), शयनं करोति (शेते), लज्जां करोति (लज्जते)। इससे एक ओर जहाँ उनका भाव रूप अर्थ

---

१. 'सर्वधातुभ्यो मनिन्। क्रियत इति कर्म' —सि० कौ० उणादि-सूत्र ५८४

२. सर्वदर्शनसंग्रह, शैवदर्शन, पृ० ३४५।

३. छह कर्म—शान्तिकरण, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, मारण।

४. छह कर्म—धौति, वस्ति, नेति, नौलिक, त्राटक, कपालभाति।

५. तीन कर्म—नित्य (सन्ध्या-वन्दनादि), काम्य (यागादि), नित्य-काम्य (एकादशीव्रतादि)।

६. तीन कर्म—नित्य (जिसे न करने से हानि हो), नैमित्तिक (अनियत निमित्तवाले—ग्रहण, श्राद्धादि), काम्य (अश्वमेधादि)।

७. पुण्य-पापजनक कार्य। त्रिविध कर्म—संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण।

(धात्वर्थ) सुरक्षित रहता है, वहीं दूसरी ओर कर्मत्व भी अक्षुण्ण रहता है। इसी सामंजस्य के कारण कर्म-शब्द के प्रयोग में तथाकथित भ्रान्ति हो जाती है—कहीं क्रिया के अर्थ में तो कहीं कार्य के अर्थ में इसके प्रयोग समान लेखनी के समान कृति में हो सकते हैं। किन्तु वास्तव में यह भ्रान्ति नहीं है—कर्म-शब्द चाहे 'भावे' प्रयुक्त हो या 'कर्मणि', दोनों का लक्ष्य उपर्युक्त प्रकार से समान ही होता है। स्वयम् आचार्य पाणिनि ने कर्म का लक्षण कार्य के व्यापक अर्थ में व्यवस्थित करके भी इसके प्रयोग क्रियारूप अर्थ में भी किये हैं; जैसे—कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम् (३।३।४३),[१] कर्माध्ययने वृत्तम् (४।४।६३),[२] गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (५।१।१२४),[३] आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च (३।४।७१)[४] इत्यादि।

कर्ता का ईप्सिततम

पाणिनि के द्वारा दिये गये कर्मलक्षणों में स्थान तथा महत्त्व की दृष्टि से प्रथम है—'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म' (१।४।४९)। कारकाधिकार में पठित इस सूत्र में क्रिया का प्रयोग न होने पर भी उसका बोध तो अवश्य ही होगा। अतः क्रिया की सहायता से कर्ता को जिसे प्राप्त करना (उपलब्ध या स्वसम्बद्ध करना) सर्वाधिक अभीष्ट हो वह कारक कर्मसंज्ञक है; जैसे—'कटं करोति' में कट (चटाई) अथवा 'ग्रामं गच्छति' में ग्राम। 'ईप्सिततम'[५] शब्द में निहित आप्-धातु का आश्रय लेकर दूसरे सम्प्रदायों में कर्तृव्याप्य (हेमचन्द्र), क्रियाप्य (चान्द्र) या क्रियाव्याप्य (सुपद्म)—जैसे शब्दों का प्रयोग कर्मलक्षण में किया गया है। किन्तु कर्ता या क्रिया के द्वारा कर्म के व्याप्य होने में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं आता। वास्तव में तो कर्म क्रिया के

---

१. 'कर्म क्रिया, व्यतिहारः परस्परं करणम्'। —काशिका

२. 'एकमन्यदध्ययने कर्म वृत्तमस्य एकान्यिकः। ... यस्याध्ययने नियुक्तस्य परीक्षाकाले पठतः स्खलितमपपाठरूपमेकं जातं स उच्यते एकान्यिक इति'। अर्थात् स्खलन-क्रिया के अर्थ में कर्मशब्द है। —काशिका

३. 'कर्मशब्दः क्रियावचनः। जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम्'—काशिका। यहाँ भाव तथा क्रिया में भेद दिखलाया जाता है, शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त को भाव कहा गया है, जिससे वस्तु का नामकरण या ज्ञान हो; क्रिया के अवस्था-विशेष को भाव नहीं कहा गया है, अन्यथा सूत्र में 'कर्मणि' कहने की आवश्यकता ही नहीं थी। द्र० काशि० ५।१।११८—'भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययाविति भावः। शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं भावशब्देनोच्यते'। (गोर्भावः गोत्वम्)।

४. 'आदिभूतः क्रियाक्षणः कर्म'। —काशिका

५. आप्+सन्+क्त। 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' (७।४।५५) से ईत्त्व; 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से अभ्यासलोप; 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (३।२।१८८) से मति (इच्छा) के अर्थ में वर्तमानार्थक क्त-प्रत्यय। तमप् (५।३।५५)। 'क्तस्य च वर्तमाने' (२।३।६७) से 'कर्त्तुः' में षष्ठी।

द्वारा ही व्याप्त होता है और क्रिया चूँकि कर्ता में निहित होती है, इसलिए कर्ता के द्वारा व्याप्य कहें या क्रिया के द्वारा—दोनों स्थितियाँ समान हैं। यह अवश्य है कि क्रिया कर्म को सीधे व्याप्त करती है, कर्ता उसे क्रिया के द्वारा ही व्याप्त करेगा। इसीलिए काशिकाकार के द्वारा दी गयी वृत्ति में दोनों का एक साथ प्रयोग हुआ है[1]।

यही नहीं, पाणिनि-सूत्र में 'कर्त्तुः' के प्रयोग की अपरिहार्यता पर पर्याप्त प्रकाश दिया गया है। क्रिया-शब्द का भले ही अध्याहार कर लिया जाय किन्तु क्रिया का आश्रय अथवा केवल गम्यमान कह देने से कर्तृपद को सेवामुक्त नहीं किया जा सकता। 'माषेष्वश्वं बध्नाति' में इसका योगदान देखा जा सकता है। कोई व्यक्ति अपने अश्व की शरीर-पुष्टि के लिए उसे उड़द (माष) की ढेर के पास बाँध देता है कि उड़द खाकर वह पुष्ट हो जाये। यहाँ कर्ता का ईप्सिततम अश्व है, जिसे कर्मसंज्ञा हुई—कर्ता बन्धन-क्रिया के द्वारा अश्व को व्याप्त करना चाहता है। यदि कर्ता के अतिरिक्त दूसरे कारक के ईप्सिततम को कर्मसंज्ञा होती तो प्रकृत स्थल में अश्व (कर्म) के ईप्सिततम 'माष' को भी कर्मसंज्ञा हो जाती। परन्तु चूँकि माष बन्धनकर्ता का ईप्सित नहीं है अतः उसे कर्मसंज्ञा नहीं हुई—इससे 'कर्ता' के प्रयोग की सार्थकता प्रकट है।

इस सूत्र में तमप्-प्रत्यय (ईप्सिततम) का प्रयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि 'कर्तुरीप्सितं कर्म' इतना ही कहा जाता तो 'अग्नेर्माणवकं वारयति' इस उदाहरण में अग्नि के साथ माणवक को भी अपादान संज्ञा हो जाती। 'वारणार्थानामीप्सितः' (१।४।२७) सूत्र के अनुसार वारणार्थक धातुओं के प्रयोग में ईप्सित वस्तु को अपादानसंज्ञा होती है। माणवक को जैसे अग्नि अभीष्ट है उसी प्रकार वारणकर्ता को माणवक अभीष्ट है, क्योंकि वह उसकी रक्षा चाहता है। इसलिए 'ईप्सित' मात्र कहने पर उक्त अपादान-सूत्र की प्रवृत्ति अनिवार्य हो जायगी। यदि उत्तर में यह कहा जाय कि कर्मसंज्ञा पर-सूत्र में आने के कारण अपादान-संज्ञा को रोक देगी, तो भी बात बनती नहीं; क्योंकि जिस प्रकार माणवक में अपादान को रोककर कर्म प्रबलतर होता है उसी प्रकार अग्नि में भी अपादान बाधित हो जायगा। यहाँ पर तमप्-प्रत्यय का ग्रहण करने से यह दोष मिट जाता है। वार्तिककार ने कहा भी है कि 'वारणार्थानामीप्सितः' सूत्र में 'कर्मणः ईप्सितम्' का अर्थ रहने पर भी उसे शब्दतः कहने की आवश्यकता इसलिए नहीं पड़ती कि कर्म के लक्षण में पाणिनि ने 'ईप्सिततम' का प्रयोग किया है[2]। फलतः माणवक कर्ता का **ईप्सिततम** रहने के कारण कर्म है, अग्नि माणवक का **ईप्सित** रहने से अपादान है।

---

१. 'कर्त्तुः क्रियया यदाप्तुमिष्टतमं तत्कारकं कर्मसंज्ञम्'—काशिका, १।४।४९ पुनः द्र०—'यत्कर्त्तुः क्रियया व्याप्यं तत्कर्म परिकीर्तितम्'—प्रयोगरत्नमाला (१।६।२०) में पुरुषोत्तम विद्यावागीश।

२. द्रष्टव्य—महाभाष्य २, पृ० २६०।

ईप्सित तथा ईप्सिततम की विभिन्नता के कारण ही 'पुष्पाणि स्पृहयति' तथा 'पुष्पेभ्यः स्पृहयति' इन दोनों प्रयोगों की उपपत्ति होती है। स्पृह्-धातु के प्रयोग में ईप्सित वस्तु को सम्प्रदान-संज्ञा होकर पिछले प्रयोग की सिद्धि होती है। यदि ईप्सित का प्रकर्ष या अतिशय विवक्षित हो तो प्रथम उदाहरण में प्रदर्शित कर्मत्व भी हो सकता है।

ईप्सिततम का पतञ्जलि द्वारा विवेचन

पतञ्जलि एक रोचक उदाहरण देकर ईप्सिततम का विवेचन करते हैं। पूर्वपक्ष में अन्वय-व्यतिरेक से ओदन की अपेक्षा दधि-दुग्ध आदि को ईप्सिततम बतलाया गया है कि कोई किसी को आमन्त्रण देता है—मेरे यहाँ आप भोजन कर लीजिए। आमन्त्रित व्यक्ति कहता है कि मैं अभी-अभी भोजन कर चुका हूँ। आमन्त्रणकर्ता पुनः उसे भोजन का आग्रह करते हुए कहता है कि मेरे यहाँ भोजन में दही है, दूध है। तब वह उत्तर देता है—हाँ, दही-दूध के साथ खा लूँगा (दध्ना खलु भुञ्जीय, पयसा खलु भुञ्जीय)। यहाँ दूध-दही को कमसंज्ञा होनी चाहिए, क्योंकि वही भोक्ता का ईप्सिततम है, ओदन नहीं। आमन्त्रणकर्ता के यहाँ केवल ओदन की कल्पना करके वह खाने को प्रस्तुत नहीं है। दूसरी ओर दूध-दही का नाम सुनते ही वह भोजन के लिए प्रस्तुत हो जाता है। स्पष्टतः दूध-दही उसका ईप्सिततम है।

परन्तु ऐसी बात नहीं है। वास्तव में उस व्यक्ति को ओदन ही अभीष्ट है, केवल संस्कारक पदार्थों में उसका आग्रह नहीं है (न तु गुणेष्वस्यानुरोधः)[1]। संस्कारक पदार्थ उसी प्रकार गुण (विशेषण) का काम करते हैं जिस प्रकार सामान्य विशेषण। जैसे कोई कहे कि मैं ओदन खा सकता हूँ यदि वह मृदु (कोमल) तथा विशद (गीला नहीं, असंसक्त) हो। यहाँ व्यक्ति का ईप्सिततम मृदु या विशद गुण नहीं है। वह खायेगा ओदन ही, किन्तु उसमें अपेक्षित गुणों का आधान चाहता है। कैयट गुणों के आदर की असङ्गति दिखलाते हैं कि यदि मृदु-मात्र ईप्सित होता तो वह व्यक्ति पंक भी खा लेता और यदि विशदमात्र में आग्रह रखता तो कदाचित् बालू खाना भी उसे अच्छा लगता[2]। इससे सिद्ध होता है कि उसका अभीष्ट गुण नहीं, गुणी है। यहाँ भी उसका उद्देश्यमूलक प्रयोग होगा—'दधिगुणमोदनं भुञ्जीय, पयोगुणमोदनं भुञ्जीय'। काशिका में इसीलिए तमप्-ग्रहण के प्रत्युदाहरण में 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' दिया गया है। ईप्सिततम नहीं होने के कारण पयस् कर्म-कारक नहीं है। वैसे ईप्सित तो दोनों ही हैं, किन्तु ईप्सिततम ओदन है।

---

१. 'दधिपयसोस्तु संस्कारकत्वात्करणभावः। गुणेषूपकारकेषु केवलेषु नास्यादरः। किं तर्हि ? तत्संस्कृत ओदन इत्यर्थः'। (उद्योत—) 'संस्कारकत्वेनैव तद् (दध्यादि) उद्देश्यम्, न तु साक्षात्फलाश्रयत्वेनेत्यर्थः। अन्यथा दधिपयोमात्रभोजनेनापि कृती स्यात्'। —महाभाष्यप्रदीप २, पृ० २६१

२. 'यदि मार्दवमात्रे आदरः स्यात्पङ्कमपि भक्षयेत्। विशदमात्रादरे सिकता अपि'। —वहीं

कभी-कभी क्रिया के ही ईप्सिततम हो जाने का भ्रम होता है। जैसे 'गुडं भक्षयति' इस उदाहरण में भक्षण-क्रिया ही ईप्सित[1] है, क्योंकि उस क्रिया की उत्पत्ति के लिए ही गुड़ का उपादान हो रहा है, न कि गुड़ के लिए भक्षण-क्रिया का अनुष्ठान हो रहा है। फलतः गुड़-शब्द कर्म नहीं हो सकेगा। कैयट इस पूर्वपक्ष के अनुसार क्रिया तथा कर्म के ईप्सित होने की परिस्थितियों के मध्य स्पष्ट विभाजक-रेखा खींचते हैं। कर्म वहीं ईप्सित होता है जहाँ निष्पत्ति (नवीन उत्पादन), संस्कार (नवीन गुणाधान) तथा प्रतिपत्ति (प्राप्ति) के रूप में प्रयुक्त साधनों की सहायता से क्रिया कर्म के लिए उपस्थित होती है[2]। इससे भिन्न स्थानों में प्रतीयमान संदर्शनादि क्रियाओं की अपेक्षा से क्रिया ही ईप्सित होती है। प्रकृत स्थल में भी इसी प्रकार गुड़-भक्षण क्रिया ईप्सित है। अपने ही द्वारा उठायी गयी इस शंका का समाधान कात्यायन ने किया है कि यहाँ इसलिए दोष नहीं हो सकता क्योंकि क्रिया के साथ-साथ कर्म भी व्यक्ति को ईप्सित है। जिसे गुड-भक्षण ईप्सित है उसे भक्षण-क्रिया के द्वारा गुड़ भी ईप्सित ही है। यदि कर्म ईप्सित नहीं होता तो गुड़-भक्षण का विचार रखनेवाला व्यक्ति पत्थर खाकर भी संतुष्ट हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता है[3]।

क्रिया के ईप्सित होने के दूसरे उदाहरण भी हो सकते हैं। राज्य की सेवा में लगे हुए मनुष्य कुछ-न-कुछ क्रिया का ही संपादन करके समय बिताते हैं, उनका किसी द्रव्य-विशेष में आदर नहीं होता। उनमें कोई वरिष्ठ अधिकारी अपने अधीनस्थ को आदेश देता है कि चटाई बनाओ (कटं कुरु)। वह उत्तर देता है—मैं चटाई नहीं बना सकता, क्योंकि मैं पहले घड़ा ला चुका हूँ (एक क्रिया कर चुका हूँ, दूसरी क्रिया नहीं करूँगा)। स्पष्टतः उसे क्रिया ईप्सित है, द्रव्य नहीं। पतञ्जलि इस विवाद का समाधान करते हैं कि यद्यपि कर्मचारी को क्रिया ईप्सित है किन्तु जो आदेश देता है, उसे दोनों ही ईप्सित है—कर्मचारी द्वारा की गयी क्रिया भी तथा उस क्रिया से आप्यमान पदार्थ (कर्म) भी। भाष्यकार का आशय यह है कि प्रयोजक को तो दोनों अभीष्ट है ही, किन्तु प्रयोज्य भी वेतनादि-लाभ के लिए प्रयोजक के मन को अपने अनुकूल बनाये रखना चाहता है; इसलिए उसे भी दोनों ही ईप्सित है, क्योंकि प्रयोजक के आदेशानुसार जब प्रयोज्य विशिष्ट कर्म से युक्त क्रिया का संपादन करता है तभी

---

१. 'ईप्सित का प्रयोग ईप्सिततम के लिए हुआ है'। (द्र०—कैयट-प्रदीप, पृ० २६२) 'ईप्सिततममेवेप्सितपदेन सामान्यशब्देन निर्दिष्टम्। विशेषेषु सामान्यस्य भावात्'।

२. 'यत्र हि कर्मार्था क्रिया निष्पत्तिसंस्कारप्रतिपत्तिभिः तत्र कर्मेप्सितम्'। (उद्योत)—'निष्पत्तिः कटादेः। संस्कारः, प्रोक्षणादिना व्रीह्यादेः। प्रतिपत्तिर्दाहादिना हविरादेः'। —प्रदीप, वहीं

३. 'यस्य हि गुडभक्षणे बुद्धिः प्रसक्ता भवति नासौ लोष्टं भक्षयित्वा कृती भवति'। —भाष्य २, पृ० २६२

प्रयोजक के आदेश की पूर्ति हो पाती है। कुछ लोग प्रकारान्तर से प्रयोज्य की क्रिया के द्वारा व्याप्य कर्म की सिद्धि करते हैं। उनके अनुसार प्रयोजक की अपेक्षा रखते हुए (उसके सम्बन्ध से) प्रयोज्य का अनीप्सित पदार्थ भी कर्म कहलाता है। किन्तु यह दूषित मत है, क्योंकि जहाँ प्रयोजक का व्यापार शब्दार्थ के रूप में नहीं हो (जैसे–'कटं करोति' में) वहाँ यह मत अनुपयुक्त हो जायेगा। निष्कर्ष यह निकलता है कि—क्रिया के साथ कर्म भी ईप्सित होता है। दोनों के समान रूप से ईप्सित होने की स्थिति में भी क्रिया को तो कारक नहीं कहा जा सकता—उस क्रिया के द्वारा व्याप्य होने के कारण कर्म ही कारक है जिसका उपर्युक्त लक्षण निर्विवाद है।

अनीप्सित का कर्मत्व

पाणिनि एक दूसरे सूत्र—'तथायुक्तं चानीप्सितम्' (१।४।५०) के द्वारा कर्ता की अनीप्सित वस्तु की भी कर्मसंज्ञा मानते हैं, यदि वह ईप्सिततम के समान क्रिया से युक्त हो। अनीप्सित-शब्द में नञ् के प्रयोग के कारण दो अर्थों की सम्भावना है—

(१) **प्रसज्य-प्रतिषेध**—इसमें किसी वस्तु का विधान करके (प्रसज्य) उसका निषेध किया जाता है[1]। जैसे—न गच्छेत्। इसमें विध्यात्मक अर्थ गौण तथा निषेध मुख्य है। अनीप्सित का अर्थ 'न ईप्सित' करें तो यह प्रसज्यप्रतिषेध होगा। इसके अनुसार द्वेष्य पदार्थ मात्र को अनीप्सित कहेंगे, क्योंकि द्वेष्य का ही ईप्सित से साक्षात् विरोध है।

(२) **पर्युदास**[2]—इसमें विध्यात्मक अर्थ प्रधान रहता है तथा निषेध्य वस्तु से भिन्न समस्त सदृश पदार्थों का विधान होता है; जैसे—अब्राह्मणो गच्छति (=ब्राह्मण के सदृश कोई दूसरा जाता है)। तदनुसार अनीप्सित का अर्थ है—ईप्सित से भिन्न, चाहे वह द्वेष्य हो या उदासीन। भाष्यकार इसी अर्थ को स्वीकार करते हुए 'ईप्सित से भिन्न' के अन्तर्गत मुख्य रूप से उदासीन की ही कर्मसंज्ञा मानते हैं, जो न ईप्सित है, न अनीप्सित (द्वेष्य)[3]। जैसे—ग्रामान्तरं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति। कुड्यमूलान्युपसर्पति (दूसरे गाँव में जाते हुए वृक्ष तथा दीवाल के नीचे जाता है)। वृक्षमूल तथा कुड्यमूल उदासीन कर्म हैं, क्योंकि न तो ये ईप्सित हैं, न अनीप्सित ही। तथापि द्वेष्य पदार्थ की भी कर्मसंज्ञा भाष्यकार को स्वीकार है, जिसे उन्होंने इसके पूर्व ही प्रदर्शित किया है—ग्रामान्तरं गच्छन् चोरान्पश्यति, अहिं लङ्घयति, कण्टकान्

---

१. 'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्'॥ —न्या० को०, पृ० ५८४

२. 'प्राधान्यं हि विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्'॥ —वहीं, पृ० ४९१

३. 'पर्युदासोऽयम्। यदन्यदीप्सितात् तदनीप्सितमिति। अन्यच्च एवेदमीप्सिताद् यन्नैवेप्सितं नाप्यनीप्सितमिति'। —भाष्य २, पृ० २६३

मृद्नाति । इनमें चोर, अहि तथा कंटक भयजनक होने के कारण अनीप्सित अर्थात् द्वेष्य हैं । ईप्सिततम-सूत्र के द्वारा इनकी कर्मसंज्ञा अनिष्ट है, क्योंकि दर्शनादि-क्रिया के द्वारा इन्हें व्याप्त करना सम्भव नहीं है ।

द्वेष्य तथा उदासीन

पर्युदास-व्याख्या के अन्तर्गत इस प्रकार भाष्यकार को उदासीन तथा द्वेष्य दोनों की कर्मसंज्ञा अभिमत है । कैयट भी इसका समर्थन करते हैं कि जिस प्रकार अधर्म, अनृत इत्यादि शब्दों के उत्तरपदार्थ (धर्म, ऋत = सत्य) के प्रतिपक्ष में स्थित पदार्थों का प्रतिपादन पर्युदास के कारण होता है, उसी प्रकार अनीप्सित शब्द से भी ईप्सित-भिन्न द्वेष्य और उदासीन का ग्रहण होता है । तदनुसार परवर्ती आचार्यों ने अनीप्सित कर्म में ही इन दो भेदों का निरूपण किया है । दार्शनिक दृष्टि से द्वेष्य पदार्थ में दुःख का भाव रहता है जो सांख्यों के मत से रजोगुण के उद्रेक से व्यक्त होता है । उदासीन कर्म में दूसरी ओर मोहस्वभाव तमोगुण के उद्भव से प्रकट होता है । ईप्सिततम में निश्चय ही सुखात्मकता अर्थात् सत्त्वोद्रेक होता है, अन्यथा उसे प्राप्त करने की इच्छा का उदय ही न हो[1] । इस प्रकार सांख्यों के त्रिगुणवाद का सम्यक् प्रतिफलन कर्म के उक्त रूपों में देखा जा सकता है ।

इसी सूत्र के अन्तर्गत पतञ्जलि ने 'विषं भक्षयति' वाक्य में स्थित विष के कर्मत्व का विवेचन किया है, जो अपना एक पृथक् इतिहास रखता है । विष निश्चय ही सबों के लिए अनीप्सित या द्वेष्य है । प्राण जाने के भय से कोई मनुष्य विष-भक्षण करना नहीं चाहता । तथापि कभी-कभी विषभक्षण अभिमत (ईप्सित) होता है, जिससे ईप्सिततम के कारण ही इसमें कर्मसंज्ञा हो सकती है । जो व्यक्ति दुःख की वेदना सह नहीं सकता वह आगामी काल में आनेवाले अन्य दुःखों की वेदना की अपेक्षा विष-भक्षण को ही अच्छा समझता है । जैसे सुख के साधन ईप्सित के रूप में प्रसिद्ध हैं वैसे ही दुःखनिवृत्ति के साधन भी ईप्सित ही हैं । उक्त स्थिति में विषय में सचमुच दुःख-निवृत्ति की क्षमता है—यह जानकर ही वह व्यक्ति उसका ग्रहण करता है । इस प्रकार विष ईप्सित कर्म के उदाहरण में आता है ।

किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि पतञ्जलि इसे द्वेष्य कर्म बिलकुल नहीं मानते । सच तो यह है कि अनीप्सित का उन्होंने यही प्रथम उदाहरण दिया है और सर्वप्रथम अनीप्सित को द्वेष्य के रूप में ही देखा है । उनका 'कस्यचित्' प्रयोग[2] भी इसका साक्ष्य है । उक्त उदाहरण में आत्महत्या का प्रसंग है, इसी से विष

---

१. (क) 'सुखसाधने एव लोके ईप्सितत्वं प्रसिद्धम्' ।

—भाष्यप्रदीपोद्योत २, पृ० २६३

(ख) 'तत्र यत्सुखहेतुस्तत्सुखात्मकं सत्त्वम्, यद् दुःखहेतुस्तद् दुःखात्मकं रजः, यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तमः' । —सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका १३

२. 'विषभक्षणमपि कस्यचिद् ईप्सितं भवति' । —भाष्य २, पृ० २६३

की ईप्सितात्मकता दिखलायी गयी है। कभी-कभी शत्रु के आदेश से विषभक्षण का दण्ड मिलता है। वहाँ विषय द्वेष्य ही रहता है। ऐसे प्रसंगों में यदि यह ज्ञान हो कि कारागार-बन्धन या शत्रु द्वारा दी गयी अन्य यातनाओं की अपेक्षा विषभक्षण श्रेयस्कर है तो विष को ईप्सित कर्म सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु इसके अभाव में यह मानना होगा कि शत्रु के शक्ति-प्रयोग के कारण ही कोई व्यक्ति अनिच्छा-पूर्वक विषभक्षण कर रहा है। तब इसे द्वेष्य मानने में कोई आपत्ति नहीं[1]।

भर्तृहरि 'विषं भक्षयति' आदि द्वेष्यकर्म की व्याख्या में कहते हैं कि जैसे शरीर को रोगी बनानेवाले अहितकर पदार्थों में कर्ता की इच्छा चंचलतावश हो जाती है तथा वह भोजन के सिद्ध नियमों का भी उल्लंघन कर देता है उसी प्रकार स्वामी आदि के भय से या किसी विषम रोग के कारण विषादि में उसकी प्रवृत्ति होती है[2]। इस प्रकार मनुष्य की इच्छा सर्वत्र विवेकपूर्वक ही उत्पन्न हो, ऐसा कोई नियम नहीं है[3]। कभी-कभी मनुष्य चंचलतावश या अन्य कारणों से भी कुछ पदार्थों की इच्छा कर सकता है। विष के ईप्सित होने का भी कारण भय है। 'चोरान् पश्यति' में भी दर्शन-क्रिया के द्वारा चोर ईप्सित ही है। हम आगे चलकर देखेंगे कि भर्तृहरि तथा हेलाराज का अभियान सभी कर्मों को ईप्सित ही सिद्ध करने का है। यह स्थान भी उसी का अंग है।

काशिका में जयादित्य ने अनीप्सित के तीन उदाहरण दिये हैं --विष (द्वेष्य), चौर (द्वेष्य) तथा वृक्षमूल (उदासीन)। ये भाष्य के उदाहरण हैं। शब्दकौस्तुभ में विष को छोड़कर शेष दोनों उदाहरण देनेवाले भट्टोजिदीक्षित सिद्धान्तकौमुदी में 'ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते' यह उदाहरण भी देते हैं। इसमें ओदन ईप्सित तथा विष अनीप्सित (द्वेष्य) कर्म है। यहाँ टीका करते हुए तत्त्वबोधिनीकार भाष्य के समान ही पूर्वपक्ष उठाते हैं कि विष तो दो कारणों से ईप्सित हो सकता है—(१) व्याधि से पीड़ित मनुष्य का मरण श्रेयस्कर समझकर विष-भक्षण करना तथा (२) भ्रम के कारण मिष्टान्नादि समझकर उसमें निहित विष का भक्षण। किन्तु यहाँ विष ईप्सित नहीं है, क्योंकि प्रसंग दूसरा है। मनुष्य मरना नहीं चाहता, किन्तु शत्रु से निगृहीत होने से विष खा लेता है—यह तात्पर्य है[4]। यद्यपि दीक्षित के इस उदाहरण में केवल 'विषं भुङ्क्ते' से ही काम चल जाता तथापि 'तथा युक्तम्' (ईप्सित-

---

१. 'एवं पराधीनतया द्वेष्यमपि विषं भक्षयतीत्युपपन्नः प्रयोगः इति भावः'।
—द्रष्टव्य, उद्योत २, पृ० २६३

२. 'अहितेषु यथा लौल्यात्कर्त्तुरिच्छोपजायते।
विषादिषु भयादिभ्यस्तथैवासौ प्रवर्तते'॥ —वा० प० ३।७।८०

३. हेलाराज, उक्त कारिका पर (पृ० २९६)—'लौल्यादिति। न प्रेक्षापूर्वकारिता घटिता सर्वत्रेप्सा, अपि तु प्रकारान्तरेणापि सम्भवतीत्यर्थः'।

४. तत्त्वबोधिनी, पृ० ४०९।

तम के समान ही क्रिया से युक्त) की संघटना दिखलाने के लिए तथा भाष्य के 'तर्हि अन्यत्करिष्यामीत्यन्यत्करोति तदुदाहरणम्' इस वाक्य की संगति के आग्रह से 'ओदनं भुञ्जानः' यह अंश भी जोड़ दिया गया है। जिस प्रकार भोजन-क्रिया से सम्बद्ध ओदन (ईप्सिततम होने से) कर्म है उसी प्रकार उसी क्रिया से सम्बद्ध विष अनीप्सित कर्म है। अन्य कार्य करते हुए अन्य कार्य करने का अर्थ है। 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' में भिन्न क्रियाएँ हैं तथा तृण अनीप्सित (उदासीन) कर्म है। हेलाराज ऐसे उदासीन कर्म को भी ईप्सित सिद्ध करते हैं कि ये तृण-वृक्षमूलादि पहले से अनीप्सित होने पर भी उस समय स्पर्श-वेला में ईप्सित ही हैं, नहीं तो स्पर्शन-क्रिया के विषय नहीं हो सकते थे। श्रम-परिहार के लिए या मनोविनोद के लिए इन तथाकथित अनीप्सित वस्तुओं को उन-उन क्रियाओं से व्याप्त किया जाता है, जिससे ये भी ईप्सित ही हो जाती हैं[1]।

दार्शनिक दृष्टिकोण से ईप्सित तथा अनीप्सित का भेद मिटाने पर भी व्यवहारतः पाणिनि-तन्त्र में सभी आचार्यों ने इनका भेद स्वीकार किया है। मुख्यतः इन्हीं दो सूत्रों पर कर्म का विशाल प्रासाद निर्मित हुआ है। यद्यपि पाणिनि ने अन्य कई सूत्रों के द्वारा भी कर्मसंज्ञा का विधान किया है (जिन्हें हम यथास्थान देखेंगे), तथापि परवर्ती विचारक अपना सारा ध्यान ईप्सिततम-सूत्र पर तथा कुछ अंशों तक अनीप्सित के विवेचन पर केन्द्रित किये जा रहे हैं।

न्यायदर्शन में कर्म-विवेचन

पिछले एक अध्याय में हम कह चुके हैं कि कर्म का सम्बन्ध धात्वर्थ-फल से होता है। कर्म को सकर्मक क्रिया से सम्बद्ध तथा उसके द्वारा उत्पाद्य फल का आश्रय मानने वाले बीज-लक्षण पर कर्म के सभी परवर्ती लक्षण आश्रित हैं। क्रिया के फल की चर्चा पाणिनि ने ही 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (१।३।७२) सूत्र में किया है, किन्तु वहाँ उसका लौकिक प्रयोग है कि जिस प्रधान फल के लिए क्रिया का आरम्भ होता है; जैसे स्वर्गफल के लिए यजन-क्रिया, यह फल प्रायः आकालिक या दूरवर्ती होता है। किन्तु धात्वर्थ-विवेचन में फल का यह शिथिलार्थ त्याग कर पारिभाषिक अर्थ ग्रहण किया गया है। इस शास्त्रीय अर्थ में फल वह है जो उस धातु के अर्थ (व्यापार) से जन्य हो तथा कर्तृवाचक प्रत्यय के सामीप्य में उस धातु के अर्थ के प्रति विशेषण हो[2]। हम जानते हैं कि 'पचति' क्रिया का फल विक्लित्ति (अन्नमार्दव) है। यह पाकक्रिया के द्वारा उत्पन्न होने योग्य है। पुनः कर्तृवाचक तिप्-प्रत्यय के सामीप्य में धात्वर्थ का विशेषण भी यह हो सकती है, जिससे 'विक्लित्तिजनिका (विशेषण) क्रिया (विशेष्य)' ऐसा अर्थबोध होता है। यह ध्यातव्य है कि कर्मवाचक प्रत्यय के सामीप्य में फल विशेष्य हो जाता है, विशेषण नहीं रहता।

---

१. द्रष्टव्य—हेलाराज ३।७।८० पर, पृ० २९७।

२. प० ल० म०, पृ० ८५।

जयन्तभट्ट की आपत्ति

जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी में[1] कर्म को क्रिया के द्वारा सम्पाद्य (साध्य) मानकर, उसे फल के रूप में व्यवस्थित करते हुए उसके कारकत्व का खण्डन किया है। क्रिया के द्वारा व्याप्त किये जानेवाले पदार्थों में इष्टतम का अर्थ फल ही हो सकता है। वह इसलिए कारक नहीं है कि क्रिया-सम्पादकत्व धर्म जो कारक की विशेषता है, उसमें नहीं। कोई पदार्थ एक ही साथ जनक तथा जन्य दोनों नहीं हो सकता। स्पष्टत: जयन्त ने कर्म क्रियाजन्य (फल) के रूप में माना है, फलाश्रय नहीं—इसी से यह सारी भ्रान्ति उत्पन्न हुई है।

पुरुषोत्तम द्वारा समाधान

ठीक ऐसी ही शंका कारकचक्र में पुरुषोत्तमदेव ने भी उठायी है, किन्तु जयन्त के विपरीत उन्होंने उसका समाधान भी किया है। वे पूर्वपक्ष से कहते हैं कि कारक तो क्रिया का निमित्त होता है, किन्तु कर्म स्वयं क्रिया के द्वारा साध्य है। अत: वह साधन और साध्य दोनों कैसे हो सकेगा? इसकी विशद व्याख्या उन्होंने कुछ श्लोकों का उद्धरण[2] देकर की है। उत्तर में कहा जा सकता है कि कर्ता क्रिया के द्वारा जिसे व्याप्त करना (अर्थात् उत्पन्न करना, विकृत करना या प्राप्त करना) चाहे वही कर्म है। इसलिए सभी कर्मों में स्वगत व्यापार तो रहता ही है। उसी व्यापार या क्रिया की अपेक्षा से उसका कारकत्व सिद्ध होता है। जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह उत्पत्ति-क्रिया के प्रति कर्ता रहकर बाद में कर्म बन जाता है (कटं करोति=कटमुत्पद्यमानमुत्पादयति)। 'भवति' के प्रयोग में जो कर्ता है वही 'करोति' का प्रयोग होने पर कर्म बन जाता है—कटो भवति=कटं करोति ('भवत्यर्थस्य य: कर्ता करोते: कर्म जायते'—कारकचक्र, पृ० १०७)। यदि यह चटाई (कट) अनुत्पत्तिधर्म वाली होती तो कर्ता उसे उत्पन्न नहीं कर सकता था। पुरुषोत्तम इसके अनन्तर कहते हैं कि कर्म में स्वगत क्रिया का कर्तृत्व (सम्पादकत्व) अवश्य स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रिय:' (पा० सू० ३।१।८७) निरर्थक हो जायगा। इस सूत्र में कर्तृभूत कर्म का कर्मवाच्य के सदृश रूप (कर्मवद्भाव) विहित है; जैसे—'पच्यते

---

१. 'क्रियासम्पादकं हि कारकमुच्यते। क्रियासम्पाद्यं तु फलं भवति, न कारकम्। कारकं च क्रियया चाप्तुमिष्टतममिति च विप्रतिषिद्धम्'। —वही, पृ० ३८३

२. 'निर्वर्त्यं कारकं नैव क्रिया तस्य हि साधिका।
विकार्यमपि भावेन विरोधान्नैव कारकम्॥
प्राप्यत्वात्पूर्विकावस्था न सा कर्म बुधैर्मता।
प्राप्यावस्था क्रियासाध्या साध्यत्वात्साधनं न हि॥
आत्मलाभे हि भावानां कारकापेक्षिता भवेत्।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्ति: स्वयमेव हि'॥

—कारकचक्र, पृ० १०६

ओदनः स्वयमेव'। ओदन (कर्म) में यदि स्वगत क्रिया नहीं होती तो क्रियारहित होने की स्थिति में कर्ता बनने की क्षमता भी उसमें नहीं रहती। न वह कर्ता बनता, न कर्मवद्भाव ही उपपन्न होता। इससे सिद्ध होता है कि कर्म में भी स्वगत क्रिया होती है, जिससे प्रयुज्यमान क्रिया की अपेक्षा से साध्य होते हुए भी स्वगत क्रिया की अपेक्षा से वह साधक भी होता है, अतः उसके कारकत्व में कोई दोष नहीं।

मीमांसा-दर्शन में कर्म

मीमांसा-दर्शन में भी कर्म को क्रिया-साध्य माना गया है। पार्थसारथिमिश्र ने शास्त्रदीपिका (पृ० १०९) में मीमांसासूत्र (२।१।१२) की व्याख्या करते हुए पाणिनि के उपर्युक्त दोनों सूत्रों के अनुरोध से साध्यत्व को द्वितीयार्थ माना है[१]। शबर ने प्रस्तुत स्थल में 'सक्तून् जुहोति' (तै० सं० ३।३।८।४) का उद्धरण देकर द्वितीया का अर्थ स्पष्ट किया है, यद्यपि इस उदाहरण में कर्मत्व के स्थान में करण-परिणाम करने की बात उठायी गयी है। इस विषय में भट्ट तथा गुरु के मतों में भेद है[२]।

भाट्ट-सम्प्रदाय का विवेचन व्याकरण में बहुत उद्धृत हुआ है। उसके अनुसार भूत पदार्थ (सिद्ध) को भव्य (साध्य, क्रिया) के उपयोग के लिए बतलाया जाता है, जिसे भूतभाव्युपयोग (भूतं भव्यायोपयुज्यते) कहते हैं। विधि की सर्वत्र प्रधानता होने से जहाँ कहीं भी द्रव्य का कर्म के साथ सम्बन्ध होता है द्रव्य को गुणभूत (गौण) तथा कर्म (क्रिया) को प्रधानभूत समझा जाता है। 'सक्तून् जुहोति' इस विधिवाक्य में होम प्रधानकर्म तथा सक्तु नामक भूत द्रव्य अप्रधान (गुणभूत) है। हम ऐसा नहीं कह सकते कि होम सक्तुओं के लिए है, प्रत्युत सक्तु ही होम के लिए है। सक्तु और होम का परस्पर सम्बन्ध कराना ही द्वितीया का काम है। होम के लिए अन्ततः उपयोगी (साधक) होने के कारण सक्तुओं में तृतीया विभक्ति (करण-कारक) में विपरिणाम करके 'सक्तुभिर्जुहोति' (सक्तुभिर्होमं भावयेत्)—इस रूप में वाक्यार्थ किया जाता है। भूतभाव्युपयोग में भव्य से इष्ट का बोध होता है। दूसरी ओर सिद्ध पदार्थ के अन्तर्गत संस्कार्य द्रव्य को रखा जाता है। जैसे—व्रीहीनवहन्ति (धान्य का अवघात करे)। इसका अर्थ है कि अवघात के द्वारा व्रीहियों की भावना करनी चाहिए (अवहननेन व्रीहीन्भावयेत्)। यह सत्य है कि व्रीहि सिद्धपदार्थ है तथा क्रिया का साधन है, तथापि उसमें द्वितीया-विभक्ति का साध्यत्व अर्थ तो है ही। ('सक्तून्

१. 'स्मृत्या साध्याभिधायित्वं द्वितीयायाः प्रतीयते।
कर्तुर्यदीप्सितं यच्च तथायुक्तमनीप्सितम् ॥
तत्कर्म तद् द्वितीयार्थ इत्येवं पाणिनेः स्मृतिः।
बलीयसी च साचारात्प्रयोगश्चास्ति तादृशः' ॥
—शास्त्रदीपिका, निर्णयसागर प्रेस, १९१५, पृ० १०९

२. द्रष्टव्य—जैमिनीयन्यायमालाविस्तर (आनन्दाश्रम सं०) में पृ० ६७ पर दोनों का मतभेद।

जुहोति' में हवन-कर्म रहने से दूसरी स्थिति है।) किन्तु यह साध्यत्व भाव्य के अर्थ में नहीं है, इसका अर्थ है—संस्कार्यमात्र। दूसरे शब्दों में—जैसे किसी वस्तु को झाड़-पोंछ देने से उसमें निर्मलतारूप संस्कार आ जाता है तथा वह किसी दूसरे सामान्य उद्देश्य की सिद्धि में उपयुक्त हो सकती है; उसी प्रकार व्रीहि का अवघात करके उसे संस्कृत (संसारयुक्त) किया जाता है, जिससे वह अदृष्ट-विशेष का साधन बन सके[1]।

संस्कार-द्रव्य

तदनुसार सक्तु-विधि में संस्कार्य द्रव्य न रहने के कारण इसका विभक्तिव्यत्यय करना अनिवार्य है, जब कि व्रीहि के संस्कार्य होने के कारण द्वितीया के अर्थ में कोई असंगति नहीं है। इस प्रकार द्वितीयार्थ साध्यत्व को शक्तिविशेष या कर्मत्वशक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है। मीमांसकों की यह मान्यता ही उपर्युक्त जयन्त तथा पुरुषोत्तम के विवेचनों में 'क्रियासाध्य कर्म' का उपजीव्य है, ऐसा अनुमान होता है।

मीमांसकों के इस विवेचन का संक्षिप्त रूप वैयाकरणभूषण (पृ० ११४-५) तथा लघुमञ्जूषा (पृ० १२२५-६) में भी समाविष्ट है। किन्तु दोनों के निष्कर्षों में अन्तर है। भूषणकार साध्यत्व को शक्तिविशेष मानकर भी कर्मत्वशक्ति को वाच्य समझते हैं। असंगति यह है कि कर्म में द्वितीया का नियम मानना तथा साध्यत्व को द्वितीयार्थ स्वीकार करना—दोनों नहीं चल सकता; वह भी तब जब कि 'सक्तून्' में करणार्थक द्वितीया भी सम्भव है। नागेश इसका परिहार करते हैं कि यह सब कुछ वेद में ही होता है, लोक में नहीं। वेद में कर्मत्व-शक्ति अदृष्ट-विशेष के साधन के रूप में जो संस्कार्य द्रव्य होता है, उसी के समानाधिकरण होती है। द्वितीयार्थ का यही स्वरूप है[2]।

नव्यन्याय में कर्मलक्षण तथा उनकी आलोचना

अब हम नव्यन्याय के आचार्यों के द्वारा विवेचित कर्मत्व का निरूपण करें, क्योंकि नव्यव्याकरण में पूर्वपक्ष के रूप में मत बहुधा उद्धृत हैं। सामान्य रूप से नैयायिकों ने कर्म के सम्बन्ध में निम्नलिखित लक्षण दिये हैं—

(१) **करणव्यापारविषयः कर्म**—चूड़ामणि-कृत न्यायसिद्धान्तमञ्जरी की टीका न्यायसिद्धान्तदीप में शशधर ने इसकी स्थापना की है[3] तथा न्याय के अन्य ग्रन्थों में

---

१. (क) 'यद्यपि व्रीहयः सिद्धा एव क्रियायाः साधनानि च, तथापि अदृष्ट-विशेषसाधनत्वरूपसंस्कार्यत्वमेवात्र साध्यत्वं बोध्यम्'। —ल० म०, पृ० १२२६

(ख) 'सक्तूनां तु भूतभाव्युपयोगरहितत्वान्न समीहितत्वमस्ति'।

—शास्त्रदीपिका, पृ० ११०

२. 'तेषामयं भावः—वेदे कर्मत्वशक्तिः प्रागुक्तसंस्कार्यत्वसमानाधिकरणैव इत्येतावता तस्य (संस्कार्यत्वस्य) द्वितीयार्थत्वम्'। —ल० म०, पृ० १२२६

३. द्रष्टव्य—न्यायकोश, पृ० २०८, २१३-४।

(तत्त्वचिन्तामणि, कारकचक्र इत्यादि) भी पूर्वपक्ष के रूप में निर्दिष्ट है। नव्य-वैयाकरणों ने भी कर्मविषयक न्यायमत का प्रतिपादन करते हुए इसकी चर्चा की है[1]। करण-कारक के व्यापार का विषय होने का अर्थ है कि कर्म-कारक करण से उत्पन्न होनेवाली क्रिया के अनुकूल व्यापार का विषय है। 'दात्रेण धान्यं लुनाति' (हँसुए से धान काटता है) इस उदाहरण में दात्र करण है, उससे उत्पन्न होनेवाली लवन (छेदन) क्रिया के अनुकूल संयोगरूप व्यापार का आश्रय धान्य है, अतः वह कर्म है। क्रियानुकूल व्यापार का करण-जन्य होना अनिवार्य है, अन्यथा उक्त व्यापार का आश्रय न केवल कर्म ही होगा, प्रत्युत करण एवं कर्ता को भी यह सौभाग्य प्राप्त हो जायेगा। कर्म के अतिरिक्त करण (दात्र) तथा कर्ता इन दोनों में तो क्रियानुकूल व्यापार रहता है। 'करणजन्य' विशेषण लगा देने से यह अतिव्याप्ति समाप्त हो जायगी, क्योंकि करणजन्य संयोगादि व्यापार केवल कर्म में ही रहता है।

इस लक्षण में सबसे प्रधान दोष यह है कि किसी दूसरे करण से उत्पाद्य क्रिया व्यापार के आश्रय प्रस्तुत करण में भी अतिव्याप्त हो जाता है। 'दात्रेण धान्यं लुनाति' में छेदन-क्रिया के अनुकूल हस्त (करण) से उत्पाद्य (हस्तसंयोगरूप) व्यापार का आश्रय तो दात्र भी है। उसे भी कर्म मानना पड़ेगा[2]।

(२) **क्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वम्**—कर्म का यह लक्षण प्राचीन नैयायिकों के नाम से अनेकत्र निर्दिष्ट है। यद्यपि भवानन्द इसका उल्लेख अपने कारकचक्र में नहीं करते तथापि व्युत्पत्तिवाद में गदाधर इसका विस्तृत विवेचन करते हैं, किन्तु अन्त में 'इति प्राचीनपथपरिष्कारप्रकारः' कहकर इससे अपनी अरुचि प्रदर्शित करते हुए दूसरे लक्षण को स्वीकार्य समझते हैं (पृ० १२६-९)। वैयाकरणभूषण में नैयायिकों के मत के रूप में (पृ० १०१) तथा परमलघुमञ्जूषा (पृ० १७६) में तार्किकों के पूर्वपक्ष से यह लक्षण उद्धृत है। नव्यन्याय के कारक-विषयक प्रतिनिधि-ग्रन्थ व्युत्पत्तिवाद में द्वितीयाकारक-प्रकरण के प्रारम्भ में विवेचन होने के कारण इस लक्षण को लोग सभी नैयायिकों के द्वारा सम्मत लक्षण समझते हैं। इसमें सत्य का अंश इतना ही है कि नव्यन्याय में कर्म-विवेचन की आधारशिला यही है। धातु का अर्थ व्यापार मानते हुए क्रिया का बोध भी धातु से किया जाता है। अतएव धात्वर्थ-रूप व्यापार से उत्पाद्य फल (संयोगादि) धारण करनेवाले अर्थात् उसके आश्रय को कर्म कहते हैं। 'ओदनं पचति' इत्यादि उदाहरणों में इसका संघटन सम्यक् प्रकार से हो सकता है।

गदाधर ने इस लक्षण का पूर्ण विश्लेषण करके प्राचीन आचार्यों के प्रति श्रद्धा

---

१. करणव्यापारवत्त्वम्; कारकचक्र में व्यापार्यत्वम्; कारकवाद में व्यापारित्वम्—इस प्रकार पाठभेद भी हैं। —प० ल० म०, पृ० १७५

२. 'तच्च दात्रेण लुनातीत्यादौ हस्तादिकरणव्यापार्ये दात्रेऽतिव्याप्तम्'।
—कारकचक्र, पृ० १९

के कारण प्रायः समर्थन ही किया है, किन्तु वैयाकरणों ने न्याय की दृष्टि से ही इसमें दोष दिखलाये हैं। गंगेश की अनास्था भी उनके द्वारा लगाये गये 'परसमवेत' के कारण स्पष्ट ही है। इसमें भी अतिव्याप्ति-दोष है, क्योंकि 'ग्रामं गच्छति' में गमन-क्रिया से उत्पन्न होनेवाले संयोगरूप फल का आश्रय न केवल ग्राम है प्रत्युत कर्ता में भी वह संयोग अवस्थित है। संयोग चूँकि एक सम्बन्ध है अतः दोनों सम्बद्ध पदार्थों में (कर्ता तथा ग्राम-कर्म में) समान रूप से आश्रित है। अतः यह लक्षण ऐसे उदाहरणों में कर्म को व्याप्त करने के साथ-साथ कर्ता को भी व्याप्त कर लेता है। संयोग-रूप फल के दोनों सम्बन्धियों में (कर्म तथा कर्ता में) समानरूप से अवस्थित रहने के कारण ही 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' जैसे असंगत प्रयोग होने लगेंगे। यहाँ चैत्र गमन-क्रिया का कर्ता भी है तथा संयोगरूप फल का आश्रय होने से कर्म भी है। किन्तु वास्तव में इससे कुछ भी अर्थ नहीं निकलता। पाणिनि-व्याकरण का आश्रय लेकर इस आपत्ति का परिहार किया जा सकता है। ग्राम के समान चैत्र फलाश्रय तो है (जिससे उसे कर्म माना गया है) किन्तु परसूत्र में आनेवाली कर्तृसंज्ञा कर्मसंज्ञा को रोक देगी। द्वितीया विभक्ति लाने में उसकी संज्ञा नियामक होती है। जो कुछ भी हो, इस लक्षण की त्रुटि का परिमार्जन इसके बाद वाले लक्षण में किया गया है।

(३) **परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वम्**—सर्वप्रथम गंगेश उपाध्याय के द्वारा प्रवर्तित तथा कारकचक्र, वैयाकरणभूषण, लघुमंजूषा इत्यादि ग्रंथों में पूर्वपक्ष के रूप में विवेचित इस लक्षण में पूर्वलक्षण के दोषों का समुचित परिहार हो जाता है। इसके अनुसार कर्म उस क्रिया से जन्य फल को धारण करता है जो (क्रिया) किसी दूसरे (=कर्म से भिन्न अर्थात् कर्ता) पदार्थ में समवेत (अविच्छेद्यतया अवस्थित) हो। तदनुसार 'ग्रामं गच्छति' में ग्राम इसलिए कर्म है कि क्रिया ग्राम से भिन्न दूसरे (रामादि कर्ता) में समवेत है। रामादि कर्ता में कर्मत्व की अतिव्याप्ति इसलिए नहीं होगी कि उसे (रामादि कर्ता को) जो गतिक्रिया का संयोगरूप फल मिल रहा है वह क्रिया परसमवेत नहीं, प्रत्युत राम में स्वसमवेत है। इससे 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' इत्यादि प्रयोगों की आपत्ति का परिहार होगा।

इस लक्षण पर भी बहुविध आपत्तियाँ उठायी गयी हैं। सर्वप्रथम भवानन्द आक्षेप करते हैं कि गम्-धातु का अर्थ जो संयोगावच्छिन्न क्रिया है, उससे जन्य 'विभाग' के रूप में फल प्रकट होगा। अतः 'गृहात् वनं गच्छति' ऐसे उदाहरणों में विभागरूप फल गृह को मिलने से उसे भी कर्मसंज्ञा प्राप्त होगी। दूसरे, पत्-धातु का अर्थ अधः-संयोग से अवच्छिन्न क्रिया है, जिससे विभागरूप फल उत्पन्न होता है। फलतः 'पर्वताद् भूमिं पतति' में विभागरूप फल पर्वत को मिलने से उसे कर्मसंज्ञा हो जायगी। दूसरे शब्दों में—इन दोनों धातुओं के प्रयोग में पूर्वदेश की कर्मसंज्ञा होने का प्रसंग आ जायगा। यदि पत्-धातु का अकर्मक प्रयोग हो तो 'पर्णं पतति भूमौ' में फल तथा व्यापार के एकनिष्ठ (कर्ता में स्थित) होने के कारण उत्तरदेश 'भूमि' को भी कर्म मानने का प्रसंग आ जायगा, जो विशुद्ध असंगति है—अकर्मक क्रिया तथा

कर्म की उपस्थिति व्याघात है। पुनः त्यज्-धातु का अर्थ विभागावच्छिन्न व्यापार और उसका फल संयोग है। इसके फलस्वरूप इसके प्रयोग में उत्तरदेश को कर्म मानना पड़ेगा, क्योंकि त्याग-क्रिया का फल (=संयोग) उसी को प्राप्त होता है। इसी प्रकार स्पन्द-धातु का (जिसका अर्थ क्रियामात्र है) संयोग तथा विभाग दोनों ही फल है। यदि इस धातु का विभागरूप फल लें तो पूर्वदेश में अतिव्याप्ति होगी (=पूर्वदेश कर्म हो जायगा) और यदि संयोगरूप लें तो उत्तरदेश को कर्म कहना पड़ेगा। इस प्रकार अतिव्याप्ति का समुदाय इस लक्षण को परास्त कर देगा[1]।

इतने आक्षेपों से भी भवानन्द को संतोष नहीं। वे पुनः कहते हैं कि 'तीरे नदी वर्धते' इस वाक्य में वृद्धि का अर्थ है—अवयवों का उपचय। इस रूप में विद्यमान क्रिया का परम्परा-सम्बन्ध से[2] तीर-प्राप्ति के रूप में फल मिलता है। सरलार्थ यह है कि नदी की वृद्धि जल की वृद्धि है, जो धीरे-धीरे तीर तक पहुँच रहा है। प्रत्यक्षतः भले ही न हो, किन्तु नदी के बढ़ने का फल जल की तीर-प्राप्ति (नदी-तीरसंयोग) ही है। अतएव अवयवों के उपचय से उत्पन्न संयोगरूप फल का आश्रय नदी का तीर है, जिसमें उपर्युक्त लक्षण के अनुसार कर्मत्व की प्रसक्ति होगी[3]।

इस लक्षण में 'पर' शब्द के अर्थ के विषय में भी अनेकशः शंकाएँ होती हैं। पर का सामान्य अर्थ है—भिन्न; तदनुसार यह सापेक्ष शब्द है, क्योंकि तुरन्त प्रश्न होगा कि किससे भिन्न? कर्म से या फलाश्रय से? यदि 'कर्म से भिन्न पदार्थ (कर्ता) में समवेत व्यापार···' ऐसा अर्थ लें तो विचित्र असंगति होगी। एक तो कर्म के लक्षण में जब कर्म को ज्ञातपूर्व पदार्थ के रूप में ग्रहण करते हैं तो उसके लक्षण का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता—ऐसा करना अन्योन्याश्रय-दोष है, क्योंकि लक्ष्यभूत कर्म-पदार्थ के बोध के लिए कर्म का ज्ञान करके उससे भिन्न पदार्थ का ज्ञान करना होगा। दूसरी बात यह है कि प्रतिपाद्य वस्तु का प्रतिपादन तद्भिन्नत्वाभाव कहकर करना उचित नहीं। अपोह की यह प्रक्रिया अन्तिम गति है। अतः कर्म के लक्षण में 'कर्मभिन्न' शब्द का प्रयोग असंगत है।

अब यदि फलाश्रय से भिन्न के अर्थ में 'पर' शब्द का ग्रहण करके यह अर्थ निकालें कि फलाश्रय से भिन्न वस्तु में समवेत क्रिया-व्यापार से उत्पाद्य फल को धारण करनेवाला कर्म है तो यह आपत्ति होगी कि जिस प्रकार फलाश्रय से भिन्नता के अभाव में (भिन्न न होने के कारण) देवदत्त कर्म नहीं है, उसी प्रकार ग्राम भी कर्म नहीं

---

१. 'गमिपत्योः पूर्वस्मिन्देशे, त्यजेश्चोत्तरस्मिन्देशे, स्पन्देः पूर्वापरयोश्च कर्मत्व-प्रसङ्गात्'। —कारकचक्र, पृ० १९

२. स्वसमवायिसंयोगसम्बन्धेन—स्व = नदी, उसके समवायी = जलबिन्दु, उनका संयोग तीर के साथ है।

३. "एवं 'तीरे नदी वर्धते' इत्यादौ वृद्धेरवयवोपचयस्य परम्परया तीरप्राप्तिफल-कत्वात् तज्जन्यफलाश्रये तीरेऽतिव्याप्तेः"। —का० च०, पृ० २०

ही हो सकेगा। दोनों ही गमन-क्रिया से जन्य संयोगरूप फल को धारण करते हैं[१]। इस प्रकार 'परसमवेत' लगाने का कोई फल नहीं हुआ—पूर्व लक्षण के दोष तो रह ही गये। नागेश ने पूर्वपक्ष में इस लक्षण के 'परसमवेत' अंश के व्याख्यान में 'पर' शब्द का अर्थ 'द्वितीयाविभक्ति के प्रकृत्यर्थ से भिन्न' माना है[२]। चूँकि द्वितीया कर्म में हुई है अतः यहाँ भी कर्मभिन्नता और परत्व में कोई अन्तर नहीं। भले ही शब्दों का अन्तर प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में दोनों एक हैं। बालम्भट्ट ने इसकी व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है कि 'कर्म से भिन्न कर्ता में समवेत' यह अर्थ है[३]।

(४) **तत्क्रियानाश्रयत्वे सति तत्क्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वम्**—उपर्युक्त परत्वा-संगति से रक्षा के लिए नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत यह कर्मत्व-लक्षण कातन्त्र-सम्प्रदाय में बाद में स्वीकृत हुआ है[४]। इसके अनुसार (कर्ता के समान) प्रकृत क्रिया का आश्रय न रहकर, जो उस क्रिया से जन्य फल का आश्रय होता है उसे ही कर्म कहेंगे। इस प्रकार देवदत्त (कर्ता) जो गमन-क्रिया का संयोगरूप फल कर्म के समान ही पा रहा है, कर्म नहीं कहला सकता; क्योंकि वह उस गमन-क्रिया का भी आश्रय है। कर्म कहलाने के लिए उसे क्रिया का आश्रय नहीं रहना चाहिए।

इस लक्षण के अनुसार कर्ता का तो वारण हो जाता है, किन्तु अन्य कारकों को हम कर्म होने से नहीं रोक सकते। अतएव अभी भी लक्षण में अतिव्याप्ति-दोष लगा ही हुआ है। 'पर्वतादवरोहति' में इस लक्षण की दुर्बलता प्रकट होती है। इसमें पर्वत प्रस्तुत कर्मलक्षण पर बिलकुल खरा उतरता है, क्योंकि वह स्पन्दनरूप क्रिया का आश्रय नहीं है (तत्क्रियानाश्रयत्वे सति) और क्रियाजन्य विभागरूप फल का आश्रय भी है। अतः पर्वत के कर्म होने का प्रसंग आ जायगा अर्थात् यह कर्मलक्षण अपादानादि कारकों में अतिव्याप्त है[५]। इस अतिव्याप्ति के वारणार्थ कालाप-सम्प्रदाय वाले लक्षण का परिष्कार करते हैं—'तत्क्रियानाश्रयत्वे सति धात्वर्थावच्छेदकीभूत-तत्क्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वम्'। इसमें धात्वर्थ के अवच्छेदक के रूप में क्रियाफल का प्रदर्शन किया गया है, जो बहुत महत्त्वपूर्ण विशेषण है। इसका प्रतिपादन नैया-यिकों के अगले कर्मलक्षण में हुआ है।

(५) **धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं कर्मत्वम्**—भवानन्द अपने कारकचक्र में इसे सिद्धान्तपक्ष की ओर से उपस्थित करते हैं[६]। गदाधर के व्युत्पत्तिवाद में भी यह

---

१. व्या० द० इ०, पृ० २७२ में विवेचित।

२. 'तत्र द्वितीयया स्वप्रकृत्यर्थापेक्षया परत्वं बोध्यते'। —ल० म०, पृ० १२२२

३. 'तथा च चैत्रो ग्रामं गच्छतीत्यादौ चैत्ररूप-ग्रामान्यनिष्ठ-क्रियाजन्य-धात्वर्थ-तावच्छेदक-संयोगरूप-फलशालित्वाद् द्वितीया'। —वहीं, कलाटीका

४. व्या० द० इति०, पृ० २७२ पर उद्धृत।

५. द्रष्टव्य—वहीं।

६. का० च०, पृ० २०।

नव्य-नैयायिकों के सिद्धान्त के रूप में विवेचित है। वैयाकरणभूषण तथा मञ्जूषाओं में भी खण्डन के लिए इसका उद्धरण दिया गया है[1]।

प्रत्येक धातु में कुछ-न-कुछ शक्ति अवश्य रहती है। उस शक्ति को धात्वर्थता कहते हैं, यह धातु से जन्य उपस्थिति विषयक विशेष्यता है। उसे निरूपित करनेवाले व्यापार (धात्वर्थतावच्छेदक) को यहाँ विशेषण के रूप में लाया गया है। धात्वर्थ-रूप विशेष्य का विशेषण अर्थात् 'फलावच्छिन्न व्यापार' के रूप में स्वीकृत धात्वर्थ का विशेषण फल है[2]। धात्वर्थ को फलानुकूल या फलावच्छिन्न व्यापार के रूप में स्वीकार करने से धात्वर्थतावच्छेदक के स्थान पर केवल 'धात्वर्थ' कहकर भी काम चलाया जा सकता है, जैसा कि नागेशभट्ट ने लघुमंजूषा में नैयायिकों के मत-स्थापन में प्रसंग में उनका उद्धरण देने में किया है।

इस लक्षण से उपर्युक्त अनेक स्थलों की अतिव्याप्ति का परिहार हो जाता है। ऊपर गम् तथा पत्-धातुओं के प्रयोग में पूर्वदेश में अतिव्याप्ति (कर्मत्व की प्रसक्ति) बतलायी गयी है; इस लक्षण के अनुसार हम कह सकते हैं कि इन धातुओं का अर्थ केवल स्पन्दन नहीं है, प्रत्युत गम्-धातु का फल है—उत्तर-देश-संयोग; इसी में धातुनिष्ठ शक्ति का निरूपण करनेवाली अवच्छेदकता अवस्थित है। पत्-धातु का भी तदनुसार अधोदेश संयोग ही फल है। अतः इन धातुओं के संयोगरूप फल का निवास केवल उत्तरदेश में रहने के कारण पूर्वदेश में अतिव्याप्ति नहीं होगी। गम् और पत् का वाच्यार्थ संयोगानुकूल व्यापार है, जिसमें 'संयोग' विशेषण है तथा 'व्यापार' विशेष्य। अत. व्यापार में स्थित विशेष्यता का अवच्छेदक विशेषणरूप संयोग ही है, विभाग नहीं। कारण यह है कि विभाग उस धातु का वाच्य नहीं है[3]।

इसी प्रकार त्यज्-धातु का अर्थ है—विभागानुकूल व्यापार। यहाँ व्यापारनिष्ठ विशेष्यता का अवच्छेदक विभाग है, संयोग नहीं; क्योंकि संयोग धातुवाच्य (धात्वर्थ) है ही नहीं। फलतः 'वृक्षं त्यजति खगः' में उत्तरदेश के कर्मत्व का प्रसंग नहीं आता—विभाग का आश्रय वृक्ष है, उसे कर्म होगा ही। हम अपादान के प्रसंग में विवेचन करेंगे कि वृक्ष विभागाश्रय होने पर भी अपादान इसलिए नहीं है कि यहाँ

१. द्रष्टव्य—व्युत्पत्तिवाद, पृ० १३०; प० ल० म०, पृ० १७६।

ल० म०, पृ० १२२२ पर संक्षिप्त रूप में कुछ परिष्कृतियों के साथ—'यत्तु परसमवेतक्रियाजन्यधात्वर्थफलाश्रयत्वं कर्मत्वम्'।

२. 'धात्वर्थतावच्छेदकत्वमिति। फलावच्छिन्नव्यापारस्य धात्वर्थत्वमिति वादिनां मतेनेदम्। तथा च तन्मते धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं कर्मत्वं द्वितीयार्थः'।

—वै० भू० सा०, दर्पण, पृ० १४१

३. 'एवं च संयोगानुकूलव्यापारस्य गमिपत्यर्थत्वात् व्यापारनिष्ठविशेष्यताया अवच्छेदकत्वं विशेषणीभूतसंयोगे एवास्ति, न तु विभागे। विभागस्य धातुवाच्यत्वा-भावात्'।

—प० ल० म०, ज्योत्स्ना, पृ० १७६

विभाग प्रकृत धातु (त्यज्) का वाच्य ही है। धातु का वाच्यार्थ जहाँ विभाग नहीं हो (जैसे—गम्, पत् आदि धातुओं का) वहीं विभागाश्रय को अपादान कहते हैं[1]। जहाँ विभाग प्रकृत धातु का वाच्यार्थ हो वहाँ अपादान तथा कर्म दोनों संज्ञाओं की युगपत् प्राप्ति होने पर 'अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते'[2] इस परिभाषा के अनुसार कर्म ही होगा।

पत्-धातु के अर्थ में यदि अधोदेशरूप कर्म को अन्तर्भूत करके (धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात्) इसे अकर्मक बना दें तो 'पर्णं वृक्षाद् भूमौ पतति' प्रयोग भी संगत होता है[3]। इसमें अधोदेश संयोगरूप फल के आश्रय के रूप में विवक्षित है।

इसी प्रकार इस लक्षण के अनुसार स्पन्द् तथा वृध् धातुओं के द्वारा फलावच्छिन्न व्यापार का बोध नहीं होने से क्रमशः पूर्व तथा अपर देशों में और तीर में कर्मत्व का प्रसंग नहीं आता। वस्तुस्थिति यह है कि ये धातु अकर्मक हैं, सकर्मक नहीं। फलावच्छिन्न व्यापार का बोध कराने पर धातुओं को मुख्यरूप से सकर्मक कहा जाता है। वैसी स्थिति में ही इनके साथ कर्म आता है, अन्यथा नहीं। 'नदी तीरे वर्धते', 'स्पन्दते' इत्यादि व्यापारमात्र के बोधक हैं, फलावच्छिन्न व्यापार के नहीं; इसलिए इनमें धातु अकर्मक हैं।

भवानन्द यहाँ प्रश्न उठाते हैं कि ऐसी स्थिति में 'घटं जानाति' इत्यादि में ज्ञा धातु तो फलावच्छिन्न व्यापार का बोधक नहीं है, तब घट को कर्म कैसे माना जाय? इसका उत्तर यह है कि ज्ञा (जानाति), द्विष् (द्वेष्टि), इष् (इच्छति), कृ (करोति) इत्यादि धातुओं से सविषयक पदार्थ का बोध होता है। अतः विषयिता के रूप में विभक्त्यर्थ के द्वारा पदार्थ (नामार्थ) का अन्वय मानकर सकर्मकता की व्यवस्था की जा सकती है। किन्तु यहाँ गौण सकर्मकता होती है[4]। 'विषयिता के रूप में विभक्त्यर्थ' का उल्लेख इसलिए हुआ है कि केवल 'विभक्त्यर्थ' कहने पर 'आश्रयत्वरूप' विभक्त्यर्थ से नामार्थ से अन्वय-बोध हो जाने पर भू आदि धातुओं को भी सकर्मक मानना पड़ता। विषयिता रूप विभक्त्यर्थ के द्वारा अन्वय न होने के कारण यत्-धातु (यतते) अकर्मक है, यद्यपि उद्देश्यता रूप विभक्त्यर्थ के द्वारा (जैसे—भोजनाय यतते) नामार्थ का अन्वय होता है। 'भोजनं यतते' यह प्रयोग नहीं होता। कुछ लोगों का कथन है कि यत्-धातु है तो सकर्मक ही, किन्तु जैसे 'मातुः स्मरति' में 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (पा० सू० २।३।५२) में कर्म में द्वितीया को

---

१. "ननु 'वृक्षं त्यजति खगः' इत्यत्र वृक्षस्य विभागरूपफलाश्रयत्वेनापादानत्वमस्त्विति चेन्न। अत्र हि विभागः प्रकृतधात्वर्थः। यत्र च विभागो न प्रकृतधात्वर्थस्तद्विभागाश्रयस्यैवापादानत्वम्, यथा 'वृक्षात्पतती'त्यादौ"। —प० ल० म०, पृ० १७७

२. भाष्य २, पृ० १०१।

३. प० ल० म०, पृ० १७६।

४. कारकचक्र, पृ० २०।

रोककर षष्ठी होती है, उसी प्रकार 'भोजनाय यतते' में भी द्वितीया के स्थान में चतुर्थी होती है[१]।

'पर्वतादवरोहति' में जो कालापक सुषेण के द्वारा पूर्वोक्त लक्षण से पर्वत के कर्मत्व का प्रसंग आने की आशंका उठायी गयी है, उसका परिहार भी यह लक्षण करता है। अवरोहण क्रिया का वाच्यार्थ है—उत्तरदेश-संयोग, न कि विभाग। उक्त संयोगरूप फल पूर्वदेश में नहीं रहता कि पर्वत को कर्म कहें। पतन-क्रिया के समान इसके अकर्मकत्व (अधोदेशरूप कर्म के धात्वर्थनिविष्ट होने पर) या सकर्मकत्व (संयोगमात्र फल विवक्षित होने पर) की व्यवस्था होती है[२]।

द्वितीय लक्षण की आलोचना के समय जो 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' के प्रयोग की आपत्ति दिखलायी गयी थी, उसका परिहार यह लक्षण नहीं कर पाता। भूषण में कहा गया है (पृ० १०१) कि 'भूमिं प्रयाति विहगो विजहाति महीरुहम्' में कर्मत्व की उपपत्ति होने के साथ-साथ 'आत्मानं त्यजति' इत्यादि अनिष्ट प्रयोग भी होने लगेंगे। इसलिए प्रस्तुत लक्षण में 'पर-समवेत' विशेषण लगा देना अनिवार्य है। चूँकि गम्-धातु का धात्वर्थफल (संयोग) चैत्र में है, अतः कर्मत्व की आपत्ति हो सकती थी। किन्तु चैत्र में जो धात्वर्थफल अवस्थित है वह उसके स्वसमवेत व्यापार का फल है। यह कहा जा चुका है कि प्रकृत्यर्थ से भिन्न को 'पर' कहते हैं। इस प्रकार 'पर-समवेत' विशेषण कर्मलक्षण का परिष्कार करता है[३]। इस लक्षण के अनुसार 'भूमिं प्रयाति' में द्वितीया-विभक्ति धारण करने वाले भूमि-शब्द की अपेक्षा से ही भिन्नता दिखलायी जाती है—'भूमि-भिन्न-समवेत-भूमिवृत्तिसंयोग-जनक-स्पन्दानुकूलकृतिमान्'। यह नैयायिकों का वाक्यबोध है।

यह नहीं कह सकते कि जैसे उभयकर्मज संयोग के स्थान में 'मल्लो मल्लं गच्छति' का प्रयोग होता है, वैसे ही 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' या 'मल्लः स्वं गच्छति' का प्रयोग भी सम्भव हो सकेगा। दोनों मल्लों में स्थित क्रिया से प्रथम प्रयोग उपपन्न होता है। एक मल्ल से भिन्न दूसरे मल्ल में समवेत-क्रिया प्रथम मल्ल में स्थित संयोग को उत्पन्न करती है; अर्थात् यहाँ गमन-क्रिया स्वसमवेत नहीं, परसमवेत ही है। किन्तु जब चैत्र या मल्ल एकत्व संख्या से विशिष्ट हों (एक ही चैत्र या एक ही मल्ल हो) तो परसमवेतत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। नैयायिकों के शब्दों में—परसमवेत क्रिया की आश्रयता 'स्व' में बाधित हो जाती है। इसीलिए स्वं 'गच्छति' इत्यादि प्रयोग नहीं होते। यह

---

१. का० च०, व्याख्या, पृ० २२।

२. व्या० द० इ०, पृ० २७३ पर उद्धृत सुषेण का मत—

'क्रियावच्छेदकं यत्र फलं कर्त्रा विवक्षितम्।
तदैव कर्मधातुश्च फलानुक्तावकर्मकः'॥

३. 'स्वभिन्नसमवेतो यो धात्वर्थस्तन्निष्ठं यद्धात्वर्थत्वं तदवच्छेदकीभूत-धर्मवत्त्वं तत्क्रियाकर्मत्वमित्यर्थः'। —का० च०, व्याख्या, पृ० २२

अवश्य है कि जहाँ स्व या आत्मन् का प्रयोग 'पूर्ण स्वरूप' के अर्थ में न होकर कुछ स्वगत भेद का प्रदर्शन करते हुए हो, वहाँ कर्मत्व की उत्पत्ति होती है; यथा—'आत्मा-नमात्मना वेत्सि'[1]। यहाँ कर्ता, कर्म और करण के पृथक्-पृथक् अर्थ कल्पित हैं। इसी प्रकार सर्वदर्शनसंग्रह के बौद्ध-दर्शन के आरम्भ में 'यदि शिंशपा वृक्षत्वमतिपतेत् स्वात्मानमेव जह्यात्' ऐसा प्रयोग है। यहाँ आत्मा का प्रयोग सामान्य धर्म के अर्थ में किया गया है जो शिंशपा से भिन्न पदार्थ के रूप में विवक्षित है[2]।

परमलघुमञ्जूषाकार नैयायिकों के द्वारा परिष्कृत इस लक्षण में 'परसमवेत' के स्थान पर 'व्यापारानधिकरणत्वे सति' ऐसा विशेषण मानते हैं। तात्पर्य यह है कि व्यापार (गमन-क्रिया) का अधिकरण होने के कारण 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' में चैत्र कर्म नहीं हो सकता। वह कर्म तभी हो सकता है जब सम्बद्ध व्यापार का अधिकरण (आश्रय) नहीं हो तथा धात्वर्थतावच्छेदक फल भी धारण करे।

नैयायिकों के इस अन्तिम कर्मलक्षण में नागेश को कई प्रकार से अव्याप्ति दिखलायी पड़ती है। केवल गम्-धातु के ही प्रयोगवाले इन तीन वाक्यों में इस लक्षण की प्रवृत्ति नहीं हो पाती, अन्य वाक्यों का क्या कहना ?—(१) 'काशीं गच्छन्पथि मृतः' (काशी जाने के क्रम में रास्ते में मर गया)—उपर्युक्त प्रकार से गम्-धातु का धात्वर्थतावच्छेदक फल संयोगरूप होता है। किन्तु जानेवाला व्यक्ति काशी तो पहुँच नहीं सका अतः उक्त संयोगरूप फल धारण न कर सकने के कारण काशी को कर्मसंज्ञा नहीं हो सकेगी। (२) 'काशीं गच्छति, न प्रयागम्'—इस उदाहरण में प्रयाग उक्त संयोगरूप फल धारण नहीं कर रहा है, अतः उसे भी कर्म नहीं कह सकेंगे (३) 'ग्रामं न गच्छति'—इस निषेध-वाक्य में ग्राम को संयोग के अभाव में इसी प्रकार कर्मत्व नहीं हो सकेगा[3]।

लघुमञ्जूषा (पृ० १२२२) में नागेश नैयायिकों के उक्त मत को ईषत् शब्दान्तर के द्वारा प्रकट करते हैं—'परसमवेत-क्रियाजन्यधात्वर्थफलाश्रयत्वं कर्मत्वम्'। इसका उपर्युक्त प्रकार से विश्लेषण करने के बाद यह प्रतिपादित किया गया है कि क्रिया का फल धातु से ही ज्ञात हो जाता है, इसलिए द्वितीया-विभक्ति या कर्मप्रत्यय का अर्थ आधेयत्व तथा भेद को स्वीकार किया जाता है। नागेश द्वारा अनूदित यह मत प्रायः तत्त्वदीधितिकार रघुनाथ का है, जिसका निर्देश भूषणसारदर्पण (पृ० १४२) में हरिवल्लभ ने भी किया है। भूषणसार की काशिका टीका (पृ० ३७१) में हरिराम भी इस मत का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। द्वितीयार्थ-विषयक इस न्यायमत के अनुसार

---

१. 'शरीरावच्छिन्नं कर्तृ, अन्तःकरणावच्छिन्नं करणं, निरवच्छिन्नं निरीहं कर्म'।
—प० ल० म०, पृ० १८४

२. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३१।

३. निषेध-वाक्यों में विभक्तियों का विचार ऊपर हो चुका है (अध्याय-३)।
—प० ल० म०, पृ० १७७

आधेयत्व का अन्वय फल में है (जिसका उपयोग शाब्दबोध में होता है) तथा **भेद** का अन्वय सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध से व्यापार में है[1]। भेद में प्रकृत्यर्थ तो पहले के समान अन्वित होता है, अतः 'ग्रामं गच्छति चैत्रः' का इस विधि से शाब्दबोध (न्याय-मत से) होगा—'ग्रामाधेय-फलानुकूल-ग्रामभेद-समानाधिकरणव्यापारवान् चैत्रः' (लघु-मञ्जूषा, १२२३)। भूषणसारकाशिका इसे दूसरे रूप में रखती है—'ग्रामवृत्ति-संयोग-जनको ग्रामप्रतियोगिकभेदसमानाधिकरणो यो व्यापारस्तदाश्रयश्चैत्रः' (पृ० ३७१)। स्मरणीय है कि ये शाब्दबोध न्यायमत से प्रथमान्तार्थ को मुख्य या विशेष्य रखते हुए दिये गये हैं।

द्वितीयार्थ के इस विश्लेषण से दो कार्य सरलता से परिहार्य हैं—'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' की आपत्ति तथा 'चैत्रो द्रव्यं गच्छति', 'मल्लो मल्लं गच्छति', 'चैत्रश्चैत्रं न गच्छति' इत्यादि वाक्यों की अनुपपत्ति[2]। प्रथम उदाहरण में चैत्ररूप आधेय 'भेद' की उपपत्ति नहीं होने से (क्योंकि दोनों एक ही हैं) कर्मत्व की व्यवस्था नहीं होती तथा इसीलिए उक्त प्रयोग शुद्ध नहीं है। हाँ, उसके अनुकरणरूप होने में कोई दोष नहीं। बाद के दो उदाहरण भेद की व्यवस्था करते हैं, अतः उनमें कर्म-प्रत्यय लगाने में कोई दोष नहीं (द्रव्य तथा मल्ल कर्म हैं)।

जहाँ तक 'चैत्रश्चैत्रं न गच्छति' इस निषेध-वाक्य का प्रश्न है, पूर्वपक्ष से यह कहा जा सकता है कि चैत्र में स्थित जो 'चैत्र से भिन्न (पर) में समवेत क्रियाजन्य संयोग' का उत्पादक व्यापार है वह प्रसिद्ध या बोध्य नहीं। अतः इस वाक्य को प्रामाण्यकोटि में नहीं रखा जा सकता। किन्तु इसका उत्तर यह है कि नञ् के साथ जहाँ धात्वर्थव्यापार का कथन हुआ है वहाँ 'चैत्र चैत्र से भिन्न है' ऐसी प्रतीति नहीं होती। इसे स्वीकार कर लेने से दोष नहीं होगा। अभावमुख से कर्मप्रवृत्ति होती है तथा शाब्दबोध भी सम्भव है[3]। 'चैत्रश्चैत्रं न गच्छति' में चैत्रस्थ भेद-प्रतियोगित्व अवच्छेदक नहीं है, ऐसी प्रतीतिमात्र होती है, जब कि 'मैत्रश्चैत्रं न गच्छति' में इसकी प्रसिद्धि ही है।

लघुमञ्जूषा इस परिष्कृत कर्मलक्षण (द्वितीयार्थ-निरूपण) का प्रत्याख्यान करती है। 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' में चैत्र की कर्मत्वापत्ति का वारण तो पर-सूत्र द्वारा

---

१. 'तत्र क्रियाफलस्य धातुनैव लाभादाधेयत्वं भेदश्च द्वितीयार्थः। तत्र फले आद्यान्वयोऽन्त्यस्य सामानाधिकरण्येन व्यापारे'। —ल० म०, पृ० १२२३

२. 'तर्हि क्रियान्वयिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वं द्वितीयार्थः। भेदे प्रकृत्यर्थस्य आधेयतयाऽन्वयान्न पूर्वोक्तापत्त्यनुपपत्ती'। —भू० सा० दर्पण, पृ० १४२

३. "नञ्समभिव्याहारे धात्वर्थव्यापारे चैत्रवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावस्य भानोपगमेनादोषात्।...एवं च 'चैत्रश्चैत्रं न गच्छति' इत्यतः चैत्रवृत्तिभेद-प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाववान् यः चैत्रवृत्तिसंयोगानुकूलो व्यापारस्तज्जनककृतिमांश्चैत्र इति बोध इत्याहुः"। —प० ल० म०, ज्योत्स्ना, पृ० १७७

विहित कर्तृसंज्ञा ही कर देगी, अतः भेद में शक्ति की कल्पना करना व्यर्थ बात बढ़ाना है[1]। नागेश कहते हैं कि यदि हम 'द्वितीयार्थ में वर्तमान भेद की प्रतियोगिता के अवच्छेदक' व्यापार को 'द्वितीयार्थरूप आधेयत्व से अन्वित' फल का हेतु माने अर्थात् उक्त रूप से विशिष्ट व्यापार तथा फल के बीच कार्यकारणभाव स्वीकार करें तो भेद को शक्ति मानने की आवश्यकता ही नहीं रहे[2]। फल से अन्वय किये जाने के आग्रह से नैयायिक लोग भी आवश्यक कार्यकारणभाव में उक्त रूप से विशिष्ट व्यापार का समावेश करते ही हैं, अतः कल्पना-गौरव का दोष उनके सिर भी पड़ेगा। इसके अतिरिक्त नैयायिक **भेद-शक्ति** मानकर सामानाधिकरण्य के बल पर उक्त फल-प्रकारक बोध के लिए धातुजन्य व्यापारोपस्थिति को कारण मानते हैं। इससे उनको हमारे कार्यकारणभाव के अतिरिक्त एक दूसरा कार्यकारणभाव मानना पड़ता है जो भेदशक्ति (कारण) तथा व्यापार (कार्य) के मध्य सम्बन्ध रखता है। स्पष्ट है कि उनका कल्पनागौरव-दोष अत्यन्त सुदृढ़ है।

'चैत्रमैत्रौ परस्परं गच्छतः' में उक्त न्यायमत तथा नागेश के विचारों में समता है। नैयायिक जिस प्रकार चैत्र और मैत्र का परस्पर-पदार्थ में भेद स्वीकार करते हैं नागेश भी उसी प्रकार परस्पर-पदार्थ में सव्यापार भेद की सत्ता मानते हैं। परस्पर शब्द दोनों का प्रतिनिधि है। 'चैत्रो मैत्रं गच्छति' तथा 'मैत्रश्चैत्रं गच्छति' इन दोनों का संयुक्तरूप उक्त वाक्य में आता है। यहाँ द्वितीयान्तार्थ में वर्तमान अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक व्यापार है,[3] जिसे संक्षेप में भेद कहा जा सकता है।

नागेश को न्यायमत में अन्य असंगतियाँ भी दिखलायी पड़ती हैं; जैसे—'घटं जानाति' में द्वितीया न हो सकना। उक्त प्रकार से कर्मत्व की सत्ता यहाँ नहीं है, क्योंकि सविषयक धातु में वह लक्षण अप्राप्त है। आधेयता तथा भेद को द्वितीयार्थ मानने से 'घटाधेयफलानुकूल-घटभेद-समानाधिकरण-व्यापारवान्' ऐसा बोध होगा, जिसमें स्पष्ट असंगति है। नैयायिक कह सकते हैं कि जब शक्ति से काम नहीं चलता तब विषयत्व में लक्षणा मान लें। किन्तु यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि जब 'कर्म में ही द्वितीया है' इस प्रकार के नियमों की स्थिति है तब कर्म से अन्य दशा में शक्ति से या लक्षणा मानने से भी साधुत्व की व्यवस्था नहीं होगी। इसी कारण प्राचीनों की प्रसिद्ध उक्ति है कि सुप् की विभक्ति में लक्षणा नहीं चलती[4]। 'वैकुण्ठमधितिष्ठति' इत्यादि वाक्यों में स्थित वैकुण्ठादि शब्द किसी भी स्थिति में उक्त लक्षण से व्याख्येय

---

१. 'तन्न, परया कर्तृसंज्ञया बाधेन तत्प्रयोगापत्तेरसम्भवेन भेदे शक्तिकल्पनस्य व्यर्थत्वात्'। —ल० म०, पृ० १२२४

२. 'किञ्च द्वितीयार्थाधेयत्वान्वितफलप्रकारक-बोधं प्रति द्वितीयान्तार्थवृत्तिभेद-प्रतियोगितावच्छेदकव्यापारोपस्थितेर्हेतुत्वकल्पनेन तद्वारणात्'। —वही

३. ल० म०, कलाटीका, पृ० १२२४।

४. ल० म०, पृ० १२२५।

नहीं। वास्तव में यही कहना संगत है कि कर्मसंज्ञा ही इन शब्दों का नियमन करती है, भेद को द्वितीया-शक्ति क्यों स्वीकार किया जाय[1] ?

नव्यव्याकरण तथा कर्मलक्षण : दीक्षित, कौण्डभट्ट तथा नागेश

नव्यन्याय के समान ही नव्य-व्याकरण में भी कर्मलक्षण का क्रमशः परिष्कार दिखलायी पड़ता है। प्रत्येक वैयाकरण अपना स्वतन्त्र लक्षण देते हुए नैयायिकों का खण्डन करना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। इसकी परिणति नागेश की लघुमञ्जूषा में हुई है।

(१) भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ (पृ० १२८-३०, खण्ड २) में न्यायशास्त्रानुमोदित प्रक्रिया का श्रीगणेश करते हैं। 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पा० १।४।४९) की वृत्ति देकर वे कहते हैं कि जिस व्यापार का आश्रय होने के कारण वह कर्ता है उसी व्यापार के द्वारा सम्बद्ध करने के लिए (आप्तुम्) जो इष्टतम हो वही कर्म है। तदनुसार क्रियाफल धारण करनेवाले को कर्म कहते हैं (तेन क्रियाफलशालित्वं पर्यवस्यति)। फल की इच्छा के अनन्तर इच्छा का विषय क्रिया होती है और फल इस प्रकार इष्टतम होता है। इस फल का ग्रहण चूँकि धातु के माध्यम से होता है अतः धातु से विशिष्ट होकर जो इच्छा का विषय हो वह कर्म है—ऐसी व्याख्या की जानी चाहिए[2]। ईप्सिततम तथा अनीप्सित दोनों सूत्रों का संयुक्त परिणाम है कि धातु के द्वारा उपात्त (उपस्थाप्य या उपस्थित कराये जाने के योग्य) फल का आधारमात्र कर्म का अर्थ है। नागेश ने जो न्यायमत (पूर्वपक्ष) में आधेय तथा भेद के द्वितीयार्थ माने जाने की चर्चा की है—उनमें आधेय को दीक्षित भी स्वीकार करते हैं तथा फल में उसका अन्वय अभेद (समानाधिकरण) सम्बन्ध से पूर्ववत् मानते हैं[3]। शब्दार्थ वही है जो उपात्त शब्द के द्वारा उपस्थित कराया जाय। 'ग्रामं गच्छति' में स्थित ग्राम-शब्द का द्वितीयार्थ आधेय मानने पर 'ग्रामाधेय-समानाधिकरणफलानुकूलव्यापार' ऐसा बोध होगा, जिसमें ग्राम में द्वितीयार्थ आधेयत्व है और अभेद-सम्बन्ध से फल में अन्वित है।

दीक्षित एक अन्य प्रश्न उठाते हैं कि[4] जब धातु से उपस्थापित होने योग्य फल का आश्रय ही कर्म है तब इसी लक्षण को पाणिनि ने क्यों नहीं स्वीकार किया ?

---

१. 'संज्ञाया एव तन्नियामकत्वे तु किं भेदनिवेशेन' ? —वहीं

२. 'क्रिया हि फलेच्छापूर्वकेच्छाविषयः। फलमेव त्विष्टतमम्। तच्च धातुनोपात्तमिति तद्विशिष्टत्वेनेच्छाविषयोऽत्र संज्ञी'। —श० कौ० २, पृ० १२८

३. "आधेयमेव वा। तच्चाभेदेन फलेऽन्वेति। 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थ' इति न्यायात्"। —वहीं, पृ० १२९

तुलनीय (ल० म०, पृ० १२२३)—'आधेयत्वं भेदश्च द्वितीयार्थः। तत्र फले आद्यान्वयः। अन्त्यस्य सामानाधिकरण्येन व्यापारे'।

४. द्रष्टव्य—श० कौ० पृ० १२९ तथा तत्त्वबोधिनी पृ० ४०९।

अनीप्सित तथा ईप्सिततम के दो सूत्र लिखने का क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर वे स्वयं देते हैं कि 'अग्नेर्माणवकं वारयति' में 'वारणार्थानामीप्सितः' (पा० १।४।२७) से माणवक को अपादान-संज्ञा प्राप्त है, क्योंकि वारण करनेवाले के लिए वही ईप्सित है। इसे रोकने के लिए ईप्सिततम-सूत्र देना आवश्यक है। जब इसका कथन हो गया है तब द्वेष्य तथा उदासीन के संकलनार्थ 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' सूत्र भी देना ही चाहिए। फिर भी दीक्षित को इस सूत्र में अनीप्सित-शब्द व्यर्थ लगता है, क्योंकि 'तथायुक्तम्' कहने से ही ईप्सिततम से भिन्न द्वेष्य और उदासीन कर्मों का संकलन हो जाता। तत्त्वबोधिनीकार 'अनीप्सित' को स्पष्ट बोध के लिए मानते हैं[1]।

(२) कौण्डभट्ट भट्टोजिदीक्षित की कारिका के अनुसार द्वितीया, तृतीया और सप्तमी का अर्थ आश्रय मानते हुए ईप्सिततम-सूत्र से निष्पन्न कर्म का अर्थ 'धातु से उपात्त फल का आश्रय' स्वीकार करते हैं। तात्पर्य यह है कि क्रिया से उत्पन्न होने वाले फल को धारण करने के कारण कर्म ही कर्ता के लिए ईप्सिततम होता है। उस फल को व्याप्त करने पर ही कर्ता की इच्छा की निवृत्ति (पूर्ति) हो सकती है। इस प्रकार धातुफल के आश्रय में कर्मत्व की व्यवस्था होती है (एवं च फलाश्रयः कर्म)। यह सत्य है कि द्वितीया के अतिरिक्त भी कई विभक्तियों का अर्थ आश्रय माना जाता है, किन्तु फल का आश्रय केवल कर्मकारक वाली द्वितीया-विभक्ति ही होती है, अन्य विभक्तियाँ नहीं; अतः द्वितीया का आश्रयत्व अर्थ फलाश्रयत्व के रूप में पर्यवसित होकर उन विभक्तियों का वारण करता है।

अब प्रश्न है कि 'फलाश्रय' शब्द में जो फल का अंश विशेषण के रूप में लगाया गया है वह धातु से भिन्न किसी दूसरे कारण से तो उपलब्ध होता नहीं। वह क्रिया का फल है, अतः प्रकृत धातु से ही लभ्य है। दूसरे शब्दों में कहें कि फल का अंश (विशेषण) अनन्यलभ्य है—उसका धातु से कभी व्यभिचार (पृथक्करण) नहीं होता, अतः इस विशेषण की आवश्यकता नहीं है, यह व्यर्थ है। हम धातुफलाश्रय कहें या केवल आश्रय कहें—कोई अन्तर नहीं आयेगा। कारकाधिकार में धातु का बोध तो होगा ही। फलस्वरूप आश्रय को द्वितीयार्थ अथवा कर्म कहने में कोई आपत्ति नहीं।

उपर्युक्त प्रकार से कर्मत्व की व्यवस्था तो नैयायिकों ने भी की है। हम उनके साथ होनेवाली कठिनाई देख चुके हैं कि 'चैत्रो ग्रामं गच्छति' में ग्रामसंयोग के रूप में फल प्राप्त होता है। उसका आश्रय जहाँ एक ओर ग्राम है तो दूसरी ओर चैत्र भी है; तो चैत्र को भी कर्म कह सकते हैं क्या ? इस आपत्ति की भूषणकार गजनिमीलिका-न्याय से उपेक्षा नहीं कर सकते। अतः उन्हें कहना पड़ता है कि क्रिया का फलाश्रयत्व-मात्र द्वितीया-विभक्ति का प्रयोजक नहीं है, प्रत्युत कर्ता आदि दूसरी संज्ञाओं के अभाव

---

१. 'अनीप्सितग्रहणं स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थम्। तथायुक्तमित्यस्यारम्भादेवेष्टसिद्धेः'।
—तत्त्वबोधिनी, पृ० ४०९

से विशिष्ट स्थिति में उत्पन्न होनेवाली कर्मसंज्ञा ही द्वितीया को जन्म दे सकती है[1]। तात्पर्य यह है कि उक्त स्थिति में चैत्र के कर्मत्व के वारण के लिए नैयायिकों को 'परसमवेत' जैसा विशेषण लगाना पड़ता है, किन्तु पाणिनीय व्याकरण में परसूत्र में आने वाली कर्तृसंज्ञा ही कर्मसंज्ञा का वारण कर देगी। 'आकडारादेका संज्ञा' (पा० १।४।१) के अनुसार कारकादि के अधिकारों में एक ही संज्ञा एक बार में हो सकती है—दो संज्ञाओं की युगपत्प्राप्ति सम्भव नहीं है। समान शब्दों का पृथक् प्रयोग करके उनमें विभिन्न कारकों की व्यवस्था की जा सकती है, यदि उनके अवच्छेदक (विशिष्ट अर्थ में नियमन करनेवाले तत्त्व) भी भिन्न हों। इसीलिए 'आत्मानमात्मना हन्ति' में शरीररूप अवच्छेदक मानकर कर्मसंज्ञा तथा मनोरूप अवच्छेदक मानकर करणसंज्ञा की व्यवस्था करते हुए एक ही 'आत्मन्' को विभिन्न रूपों में लिया जा सकता है।

कुछ उदाहरणों के द्वारा कर्म की फलाश्रयता का बोध हो सकता है। 'ओदनं पचति' में धातु का फल है—विक्लित्ति (अन्न की कोमलता)। यह विक्लित्ति ओदन में है, अतः वह कर्म है। 'घटं करोति' में धातु-फल उत्पत्ति है, इसका आश्रय घट है। धातु के द्वारा फल और व्यापार दोनों ही उपात्त होते हैं, किन्तु व्यापार का आश्रय तो कर्ता होता है। कर्ता के अधिकार-क्षेत्र में चूंकि कर्म नहीं आ सकता, अतः कर्मसंज्ञा उपपन्न करने के लिए व्यापाराश्रयरूप कर्तृत्व का अनवकाश होना आवश्यक है, अन्यथा परवर्तिनी कर्तृसंज्ञा कर्म को सावकाश (लब्धप्रसर) होने नहीं देगी[2]।

'घटं जानाति' इस वाक्य में ज्ञा-धातु का फल है—आवरण (अज्ञान) का नाश, जिसका आश्रय घट है; अतः वह कर्म है। आवरण-भंग के रूप में धात्वर्थ-फल मानने पर कठिनाई भी है। वह यह कि वर्तमान काल में होनेवाले ज्ञान में तो घट के आवरण का नाश सम्भव है, किन्तु अतीत तथा अनागत काल वाले ज्ञान की दशा में यह कैसे सम्भव है? घट की उत्पत्ति के पूर्व या नाश के अनन्तर जो घट की परोक्षता रहती है वहाँ आवरण-भंग का प्रश्न नहीं उठता, तब वैसी स्थिति में 'यथापूर्वं घटं जानाति' का प्रयोग कैसे हो सकता है? इसका समाधान नैयायिकों तथा सांख्यों ने किया है। नैयायिकों के अनुसार अतीतादि कालों में आश्रयता की उपपत्ति विषय-सम्बन्ध मानकर की जाती है। घट चूंकि ज्ञान का विषय है अतः उसी सम्बन्ध से आवरण-भंगरूप फल का आश्रय होता है। वह भूतकाल में हो या भविष्यत् में—विषयता की वृत्ति सर्वत्र है[3]। दूसरा उपाय सत्कार्यवाद का है, जिसमें यह कहा गया

---

१. 'न ह्येतदेव द्वितीयाप्रयोजकं किन्तु संज्ञान्तराभावविशिष्टे जायमाना कर्मसंज्ञैव। इह च परया कर्तृसंज्ञया बाधेन कर्मसंज्ञाया अप्रवृत्तेर्न द्वितीया'।

—वै० भू०, पृ० ९९

२. 'कर्मसंज्ञायास्तु घटं करोतीत्यादौ धातूपात्तव्यापारवत्त्वरूपकर्तृत्वविरहिणो घटादेरेव विषयत्वान्नावकाशता'। —वै० भू०, पृ० ९९

३. 'अतीतादावपि ज्ञानादेर्विषयतासम्बन्धेन वृत्तिस्वीकारे च तद्वदेवावरणतद्भङ्गयोरपि वृत्तिः सुवचैवेति सत्कार्यवादानालम्बेऽप्यदोषाच्चेति'। —वहीं

है कि घट के नष्ट होने पर या उसकी उत्पत्ति के पूर्व भी सूक्ष्मरूप में घट की स्थिति रहती ही है। अतः विषयता-सम्बन्ध के बिना भी अतीतकालिक या अनागत घट (सूक्ष्मरूप में स्थित) में आवरण-भंग की उपपत्ति हो सकती है। वाक्यपदीयकार इसी मत के समर्थक प्रतीत होते हैं, जिनकी यह कारिका भूषण के दोनों संस्करणों में उद्धृत है—

'तिरोभावाभ्युपगमे भावानां सैव नास्तिता।
लब्धक्रमे तिरोभावे नश्यतीति प्रतीयते'॥ —वा० प० ३।१।३८

अर्थात् भावपदार्थ का जब तिरोभाव (सूक्ष्म रूप में अवस्थान) स्वीकार किया जाता है तब हम कहते हैं कि वह नष्ट हो गया, नहीं है। अतः तिरोभाव, नाश या सूक्ष्मरूप में सत्ता—ये सभी पर्याय हैं; संज्ञा-शब्दों से उसी एक स्थिति का बोध होता है[1]। दूसरी ओर जब वही तिरोभाव पूर्वापरीभूत क्रम से विभिन्न साधनों के सम्पर्क के कारण प्रक्रान्त रहता है तब हम 'नश्यति' इस आख्यात-पद का प्रयोग करते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तु का विनाश उसके उच्छेद या सत्ताभंग का बोधक नहीं है प्रत्युत उसमें तिरोभाव (सूक्ष्म स्थिति) निहित है। यही बात उत्पत्ति के विषय में भी है, जिसका अर्थ सर्वथा नवीन उत्पादन (या असत् का सत् के रूप में परिणमन) नहीं, प्रत्युत सूक्ष्म रूप में स्थित पदार्थ की स्थूलरूप में अभिव्यक्ति (आविर्भाव) ही है[2]।

वैयाकरणभूषण में इस व्याख्या से अरुचि प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि वास्तव में 'जानाति, इच्छति, द्वेष्टि, सन्देग्धि' इत्यादि क्रियाओं के अनुरोध से इनमें ज्ञान, इच्छा आदि (फल) के अनुकूल व्यापार ही धात्वर्थ है। यह व्यापार ज्ञान को उत्पन्न करने वाले मन और चक्षुःसंयोग आदि के रूप में होता है। इसीलिए 'मनो जानाति', 'चक्षुः पश्यति' इत्यादि प्रयोग संगत होते हैं, जिनमें मन, चक्षु आदि को व्यापाराश्रय दिखलाकर कर्ता-कारक की व्यवस्था की गयी है। 'इच्छति' आदि में इच्छादि के अनुकूल ज्ञानादि व्यापार तथा इच्छादि फल है। इस प्रकार इच्छा, ज्ञानादि फलों का आश्रय होने से घटादि को कर्म कहा जा सकता है। साथ ही उपर्युक्त धातुओं की सकर्मकता भी सिद्ध होती है।

(३) नागेशभट्ट अपने लघुशब्देन्दुशेखर,[3] परमलघुमञ्जूषा (शेखरवत्) तथा

---

१. "सत्तैव तिरोभूता स्वकारणेषु शक्तिरूपतयावस्थिता वस्तूनां नाशः, न तु निरुपाख्योऽसौ। समस्तेषु च भावेषु तिरोभूतेषूपसंहृतक्रमः सिद्धरूपः 'तिरोभावः नाशः' इत्यादिनामपदप्रत्याय्यः"। —हेलाराज ३, पृ० ४५

२. तुलनीय (सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० ९)—"यथा हि कूर्मस्याङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि 'तिरोभवन्ति' निस्सरन्ति च 'आविर्भवन्ति'...... मृदः सुवर्णस्य वा घटमुकुटादयो विशेषा निस्सरन्तः आविर्भवन्त 'उत्पद्यन्ते' इत्युच्यन्ते, निविशमानास्तिरोभवन्तो 'विनश्यन्ति' इत्युच्यन्ते'।

३. 'ईप्सिततमत्वं च प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वम्'। —ल० श० शे०, पृ० ४०३

लघुमञ्जूषा[1] में प्रायः एक समान ही कर्मत्व का परिष्कार करते हैं। उनके अनुसार कर्मकारक प्रस्तुत धातु के अर्थभूत प्रधान व्यापार से प्रयोज्य (साक्षात् या परम्परया उत्पाद्य) प्रस्तुत धातु के अर्थभूत फल के आश्रय के रूप में कर्ता का उद्देश्य (अर्थात् इच्छा का विषय, विशेषतः विशेष्य) होता है। यह कर्मलक्षण में ईप्सिततम का परिष्कार है, अन्य सूत्रों के कर्म का नहीं। इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण की सहायता लें। 'कुलालो घटं करोति' इस वाक्य में प्रस्तुत धातु है 'कृ' (करना)। उसका अर्थभूत प्रधानव्यापार है--उत्पत्त्यनुकूल व्यापार। इस प्रधानीभूत व्यापार के द्वारा प्रयोज्य उत्पत्ति है, जो प्रस्तुत धातु के अर्थ का फल है। उत्पत्तिरूप फल का आश्रय घट हो—इस प्रकार कर्ता की इच्छा होती है। इस इच्छा का विषय घट है, अतः वह कर्म है। विषयता एक व्यापक शब्द है, जिसके तीन रूप होते हैं—प्रकारता, विशेष्यता तथा संसर्गता;[2] अतः यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इनमें किस रूप की विषयता घट और इच्छा के बीच है ? उत्तर है कि घट इच्छा का विशेष्य है। कर्ता (कुलाल) का उद्देश्य है कि घट उत्पत्ति का आश्रय बने। कुलाल की इस इच्छा का विशेष्यरूप विषय घट है, अतः वह कर्म है।

व्याख्याकारों ने इस लक्षण में आये हुए 'फलाश्रयत्व' का विशेषरूप से परिष्कार किया है (द्रष्टव्य—ज्योत्स्ना १७१)। उनका कथन है कि किसी वस्तु को फलाश्रय होने के लिए फलतावच्छेदक सम्बन्ध से युक्त होना आवश्यक है। इसमें पुनरुक्ति नहीं है। जिस सम्बन्ध से फल का आश्रय में रहना अभीष्ट हो उसे फलतावच्छेदक सम्बन्ध कहते हैं। यह धातुभेद से स्वयं भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। दो उदाहरणों से इसका निदर्शन कर सकते हैं। 'ग्रामं गच्छति' इस वाक्य में 'अनुयोगित्व से विशिष्ट समवाय' के रूप में यह सम्बन्ध है। 'इसी सम्बन्ध के कारण ग्राम संयोगाश्रय हो'—इस आकार की हमारी इच्छा से सम्बन्ध फल में निहित विषयतारूप अवच्छेदकता समवाय में ही है; अतः इस (समवाय) सम्बन्ध से ही फलाश्रय को कर्म हुआ है, कालिक आदि सम्बन्धों से नहीं। कारण यह है कि इन सम्बन्धों में फलतावच्छेदकता की स्थिति नहीं होती। इस विश्लेषण से एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह होता है कि संयोग दो पदार्थों में स्थित होने के कारण (द्विष्ठत्वात्) समवायरूप से ग्राम के समान ही चैत्र में भी रह सकता है, तथापि 'चैत्रो ग्रामं गच्छति' के समान 'चैत्रः स्वयं गच्छति' ऐसा प्रयोग सम्भव नहीं। यह सत्य है कि चैत्र में भी समवाय-सम्बन्ध से फल (संयोग) स्थित है, किन्तु ऊपर परिष्कार कर चुके हैं कि इस वाक्य में अनुयोगित्व-विशिष्ट समवाय से फलतावच्छेदक सम्बन्ध है, जो चैत्र में सम्भव नहीं।

---

१. "तत्र 'कर्तुरीप्सिततमं कर्मे'ति सूत्रबोधितं कर्मत्वं कर्तृगतप्रकृतधात्वर्थव्यापार-प्रयोज्यव्यापारव्यधिकरणफलाश्रयत्वेन कर्तुरुद्देश्यत्वम्"। —ल० म०, पृ० १२०१

२. 'इयं विषयता त्रिविधा--विशेष्यता, प्रकारता संसर्गता चेति। यथायं घटः इति प्रत्यक्षे घटत्वे प्रकारता, इदमर्थे विशेष्यता, समवायादौ सम्बन्धे च संसर्गता'। —न्या० को०, पृ० ७९१

'ग्रामं त्यजति'—इस वाक्य में 'प्रतियोगित्व से विशिष्ट' समवाय के रूप में फलतावच्छेदक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में ग्राम विभागाश्रय हो—कर्ता की इस इच्छा से सम्बद्ध फल में निहित विषयता (=विशेष्यतारूप) की अवच्छेदकता समवाय में है। दूसरे शब्दों में—विभाग का प्रतियोगी ग्राम है, वह कर्म है। यह स्मरणीय है कि विभागावच्छिन्न व्यापार के वाचक धातुओं के प्रयोग में (जैसे—त्यज्) प्रतियोगित्व से विशिष्ट समवाय सम्बन्ध से ही फलाश्रय से रूप में उद्दिष्ट पदार्थ की कर्मसंज्ञा होती है, अन्यथा नहीं। 'ग्रामं त्यजति' में उक्त सम्बन्ध है, किन्तु 'ग्रामाद् विभजते' में नहीं। इसमें अनुयोगित्व-विशिष्ट समवाय की सत्ता है। इसीलिए 'ग्रामं विभजति' प्रयोग नहीं होता। वितरणार्थक विभजन-क्रिया के प्रयोग में हो सकता है, किन्तु वह स्थिति ही भिन्न है।

अब नागेश के शब्दों में ही उनके कर्मलक्षण का विश्लेषण देखें। उन्होंने 'प्रकृत' विशेषण का प्रयोग एक ओर तो धात्वर्थ के प्रधानभूत व्यापार के लिए किया है और दूसरी ओर धात्वर्थफल के लिए किया है। दोनों की परिस्थितियाँ भिन्न हैं, जिससे फलभेद भी होता है। पहली स्थिति में लगाये गये 'प्रकृत' विशेषण का फल है कि माष के खेत में पहुँचे हुए अश्व को कोई व्यक्ति 'माषनाश न हो' इस उद्देश्य से अलग बाँध देता है तो इस अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले 'माषेष्वश्वं बध्नाति' वाक्य में **माष का कर्मत्व वारित होता है**। पुनः व्यापार में 'प्राधान्य' विशेषण लगाने से 'अग्नेर्माणवकं वारयति' में माणवक में कर्मत्व की अव्याप्ति नहीं हो पाती। प्रकृत शब्द का दूसरी स्थिति में यह उपयोग है कि जब अश्व की पुष्टि के लिए माष के खेत में उसे बाँधने के अर्थ में 'माषेष्वश्वं बध्नाति' का प्रयोग किया जाय तब भी माष में कर्मत्व की अतिव्याप्ति न हो। बन्धन-क्रिया से उत्पन्न होनेवाले गलस्थ रज्जु के अधःसंयोग रूप फल का आश्रय तो माष निस्सन्देह है, किन्तु उक्त अधःसंयोग बन्धन-क्रिया का प्रकृतार्थ है ही नहीं[1]।

'गां पयो दोग्धि' का उदाहरण देते हुए नागेश कहते हैं कि पयस् में स्थित जो विभाग है उसके अनुकूल व्यापार गौ में है (विभागानुकूल-व्यापारो गोवृत्तिः)। इस व्यापार के अनुकूल (जनक) व्यापार की स्थिति गोप में है। यह गोप दुह-धातु का कर्ता है। इससे स्पष्ट है कि दुह-धातु का अर्थ 'विभाग के अनुकूल (जनक) व्यापार के अनुकूल व्यापार' है[2]। यहाँ पयस् में जन्यता साक्षात् रूप में नहीं, प्रत्युत परम्परया विद्यमान है। कर्मत्व-लक्षण में नागेश ने वास्तव में 'प्रयोज्य' शब्द का इसीलिए निवेश किया है कि धात्वर्थ के मुख्य व्यापार से जन्म लेनेवाला फल साक्षात् उत्पन्न हो (जैसे—ओदनं पचति) या परम्परया उत्पन्न हो (जैसे—पयो दोग्धि)—दोनों

---

१. प० ल० म०, वंशी, पृ० १४०।

२. "'गां दोग्धि' इत्यादौ विभागानुकूलव्यापारानुकूलव्यापारार्थक-दुहिसत्त्वेन पयसः कर्मत्वसङ्ग्रहः"।
—ल० म०, कला, पृ० १२०३

ही स्थितियों में उस फल के आश्रय के रूप में उद्दिष्ट वस्तु को कर्म कहा जा सके। यह 'परम्परया उत्पाद्य' के ग्रहण का ही परिणाम है कि पयस् को कर्मसंज्ञा हो सकी। यदि 'प्रयोज्य' के स्थान पर 'जन्य' (=साक्षात् उत्पाद्य) रखा जाता तो चूँकि प्रधानभूत गोप-स्थित व्यापार से जन्य केवल गोव्यापार (विभागानुकूल व्यापार) ही है, विभाग नहीं—अतः विभागाश्रय पयस् की कर्मसंज्ञा नहीं हो सकती थी। साक्षात् तथा परम्परा दोनों अर्थों को लेनेवाले 'प्रयोज्य' का निवेश करने से प्रधान व्यापार का प्रयोज्य (परम्परयोत्पाद्य) विभाग भी हो सकता है, जिसका आश्रय 'पयस्' कर्म है।

लघुमञ्जूषा (पृ० १२०३) में इस 'प्रयोज्य' पद का दूसरा ही फल दिखलाया गया है। नागेश 'चैत्रं ग्रामं गमयति' इत्यादि में ग्राम के कर्मत्व का साधन करते हुए कहते हैं कि प्रयोज्य होने का अर्थ है कि जन्य, अजन्य—दोनों स्थितियों में काम दे सके। विशेषण रूप से विषयता से सम्बद्ध स्थितियों की व्याख्या 'अजन्य' के द्वारा होती है। 'जानाति' 'इच्छति' इत्यादि क्रियाओं के प्रयोग में ज्ञानेच्छादि व्यापार विषयता के निरूपक हैं—यह भी एक पक्ष है। और चूँकि विषयता इस पक्ष में ज्ञानादि से उत्पन्न नहीं होती (अजन्य) है, अतः इसमें 'फलाश्रय' कैसे होगा? इसीलिए अजन्य का निवेश करने से भी काम चलाया जा सकता है कि विषयता के अजन्य-पक्ष में भी फलाश्रय को कर्मसंज्ञा हो सके। बालम्भट्ट इसमें नागेश की अरुचि देखते हैं कि वास्तव में जन्यता तो होती ही है, अतः इसका कोई उपयोग नहीं (वस्तुतो जन्यत्वमेवेति नैतस्या उपयोगः)। अतः 'प्रयोज्यत्व' का उपर्युक्त उपयोग ही ठीक है।

नागेश के कर्मलक्षण् में 'प्रकृत धात्वर्थ का फल' इस अंश का निवेश इसलिए किया गया है कि 'प्रयागात्काशीं गच्छति' इस वाक्य में प्रयाग को कर्मसंज्ञा न हो जाय। स्थिति यह है कि काशी-गमन में उत्पन्न विभाग का आश्रय यद्यपि प्रयाग है तथापि विभाग तो प्रस्तुत धातु (गम्) का अर्थ ही नहीं है। गमन का अर्थ उत्तरदेश-संयोगानुकूल व्यापार ही होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि गमनक्रिया में अनिवार्य (नान्तरीयक) होने के कारण विभाग उत्पन्न होता है, किन्तु उसका मूल अर्थ वही नहीं है। अतः प्रकृत धात्वर्थ के फल का आश्रय नहीं होने से प्रयाग को कर्मसंज्ञा नहीं हो सकती। दूसरी बात यह भी है कि केवल फलतावच्छेदक सम्बन्ध से जो फलाश्रय के रूप में उद्दिष्ट (फलाश्रय होकर इच्छा का विशेष्य) हो वही कर्म होता है। प्रयाग के साथ ऐसी बात नहीं, क्योंकि 'गच्छति' क्रिया के प्रयोग में 'अनुयोगित्व-विशिष्ट समवाय' फलतावच्छेदक सम्बन्ध होता है। इससे काशी में फलाश्रयता उद्दिष्ट है, प्रयाग में नहीं। वह संयोग का अनुयोगी नहीं है। इसलिए भी प्रयाग को कर्मसंज्ञा नहीं होगी।

यहाँ एक शंका उठती है कि जब 'प्रकृत धात्वर्थफल का आश्रय' इतना ही कह देने से प्रयाग की कर्मत्वापत्ति का वारण हो जाता है तब व्यर्थ का 'उद्देश्य होना' कहने से क्या प्रयोजन है? नागेश कहते हैं कि 'काशीं गच्छन् पथि मृतः' (काशी

जाते हुए राह में ही मर गया)—इस वाक्य में काशी फलाश्रय नहीं है, क्योंकि गमन-क्रिया का संयोग रूप फल तो काशी को मिला नहीं—ऐसी स्थिति में उक्त फलाश्रय के रूप में उद्देश्य होने के कारण (क्योंकि कर्ता को काशी तक पहुँचना अभीष्ट था) काशी को कर्मसंज्ञा हुई है। गमनकर्ता की 'काशी संयोगाश्रय हो' इस इच्छा का विशेष्य काशी ही है।

एक दूसरी शंका का समाधान भी नागेश साथ ही करते चलते हैं—यदि कोई व्यक्ति काशी जा रहा हो तो 'काशीं गच्छति, न प्रयागम्' इस प्रकार के प्रयोग की (जिसमें प्रयाग को कर्म दिखलाया गया है) असिद्धि हो जायगी, क्योंकि प्रयाग तो फलाश्रय के रूप में उद्देश्य नहीं है। इस असिद्धि के निवारणार्थ नागेश कहते हैं कि कर्म के पाणिनीय लक्षण में जो 'ईप्सिततम' पद का प्रयोग हुआ है उसकी स्वार्थ-सहित योग्यता-विशेष अर्थ में लक्षणा होती है। कहने का अर्थ है कि प्रयाग में भी फलाश्रय के रूप में उद्देश्य होने की योग्यता है जो भले ही वाच्यतया प्रतीत नहीं हो रही है, किन्तु लक्ष्य-रूप में तो है ही[१]। इस निषेधमूलक कर्मसंज्ञा की सिद्धि के लिए नागेश को अपने कर्मलक्षण में ईषत् संशोधन करना पड़ा है। किन्तु इससे एक बड़ा लाभ यह हुआ है कि जहाँ कहीं भी नञ् से विशिष्ट कर्म (या अन्य कारक भी) दिखलायी पड़े वहाँ योग्यता-विशेष रहने के आधार पर उनके कर्मत्वादि की व्यवस्था सुकर हो जायगी। चैत्र दूसरा काम कर रहा हो और यदि कोई पूछे कि क्या वह ग्राम जा रहा है या ओदन पका रहा है? तो उत्तर होगा—न तो वह ग्राम जा रहा है, न ओदन ही पका रहा है। तब ऐसी स्थिति में फलाश्रय के रूप में उद्देश्य नहीं होने पर भी ग्राम तथा ओदन को केवल उनकी फलाश्रयत्व-योग्यता के ही बल पर कर्मत्व का उपपादन करके द्वितीया विभक्ति लगा सकते हैं।

ऐसी परिस्थिति में कोई पराधीन व्यक्ति पीटे जाने के फलस्वरूप विष खाता है तो विष भी वहाँ तथोक्त फल के आश्रय के रूप में उद्देश्य ही है। यहाँ योग्यता-विशेष का निवेश करने की आवश्यकता नहीं है। पतञ्जलि ने जो अनीप्सित विष को ईप्सित बतलाया है उस तथ्य का भी समर्थन इसी प्रकार हो जाता है कि ताडन-भय से कोई विष को भी अभीष्ट समझता है। इसी रूप में 'कशाभिहतः कारागारं गच्छति' (कोडे से मार खाकर कारागार जाता है)—इस वाक्य में कारागार भी फलाश्रय के रूप में उद्देश्य होने से कर्म है।

ऊपर हमने देखा है कि फलाश्रय के रूप में उद्दिष्ट होने की योग्यता यदि किसी में हो तो वह 'कर्म' कहला सकता है, यद्यपि वर्तमान काल में वह उस रूप में उद्देश्य नहीं भी हो। किन्तु यह योग्यता सामान्य नहीं, विशेष प्रकार की होती है। यह

---

१. 'तथा च प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापार-प्रयोज्य-प्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वयोग्यताविशेषशालित्वं कर्मत्वम्। तच्च प्रयागस्याप्यस्तीति कर्मत्वं तस्य सुलभम्'। —प० ल० म०, पृ० १७३-४

'विशेष' है क्या ? जो कर्ता के व्यापार के समय ही उत्पन्न (समकालिक) हो तथा तटस्थ व्यक्ति के द्वारा भी बोध के योग्य हो, नागेश उसे ही 'योग्यता-विशेष' कहते हैं[1]। इसके फलस्वरूप भूत, वर्तमान या भविष्यत् इन तीनों में से किसी भी काल में यदि चैत्र के काशी-गमन की प्राप्ति नहीं हो तो काशी को कर्मत्व नहीं हो सकता। काशी में फलाश्रय होने के रूप में उद्देश्य होने की योग्यता है तो सही, किन्तु गमन-क्रिया के व्यापार के समय किसी उदासीन व्यक्ति से बोध्य नहीं होने के कारण योग्यता-विशेष नहीं है—अतः कर्मसंज्ञा नहीं होगी। ऐसे स्थलों में योग्यता-विशेष का कथञ्चित् निर्वाह भी किया जाय तो उसकी अपेक्षा निषेध-वाक्य का प्रयोग करना कहीं अच्छा है, जो अनुभव से भी सिद्ध है। 'काशीं न गच्छति' में योग्यता-विशेष की आवश्यकता नहीं है, उद्देश्य होने की योग्यता मात्र से काम चल जाता है। वास्तव में निषेध-वाक्यों में भी प्राप्त वस्तु (योग्य कर्म) का ही निषेध होता है। यदि गमन सर्वथा अप्राप्त हो तो 'न गच्छति' का कोई अर्थ ही नहीं।

अनीप्सित कर्म के विषय में पूर्वपक्ष उठाते हुए नागेश कहते हैं कि पराधीनता के कारण विषभक्षणवाले उदाहरण में तो क्रिया के फलाश्रय के रूप में उद्देश्यता की सिद्धि हो जायगी, किन्तु 'चोरान् पश्यति', 'अन्नं भक्षयन् विषं भुङ्क्ते' (द्वेष्य कर्म), 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' (उदासीन कर्म) इत्यादि में चोर, विष तथा तृण का कर्मत्व कैसे होगा ? प्रश्न यह है कि चोर विषय-सम्बद्ध चक्षुरिन्द्रिय के सम्बन्ध से दृश्यमान होने पर भी दर्शन का उद्देश्य नहीं है, अपितु उसका देखा जाना अनिष्ट होने के कारण वह द्वेष्य है। तृण के प्रति भी कर्ता की तटस्थता रहने के कारण वह भी उद्देश्य नहीं है।

इस आशंका का समाधान 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' इस पूर्वनिरूपित पाणिनि-सूत्र में है। अनीप्सित का अर्थ है—उद्देश्य नहीं होना। पुनः प्रस्तुत प्रक्रिया में 'तथायुक्त' भी 'प्रकृत धात्वर्थ के द्वारा प्रयोज्य फल के आश्रय' के अर्थ में है (लघुमञ्जूषा १२२२)। तदनुसार इस सूत्र का सम्पूर्ण अर्थ करते हुए नागेश के पूर्वोक्त कर्मलक्षण से 'उद्देश्यत्व' हटा देने पर काम चल सकता है। तदनुसार प्रस्तुत धातु के अर्थरूप प्रधान व्यापार से उत्पाद्य प्रस्तुत धात्वर्थ फल का आश्रय होने वाला अनीप्सित कर्म है ('प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वमनीप्सित-कर्मत्वमिति तदर्थात्'। —परमलघु०, १७५)। यह लक्षण द्वेष्य तथा उदासीन कर्मों का संग्रह करने के लिए दिया गया है।

द्विकर्मक धातु तथा अकथित कर्म

पाणिनि ने 'अकथितं च' (१।४।५१) सूत्र के द्वारा एक दूसरे प्रकार के कर्म का भी विधान किया है, जो अपादानादि विशेष संज्ञाओं से[2] अविवक्षित हो। किन्तु

---

१. 'तद्विशेषश्च व्यापारसमकालिकस्तटस्थजनगम्यः'। —प० ल० म०, पृ० १७५

२. 'अपादानं सम्प्रदानमधिकरणं कर्म करणं कर्ता हेतुरित्येतैर्विशेषैरित्यर्थः'

यह अविवक्षा कुछ निश्चित सकर्मक धातुओं के प्रयोग में होती है, जिन्हें **द्विकर्मक धातु** कहते हैं। ये धातु एक तो ईप्सित कर्म ग्रहण करते हैं और दूसरा यह अकथित या अविवक्षित कर्म भी उनके साथ रहता है। जैसे—गां दोग्धि पयः। इनमें पयस् ईप्सित होने के कारण सामान्य या मुख्य कर्म है और 'गौ' मूलतः अपादान का भागी होने पर भी वहाँ अविवक्षित होने के कारण[1] प्रकृत सूत्र से अकथित कर्म है। अपादान की विवक्षा होने पर इसमें पञ्चमी विभक्ति हो सकती है—गोः दोग्धि पयः। गाय से दूध को पृथक् करना विवक्षित है। इसके अतिरिक्त गौ से पयस् का सम्बन्धमात्र विवक्षित हो तो उसमें षष्ठी भी हो सकती है[2]। यद्यपि यह विवक्षा द्विकर्मक धातुओं की सूची में परिगणित प्रायः सभी धातुओं में सम्भव है, तथापि याच्, प्रच्छ और भिक्ष् धातुओं के योग में केवल कर्मसंज्ञा ही होती है (कैयट २, पृ० २६६-७)।

द्विकर्मक धातुओं की सूची का विकास

द्विकर्मक धातुओं के परिगणनार्थ पतञ्जलि ने एक कारिका दी है—

दुहियाचिरुधिप्रछिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।
ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना॥

—भाष्य २, पृ० २६४

अर्थात् दुह, याच्, रुध्, प्रच्छ्,[3] भिक्ष् तथा चि—इन धातुओं के प्रयोग में (पयस् आदि) उपयोग में आने योग्य वस्तुओं के निमित्त पदार्थ को, यदि उसका पूर्वोक्त किसी कारक में विधान नहीं हुआ हो तथा ब्रू और शास्—इन दोनों के गुण (साधन,

---

(त० बो० पृ० ४०९)। किन्तु वक्ष्यमाण भाष्यकारिका में स्थित 'अपूर्वविधि' शब्द पर टिप्पणी करते हुए भट्टोजिदीक्षित कहते हैं कि पूर्वोक्त अपादानादि संज्ञाओं का विषय नहीं होने से ही अकथित कर्म होता है। हेतु तथा कर्तृसंज्ञाओं का विषय होने पर परवर्ती संज्ञा कर्म की बाधक होगी। वे एक दूसरा मत भी देते हैं कि प्राचीन आचार्यों के अनुसार 'पूर्व' शब्द अन्यमात्र का उपलक्षण है, अतः वक्ष्यमाण हेतु और कर्तृसंज्ञाओं के विषय में अतिप्रसंग नहीं होगा। —श० कौ० २, पृ० १३०-१

१. 'यद्यपि गोरवधिभावो विद्यते, तथाप्यविवक्षिते तस्मिन्निमित्तमात्रविवक्षाया-मुदाहरणोपपत्तिः'। —पदमञ्जरी १।१।५१

२. 'अपादानत्वमात्रविवक्षायां तु पञ्चम्येव। गोः क्षीरविशेषणत्वे तु षष्ठी। तेन गोः पयो दोग्धीत्यपि प्रयोगः साधुरेव'। —प्रौढमनोरमा, पृ० ४८७

३. भाष्य की कारिका में छन्द (त्रोटक–४ सगण) की रक्षा के लिए प्रच्छ को 'प्रछि' पढ़ा गया है, जिसके समर्थन में भट्टोजिदीक्षित आगम के विधान की अनित्यता बतलाते हैं—"इह प्रछीत्यत्र 'छे च' इति तुङ् न कृतः। आगमशासनस्यानित्यत्वात् 'सनाद्यन्ता धातवः' 'इको यणचि' इतिवत्"। —श० कौ० खण्ड २, पृ० १३०

प्रधान कर्म, धर्मादि)[1] से जो सम्बद्ध होता है उसे भी आचार्य (पाणिनि) ने अकथित (अकीर्तित) माना है।

इसके बाद इनके प्रयोगों का विवेचन करते हुए पतञ्जलि बतलाते हैं कि पूर्वपक्षी केवल इन तीन धातुओं के प्रयोगों को शुद्ध समझता है—पौरवं गां याचते, माणवकं पन्थानं पृच्छति, पौरवं गां भिक्षते। केवल इन्हीं प्रयोगों में अपादान-संज्ञा बाधक नहीं बनती। केवल याचना करने, पूछने या भिक्षा माँगने से ही अपाय नहीं हो जाता। दाता जब तक दे नहीं, अपाय नहीं होगा। अन्य स्थलों में पूर्वपक्षी दूसरी कारक-संज्ञाएँ मानकर अकथित कर्म का खण्डन करता है। 'गां दोग्धि पयः' में गौ अपादान है, 'अन्ववरुणद्धि गां व्रजम्' (गाय को बलात् गौशाला में घुसाता है)—इसमें व्रज अधिकरण, 'वृक्षमवचिनोति फलानि' में वृक्ष अपादान तथा 'पुत्रं धर्मं ब्रूते, अनुशास्ति' में पुत्र सम्प्रदान है। पूर्वपक्षी यह नहीं जानता कि ये उदाहरण उन-उन कारकों की अविवक्षा के कारण हैं (उद्योत २, पृ० २६६)। वस्तुस्थिति यह है कि जिन उदाहरणों को अकथित कर्म के रूप में स्वीकृति दी गयी है उनमें कारकान्तरविवक्षा के प्रयोग नहीं होते, जब कि दुहादि धातुओं के प्रयोग विवक्षा से उभयविध होते हैं। इसीलिए 'अकथित' का अर्थ अप्रधान नहीं लेकर असंकीर्तित लिया गया है (प्रदीप २, पृ० २६६-७)। अप्रधान अर्थ लेने पर दुहादि धातुओं के साथ अपादानादि संज्ञाओं की विवक्षा होने पर भी उन्हें रोककर केवल कर्मसंज्ञा ही होती। 'पुत्रं धर्मं ब्रूते' ही होता, जब कि 'पुत्राय धर्मं ब्रूते' भी उतना ही शुद्ध है। वैसे आचार्य पतञ्जलि सभी उदाहरणों को स्वीकृति देने की मुद्रा में हैं।

द्विकर्मक धातुओं की उपर्युक्त सूची में पतञ्जलि नी, वह्, हृ तथा गत्यर्थक—इन अतिरिक्त धातुओं को भी साथ लेते हैं[2]। कैयट के अनुसार गत्यर्थक धातुओं से बादवाले (पा० सू० १।४।५२) सूत्र के अन्तर्गत गिनाये गये—गत्यर्थक, बोधार्थक, भोजनार्थक, शब्दकर्म—धातुओं के णिजन्त प्रयोग की स्थिति का बोध करना चाहिए[3]। भाष्य में पाँच उदाहरण दिये गये हैं—(१) अजां नयति ग्रामम्। (२) भारं वहति ग्रामम्। (३) भारं हरति ग्रामम्। गत्यर्थक—(४) गमयति देवदत्तं ग्रामम्। (५) याययति (भेजता है) देवदत्तं ग्रामम्। ग्राम अकथित कर्म है। कैयट

---

१. 'क्रियायाः साध्यत्वात्प्राधान्यं तदर्थत्वात्प्रवृत्तेः। कारकाणां गुणत्वम्'।
—कैयट २, पृ० २६४

२. 'नीवह्योर्हरतेश्चापि गत्यर्थानां तथैव च।
द्विकर्मकेषु ग्रहणं द्रष्टव्यमिति निश्चयः'॥ —भाष्य २, पृ० २७०

३. वास्तव में हेलाराज ने सर्वप्रथम 'तथैव च' के अन्तर्गत इन धातुओं को रखने का परामर्श दिया था। (वा० प० ३।७।७२ व्याख्या द्रष्टव्य—)—'गत्यर्थग्रहणेन गतिबुद्धीत्यादिना येषां द्विकर्मकत्वं ते लक्ष्यन्ते। तथैव चेत्यनेनानुक्तसमुच्चयार्थेन जयत्यादयो गृह्यन्ते'।

भाष्य की इस अतिरिक्त कारिका में वर्तमान 'च' शब्द का उपयोग जि आदि धातुओं के संग्रहार्थ करते हुए अन्य उदाहरण भी देते हैं—शतं जयति देवदत्तम् । शतं मुष्णाति देवदत्तम् । शतं दण्डयति देवदत्तम् । तात्पर्य यह है कि यदि णिजन्त प्रयोगवाले कर्म को छोड़ भी दें तो कैयट पूर्वोक्त आठ धातुओं के अतिरिक्त छह अन्य धातुओं को (कुल १४) द्विकर्मक मानते हैं । माधव अपनी धातुवृत्ति में 'च' शब्द से कुछ दूसरे धातुओं का भी संग्रह करते प्रतीत होते हैं—

जयतेः कर्षतेर्मन्थेर्मुषेर्दण्डयतेः पचेः ।
तारेर्ग्राहेस्तथा मोचेस्त्याजेर्दीपेश्च सङ्ग्रहः ॥
कारिकायां च शब्देन सुधाकरमुखैः कृतः[1] ।

इस सूची में हमें कृष्, मन्थ् तथा पच्—ये मूल धातु एवं तारि (तॄ), ग्राहि (ग्रह), मोचि (मुच्), त्याजि (त्यज्) तथा दीपि—ये णिजन्त धातु नवीनतया प्राप्त होते हैं । इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—कर्षति शाखां ग्रामम् (गाँव तक शाखा को खींच कर ले जाता है) । क्षीरनिधिं सुधां मथ्नाति (समुद्र से अमृत का मन्थन करता है) । तण्डुलानोदनं पचति । तारयति (पार करता है) कपीन् समुद्रम् । ग्राहयति बटूनिदम् । मोचयति त्याजयति वा कोपं देवदत्तम् । दीपयति (व्याख्या करता है) शास्त्रार्थं शिष्यान् । माधव की इस सूची पर पाणिनि-तन्त्र में कोई विशेष आपत्ति नहीं की जाती, यद्यपि इसमें गिनाये णिजन्त धातुओं का विशद विवेचन दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में किया है (पृ० १३१-३, खण्ड २) ।

अस्तु, हमें यहाँ तक आकर कुल १७ मूल धातु मिलते हैं, जो द्विकर्मक कहे जा सकते हैं—दुह्, याच्, रुध्, प्रच्छ, भिक्ष्, चि, ब्रू, शास्, नी, वह्, हृ, जि, मुष्, दण्ड्, कृष्, मन्थ् तथा पच् । इन्हे रामचन्द्र ने दो राशियों में विभक्त किया है—

'दुह्याच्यर्थरुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजि-कर्मयुक् ।
नीहृकृष्मन्थवह्दण्डग्रहमुष्पच-कर्मभाक्' ॥[2]

भट्टोजिदीक्षित इस सूची में दो दोष पाते हैं—(१) ग्रह-धातु द्विकर्मक नहीं है, किन्तु रामचन्द्र ने उसे यहाँ स्थान दिया है । 'जग्राह द्युतरुं शक्रम्' यह उदाहरण भी असंगत है, क्योंकि इन्द्र से कल्पतरु ले लिया—इसी अर्थ की प्रतीति होती है । प्रत्युत पराक्रम का अतिशय दिखलाने के लिए 'जहार' क्रिया का प्रयोग उचित था[3] । (२) अन्य धातुओं में कोई दोष नहीं, किन्तु उनका विभाजन आपत्तिजनक है । कर्मवाच्य की प्रक्रिया में प्रश्न होता है कि लकार, कृत्य, क्त तथा खलर्थ (भाव और कर्म में होनेवाले) प्रत्यय किस कर्म में होंगे—प्रधान कर्म में या अकथित में ?

---

१. माधवीयधातुवृत्तिः (पृ० ३८) । श० कौ० २, पृ० १३१ में उद्धृत ।
२. प्रक्रियाकौमुदी, बम्बई (१९१५), पृ० ३८८ (खण्ड १) ।
३. शब्दरत्न, पृ० ४९० ।

रामचन्द्र ने स्वयं कहा है कि नी आदि धातुओं के साथ मुख्य कर्म में, किन्तु दुहादि के साथ गौण कर्म में लकारादि होंगे—(गौण कर्म अभिहित होगा)। यह रामचन्द्र की भूल है, क्योंकि नी आदि में उन्होंने मन्थ्, दण्ड्, मुष्, मच्—इन ऐसे धातुओं को रखा है जिनके गौण कर्म में (मुख्य कर्म में नहीं) लकारादि होते हैं; यथा—

'येनापविद्धसलिलस्फुटनागसद्मा देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे'।

—किरात० ५।३०

उद्देश्य होने के कारण अमृत मुख्य कर्म है, अम्बुनिधि गौण। किन्तु गौण कर्म ही अभिहित है[१]।

पच्-धातु की द्विकर्मकता पर कुछ लोगों ने सन्देह प्रकट किया है, क्योंकि प्रकृत स्थल में भाष्य तथा कैयट में इसका संकेत नहीं है। प्रत्युत 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र पर भाष्य लिखते हुए पतञ्जलि 'तण्डुलानोदनं पचति' के उदाहरण में पच् के दो अर्थ मानते हैं—पकाना (कोमल करना) और निर्वर्तन (संपादन)। कैयट का कथन है कि उपसर्जनभूत विक्लेदन-क्रिया की अपेक्षा से तण्डुल कर्म है और प्रधानभूत निर्वर्तन-क्रिया की अपेक्षा से ओदन कर्म है अर्थात् दोनों ही ईप्सिततम कर्म हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं। यह स्पष्ट है कि यहाँ दो कर्म हैं। दोनों में ओदन ही ईप्सिततम है, यही भाष्य का आशय है; क्योंकि पतंजलि स्वयं कहते हैं—'तण्डुलविकारमोदनं निर्वर्तयति'। दूसरे 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' (पा० ३।१।८७) में स्थित वार्तिक—'दुहिपच्योर्बहुलं सकर्मकयोः' की व्याख्या में भी वे इसे स्पष्टतः द्विकर्मक मानते हैं, जिसका समर्थन कैयट तथा हरदत्त ने भी किया है। इसीलिए माधव ने इसे द्विकर्मक-सूची में रखा है। दीक्षित ने फिर भी (श० कौ०, पृ० १३२) भाष्यकार के 'द्व्यर्थः पचिः' (भाष्य २, पृ० २६१) इस उक्ति को माधव के द्वारा 'च' से पच् का ग्रहण किये जाने से भिन्न माना है। इन दोनों में मतान्तर है, अन्यथा 'तण्डुलानोदनं पचति' इस प्रयोग की उपपत्ति में भाष्यकार को व्यर्थ क्लेश करने का क्या प्रयोजन है? जो भी हो, माधव के बाद के कोई वैयाकरण इसे द्विकर्मक-सूची में रखना नहीं भूलते।

दुहादि धातुओं के स्वरूपमात्र से द्विकर्मकता नहीं होती प्रत्युत इनके अर्थ में प्रयुक्त होने वाले दूसरे धातुओं के साथ भी अकथित कर्म होता है। यह रहस्य भाष्यकार की उक्ति पर ही आश्रित है, जिन्होंने २।४।६२ के भाष्य में 'अहमपीदमचोद्यं चोद्ये' इत्यादि वाक्यों में पूछने के अर्थ में चुद्-धातु का प्रयोग करते हुए इसे द्विकर्मक माना है। महाकवियों के कतिपय प्रयोग भी इसका समर्थन करते हैं[२]। तब प्रश्न यह होता है कि भिक्ष् तथा याच् धातु तो समानार्थक हैं, अतः एक ही धातु को सूची में

१. प्रौढमनोरमा पृ० ४९०-१, श० कौ० २, पृ० १३५।

२. 'शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव'। —रघु० २।५१
'उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः'॥ —किरात ३।१०
'स्थास्नुं रणे स्मेरमुखो जगाद मारीचमुच्चैर्वचनं महार्थम्'। —भट्टि २।३२

स्थान देकर दोनों को गतार्थ क्यों नहीं कर लिया जाता ? 'पौरवं गामर्थयते' में उसी अर्थ में अर्थ्-धातु का प्रयोग है। अतः किसी एक धातु से कार्य-सम्पादन हो जाता। इसके उत्तर में कुछ लोगों का कथन है कि याच्-धातु का अर्थ 'अनुनय करना' होता है; जैसे—विनयं याचते (विनय के लिए अनुनय कर रहा है)। अच्छा, यदि ऐसी बात है तब अनेकार्थक याच्-धातु का ही ग्रहण कर लें, जिससे भिक्ष्-धातु की भी सिद्धि हो जाय। इस पर वे लोग कहते हैं कि नहीं, अर्थभेद से शब्दभेद मानने वाले सिद्धान्त के अनुसार याच्-धातु केवल अनुनय के ही अर्थ में ग्राह्य है[1]। इसीलिए तो नी-धातु के ग्रहण से अनुनय-अर्थ को गतार्थ नहीं किया जाता है। दीक्षित इस युक्ति से अपनी अरुचि दिखलाते हैं ('स्पष्टार्थं भिक्षेः ग्रहणमित्यन्ये'— श० कौ०)। अतः सिद्धान्तकौमुदी में द्विकर्मक धातुओं की सूची देने के समय वे इन विवादों से हटकर भिक्ष् का ग्रहण नहीं करते—

'दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छि-चि-ब्रूशासु-जिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्'॥

दीक्षित की यह सूची समस्त शंकाओं का समाधान करती है। एक तो यह द्विकर्मक धातुओं की पूर्ण सूची है, जिसमें धातुओं की पर्यायतापत्ति नहीं और दूसरे इन्हें दो राशियों में पृथक् करके पूर्ण वैज्ञानिकता का परिचय दिया गया है। स्पष्टीकरण यह है कि कर्मवाच्य में जो कर्म का अभिधान होता है वह गौण कर्म का हो या प्रधान का—इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर इसके द्वैराश्य में निहित है। दुहादि बारह धातुओं के प्रयोग में गौण कर्म अभिहित होता है अर्थात् उसमें लकार, कृत्य, क्त तथा खलर्थ प्रत्यय होते हैं—गौः दुह्यते पयः, दोह्या, दुग्धा, सुदोहा इत्यादि। दूसरी ओर नी आदि चार धातुओं के प्रयोग में प्रधान कर्म ही अभिहित होता है—अजा ग्रामं नीय नेया, नीता, सुनगा[2]। यह भी ज्ञातव्य है कि णिजन्त प्रयोग में जो द्विकर्मक धातु अगले सूत्र के अनुसार होते हैं वहाँ बोध, भोजन तथा शब्दकर्म वाले णिजन्त धातुओं के 'कर्मणि-प्रयोग' में स्वेच्छा से जिस कर्म में चाहें अभिधान करें—बोध्यते माणवकं धर्मः, माणवको धर्मं वा। अन्य णिजन्तों के कर्मणि-प्रयोग में प्रयोज्य कर्म में अभिधान होता है—देवदत्तो ग्रामं गम्यते, गमयितव्यः, गमितः, सुगमः।

अकथित कर्म पर भर्तृहरि का वक्तव्य

प्रधान तथा अकथित के रूप में द्विविध कर्म की सत्ता का विश्लेषण करते हुए भर्तृहरि कहते हैं—

---

१. 'अर्थभेदेन शब्दभेद इति दर्शनमाश्रित्यानुनयार्थस्येव याचेरिह ग्रहणात्'।
—श० कौ०, पृ० १३२

२. श० कौ०, पृ० १३४—अत्रायं सङ्ग्रहः—
'गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नीहृकृष्वहाम्।
बुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मसु चेच्छया'॥

'प्रधानकर्म कथितं यत् क्रियायाः प्रयोजकम् ।
तत्सिद्धये क्रियायुक्तमन्यत्त्वकथितं स्मृतम्' ।।

—वा० प० ३।७।७१

अर्थात् जिस फलभूत पदार्थ के उद्देश्य से क्रिया के प्रवर्तन में दूसरे साधन (कारक) सज्जित होते हैं तथा जिसकी प्राप्ति हो जाने पर उदासीन हो जाते हैं उसे, ईप्सा के प्रकर्ष से युक्त प्रधान पदार्थ को, प्रधान कर्म कहते हैं, जो कर्ता के ईप्सिततम के रूप में पहले ही कहा गया है; जैसे पयस् आदि । दूसरी ओर उसकी प्राप्ति के लिए जो अनीप्सित होने पर भी आवश्यक होने के कारण क्रिया से अन्वित होता है वह अकथित कर्म है, जो अप्रधान से भिन्न कक्षा (कोटि) वाला है । जैसे—गो आदि (हेलाराज) । अकथित कर्म की भिन्नकक्ष्यता धात्वर्थ के उद्देश-भेद से होती है अर्थात् अकथित कर्ममात्र ईप्सिततम नहीं है[1] । किन्तु भर्तृहरि के इस कथन में कुछ ऐसी भाषा का प्रयोग है कि इससे उनकी अरुचि प्रकट होती है[2] ।

एककर्मवाद के निरूपण में हरि णिजर्थ का आश्रय लेते हैं । उनका कहना है कि एकमात्र प्रधान ही कर्म है, क्योंकि दुहादि क्रियाओं में णिच् का अर्थ (प्रेषण, प्रेरणा) अन्तर्भूत रहता है तथा तथाकथित अकथित कर्म प्रयोज्य कर्ता का ही दूसरा रूप है । हरि की वह कारिका इस प्रकार है—

'अन्तर्भूतणिजर्थानां दुह्यादीनां णिजन्तवत् ।
सिद्धं पूर्वेण कर्मत्वं णिजन्तं नियमस्तथा' ।। —वा० प० ३।७।७३

हेलाराज ने इसकी विशद व्याख्या करते हुए विभिन्न उदाहरणों का अन्तर्भाव दिखलाया है ।

(१) **गां दोग्धि पयः**—इसमें गौ दुग्ध का क्षरण करती है और देवदत्त उसे क्षरण करने के लिए व्यापारित करता है (तां क्षरन्तीं क्षारयति) । दोहन का यही क्षरण रूप अर्थ है । क्षरण-क्रिया के द्वारा दुग्ध आप्यमान होने के कारण कर्म है तो क्षारण-व्यापार के द्वारा आप्यमान गौ भी कर्म है—दोनों ईप्सिततम है । यह सही है कि अर्थतः (आर्थरूप से) दुग्ध प्रधान कर्म है तथा गौ उसका उपाय या साधनमात्र है, किन्तु शब्दतः (आभिधेयक रूप से) क्षरण का गौणार्थ क्षारण दुह-धातु के शब्दार्थ के रूप में गृहीत होने से गौ ही प्रधान कर्म है और इसीलिए उसी में लकारादि होते हैं—दुह्यते गौः पयः, दोग्धव्या इत्यादि । अतएव 'अप्रधाने दुहादीनाम्' इत्यादि भाष्यकारिका का समर्थन आर्थरूप का आश्रय लेकर करना चाहिए । इसी से अप्रधानता की उपपत्ति होती है । यह शंका हो सकती है कि अपायविवक्षा के बिना

---

१. 'सर्वं वाकथितं कर्म भिन्नकक्ष्यं प्रतीयते ।
धात्वर्थोद्देशभेदेन तन्ने[illegible]ततमं किल' ।। —वा० प० ३।७।७०

२. हेलाराज (उक्त स्थल पर) "'किल' इत्यस्मिन्पक्षेऽरुचिं सूचयति । तथा चाभिन्नमेव कर्मेति सिद्धान्तयिष्यति" ।

क्षारण कैसे सम्भव है? उपर्युक्त प्रकार से कर्मत्व का उपपादन करने पर यदि अपादान और कर्म की युगपत्-प्राप्ति हो, अपादान को रोककर कर्मसंज्ञा हो जायगी। इसके विपरीत यदि 'अकथित' सूत्र से कर्मसंज्ञा की जाय तो अपादान के रूप में 'कथित' होने के कारण वह नहीं हो सकेगी[१]।

नागेश भी हेलाराज के इस विवेचन का निर्देश करते हैं कि एक पक्ष में दुहादि धातुओं से दो-दो व्यापारों का युगपत् बोध होता है; जैसे दुह का अर्थ है—विभागानुकूल-व्यापारानुकूल-व्यापार। यहाँ गौ दुग्ध का त्याग करती है, देवदत्त उसे त्याग करने को प्रवृत्त करता है। इस अर्थ की प्रतीति में गौ की सक्रियता प्रकट है। दुग्ध में स्थित विभाग के अनुकूल गौ में स्थित व्यापार है, जिसके अनुकूल व्यापार दुहधातु का अर्थ है। यह दो व्यापारों को समाविष्ट करता है। किन्तु इस पक्ष में 'अकथित' सूत्र व्यर्थ हो जायगा, जो नागेश को इष्ट नहीं है। दूसरी बात यह है कि गौ की निष्क्रियता में दोहन होने पर भी तो इस वाक्य का प्रयोग हो सकता है—जिसे यह पक्ष अन्तर्भूत नहीं कर सकता। इसीलिए दुह धातु के अर्थ में संशोधन करना अपेक्षित है—दुग्ध में स्थित विभाग के अनुकूल व्यापारमात्र दोहन है। यह दूसरा पक्ष शास्त्रीय तथा इष्ट भी है। मञ्जूषा तथा शब्देन्दुशेखर में इसे स्पष्ट किया गया है कि अन्तःस्थित द्रवित होनेवाले द्रव्य (दुग्ध) में विभाग के अनुकूल व्यापार होना ही दोहन है। अपादान-रूप गौ की तथारूप विवक्षा नहीं होने पर इसी से कर्मत्व होता है[२]।

शब्दशक्ति-प्रकाशिका में एक विलक्षण विचार है कि गौ को प्रधान तथा दुग्ध को अप्रधान कर्म बतलाया गया है। वहाँ जगदीश कहते हैं कि दुह-धातु मोचनानुकूल व्यापार के अर्थ में आता है और मोचन बहिःक्षरण के अनुकूल क्रिया ही का नाम है। क्षरण दुग्ध में है, किन्तु तदनुकूल क्रिया गौ में ही है। अतः उक्त मोचन-क्रिया का आश्रय गौ प्रधान कर्म है तथा परम्परा से धात्वर्थता की अवच्छेदक (क्षरण) क्रिया का आश्रय दुग्ध अप्रधान कर्म है। जगदीश का यह विचार अत्यन्त भ्रामक है, जिसका संशोधन गदाधर ने व्युत्पत्तिवाद में करके कर्म का दूसरा लक्षण देते हुए दुग्ध को ही प्रधान कर्म सिद्ध किया है।

(२) **पौरवं गां याचते**—यहाँ हेलाराज 'याचते' का अर्थ 'दापयति' करते हुए कहते हैं कि पौरव गोदान करता है; याचक उसमें श्रद्धा उत्पन्न करके दान के लिए प्रवृत्त करता है। वाच्य के रूप में ही याचना का प्रेरणार्थ अन्तर्भूत है। याचन का कर्म गौ है, किन्तु प्रेरणा का कर्म पौरव है। अतः सामान्य नियम से ही इसमें कर्मसंज्ञा हुई है। किन्तु नागेशभट्ट याच्-धातु के अर्थ का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि इसमें स्वामी के स्वत्व की निवृत्ति तथा अपने स्वत्व की उत्पत्ति—इन दोनों

---

१. हेलाराज, वही, पृ० २८९।

२. ल० श० शे०, पृ० ४१२।

के ही अनुकूल व्यापार रहता है, जो दिलाने की इच्छा (दिदापयिषा) का भी व्यंजक है[1] । पौरव में पूर्वोक्त किसी भी विषय (संज्ञा) की प्राप्ति नहीं होती, अतः वह अकथित कर्म है । चूँकि धातु का अर्थ 'विभाग' नहीं है, अतः अपादान-संज्ञा का प्रसंग नहीं होगा । भाष्य में कहा गया है—'न याचनादेवापायो भवति । याचितोऽसौ यदि ददाति ततोऽपायेन युज्यते' (भाष्य, खण्ड २, पृ० २६५) । कैयट भी कहते हैं कि याचक भी माँगने के समय यह निर्णय नहीं कर पाता है कि सचमुच याचित पदार्थ उससे निकलकर मुझे मिल ही जायगा । यह स्थिति बुद्धिकृत अपाय का भी अवकाश नहीं छोड़ती ।

गदाधर ने (व्यु० वा०, पृ० १४४) याचना का अर्थ किया है—अपने उद्देश्य से दान की इच्छा (स्वोद्देश्यकदानेच्छा) । नागेश इसका खंडन करते हैं कि ऐसा मानने पर 'पुत्रार्थं कन्यां याचते' (पुत्र के लिए, अपने लिए नहीं, कन्या माँगता है)—इस प्रकार के स्थलों में याच-धातु का प्रयोग नहीं हो सकेगा, क्योंकि दान स्वोद्देश्यक न होकर पुत्रोद्देश्यक है[2] । दूसरी बात यह है कि अपने उद्देश्य से (अपने को सम्प्रदान बनाकर) दान कराने की इच्छा रखनेवाले पुरुष (चैत्रादि) में 'चैत्रो याचते' जैसा प्रयोग होने लगेगा—भले ही वह पुरुष फल न मिलने की शंका से 'हमें दीजिए' ऐसा कुछ नहीं बोल रहा हो । तात्पर्य यह है कि इच्छा की स्थितिमात्र से व्यापार नहीं भी करने से याचना-क्रिया की अनिष्ट उपपत्ति होने लगेगी ।

भट्टोजिदीक्षित तथा नागेश 'बलिं याचते वसुधाम्' यह सामान्य उदाहरण देकर एक विशेष उदाहरण देते हैं—अविनीतं विनयं याचते (उद्दण्ड पुरुष से विनय की याचना करता है) । यहाँ स्वीकारानुकूल व्यापार के अर्थ में धातु है । 'मैं यह अवश्य करूँगा'—इस प्रकार की उक्ति के जनक ज्ञानविशेष के अर्थ में यहाँ स्वीकार-शब्द का प्रयोग है । यह सम्प्रदान का विषय नहीं है, क्योंकि याचना करने से ही किसी व्यक्ति का विनय के साथ सम्बन्ध नहीं हो जाता । हाँ, इतना अवश्य है कि उसे विनय-विषयक ज्ञान हो जाता है[3] । याचना से भिक्ष्-धातु भी व्याख्यात है ।

(३) **व्रजमवरुणद्धि गाम्**—हेलाराज यहाँ कहते हैं कि प्रवेशन-क्रिया का प्रेरणार्थक रूप यहाँ अन्तर्भूत है—गौ व्रज (गोशाला) में प्रवेश करती है, उसे दूसरा व्यक्ति प्रवेश करा रहा है । प्रवेशन-क्रिया का कर्म व्रज है, प्रेषण का कर्म गौ है । प्रवेशन का अर्थ यदि स्थापन करना हो तो व्रज अधिकरण हो जाता है, किन्तु दोनों संज्ञाओं की युगपत्-प्राप्ति होने पर परवर्तिनी कर्मसंज्ञा होती है; जैसे—गेहं प्रविशति । यहाँ प्रवेश का गौणार्थ स्थान (ठहरना) प्रधान है (गेहं प्रवेशनेन व्याप्य तिष्ठति) । प्रवेश की अपेक्षा से व्रज कर्म है तो स्थान की अपेक्षा से अधिकरण भी है, किन्तु परवर्ती कर्मसंज्ञा

---

१. ल० म०, पृ० १२२८ ।

२. ल० म०, पृ० १२२८ तथा कला १२२९ ।

३. ल० श० शे०, पृ० ४१२ ।

उसे रोक देती है। इस प्रकार हेलाराज व्रज को ईप्सित कर्म के रूप में सिद्ध कर देते हैं, जो अन्यथा अकथित रूप में प्रसिद्ध है। नागेश रुध-धातु का अर्थ—'निर्गमन के प्रतिबन्ध के द्वारा व्रज में चिरस्थिति के अनुकूल व्यापार' करते हैं। अर्थ है—'व्रजे गौस्तिष्ठति' (स्थानापेक्षा से अधिकरण)। वहाँ उसे निर्गमन-प्रतिबन्ध के द्वारा देर तक स्थापित करता है। अतः उसके अधिकरणत्व की विवक्षा नहीं होने से अकथित कर्म हुआ है। विवक्षा से अधिकरण भी हो सकता है।

(४) **माणवकं पन्थानं पृच्छति**—अन्तर्भूत णिजर्थ माननेवाले कहेंगे कि माणवक मार्ग बतलाता है, दूसरा उसे प्रेरित करता है (आख्यापयति)। अथवा यह कहें कि माणवक मार्ग बतलाना चाहता है (आचिख्यासति), दूसरा उसे ऐसा करने को प्रेरित करता है (आचिख्यापयिषति)। प्रयोज्य कर्ता होने से माणवक को कर्मसंज्ञा हो जाती है; प्रैष-व्यापार का वह कर्म जो है। नागेश कहते हैं कि जिज्ञासा के विषय-भूत पदार्थ के ज्ञान के अनुकूल तथा 'किस मार्ग से जाना चाहिए' इत्यादि शब्द-प्रयोग के रूप में स्थित व्यापार पृच्छ-धातु का अर्थ है। सम्बन्ध-सामान्य से माणवक और उसके व्यापार का अन्वय होता है। साथ ही ज्ञान का विषय होने से पथ कर्मसंज्ञक है। माणवक उक्त ज्ञान का आश्रय है—यही सम्बन्धसामान्य है। पूर्वोक्त कोई भी संज्ञा प्राप्त नहीं होने से यह अकथित कर्म है।

(५) **वृक्षमवचिनोति फलानि**—वृक्ष फल का मोचन करता है, दूसरा कोई उसे वैसा करा रहा है (मोचयति)। इस हेलाराजीय व्याख्यान में वृक्ष को ईप्सित कर्म ही कहा जाता है, क्योंकि प्रैष-व्यापार के द्वारा वह व्याप्य है। दूसरी ओर, विभागपूर्वक आदान को चि-धातु का अर्थ स्वीकार करते हुए नागेश 'वृक्षात्फलान्यादत्ते' ऐसा विवरण देते हैं। स्पष्ट है कि अवधि की विवक्षा नहीं होने से इसे प्रस्तुत अकथित कर्म कहा गया है।

(६) **माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा**—ब्रू-धातु को यहाँ हेलाराज 'प्रतिपादयति' के अर्थ में लेते हैं (माणवकः धर्मं प्रतिपद्यते, तमपरः प्रतिपादयति)। तदनुसार माणवक में ईप्सित कर्म का विधान होता है। 'शास्ति' में 'शिक्षते-शिक्षयति' का भाव है। हेलाराज कहते हैं कि कर्म के द्वारा अभिप्रेयमाण होने पर भी माणवक को सम्प्र-दान-संज्ञा यहाँ नहीं होती, क्योंकि एक तो धर्म दा-धातु का कर्म नहीं; दूसरे भाष्यकार के अनुसार सम्प्रदान-संज्ञा होने पर प्रधान व्यापार वाली कर्मसंज्ञा उसे रोक देगी। एक अन्य कारण यह है कि जो कर्म कर्ता को ईप्सिततम होता है, उसी के द्वारा अभिप्रेत होने पर किसी को सम्प्रदान-संज्ञा होती है; जैसे—'उपाध्यायाय गां ददाति'। यहाँ गौ दाता (कर्ता) को प्रिय है इसीलिए गुणवान् व्यक्ति को दी जाती है। प्रकृत स्थल में पूर्वसिद्ध होने से धर्म कर्ता को अभिमत नहीं है। वह तो चाहता है कि माणवक को अनुगृहीत करे (तेन तु माणवकोऽनुग्रहीतुमभिप्रेतः)। अतः प्रयोज्य का यहाँ ईप्सित कर्म है, प्रयोजक का नहीं। अतः सम्प्रदान का विषय ही नहीं है कि अविवक्षा का प्रश्न उठे।

किन्तु नागेश भाष्यकार के प्रामाण्य पर आश्रित होकर प्राप्त सम्प्रदान-कारक की अविवक्षा होने से ही यहाँ अकथित कर्म मानते हैं[1]। उनके अनुसार विषय के रूप में (विषयतया) ज्ञान के अनुकूल शब्द-प्रयोग करना ब्रू-धातु का अर्थ है और यही अर्थ यदि प्रवृत्तिजनक हो जाय तो उसे शासन (शास् का अर्थ) कहते हैं। जैसे 'धर्मं कुरु' इत्यादि के रूप में विधिवाक्य-स्थित उपदेश। दोनों स्थितियों में कर्ता के व्यापार के बाद उसके ज्ञान के आश्रय के रूप में माणवक सम्बद्ध है, क्योंकि वह वचनादि कर्म (धर्म) से अभिप्रेयमाण (सम्प्रदान) है। यदि पूर्वविधियों के विषय में माणवक सर्वथा अप्राप्त होता (जैसा कि हेलाराज कहते हैं), तो इस सूत्र से कर्म हो ही नहीं सकता; क्योंकि भाष्यकार की तद्विषयक कारिका का विरोध होगा —'उपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ'। अपूर्व-विधि का अर्थ है कि पूर्व संज्ञाओं में प्राप्ति अवश्य हो, किन्तु विवक्षा न हो।

इस प्रकार भाष्य-गृहीत धातुओं के प्रयोगों का विवेचन हेलाराज तथा नागेश के पृथक् दृष्टिकोणों से सम्पन्न हुआ। हेलाराज इसे 'गतिबुद्धि०' इत्यादि सूत्र से प्रयोज्य कर्ता को होने वाली कर्मसंज्ञा के रूप में नहीं देखते, क्योंकि उसमें तो गम्यादि कुछ निश्चित ण्यन्तों के साथ ही कर्मसंज्ञा का विधान है; अर्थात् वह नियामक सूत्र है। प्रस्तुत स्थल में दूसरे धातुओं के प्रयोग में (चाहे वहाँ अन्तर्भूत ण्यन्त क्यों न हो) कर्मसंज्ञा हुई है, अतः उस सूत्र की प्रवृत्ति यहाँ नहीं[2]।

प्रयोज्य कर्ता का कर्मत्व

कर्मविषयक पाणिनि का चौथा सूत्र है—'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' (पा० १।४।५२)। इसके अनुसार निम्नांकित स्थितियों में अणिजन्त क्रिया का कर्ता उस क्रिया का णिजन्त प्रयोग होने पर कर्म बन जाता है—

(१) **गत्यर्थक धातु**—गच्छति माणवको ग्रामम्। गमयति **माणवकं** ग्रामम्। किन्तु नी-धातु गत्यर्थक होने पर भी प्रयोज्य कर्ता को कर्म नहीं बनाता (अतः अनुक्त कर्ता में तृतीया होती है)—नयति देवदत्तः। नाययति **देवदत्तेन**। गत्यर्थक वह्-धातु के प्रयोग में यदि प्रयोजक कर्ता नियन्ता (पशुप्रेरक) के रूप में न हो तो भी कर्मसंज्ञा नहीं होती[3]। जैसे—वहति भारं देवदत्तः। वाहयति भारं **देवदत्तेन**। पशुप्रेरक होने की स्थिति में—वहन्ति बलीवर्दाः यवान्। वाहयति **बलीवर्दान्** यवान्। पूर्व उदाहरण में मनुष्य को प्रेरित करने का अर्थ है, यहाँ पशु को।

---

१. 'प्राप्तसम्प्रदानत्वाविवक्षायामनेन कर्मत्वमिति स्पष्टं भाष्ये। अनयोर्योगे सर्वथा पूर्वविधिविषयाप्राप्तियोग्ये विषये नानेन कर्मत्वमनभिधानात्'।

—ल० म०, पृ० १२३०

२. 'गतिबुद्धीति च नियमार्थं सूत्रं गम्यादीनामेव ण्यन्तानां प्रयोज्यः कर्म, नान्येषां पच्यादीनामित्यण्यन्तविषयेऽत्र न प्रवर्तते'। —हेलाराज, पृ० २८९

३. 'वहेरनियन्तृकर्तृकस्य' (वार्तिक)। —महाभाष्य २, पृ० २७५

(२) **ज्ञानार्थक धातु**—वेत्ति (बुध्यते) माणवको धर्मम् । वेदयति (बोधयति) माणवकं धर्मम् । ज्ञानार्थक धातुओं के अन्तर्गत दृश-धातु को विशेषरूप से रखा जाता है, जिसके लिए कात्यायन ने अपना वार्तिक दिया है । उदाहरण—पश्यन्ति भृत्या राजानम् । दर्शयति भृत्यान् राजानम् । किन्तु 'णिचश्च' (पा० १।३।७४) सूत्र के अनुसार क्रिया का फल कर्ता को अभिप्रेत होने पर जब इसे (दृश्+णिच् को) आत्मनेपद होता है, तब इसे वैकल्पिक कर्मसंज्ञा प्राप्त होती है[1] । यथा—दर्शयते भृत्यान् भृत्यैर्वा राजानम् । भट्टोजिदीक्षित का कथन है कि दृश-धातु की स्थिति में उपर्युक्त प्रकार से कर्मत्व तो ज्ञान-सामान्य के अर्थ में होने से ही सिद्ध हो जाता किन्तु ज्ञानविशेष (चक्षुरिन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्य ज्ञान) के अर्थ में सिद्ध नहीं होता, इसलिए उसके लिए पृथक् वार्तिक की व्यवस्था हुई है (शब्दकौस्तुभ, २।१३८) । इसीलिए स्मृ-घ्रा इत्यादि ज्ञानविशेष के अर्थ में आने वाले धातुओं के योग में विधान न होने के कारण कर्मसंज्ञा नहीं होती—'स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन' (सिद्धान्तकौमुदी) ।

(३) **भोजनार्थक धातु**—सूत्र में प्रत्यवसान शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ है भोजन । यथा—'भुङ्क्ते माणवक ओदनम् । भोजयति **माणवक**मोदनम्' । इस अर्थ के धातुओं में भी कुछ अपवाद हैं । अद् और खाद् धातुओं के प्रयोग में कर्मसंज्ञा नहीं होती; जैसे—'आदयति (ते) माणवकेनौदनम् । खादयति बटुनान्नम्' । भक्ष-धातु के प्रयोग में अहिंसा (क्षति का अभाव) होने पर कर्मसंज्ञा नहीं होती—भक्षयति बटुनान्नम् । हिंसा का बोध होने पर कर्मसंज्ञा होती है—'भक्षयति बलीवर्दान्सस्यम्' । यहाँ बैलों को उगी हुई फसल खिलाने से उसकी क्षति होती है । यह क्षति अंकुरावस्था में चैतन्यारोप करके या दूसरे के खेतों में बैलों को चराने की स्थिति बतलाकर दिखलायी जा सकती है[2] ।

(४) **शब्दकर्म**—पतञ्जलि ने इसका अर्थ स्पष्ट करने के लिए विकल्प उठाये हैं । शब्दकर्म का अर्थ क्या है ? शब्द करना (शब्दक्रिया) या 'शब्द' को कर्म के रूप में लेने वाले धातु (शब्दः कर्म येषाम्) ? यदि प्रथम अर्थ में लेते हैं तो ह्वयति, क्रन्दति और शब्दायते इन क्रियाओं के योग में प्रतिषेध मानना पड़ेगा, क्योंकि इनके साथ कर्मसंज्ञा नहीं होती—'ह्वयति देवदत्तः, ह्वाययति देवदत्तेन । क्रन्दयति, शब्दाययति देवदत्तेन' । इसके अतिरिक्त शृणोति, विजानाति, उपलभते—इन क्रियाओं के योग का उपसंख्यान करना पड़ेगा, क्योंकि इनमें शब्दक्रिया का अर्थ नहीं रहने पर भी अण्यन्त कर्ता को ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा होती है; जैसे—'शृणोति देवदत्तः, श्रावयति देवदत्तम् । विज्ञापयति, उपलम्भयति देवदत्तम्' । दूसरी ओर, यदि शब्द को कर्म के रूप में लेनेवाले धातुओं का अर्थ लिया जाय तो जल्पति, विलपति और आभाषते के

---

१. 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे उपसंख्यानम्' । (पा० १।४।५२ पर वार्तिक)

२. 'क्षेत्रस्थानां प्ररोहाद्यवस्थायां यवानां भक्षणाद्धिंसा भवति । तदवस्थायां कैश्चिच्चैतन्यस्याभ्युपगमात् । परकीययवभक्षणे वा परो हिंसितो भवति' ।

—कैयट २, पृ० २७५

योग में भी उक्त रूप में कर्मसंज्ञा होगी; जैसे—'जल्पति देवदत्तः, जल्पयति देवदत्तम्। विलापयति, आभाषयति वा'। दृश्-धातु को तो दोनों ही स्थितियों में लेना पड़ेगा। इसका तात्पर्य है कि जिस अर्थ में भी लें उक्त शिष्ट प्रयोगों का अन्तर्भाव हो जाना चाहिए। सामान्य उदाहरण—'छात्रं वेदं पाठयति'।

(५) **अकर्मक**—'देवदत्तः शेते, देवदत्तं शाययति। पृथ्वी आस्ते, पृथ्वीमासयति'। कात्यायन का इस विषय में वक्तव्य है कि काल को कर्म के रूप में ग्रहण करने वाले अकर्मक धातुओं का उपसंख्यान करना चाहिए। अतः 'मासमास्ते देवदत्तः—मासमासयति देवदत्तम्' (देवदत्त को महीने भर ठहरा लेता है)—यहाँ कर्मसंज्ञा हुई। दीक्षित ने 'अकर्मक' पद के अर्थ का विश्लेषण किया है कि यहाँ अकर्मक उन धातुओं के लिए प्रयुक्त है जिनमें देश-कालादि से भिन्न कर्म सम्भव नहीं होता। 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (पा० ३।४।६९) सूत्र में अकर्मक से जैसे अविवक्षित कर्मवाले धातुओं का बोध होता है वैसा यहाँ नहीं लेते। अतः 'देवदत्तः पचति' का ण्यन्त होने पर 'देवदत्तेन पाचयति' (कर्मसंज्ञा का अभाव) होता है। पच्-धातु इस स्थल में अविवक्षित कर्म वाला है, अतः 'लः कर्मणि' में इसे भले ही अकर्मक मान लें किन्तु इसके प्रयोज्य कर्ता को कर्मसंज्ञा नहीं दी जा सकती। यहाँ स्वरूपतः अकर्मक या अधिक से अधिक कालवाचक शब्द को कर्म में रखनेवाले अकर्मक धातु से अभिप्राय है।

देश-कालादि को अकर्मक धातु का कर्म मानने के लिए एक वार्तिक ही दिया गया है जो 'अकथित' सूत्र में आया है। तदनुसार देश, काल, भाव तथा गन्तव्य मार्ग को कर्म कहते हैं; यथा—कुरुन् स्वपिति (देश), मासमास्ते (काल), गोदोहं स्वपिति (भाव—गाय के दुहे जाने तक) तथा क्रोशमास्ते (मार्ग)। इनमें स्वप्न, आसनादि क्रियाओं के द्वारा कुरु-देशादि को व्याप्त करने का अर्थ है। भर्तृहरि भी इसके समर्थन में कहते हैं—

'कालभावाध्वदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः।
सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्वमुपजायते'॥ —वा० प० ३।७।६७

इससे सकर्मक के विषय में भी कालादि कर्मों के योग में सकर्मकता की रक्षा हो सकती है, जैसे—'मासमोदनं पचति'। यहाँ कालादि कर्म अप्रधान होगा, द्रव्यकर्म तो प्रधान ही रहेगा। काल आधाररूप है, अतः द्रव्य के द्वारा क्रिया से सम्बद्ध होगा[१]।

'क्रोशमास्ते, मासमास्ते' इत्यादि उदाहरण 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० २।३।५) के उदाहरणों के समान प्रतीत होते हैं, जिनमें व्याप्ति के अर्थ में द्वितीया विभक्ति होती है। किन्तु कालवाचक तथा मार्गवाचक शब्दों को द्वितीया विभक्ति उस सूत्र के अनुसार केवल गुण और द्रव्य के अर्थों में होती है; जैसे—क्रोशं कुटिला (गुण), मासं गुडधानाः (द्रव्य)। इसके अतिरिक्त सकर्मक धातुओं के योग में होती है—

१. ल० श० शे०, पृ० ४१२।

'मासं वेदमधीते'[1]। प्रस्तुत स्थल में केवल अकर्मक धातुओं के योग में कर्म-कारक का विधान है। भर्तृहरि सकर्मक धातुओं के साथ भी इसके प्रयोग का संकेत करते हैं। उसका कारण है कि दूसरी क्रियाओं (व्याप्ति आदि) को अन्तर्भूत करने वाले धातुओं के योग में (वे सकर्मक हों या अकर्मक) कालादि को कर्मसंज्ञा होती है। तदनुसार 'मासमास्ते' का अर्थ है—मासं व्याप्यास्ते। आसन-क्रिया के अंग (अन्तर्भूत क्रिया) के रूप में व्याप्ति-क्रिया है[2]।

ऐसा मानने पर यह शंका हो सकती है कि जब क्रियान्तर की अपेक्षा से कर्मत्व का उपपादन हो ही जाता है तब वार्तिक के द्वारा उपसंख्यान करने की क्या आवश्यकता है[3]? किन्तु ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। उपसंख्यान के बिना यदि यों ही क्रियान्तर की अपेक्षा से कर्म-संज्ञा मानने लगें तो आस् आदि धातु उक्त शब्दों के साथ सकर्मक हो जायेंगे तथा उनसे कालादि कर्मों में ही लकार, कृत्य, क्त तथा खलर्थ प्रत्यय होने लगेंगे—अकर्मक होने के कारण भाव में नहीं। अतः 'मासमास्यते, आसितव्यं देवदत्तेन' इत्यादि में भाव में लकारादि नहीं होंगे। किन्तु 'लः कर्मणि च०' इस वचन से अकर्मक से भाव में लकार तो होता ही है।

तो स्थिति यह है कि कालादि कर्म रहने पर भी इसे अकर्मक कैसे कहें? पुनः सकर्मक हो जाने पर इसमें भाव में लकार कैसे होगा? हेलाराज ने इस द्विविधा का सम्यक् शमन किया है। अन्तरंग तथा बहिरंग भेद से कर्म दो हैं। द्रव्यात्मक कर्म अन्तरंग हैं, जिसके साथ पहले सम्बन्ध होता है और कालादि कर्म बहिरंग हैं। सकर्मक तथा अकर्मक की व्यवस्था अंतरंग कर्म पर आश्रित है। अतएव लकारादि बहिरंग कर्म में नहीं होते तथा अन्तरंग कर्म के अभाव में 'मासमास्ते' इत्यादि में अकर्मक धातु ही माना जाता है, सकर्मक नहीं। 'मासमोदनं पचति' में मास व्याप्ति का विषय है तथा सकर्मक क्रिया का प्रयोग भी है। उपर्युक्त 'अन्तर्भूतक्रियान्तर' के नियम से यहाँ मास में भी कर्मत्व की सिद्धि होती है। अतः कालादि कर्मों के साथ पचादि धातुओं की द्विकर्मकता सिद्ध होने पर भी प्रधानभूत द्रव्यकर्म में ही लकारादि होते हैं, अप्रधान (कालादि) में नहीं। भर्तृहरि ने इन कालादि कर्मों के अप्रधान होने का सम्यग् उपपादन किया है कि ये द्रव्यकर्मों के आधार-रूप में रहने के कारण 'भिन्न कक्षा वाले' हैं। इसीलिए ये अप्रधान हैं—

'आधारत्वमिव प्राप्तास्ते पुनर्द्रव्यकर्मसु।
कालादयो भिन्नकक्ष्यं यान्ति कर्मत्वमुत्तरम्' ॥

—वा० प० ३।७।६८

---

१. श० कौ० २, पृ० १३६।

२. 'अन्तर्भूतक्रियान्तरैरिति। अन्तर्भूतं प्रधानक्रियापेक्षया क्रियान्तरं येषामिति ते तथा'। —हेलाराज

३. 'व्याप्त्यादिक्रिययाप्तुमिष्यमाणत्वात् कालादीनां स्फुटमेव कर्मत्वमिति यत्नान्तरेण नार्थः'। —हेलाराज, पृ० २८२

कालादि को कर्म के रूप में तो सभी धातु ग्रहण कर सकते हैं, यदि उपर्युक्त व्यवस्था कर दी जाय। इसमें सकर्मक तथा अकर्मक का प्रश्न ही नहीं उठता। पतञ्जलि ने यही देखकर 'गतिबुद्धि०' (पा० १।४।५२) सूत्र का विवेचन करने के समय अकर्मक के तीन अर्थ किये हैं—(१) काल, भाव, अध्व को छोड़कर किसी दूसरे को जो कर्म नहीं बनाता वह अकर्मक है। (२) जिस कर्म (कालादि) के कारण धातु सकर्मक तथा अकर्मक दोनों ही बन सकता हो उस कर्म को धारण करने वाला धातु अकर्मक है। (३) जो दूसरे स्थानों पर कर्म होने की योग्यता रखता हो ऐसे कर्म को ग्रहण करनेवाला धातु अकर्मक है। पतञ्जलि इस प्रकार कालादि कर्मों की व्यापकता का संकेत करते हैं कि सभी स्थितियों में ये कर्म हो सकते हैं, भले अप्रधान ही क्यों न हो।

कालादि कर्म के समान ही क्रियाविशेषण को कर्म मानने की बात भी कुछ स्थानों में उठायी गयी है; यद्यपि पाणिनितन्त्र में इसकी परम्परा नहीं है। हैमशब्दानुशासन (२।२।४१), सरस्वतीकण्ठाभरण (१।४।४१), संक्षिप्तसार (५८) तथा कारकोल्लास में क्रियाविशेषण को कर्म माना गया है। मधुर, स्तोक आदि क्रियाविशेषण क्रियाओं से व्याप्य होने के कारण कर्म कहे जा सकते हैं। नागेश भी उक्त स्थिति का समर्थन अपने लघुशब्देन्दुशेखर[1] में करते हैं। स्तोकं पचति—स्तोकं पचनं करोति। 'पचति' क्रिया के प्रयोग में अन्न-विक्लेदन के रूप में पाक या पचन फल है। जब इसे 'करोति' के द्वारा विश्लिष्ट करते हैं तब 'पाक' कर्म बन जाता है, जिसके समानाधिकरण विशेषण स्तोक को भी कर्म-संज्ञा हो जाती है। नैयायिकों को यह मत सर्वथा अमान्य है, क्योंकि क्रिया में प्रकारीभूत होने पर भी (जगदीश के अनुसार कारक का लक्षण होने पर भी)[2] सुप्-प्रत्ययों की व्यवस्था नहीं होने से क्रियाविशेषण कारक नहीं है। यह दूसरी बात है कि नपुंसकलिंग के समान द्वितीया विभक्ति आनुशासनिक रूप से लगायी जाती है। भवानन्द ने तो कारकलक्षण का पदकृत्य करने के समय स्पष्टतः क्रियाविशेषण के कर्मत्व का खण्डन किया है—'स्तोकं पचतीत्यादौ क्रियाविशेषणेऽतिव्याप्तिवारणाय विभक्त्यर्थद्वारेति' (कारकचक्र, पृ० ५)। जैसा कि कहा जा चुका है, पाणिनितन्त्र में भी इसकी सर्वथा उपेक्षा की गयी है।

कर्म के भेद

तत्त्वतः एक ही प्रकार का होने पर भी व्यावहारिक भेद के आधार पर कर्म के भी भेद किये जाते हैं[3]। भर्तृहरि तथा हेलाराज ने कर्म के एकत्व के निरूपण का

---

१. "फलस्यापि व्यपदेशिवद्भावेन फलसम्बन्धित्वात् कर्मत्वम्। अत एव तत्समानाधिकरणे 'स्तोकं पचति' इत्यादौ कर्मत्वसिद्धिः"। —पृ० ४०२

२. 'धात्वर्थांशे प्रकारो यः सुबर्थः सोऽत्र कारकम्'। —श० श० प्र०, का० ६७

३. 'यथैवैकमपादानं शास्त्रे भेदेन दर्शितम्।
तथैकमेव कर्मापि भेदेन प्रतिपादितम्'॥ —वा० प० ३।७।७८

बड़ा प्रयास किया है तथा ईप्सिततम के अतिरिक्त कर्मभेदों को मन्दबुद्धि लोगों पर अनुग्रह करने के लिए प्रपंचित बतलाया है। वास्तव में ईप्सिततम के रूप में एकमात्र कर्म है, जिसे अन्य भेद करने पर मुख्य कर्म कहते हैं। तथापि प्रपंच के लिए ही सही, कर्म के भेद किये गये हैं। सर्वप्रथम हम पाणिनि के अनुसार कर्म के दो भेद करें—(१) ईप्सिततम तथा (२) सूत्रान्तरों में लक्षित। ईप्सिततम के तीन भेद हैं—निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य[१]। दूसरे सूत्रों में लक्षित कर्म चार प्रकार के हैं—उदासीन, द्वेष्य, अकथित (संज्ञान्तर से अविवक्षित) तथा अन्यपूर्वक[२]। इस प्रकार कुल ७ भेद हैं।

(१) **निर्वर्त्य कर्म**—भर्तृहरि ने इसके दो प्रकार के लक्षण दिये हैं, तथापि दोनों का फलितार्थ समान है। प्रथम लक्षण है—

'सती वाऽविद्यमाना वा प्रकृतिः परिणामिनी।
यस्य नाश्रीयते तस्य निर्वर्त्यत्वं प्रचक्षते'॥ —वा० प० ३।७।४७

निर्वर्तित (उत्पन्न या अभिव्यक्त) होनेवाले घटादि पदार्थ की प्रकृति चाहे सत् हो (जैसे घट की प्रकृति मृत्तिका), चाहे अविद्यमान हो (जैसे शब्द की प्रकृति संयोगादि); यदि अभिन्न रूप में स्वीकृत न हो (परिणामिनी = अभेदरूपा), 'मृदं घटं करोति' के रूप में विवक्षित न हो, प्रत्युत 'मृदा घटं करोति' इस प्रकार भेदरूप में ही विवक्षित हो—तब प्रकृति के साथ भिन्न रूप में विवक्षा होने पर निर्वर्त्य कर्म कहलाता है।

वस्तु की कारणावस्था से कार्यावस्था में आने की बात पर दार्शनिकों में दो विभिन्न मत दिखलायी पड़ते हैं। वे हैं—असत्कार्यवाद तथा सत्कार्यवाद। असत्कार्यवाद न्याय-वैशेषिक द्वारा स्वीकृत मत है, जिसमें कारणनाश के बाद कार्योत्पत्ति मानी जाती है। इनका मत है—'सतः कारणादसत्कार्यं जायते'। पूर्वद्रव्य की चूंकि पूर्ण-निवृत्ति के अनन्तर द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होती है, अतः द्रव्यान्तर[३] की सत्ता उसकी उत्पत्ति के पूर्व मानना सम्भव नहीं। तदनुसार कोई भी कार्य नये रूप में उत्पन्न होता है। दूसरी ओर, सत्कार्यवाद के प्रतिपादक सांख्यादि (अद्वैतवेदान्ती, वैयाकरण)[४] कहते हैं कि कारणावस्था में कार्य अव्यक्त रहता है जो व्यक्त हो जाने पर कार्य कहलाता है। सांख्यकारिका (का० ९) में इस मत के समर्थन में पाँच युक्तियाँ दी

---

१. 'निर्वर्त्यं च विकार्यं च प्राप्यं चेति त्रिधा मतम्।
तत्रेप्सिततमं कर्म चतुर्धान्यत्तु कल्पितम्'॥ —वा० प० ३।७।४५

२. 'औदासीन्येन यत्प्राप्यं यच्च कर्तुरनीप्सितम्।
संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद्यच्चाप्यन्यपूर्वकम्' ॥ —वही, ३।७।४६

३. 'व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम्'।
—न्यायसूत्र ३।२।१६ पर न्यायभाष्य

४. तुलनीय—वै० भू० (पृ० १०६) 'सदिति स्वरीत्या साङ्ख्यादिमते च'।

गयी हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, अभिव्यक्ति या परिणति होती है। भर्तृहरि निर्वर्त्य कर्म के दूसरे लक्षण में इन दोनों मतों को ध्यान में रखते हैं कि वस्तु चाहे नैयायिकों के अनुसार असत्-रूप में जन्म ले रही हो या सत्-रूप में रहकर ही जन्म के द्वारा अभिव्यक्त हो रही हो—दोनों ही स्थितियों में वह निर्वर्त्य है—

'यत्सज्जायते, सद्वा जन्मना यत्प्रकाशते ।
तन्निर्वर्त्यम्......' ॥ —वा० प० ३।७।४९

किसी भी स्थिति में 'घटं करोति' इस वाक्य में स्थित घट-शब्द से वाच्य वस्तु निर्वर्त्य कर्म है, क्योंकि इसका जन्म होता है या जन्म द्वारा इसे प्रकाशित किया गया है। प्रकृति की वहाँ चर्चा ही नहीं है, अतः प्रथम लक्षण में चर्चित अभेद-विवक्षा भी नहीं है। समन्वय के लिए कहा जा सकता है कि निर्वर्त्य कर्म की प्रकृति (कारण) विद्यमान हो या अविद्यमान—जन्म के द्वारा उसे प्रकाशित किया ही जाता है। हेलाराज सत्कार्यवाद की ओर झुकते हुए कहते हैं कि यहाँ जन्म शब्द से सत् का प्रकाशन ही विवक्षित है, क्योंकि जन्म शब्द से प्रकृति की विवक्षा होने पर कर्म विकार्य हो जाता है। भर्तृहरि ने प्रथम लक्षण में ही अविद्यमान प्रकृति से कर्म के द्वारा निर्वर्तित होने की चर्चा की है—'असज्जायते अर्थात् जन्मना प्रकाश्यते' कहकर इस द्वितीय लक्षण में उसी का उल्लेख किया है। यहाँ विशेष तथ्य यह है कि 'पुत्रं प्रसूते' तथा 'शब्दं प्रयुङ्क्ते' इन वाक्यों में कुक्षि में स्थित (विद्यमान) पुत्र का तथा विवक्षित शब्द का प्रसव और प्रयोग के द्वारा प्रकाशन होता है। इसलिए सत् का प्रकाशन ही यहाँ जन्म है। तथापि भर्तृहरि के द्वारा निरूपित निर्वर्त्य कर्म के दोनों लक्षणों में यही भेद है कि प्रथम लक्षण जहाँ लोक-प्रतीति पर आश्रित है, वहीं दूसरा लक्षण दो विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है।

(२) **विकार्य कर्म**—निर्वर्त्य के समान ही इसके दो प्रकार के लक्षण दिये जाते हैं। निर्वर्त्य के प्रथम लक्षण से सम्बन्ध लक्षण है—'प्रकृतेस्तु विवक्षायां विकार्यम्' (वा० प० ३।७।४८)। निर्वर्त्य कर्म में जहाँ प्रकृति की विवक्षा नहीं होती है, जैसे—'घटं करोति' वहीं विकार्य कर्म में प्रकृति की विवक्षा होती है और वह भी अभिन्नरूप में, जैसे—'मृदं घटं करोति'। मृत्तिका (प्रकृति) तथा घट (विकृति) के बीच यहाँ कारण-कार्य या प्रकृति-विकृति का सम्बन्ध है, किन्तु दोनों को अभिन्नरूप से कर्म बनाकर ही प्रयोग किया गया है। स्पष्ट है कि विकार का विषय मृत्तिका है, जिसे घट के रूप में बदला गया है। तदनुसार मृत्तिका विकार्य कर्म है और घट निर्वर्त्य है तथा प्रकृति विकार्य है और विकृति निर्वर्त्य—यही व्यवस्था है। इसी प्रकार 'काशान् (प्रकृति-विकार्य कर्म) कटं (निर्वर्त्य) करोति' तथा 'अङ्गारान् भस्म करोति' इत्यादि में काश तथा अंगार विकार्य कर्म हैं।

विकार्य के दूसरे लक्षण में भर्तृहरि विश्लेषणात्मक व्याख्या देते हैं—

'प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं किञ्चित्काष्ठादिभस्मवत् ।
किञ्चिद् गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत् ॥ —वा० प० ३।७।५०

इसके अनुसार विकार्य कर्म दो प्रकार से होता है । कभी-कभी प्रकृति के उच्छेद (नाश) से उत्पन्न होता है, जैसे—'काष्ठं भस्म करोति' । इसमें काष्ठ विकार्य कर्म है जिसका नाश होता है । कभी-कभी प्रकृति का नाश तो नहीं होता, किन्तु उसमें दूसरे गुण उत्पन्न हो जाते हैं जैसे—'सुवर्णं कुण्डलं करोति' । यहाँ सुवर्ण विकार्य कर्म है ।[1]

यद्यपि विकार्य कर्म के उदाहरण की उपर्युक्त व्यवस्था सर्वथा तर्कसंगत तथा [2]दीक्षित, कौण्डभट्टादि आचार्यों के द्वारा स्वीकृत भी है, तथापि भर्तृहरि के व्याख्याकार हेलाराज इससे पृथक् विचार रखते हैं । उनका कथन है कि 'काष्ठानि भस्म करोति' में पूर्वलक्षण के अनुसार प्रकृति-विकृति भाव है और दोनों का क्रिया से सम्बन्ध है । प्रकृति (काष्ठ) की अविवक्षा होने पर 'भस्म' निर्वर्त्य है, किन्तु जहाँ दोनों की विवक्षा साथ ही हो, वहाँ 'भस्म' विकार्य है । हेलाराज दोनों विकार्य-लक्षणों का भेद बतलाते हुए आगे कहते हैं कि इस 'प्रकृत्युच्छेद' वाले लक्षण में यह विशेषता है कि प्रकृति की अविवक्षा होने पर भी भस्मादि कार्य-रूप विशेष से काष्ठादि का नाश करके उत्पन्न हुआ है—इस प्रतीति के कारण वह (भस्म) विकार्य कर्म होगा । प्रथम लक्षण के अनुसार प्रकृति साक्षात् विकार्य कर्म है और उससे अभिन्न होने के कारण उसका विकार भी उस कोटि में आता है तथा द्वितीय लक्षण के अनुसार विकार ही साक्षात् विकार्य कर्म है (हेलाराज ३।७।५० पर) ।

किन्तु वास्तव में हेलाराज का यह समझना कि भर्तृहरि के दोनों लक्षणों में भेद है, सत्य का तिरस्कार है । प्रथम लक्षण जहाँ विकार्य कर्म का सामान्य लक्षण देता है कि प्रकृति की विवक्षा होने पर (उसे ही) विकार्य कर्म कहते हैं, वहीं दूसरा लक्षण उसका वर्गीकरण करता है । अतः वे एक-दूसरे के पूरक हैं, परस्पर विकल्प या उत्सर्गापवाद के रूप में नहीं । दूसरी बात यह कि 'काष्ठं भस्म करोति' में हेलाराज यदि भस्म को विकार्य मानते हैं तो काष्ठ को कर्म मानने के लिए अभेद-सम्बन्ध से उस पर विकार्यत्व का आरोप होगा, जो अनुचित है । तीसरे 'विकार्य' पद की सार्थकता काष्ठ (अर्थात् प्रकृति) को ही विकार्य कर्म मानने में है; भस्म तो स्वयं विकार अर्थात् निर्वर्त्य है, जो काष्ठनाश के अनन्तर निष्पन्न होता है । इसलिए परवर्ती आलोचकों ने कहा है कि काष्ठ और सुवर्ण के परिणामित्व (अभिन्नता या परिवर्तन-शीलता) की विवक्षा रहे या नहीं, भस्म तथा कुण्डल निर्वर्त्य कर्म है, काष्ठ और सुवर्ण ही विकार्य हैं ।[3]

---

१. 'अत्र काष्ठसुवर्णयोः परिणामित्वविवक्षाविवक्षयोरपि भस्मकुण्डलरूपकर्मणो-र्निर्वर्त्यतैव । काष्ठसुवर्णयोस्तु विकार्यत्वमित्यविधेयम्' । —वै० भू०, पृ० १०६

२. 'इह भस्मकुण्डलयोर्निर्वर्त्यत्वमेवेति बोध्यम्' । —श० कौ० २, पृ० १२९

३. काष्ठ के विकार्यत्व की उपपत्ति के लिए कौण्डभट्ट बहुत सचेष्ट हैं । द्रष्टव्य—

यह आवश्यक नहीं कि विकार्य कर्म का उदाहरण देने में हम प्रकृति-विकृति का सम्बन्ध दिखलायें ही। जैसे 'घटं करोति' में प्रकृति के अभाव में भी निर्वर्त्य कर्म की उपपत्ति हो जाती है, उसी प्रकार विकृति के अभाव में 'काण्डं लुनाति', 'चर्म करोति' इत्यादि उदाहरणों में विकार्य कर्म देखा जा सकता है। तदनुसार 'कर्मण्यण्' (पा० ३।२।१) सूत्र से काण्डलावः, चर्मकारः, लौहकारः इत्यादि सिद्ध होते हैं। स्वर्णकार, लौहकार आदि शिल्पियों के लिए स्वर्ण, लौह आदि विकार्य हैं, जिन्हें वे विभिन्न रूप देते हैं। ये विकृत रूप निर्वर्त्य हैं।

(३) **प्राप्य कर्म**—कर्म का यह भेद उपर्युक्त शंकाओं तथा विवादों से मुक्त है। इसका लक्षण है—

'क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते।
दर्शनादनुमानाद्वा तत्प्राप्यमिति कथ्यते' ॥ —वा० प० ३।७।५१

प्राप्य कर्म वह है जिसके साथ क्रिया का सामान्य सम्बन्ध ज्ञात रहता है, किन्तु उस क्रिया के द्वारा उत्पन्न होनेवाली विशेषताओं का (जैसे वस्तु के गुण या द्रव्य का परिवर्तन) ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं मिलता। हेलाराज के अनुसार निर्वर्त्य कर्म में प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तु की निर्वृत्ति या आत्मोपलब्धि के रूप में क्रियाकृत-विशेष का ज्ञान होता है। विकार्य में विकार-रूप क्रियाकृत-विशेष प्रत्यक्षसिद्ध है। कभी-कभी अनुमान से भी उक्त विशेष का निश्चय होता है; जैसे किसी दूसरे व्यक्ति में स्थित सुखादि का ज्ञान उसके मुख की प्रसन्नता आदि लिंग देखकर किया जाता है। प्राप्य कर्म के उदाहरण हैं—'रूपं पश्यति, आदित्यं पश्यति, वेदमधीते, ग्रामं गच्छति' इत्यादि। दर्शनादि क्रियाओं का कोई विशेष (प्रभाव) रूपादि कर्मों पर पड़ रहा है—इसका साक्षी न तो प्रत्यक्ष है और न ही अनुमान। प्रमाणों के द्वारा क्रिया का केवल सम्बन्ध ही लक्षित होता है। वह सम्बन्ध ही विशेष है, ऐसी बात नहीं। ग्राम में जो गमनक्रिया से जनित संयोग (जो द्विष्ठ है) विशेष के रूप में है, वह हिमालय को अंगुलि में छूने के समान अलक्ष्य है, क्योंकि ग्राम और पुरुष के परिणामों में बहुत अन्तर है। (हेलाराज २, पृ० २७०)।

प्राप्य कर्म में क्रियाकृत विशेषताओं की सत्ता नहीं होनी चाहिए, ऐसा कहा गया है। कुछ लोग इस आधार पर प्राप्य कर्म का अस्तित्व ही नहीं मानते, क्योंकि क्रिया-जन्य विशेषताओं का तो अवधारण सर्वत्र सम्भव है। यह दूसरी बात है कि सूक्ष्मता के कारण सभी लोग उनका निश्चय नहीं कर पाते। स्थूल-विशेषता होने पर तो उसका निश्चय करना कठिन नहीं ही है। कुछ सर्प ऐसे होते हैं जिनकी आँखों में ही विष

(वै० भू० पृ० १०६)—'ननु काष्ठं विकार्यं कर्मेत्युक्तमयुक्तम्। क्रियाजन्यफलाश्रयत्वाभावादिति चेदत्राहुः। प्रकृतिविकृत्योरभेदविवक्षया निरूढयोत्पत्त्याश्रया। यद्वा काष्ठानि विकुर्वन् भस्म करोतीत्यर्थः। (तण्डुलमोदनं पचतीत्यत्र) तण्डुलान् विक्लेदयन्नोदनं निर्वर्तयतीतिवत्'।

रहता है। ऐसे सर्प यदि किसी विषय को देखते हैं तो स्पष्टतः वह विषय विषाक्त हो जाता है।[1] इसी प्रकार भयोत्पादक पुरुषों का किसी दूसरे को देखना अवश्य ही कुछ प्रभाव उत्पन्न करता है। इसके साधर्म्य से अन्यत्र भी दार्शनिक क्रियाओं से उत्पन्न होनेवाली विशेषताओं का निर्देश किया जा सकता है। चुम्बक का लोहे पर या फिटकरी (कतक) का जल पर प्रभाव देखा जा सकता है। इसके उत्तर में हेलाराज कहते हैं—(१) हीं-कहीं ऐसी विशेषता होने से सर्वत्र नहीं हो जायगी। (२) प्राप्य कर्म में चर्चित विकार या विशेषता की सत्ता क्रिया के फल में होनी चाहिए, न कि उसके हेतु में दिखलायी पड़नेवाले ये विषय क्रिया के हेतु हैं, फल नहीं। (३) सर्पादि के उदाहरण में तेज के संयोग से विषय में विकार होता है, क्रिया का उसमें कोई हाथ नहीं है। चुम्बक और फिटकरी के उदाहरणों में वस्तु का ही स्वभाव ऐसा है जिसमें क्रियाकृत विकृति नहीं होती। अतः क्रियाजन्य विकार से निरपेक्ष प्राप्य कर्म की सत्ता है।

फिर भी यह प्रश्न उठ सकता है कि जब प्राप्य कर्म का किसी विकार से सम्बन्ध ही नहीं है तब यह क्रिया की निष्पत्ति में कैसे सहायता पहुँचा सकेगा? कारक या साधना होने के लिए किसी को क्रियासिद्धि का अंग होना अनिवार्य है। इस प्रश्न का उत्तर भर्तृहरि ही देते हैं कि क्रियासिद्धि के लिए प्राप्य कर्म तीन प्रकार के विशेषों की व्यवस्था रखता है जो क्रिया के हेतु हैं, उससे उत्पन्न नहीं। ये हैं—

'आभासोपगमो व्यक्तिः सोढत्वमिति कर्मणः।
विशेषाः प्राप्यमाणस्य क्रियासिद्धौ व्यवस्थिताः' ॥

—वा० प० ३।७।५३

(क) **आभासोपगम** (योग्य देश में स्थिति)—कोई भी विषय योग्य स्थान में अव त रहता है तभी दर्शन, गमनादि क्रियाओं का विषय बनकर उनका उपकार करता है। यदि वह ऐसे स्थान में हो जहाँ इन्द्रियों की शक्ति पहुँच ही नहीं सकती या अनावश्यक स्थान में वह स्थित रहे तो सम्बन्ध क्रिया का उपकार उसमें नहीं होगा। किन्तु जब क्रिया उपकृत होती है तब विषय अवश्य ही योग्य देश में है—ऐसा विशेष प्रतीत होता है। किन्तु यह विशेष क्रिया का उपकारक (साधन) है, फल नहीं। यह क्रिया की सिद्धि करता है, क्रिया से उत्पन्न नहीं होता।

(**ख**) **व्यक्ति** (प्रकाशन)—दर्शनादि क्रिया में वस्तु के प्रकाशन के रूप में क्रिया का उपकार होता है, क्योंकि योग्य देश में स्थित होने पर भी प्रकाशन तभी होगा जब प्रकाश के प्रतिबन्धक (कुहेलिकादि) पदार्थों का अभाव हो तथा प्रदीपादि की सत्ता हो। इसलिए अभिव्यक्ति दर्शन-क्रिया का साधन या अंग है। वस्तु के

---

१. तुलनीय—वा० प० ३।७।५२ तथा उस पर हेलाराज—
'विशेषलाभः सर्वत्र विद्यते दर्शनादिभिः।
केषाञ्चित्तदभिव्यक्तिसिद्धिर्दृष्टविषादिषु' ॥

प्रत्यक्ष न होने के कई कारण होते हैं; जैसे—अधिक दूरी, अतिसामीप्य, इन्द्रिय की अक्षमता, मन की अस्थिरता इत्यादि (द्रष्टव्य—सांख्यकारिका, ७)। अतः वस्तु के आवरण-भंग के रूप में अभिव्यक्ति आवश्यक है। कौण्डभट्ट आवरण-भंग को क्रियाकृत विशेष मानकर यह समाधान प्रस्तुत करते हैं कि प्रतिपत्ता के अतिरिक्त किसी और पुरुष को यह विशेष ज्ञात नहीं होता, यही क्रियाकृत विशेष का अर्थ है।[1]

(ग) **सोढत्व** (बोध की क्षमता)—योग्य देश में स्थिति और आवरणभंग के के अतिरिक्त दृश्य विषय का स्वभावतः बोध के योग्य होना ही आवश्यक है। अन्यथा अदृश्य स्वभाववाले देवताओं-राक्षसों को या मनुष्य में छिपे गुणों-दुर्गुणों को कोई कैसे देख सकता है ?

इन तीनों अतिशयों के कारण दर्शन-क्रिया के प्रति प्राप्य कर्म साधन बनता है। इसी प्रकार अन्य क्रियाओं में भी इनका यथायोग्य निरूपण किया जा सकता है। 'ग्रामं गच्छति' में ग्राम इच्छा का विषय है, योग्य देश में स्थित है, गमन के योग्य (सोढत्व) है—अतः ये अतिशय गमन-क्रिया के साधक हैं। इनके अभाव में गमन-क्रिया अनिष्पन्न रह जाती। 'वेदमधीते' में वेद अध्ययन-क्षम (योग्य) है। 'मातरं स्मरति' में उपकारमयी माता क्रूर-हृदय पुत्र के भी स्मृति-पथ में आकर स्मरण-क्रिया की सिद्धि करती है। यदि ईप्सिततम की विवक्षा न हो तो सम्बन्ध-सामान्य में शेषषष्ठी भी होती है—'मातुः स्मरति'।

मीमांसक, अद्वैतवेदान्ती तथा सारस्वतकारादि वैयाकरण इन तीन कर्मों के अतिरिक्त एक 'संस्कार्य' कर्म की सत्ता मानते हैं। पाणिनितन्त्र में (जैसे बालमनोरमा में वासुदेवदीक्षित) इसे विकार्य से अभिन्न समझा जाता है। किन्तु मीमांसक कहते हैं कि दर्पण के विमलीकरण-जैसे उदाहरणों में न तो कारणनाश है और न गुणान्तर की उत्पत्ति ही है, अतः यह विकार्य में अन्तर्भूत नहीं हो सकता। प्राप्य कर्म में भी इसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं, क्योंकि दर्पण का विमलीकरण क्रियाजन्य विशेष की सिद्धि (=स्वच्छता) प्रत्यक्ष से ही ज्ञात हो जाती है। दर्पण में उनके अनुसार संस्कार नामक अतिशय उत्पन्न होता है जो न केवल प्रतिपत्ता (कर्ता) के द्वारा ज्ञेय है, प्रत्युत दूसरे भी इसे जान सकते हैं। इसी प्रकार सारस्वतकार गुणाधान (वस्त्रं रञ्जयति रजकः) तथा मलापकर्षण (वस्त्रं क्षालयति रजकः) के रूप में द्विविध अतिशय स्वीकार करते हैं। कभी-कभी पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ संस्कार की बात की जाती है, जिससे 'राज्यं प्राप्नोति धर्मिष्ठः' में राज्य संस्कार्य कर्म सिद्ध होता है।[2]

कर्म के अन्य भेद

(१) **उदासीन कर्म**—पाणिनि के 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' सूत्र के द्वारा दो प्रकार के कर्मों को लक्षित किया जाता है—उदासीन और द्वेष्य। सांख्यदर्शन के

१. वै० भू०, पृ० १०६।

२. द्रष्टव्य—गुरुपद हाल्दार, व्या० द० इ०, पृ० २८३।

अनुसार त्रिगुणात्मक विषय में जब तमोगुण का आधिक्य होता है, तब वह उदासीन प्रतीत होता है। रजोगुण के उद्भव से वही द्वेष्य तथा सत्त्वगुण के प्राबल्य से (दोनों अन्य गुणों का अभिभव होने से) वही विषय ईप्सिततम भी कहला सकता है। अतः इन कर्मों के उदाहरणों में अवस्था-भेद के द्वारा नियमन की बात नहीं भूलनी चाहिए। विष जो मुख्यतः द्वेष्य है, अवस्थाभेद से ईप्सित और उदासीन भी हो सकता है। उदासीन कर्म का उदाहरण प्रायः दिया जाता है—'ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति'। तृण कर्ता का अनुद्देश्य होने पर भी क्रियाजन्य संयोगरूप फल धारण करता है।

(२) **द्वेष्य कर्म**--जो ईप्सित नहीं हो, अनिष्ट-साधन हो किन्तु क्रियाफल धारण कर रहा हो, वह द्वेष्य कर्म है; जैसे--विषं भुङ्क्ते, चौरान् पश्यति इत्यादि में विष और चौर। ऊपर इसका विवेचन किया जा चुका है।

(३) **संज्ञान्तर से अविवक्षित कर्म**—इसे अकथित या गौण कर्म भी कहते हैं। दुह, याच आदि द्विकर्मक धातुओं के प्रयोग में जो वस्तु अपादान आदि विशेष संज्ञाओं से अविवक्षित हो उसे भी कर्मसंज्ञा होती है; जैसे—'गां दोग्धि पयः' में गौ। गौ की पूर्वविधि (अपादान) में प्राप्ति थी, किन्तु उसकी विवक्षा के अभाव में पूर्वविधि की सर्वथा अप्राप्ति हो जाने पर अकथित कर्मत्व होता है।

(४) **अन्यपूर्वक कर्म**—जब दूसरी कारक-संज्ञाओं का बाध करके शस्त्र के द्वारा ही कर्मसंज्ञा का विधान किया जाय तो उसे अन्यपूर्वक कर्म कहते हैं। अष्टाध्यायी के कारकाधिकरण में इसके कई स्थल हैं; यथा—

(क) **क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म** (१।४।३८)—इसके पूर्व क्रुध्, द्रुह् आदि धातुओं के प्रयोग में जिसके प्रति कोप होता है, उसे सम्प्रदान-संज्ञा का विधान है। प्रस्तु शास्त्र के द्वारा केवल क्रुध् और द्रुह् धातुओं में यदि उपसर्ग लगा हो तो कोप के वि य को कर्मसंज्ञा का विधान होता है; जैसे—देवदत्तम् अभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति। किन्तु उ सर्ग नहीं होने पर—देवदत्ताय क्रुध्यति इत्यादि ही होगा। उपसर्ग के कारण संज्ञा में भेद पड़ने का कोई दार्शनिक कारण प्रतीत नहीं होता। सम्भवतः यह प्रयोग पर आश्रित हो। अथवा मूलरूप में कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता रहा हो, जिसने कालान्तर में रूढ होकर उपसर्गसहित क्रुधादि के योग में कर्मसंज्ञा का रूप धारण कर लिया हो।

(ख) **दिवः कर्म च** (१।४।५३)--साधकतम (क्रियासिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक) को करण संज्ञा का विधान है। प्रस्तुत सूत्र दिव्-धातु (खेलना) के साधकतम को कर्मसंज्ञा का भी विधान करता है; जैसे—अक्षैर्दीव्यति (करण), अक्षान् दीव्यति (कर्म)। यहाँ दोनों संज्ञाओं की सार्थकता समझी जा सकती है। जुए के पासों को जब कोई ईप्सिततम समझता है तब उनकी कर्मसंज्ञा होती है और जब उन्हें विजयादि के साधन के रूप में प्रयोग के योग्य मानता है तब करण-संज्ञा भी होती है। 'पाणिनि के समय इनके उभयविध प्रयोग होते थे। 'देवना अक्षाः' (जुए खेलने के साधन पासे—दीव्यन्त एभिरिति करणे ल्युट्) में करणसंज्ञा तथा

'दीव्यन्तेऽक्षाः' (पासे खेले जाते हैं—कर्मवाच्य) में कर्मसंज्ञा—इस प्रकार दोनों का पृथक् अवकाश भी शब्दकौस्तुभ (खं०२, पृ० १२७) में दिखलाया गया है ।

(ग) **अधिशीङ्स्थासां कर्म** (१।४।४६)—क्रियाश्रय-भूत कर्ता और कर्म के आधार को अधिकरण-संज्ञा होती है, जिसका बाध करके प्रस्तुत सूत्र अधिपूर्वक शी, स्था और आस् धातुओं के प्रयोग में उनके आधार को कर्मसंज्ञा का विधान करता है । जैसे—'अधिशेते अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः' । वैकुण्ठ वास्तव में उन क्रियाओं का आधार है, किन्तु अधिकरण के स्थान में कर्मसंज्ञा ही होती है । यहाँ भी कर्मप्रवचनीय के पूर्वप्रयोग से विकसित कर्मसंज्ञा की प्रतीति होती है ।

(घ) **अभिनिविशश्च** (१।४।४७)—अभि तथा नि (संयुक्त) के बाद विश्-धातु का प्रयोग हो तो इसके अधिकरण को कर्मसंज्ञा होती है; जैसे—ग्राममभिनिविशते (ग्राम के प्रति आग्रहवान् है) । अभिनिवेश = आग्रह । यह अकर्मक क्रिया है, इसी से अधिकरण के स्थान में कर्मसंज्ञा का विधान है । प्रवेश करने के अर्थ में तो 'ग्रामं गच्छति' के समान कर्मसंज्ञा अपने-आप सिद्ध है; जैसे—'धर्मारण्यं प्रविशति' (अभि० शकु० १।३०), 'निर्विशेस्तं नगेन्द्रम्' (मेघ० १।६५), 'ग्राममभिनिविशते' (गाँव में प्रवेश करता है) । ये सभी प्राप्य कर्म हैं । आग्रह के अर्थ में भी कर्म संज्ञा का वैकल्पिक प्रयोग देखा जाता है; जैसे—'पापेऽभिनिवेशः; एष्वर्थेष्वभिनिविष्टानाम्' । (भाष्य २।१।१) । इन प्रयोगों का समर्थन **'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्'** (पा० १।४।४४) से मण्डूकप्लुति-न्याय से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति लाकर किया जा सकता है । शब्दकौस्तुभकार यहाँ 'नि' उपसर्ग में 'अभि' की अपेक्षा अल्पतर स्वरवर्ण रहने पर भी उसके परनिपात का कारण बतलाते हैं कि इसी आनुपूर्वी से विशिष्ट समुदाय की विवक्षा की जा सके, व्यत्यय या अकेले उपसर्ग के योग में नहीं हों—यही सूत्रकार का उद्देश्य है । इसी से **'निविशते यदि शूकशिखा पदे'** (नैषधीय० ४।११) में कर्मसंज्ञा नहीं हुई । हाँ, यह स्मरणीय है कि कर्मत्व की विवक्षा होने पर द्वितीया होगी ही ।

(ङ) **उपान्वध्याङ्वसः** (१।४।४८)—उप, अनु, अधि तथा आङ् इनमें से किसी भी उपसर्ग के बाद यदि वस्-धातु का प्रयोग हो तो उसके आधार को कर्मसंज्ञा होती है; जैसे—उपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा ग्रामं सेना । इन सभी क्रियाओं का अर्थ 'निवास करना' है । भोजन-निवृत्ति के अर्थ में उपपूर्वक वस्-धातु के आधार को कर्म नहीं होता, अधिकरण ही रहता है । जैसे—'वने उपवसति' । इसका विशेष विवेचन अधिकरण के प्रसंग में होगा । ये सभी उपसर्ग पहले कर्मप्रवचनीय के रूप में प्रयुक्त होकर द्वितीया-विभक्ति लेते होंगे । बाद में कर्मसंज्ञा की श्रेणी में इन्हें लाने का प्रयास किया गया है—ऐसा अनुमान है ।

अध्याय : ६

करण-कारक

व्युत्पत्ति

कृ-धातु (डुकृञ् करणे) से करण के ही अर्थ में ल्युट्-प्रत्यय लगाने पर करण शब्द की सिद्धि होती है, जिससे इसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है—जिसके द्वारा कोई कार्य सम्पन्न हो (क्रियतेऽनेनेति)। विभिन्न शास्त्रों में इसका ग्रहण विविध अर्थों में किया गया है। व्याकरण में यह कारक-विशेष है। न्यायशास्त्र में प्रकृष्ट कारण[1] के अर्थ में तथा सांख्यदर्शन में इन्द्रिय, मन, अहंकार तथा बुद्धि का सम्मिलित बोध कराने के लिए[2] इसका प्रयोग होता है। इन सभी अर्थों में कारकविशेष-रूप करण को ही मूल अर्थ कह सकते हैं, क्योंकि पिछले अर्थ न्यूनाधिक रूप से उसी से प्रभावित हैं।

साधकतम कारक

पाणिनि ने करण का लक्षण किया है—'साधकतमं करणम्' (पा० १।४।४२)। साधक का अर्थ है—क्रियासिद्धि में उपकार (सहायता) करने वाला। अतिशय के प्रदर्शनार्थ तमप्-प्रत्यय लगा है ('अतिशायने तमबिष्ठनौ' ५।३।५५)। अतएव सूत्रार्थ है कि क्रियासिद्धि में प्रकृष्ट (सबसे अधिक) उपकार करने वाला कारक करण है; यथा—'दात्रेण लुनाति, परशुना छिनत्ति'। यहाँ लवन तथा छेदन क्रियाओं की सिद्धि में क्रमशः दात्र (हँसुआ) और परशु परम उपकारक है, अतः इन्हें करणसंज्ञा हुई है।

सामान्यतया सभी कारक क्रियासिद्धि में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उपकारक होते हैं, तथापि करण की उपकारकता प्रकृष्ट है; इसीलिए तमप् प्रत्यय लगाया गया है। पतञ्जलि इस सूत्र पर किये गये अपने भाष्य में केवल इस तमप्-प्रत्यय के प्रयोजन का ही विवेचन करते हैं। उनके अनुसार तमप् का यह प्रयोजन नहीं कि सामान्य रूप से क्रिया के साधक सभी कारकों में अतिप्रसंग-दोष के निवारणार्थ यह प्रत्यय लगाकर करण को अतिशायन-स्तर दिया गया है। कारण यह है कि कारक-प्रकरण में, जहाँ पूर्वापरक्रम तथा विप्रतिषेध-परिभाषा भी प्रक्रान्त होती है, करण के पूर्व आनेवाले कारक अपवाद होने के कारण इसे व्यर्थ कर देंगे, क्योंकि अपवाद प्रबलतम बाधक होता है ('परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः'—परि०)। दूसरी ओर, करण के बाद में आने वाली कारकसंज्ञाएँ परत्व के कारण (यदि वे सावकाश हों) अथवा अनवकाश होने के कारण (यदि वे निरवकाश हों) करण-संज्ञा की बाधिका

---

१. 'अतिशयितं साधकं साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः'। 'तदेतस्य त्रिविधस्य कारणस्य मध्ये यदेव कथमपि सातिशयं तदेव करणम्'। —तर्कभाषा, पृ० १९, ३९

२. 'करणं त्रयोदशविधम्'। तथा इस पर तत्त्वकौमुदी। —सांख्यकारिका, ३२

होंगी[1]। इस प्रकार भले ही सभी कारक क्रिया के साधक क्यों न हों, यहाँ 'साधकं करणम्' कहने से काम चल सकता था, क्योंकि पूर्व तथा पर संज्ञाएँ करण को अपने व्यक्तित्व-स्थापन के लिए समुचित अवकाश दे सकती थीं।

तमप्-प्रत्यय का अर्थ : पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष

तथापि 'तमप्' निष्प्रयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि 'धनुषा विध्यति' (धनुष से छेदता है) इस वाक्य में अपादान तथा करण इन दोनों संज्ञाओं की प्राप्ति हो सकती है। धनुष से बाण का अपाय होने के कारण अपादान तथा साधकता की स्थिति में करण—ये दोनों संज्ञाएँ प्राप्त हैं। दो संज्ञाओं का प्रसंग होने पर करण के निरवकाश होने से अपादान संज्ञा ही होगी, क्योंकि करणसंज्ञा अपादान से भिन्न स्थलों में सावकाश होती है। फलतः 'धनुषा विध्यति' वाक्य का समर्थन नहीं किया जा सकता। यदि हम करण को साधकतम मानें तो दोनों संज्ञाओं के विषयों का विभाग हो जायगा[2]—एक अपाय द्वारा साधक है, दूसरा यों ही साधकतम है। दोनों के सावकाश होने की स्थिति में परत्व के कारण करण-संज्ञा होगी—'धनुषा विध्यति'[3]।

पुनः 'तमप्' को निष्प्रयोजन सिद्ध करने के लिए लौकिक दृष्टान्त देकर पतञ्जलि पूर्वपक्ष का उत्थापन करते हैं। जब हम कहते हैं कि अभिरूप व्यक्ति के लिए जल लाओ, अभिरूप वर को (अभिरूपाय) कन्या देनी चाहिए, तो अनभिरूप (असुन्दर, अयोग्य) में तो हमारी प्रवृत्ति कभी होती ही नहीं; इसके विपरीत हम बोध करते हैं—अभिरूपतम के लिए। तमप्-प्रत्यय लगाये बिना भी इसका अर्थ गम्यमान रहता है। उसी प्रकार 'साधकं करणम्' कह सकते थे। यह ठीक है कि सभी कारक साधक ही हैं, असाधक में हमारी प्रवृत्ति होती भी नहीं कि उसे कारक कहें। जितनी बात पहले से अवगत ही हो और उतनी ही बात पुनः विहित की जाय तो अवश्य ही इसमें कोई अतिशयता या विशेषता गतार्थ होती है। साधक कारकों के बीच (जहाँ साधकता गम्यमान है) पुनः साधक (श्रूयमाण पद के द्वारा) करण का निर्देश सिद्ध कर देगा कि 'साधकतम' कहने का ही भाव होगा। यदि अन्य कारकों की प्रवृत्ति असाधक में भी होती और तब करण को कहते कि यह साधक है, तब साधक का बोध 'साधक' के रूप में (साधकत्व-प्रकारेण) ही होता, क्योंकि उसी स्थिति में

---

१. 'नैतदस्ति प्रयोजनम्। पूर्वास्तावत्संज्ञा अपवादत्वाद् बाधिका भविष्यन्ति। पराः परत्वादनवकाशत्वाच्च'। —महाभाष्य २, पृ० २५९

२. 'अत्र संज्ञाद्वयप्रसङ्गे निरवकाशत्वादपादानसंज्ञैव स्यात्। करणसंज्ञा ह्यपादानादन्यत्र सावकाशा। तमग्रहणे तु सति विविक्तविषयलाभादुभयोर्धनुषा विध्यतीत्यत्र परत्वात्करणसंज्ञा सिध्यति'। —उपर्युक्त भाष्य पर प्रदीप

३. 'द्वयोर्हि सावकाशयोः समवस्थितयोर्विप्रतिषेधो भवति'। —भाष्य १।१।३ वार्तिक

साधकत्व अनधिगत अर्थ का गमक होने के कारण विधेय हो सकता था[१]। यदि सभी कारक साधक ही हैं और तब कहें कि करण साधक है, तो इस विधि का विधित्व या प्रामाण्य सुरक्षित रखने के लिए अतिशयता का अर्थ अपने-आप आ जायगा और 'साधकतम' का बोध होगा। अतः तमप् का शब्दशः प्रयोग व्यर्थ है।

जब ऐसी बात है तब यह कहा जा सकता है कि आचार्य पाणिनि तमप्-प्रत्यय का प्रयोग करके इस तथ्य का ज्ञापन करना चाहते हैं कि कारक-संज्ञा में उपर्युक्त प्रकार से तर-तम प्रत्ययों का योग नहीं हुआ करता ('कारक-संज्ञायां तरतमयोगो न भवति'—भाष्य)। इसका अर्थ हुआ कि कारकों के लक्षण में बिना तमप्-प्रत्यय का प्रयोग किये ही प्रकर्ष का बोध होता है—'तमप्' नहीं देने से प्रकर्ष तथा सामान्य दोनों का बोध होता है। उदाहरणार्थ अपादान के अपाय-रूप लक्षणों में 'तमप्' का प्रयोग नहीं है, जिससे 'ग्रामादागच्छति' (जहाँ सम्प्राप्यनिवृत्ति के रूप में वास्तविक अपादान है) के समान 'साङ्काश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः' (जहाँ बुद्धिगत अपादान है) की सिद्धि भी हो सकती है। यदि 'अपायतम' का प्रयोग होता तो केवल वास्तविक अपादान ही इसके अधिकार में आ सकता था, बौद्धिक अपादान नहीं। सभी प्रकार के अपायों को अपादान में अन्तर्भूत करने के लिए तमप्-प्रत्यय का अप्रयोग है। इसी प्रकार अधिकरण के लक्षण में यदि तमप् लग जाता ('आधारतमोऽधिकरणम्') तो जहाँ सम्पूर्ण आधार व्याप्त होता केवल उसी स्थान में (वास्तविक आधार में) अधिकरण होता; जैसे—तिलेषु तैलम्। दध्नि सर्पिः (दही में घी है)। यहाँ सभी अवयवों से अवयवी व्याप्त हो रहा है। दूसरी ओर, 'गङ्गायां गावः' (गंगा के तट पर गायें हैं), 'कूपे गर्गकुलम् (कुएँ के समीप गर्ग के परिवार का घर है)—ऐसे सामीप्यादि पर आश्रित, प्रकल्पित आधार के स्थलों में अधिकरण नहीं होता। कारण यह है कि गौ के द्वारा गंगा या गर्गकुल के द्वारा कूप व्याप्त नहीं होते हैं। किन्तु पाणिनि ने तो 'तमप्' का प्रयोग किया नहीं। इससे सभी प्रकार के आधारों को अधिकरण में अन्तर्भूत कर लेना उनका उद्देश्य रहा होगा।

कारक-प्रकरण में 'तमप्' का प्रयोग केवल दो स्थानों पर हुआ है—'साधकतमं करणम्' (१।४।४२) तथा 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (१।४।४९)। इन स्थलों में पाणिनि का उद्देश्य केवल प्रकर्ष का द्योतन करना है, सामान्य का नहीं। यहाँ प्रकर्षबोधक 'तमप्' के प्रयोग के बिना केवल सामर्थ्य से प्रतीत होने वाले प्रकर्ष का बोध नहीं होता[२]। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार सभी आधारों को अधिकरण या सभी अपायों को अपादान होता है, उसी प्रकार सभी साधकों को करण या सभी ईप्सितों को कर्म

---

१. तुलनीय—(अर्थसंग्रह, पृ० ५४) 'विधिरत्यन्तमप्राप्ते'।

ऋग्भाष्यभूमिका—सायण, पृ० ६—'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्'।

२. 'तत्र तमश्श्रुतिरेतज्ज्ञापयति प्रकर्षप्रत्ययग्रहणमन्तरेणेह प्रकरणे सामर्थ्यगम्यः प्रकर्षो नाश्रीयते'। —कैयट-प्रदीप २, पृ० २५९

नहीं कह सकते हैं। कर्म का भी बन्धन बहुत दूर तक शिथिल होता है, करण का बिलकुल नहीं। इसमें गौण और मुख्य के अधिकार पर प्रश्न छिड़ता है तो मुख्य का ही कार्य देखा जाता है, गौण का नहीं ('गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः'—परि० शेखर, १५)। अन्य कारकों में गौण और मुख्य दोनों का क्षेत्र समानरूप से रहता है।

प्रकर्ष का अर्थ

क्रिया की सिद्धि में अतिशय साधक या उपकारक होना—इस प्रकार करण का लक्षण निश्चित हुआ है। अब हमें देखना है कि साधकों में इस अतिशयता या प्रकर्ष का वास्तविक अर्थ क्या है ? क्रियासिद्धि में अनेक साधन आ-आकर कर्ता की सहायता करते हैं। इन्हें 'सन्निपत्योपकारी'[1] कहा जाता है। इन साधनों में सभी समान रूप से उपकार नहीं कर पाते—इनका पौर्वापर्य रहता है। जिस उपकारक पदार्थ के व्यापार के अनन्तर ही क्रिया की सिद्धि हो जाती है, थोड़ा भी विलम्ब नहीं होता—उसी को साधकतम कहते हैं; वही करण है। अतः साधक के प्रकर्ष का अर्थ क्रियासिद्धि के अव्यवहित पूर्व में आना और अपने व्यापार के बाद तुरंत लक्ष्यावगाहन करना है[2]। भर्तृहरि इस प्रकर्ष का निरूपण करणलक्षण के प्रसंग में इस प्रकार करते हैं—

'क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा तत्र करणत्वं तदा स्मृतम्' ।।—वा० प० ३।७।९०

जिस (उपकारक) के व्यापार के तुरंत बाद ही क्रिया की सम्यक् सिद्धि होने की विवक्षा की जाय, तब उसी (उपकारक) में करण-कारक होता है। उदाहरण के लिए छेदन-क्रिया की सिद्धि में दात्र (हँसुआ) छेद्य पदार्थ में घुस कर अवयव का विभाग सम्पन्न कर देता है और अधिकरणादि दूसरे कारकों की अपेक्षा प्रकृष्ट उपकारक कहलाता है। यहाँ दात्र का व्यापार है—अनुप्रवेश तथा क्रियासिद्धि का स्वरूप है—अवयवों का विभाजन। अनुप्रवेश के तुरंत ही बाद में अवयवविभाग हो जाता है, प्रत्युत दोनों के मध्य कालव्यवधान की प्रतीति भी नहीं होती। तभी हम कह पाते हैं—दात्रेण छिनत्ति। इसी प्रकार 'चक्षुषा पश्यति' में चक्षु को प्रणिहित करना करण-व्यापार है, दर्शन क्रिया है, जो व्यापार का अव्यवहित अनुसरण करती है।

यहाँ भी इस तथ्य पर ध्यान रखना चाहिए कि क्रियासिद्धि के जो साधन माने जाते हैं वे बुद्धि की अवस्था पर आश्रित हैं। उनकी बाह्य सत्ता का स्वरूप जो भी हो, उन्हें वक्ता की इच्छा के अनुसार रूप-ग्रहण करना है[3]। अतएव उक्त उदाहरणों

---

१. वा० प० ३।७।९० पर हेलाराज द्वारा प्रयुक्त।

२. तुलनीय, सर० कण्ठा० (१।१।५५) पर नारायणवृत्ति—'क्रियासिद्धौ यत् प्रकृष्टोपकारकत्वेनाव्यवधानेन विवक्षितं तत्कारकं करणसंज्ञं भवति'।

३. "साधनव्यवहारस्य च बुद्ध्यवस्थासमाश्रयत्वाद् 'विवक्ष्यते' इत्याह। विवक्षोपारूढ एव ह्यर्थो व्याकरणेऽङ्गम्, बाह्यवस्तुसत्तेत्यर्थः"।

—हेलाराज (उक्त कारिका पर)

में दात्र एवं चक्षु का करणत्व भी विवक्षाधीन है। वक्ता कहना चाहता है कि इनके व्यापारों के बाद ही क्रियासिद्धि हो गयी। यदि वक्ता कहना चाहे कि बल के व्यापार के बाद छेदन-क्रिया होती है या आलोक-व्यापार के अनन्तर दर्शन-क्रिया निष्पन्न होती है तो उपर्युक्त दात्रादि का तिरस्कार करके हमें कहना होगा—बलेन लुनाति, आलोकेन पश्यति[1]। इसी विवक्षा के कारण किसी पदार्थ को निश्चित रूप से करण के रूप में व्यवस्थित नहीं किया जा सकता कि यह पदार्थ अमुक क्रिया की सिद्धि में सदा करण ही रहेगा। वक्ता कब किस पदार्थ के व्यापार के बाद क्रियानिष्पत्ति मानेगा—इसका कोई निश्चय नहीं है[2]। पाक-क्रिया में स्थाली का अधिकरण-भाव अत्यन्त प्रसिद्ध है। हम प्रयोग करते हैं 'स्थाल्यां पचति', क्योंकि पाक-क्रिया की निष्पत्ति में स्थाली आधार का काम करती है। किन्तु विवक्षा ऐसी हो तब न? वक्ता सोचता है कि स्थाली बहुत पतली है और वह शीघ्रतर पाक के साधन के रूप में प्रयुक्त हो सकती है। अब स्थाली के व्यापार के अनन्तर पाक-क्रिया की परिनिष्पत्ति सरलता से होती है—यही कहने की उसकी इच्छा है। फलतः वह कहेगा—स्थाल्या पचति[3]। यदि भींगे इन्धन से पाक-क्रिया हो रही हो तो उसकी अपेक्षा अच्छी तरह से रखी हुई पतली स्थाली क्रियासिद्धि के अत्यधिक निकट है—यही परिस्थिति है, जिसमें विवक्षा हो रही है[4]।

करण के उपर्युक्त प्रकर्ष के कारण ही फल की इच्छा रखनेवाला कर्ता इसमें संस्कार तथा पुनः-पुनः व्यापार आरम्भ करता है। भर्तृहरि का कथन है—

'करणेषु तु संस्कारमारभन्ते पुनः पुनः।
विनियोगविशेषांश्च प्रधानस्य प्रसिद्धये'॥ —वा० प० ३।७।९२

प्रधान अर्थात् क्रिया की सिद्धि (प्रसिद्धि-पूर्णता) के लिए संस्कार (उत्तेजनादि) तथा विनियोग का काम करण में ही सम्पन्न होता है। किसी लक्ष्य की प्राप्ति उपाय से ही सम्भव है (उपायद्वारेणोपेये प्रवृत्तिः)। 'काष्ठैः पचति' में काष्ठ करण के रूप में विवक्षित है। इसी में कर्ता संस्कार (काष्ठों को आग पर रखना—उपधान) तथा विनियोग (पुनः-पुनः स्थापित करना) व्यापार आरम्भ करता है। 'दात्रेण लुनाति' में करणरूप दात्र में तीक्ष्णता का आधान करना संस्कार है तो उठाना-गिराना (उद्यमन-निपातन) विनियोग है। 'चक्षुषा पश्यति' में चक्षु का अंजनादि संस्कार है तथा उसे प्रणिहित करना (प्रयोग में लाना) विनियोग व्यापार है—ये कर्ता के द्वारा प्रारम्भ होते हैं।

---

१. 'साधनव्यवहारश्च बुद्ध्यवस्थानिबन्धनः'। —वा० प० ३।७।३

२. 'वस्तुतस्तदनिर्देश्यं, न हि वस्तु व्यवस्थितम्।
स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः'॥ —वा० प० ३।७।९१

३. 'प्रज्ञाताधिकरणभावा अपि हि स्थाली तनुतरकपालत्वाच्छीघ्रतरपाककार्यसाधनतयाऽनुभवत्येव वैवक्षिकं करणभावम्'। —हेलाराज, वहीं

४. 'आर्द्रेन्धनापेक्षया हि सुसन्निवेशा स्थाली क्रियासिद्धौ प्रत्यासीदति'। —वहीं

प्रकर्ष स्वकक्षा में या परापेक्षक

किसी पदार्थ के व्यापार की अतिशयविवक्षा के कारण उसमें करणत्व की व्यवस्था होती है। अब प्रश्न होता है कि यह प्रकर्ष या अतिशय अन्य कारकों की अपेक्षा रखता है या विभिन्न करणों में ही परस्पर प्रकर्ष का निर्णय होता है? वस्तुत: किसी पदार्थ को तभी करण कहते हैं जब अन्य कारकों के व्यापारों की अपेक्षा उसकी प्रकृष्टता का बोध हो, क्योंकि दूसरे कारकों के व्यापार के तुरन्त बाद क्रियासिद्धि नहीं होती जब कि करण-व्यापार के बाद ऐसा होता है। यदि एक ही साथ कई पदार्थ अपने व्यापारों के अतिशय के कारण करण के रूप में विवक्षित हों तो उन सबों में परस्पर प्रकर्ष का निर्णय नहीं होता; वे सभी प्रकृष्ट (करण) ही माने जाते हैं। इसीलिए 'अश्वेन पथा गच्छति' में अश्व और पथिन् दोनों करण हैं; 'सूपेन सर्पिषा लवणेन पाणिना ओदनं भुङ्क्ते' में भी चार-चार पदार्थ क्रम से करण हैं। ऐसा नहीं होता कि किसी एक को प्रकृष्टों में भी अतिप्रकृष्ट मानकर उसे करणसंज्ञा देकर शेष को निकाल बाहर करें। यद्यपि यह एक सर्वमान्य नियम है कि प्रकर्ष सजातीय पदार्थों के बीच ही गिना जाता है, किन्तु इस स्थल में साधन या कारक की जाति मानकर, कारकत्व-धर्म के सभी कारकों में अनुगत होने के कारण विभिन्न कारकों के साथ करण की सजातीयता व्यवस्थित हो सकती है और उनमें प्रकर्ष दिखाकर करण-कारक का पार्थक्य प्रकट करते हुए 'सजातीयापेक्ष: प्रकर्ष:' का समन्वय सम्भव है[१]। अपनी कक्ष्या में कभी प्रकर्ष का प्रश्न नहीं उठता[२] और इसलिए अनेक करणों की युगपत् सत्ता रह सकती है। हेलाराज बतलाते हैं कि 'अश्वेन पथा दीपिकया याति' इस उदाहरण में अश्व, पथिन् और दीपिका—इन तीनों में दूसरे साधनों की अपेक्षा प्रकृष्ट साधनता है, इसलिए तीनों के करणत्व में कोई विरोध नहीं होता। गमन-क्रिया का फल है—देशान्तरप्राप्ति। इसकी सिद्धि में कर्त्ता आदि की अपेक्षा अश्व अधिक उपकारक है। मार्ग भी अच्छा है, क्योंकि उसमें चौरादि का उपद्रव नहीं है। दीपिका भी अन्धकार-समूह का विनाश अपने आलोक से करती है—इस प्रकार दूसरे साधनों से इनका अतिशय निर्विवाद है। इन तीनों की उपकारकता 'खलेकपोतन्याय' से होती है। जैसे किसी खलिहान में छोटे-बड़े, बच्चे-बूढ़े अनेक कबूतर एक ही साथ उतरते

---

१. 'स्वस्यां कक्ष्यायां करणभावावस्थायां सजातीयापेक्ष: प्रकर्षोऽत्र तमप्प्रत्ययवाच्यो नाश्रीयते। अपि तु साधनसामान्यस्यानुगतस्य कारकान्तरापेक्ष एव प्रकर्षस्तमप्प्रत्यय-वाच्य: करणत्वमावेदयते'। —हेलाराज ३, पृ० ३०८

२. 'स्वकक्ष्यासु प्रकर्षश्च करणानां न विद्यते।
आश्रितातिशयत्वं तु परतस्तत्र लक्षणम्'॥ —वा० प० ३।७।९३

'कारकान्तरापेक्षश्च करणस्यातिशय:, न तु स्वकक्ष्यायामित्यश्वेन दीपिकया पथा व्रजतीति सर्वेषां क्रियानिष्पत्तौ सन्निपत्योपकारकत्वात्करणत्वं सिद्धम्'।
—कैयटप्रदीप २, पृ० २५९

हैं उसी प्रकार अनेक करण एक ही साथ क्रियासिद्धि में प्रकृष्टोपकारक हो सकते हैं[1]।

कर्ता के विवेचन में हम यह देख चुके हैं कि यह अपने व्यापार में सर्वथा स्वतंत्र होता है और उसके द्वारा विनियोग होने के पश्चात् ही अन्य कारकों की प्रवृत्ति होती है। अतः यह शङ्का स्वाभाविक है कि कर्ता-कारक ही अन्य कारकों की अपेक्षा साधकतम क्यों नहीं है ? जो सभी कारकों को अपने-अपने व्यापार में नियुक्त करता है, जिससे क्रियासिद्धि सम्भव होती है उसे ही प्रकृष्टोपकारक समझना चाहिए। इस प्रश्न में करण तथा कर्ता के क्रियोपकारकत्व का विवाद प्रारम्भ होता है, किन्तु भर्तृहरि इसका सन्तोषजनक समाधान देते हैं। उनके अनुसार कर्ता की स्वतंत्रता और करण के प्रकृष्टोपकारकत्व में कोई विरोध नहीं है—

'स्वातन्त्र्येऽपि प्रयोक्तार आरादेवोपकुर्वते।
करणेन हि सर्वेषां व्यापारो व्यवधीयते' ॥ —वा० प० ३।७।९४

भाव यह है कि पूरी स्वतंत्रता होने पर भी क्रिया की सिद्धि में कर्ता-कारक दूर से ही उपकार करता है, क्योंकि करण-कारक के द्वारा सभी कारकों का व्यापार व्यवहित हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि कर्ता सभी कारकों को मूलतः व्यापारित करने के कारण स्वतंत्र है, करण को भी यही व्यापारित करता है। किन्तु कर्ता और क्रियासिद्धि के बीच कुछ अन्तराल रहता है, जिसमें करण की उपस्थिति रहती है। करण-व्यापार के अनन्तर ही क्रिया की सिद्धि हो जाती है, कुछ भी विलम्ब नहीं होता। दूसरी ओर कर्तृव्यापार अन्य कारकों के व्यापार के समान दूर से क्रियासिद्धि में सहायता पहुँचाता है। वास्तव में कर्तृव्यापार तथा क्रियासिद्धि के बीच वे सभी कारक-व्यापार आ जाते हैं जिन्हें कर्ता अपने लक्ष्य की पूर्ति में सहायक समझ कर विनियुक्त करता है। अतः इस दूरी को देखते हुए कर्ता को प्रकृष्टोपकारक या साधकतम नहीं कहा जा सकता। व्यापार में स्वतंत्र होना एक वस्तु है और प्रकृष्टोपकारक होना दूसरी वस्तु[2]।

प्रकारान्तर से भी इसका समाधान किया जा सकता है। दूसरे कारकों की अपेक्षा करण की अतिशयता तभी विवक्षित होती है जब क्रियासिद्धि की बात की जाय और यह बात तभी उठती है जब कारक प्रवृत्त हों अर्थात् अपने-अपने व्यापार में लग जायँ। ऐसी स्थिति में कर्ता के द्वारा उनका विनियोग अपेक्षित होता है; फलतः कर्ता-कारक के प्रति उनका न्यग्भाव (परतंत्रता, अप्रधानता) व्यवस्थित

---

१. 'खलेकपोतन्यायेन सर्वेषां साक्षादुपकारकत्वविवक्षणादित्यर्थः'।
—उद्योत २, पृ० २६०

२. 'पारतन्त्र्यायोगेऽपि साधनान्तराणां प्रयोक्तारः कर्तारो विनियुक्तसाधनान्तरव्यापारव्यवधानेन क्रियां दूरादेव साधयन्ति। करणव्यापारसमनन्तरमेव तु क्रियासिद्धिः'।
—हेलाराज ३, पृ० ३८

रहता है। दूसरे शब्दों में, क्रियासिद्धि के विषय में प्रकर्ष का अर्थ है—कर्ता के प्रति अप्रधानता। कर्ता के प्रति सभी कारक अप्रधान होते हैं[1] और उनमें करण की अतिशयता विवक्षित होती है। जब तक साधनों को व्यापार में लगाया नहीं जाता तब तक वे स्वतंत्रता पर आश्रित इस सामान्य 'साधन' शब्द से भी गृहीत (recognised) नहीं हो सकते, उनकी अपेक्षा कर्ता का अतिशय दिखलाना तो दूर की बात है। इसलिए अपने व्यापार में आविष्ट होने के बाद ही कारकों में प्रकर्ष का निर्णय होता है। सामान्य साधक (कारक) धर्म से युक्त होना ही कारकों का व्यापारावेश है; तदनन्तर प्रकर्ष की व्यवस्था होती है। ऐसी परिस्थिति में अतिशय (प्रकर्ष) का विचार कर्ता को छोड़कर अन्य कारकों के बीच होता है, कर्ता इसमें भाग नहीं लेता। स्वामी अपने भृत्यों के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं करता, भृत्यों में परस्पर प्रतिस्पर्धा हो सकती है। हम जानते हैं कि प्रकर्ष सजातीय पदार्थों में ही निरूपित होता है। कर्ता की कोटि स्वतन्त्र की है, अन्य कारकों की परतन्त्र कोटि है—दोनों विजातीय पदार्थ हैं। अतः कर्ता-कारक के साथ प्रकर्ष का प्रश्न उठाना ही अव्यावहारिक है। इसी से यह शंका भी समाप्त हो गयी कि पराधीन साधन कैसे सप्रकर्ष हो सकता है? पराधीनों में भी व्यापार करने की शक्ति है, अतः प्रकर्ष सम्भव है।

कर्ता तथा करण में भेद

करण और कर्ता के सम्बन्ध को लेकर बहुत सुन्दर रूपक दिया गया है। यह सत्य है कि करण-कारक में प्रकृष्ट रूप से क्रिया के उपकार की क्षमता है, किन्तु इससे कर्ता की स्वाधीनता अक्षत रहती है; क्योंकि वह करण का प्रेरक है। किसी विदेशी राज्य में उस राज्य की राजनयिक गतिविधियों से राज्याध्यक्ष की अपेक्षा विदेश में नियुक्त उसके राजदूत को अधिक सामीप्य रहता है। किन्तु उसके सारे क्रियाकलाप अपने राज्याध्यक्ष की सदिच्छा पर ही पूर्णतः अवलम्बित हैं, क्योंकि वहीं से उसकी नियुक्ति हुई है। यही स्थिति कर्ता के अधीन करण की भी है।

किन्तु कर्ता और करण को विजातीय सिद्ध करके प्रकर्ष का प्रश्न समाप्त कर देने से एक विकट समस्या खड़ी हो जाती है। दोनों में यदि रूप का इतना विप्रकर्ष है तो करण-कारक को जो कर्ता में परिणत होते देखते हैं (जैसे—असिश्छिनत्ति) उसका क्या उत्तर होगा? इस पर भर्तृहरि का समाधान है—

'अस्यादीनां तु कर्तृत्वे तैक्ष्ण्यादि करणं विदुः।
तैक्ष्ण्यादीनां स्वतन्त्रत्वे द्वैधात्मा व्यवतिष्ठते' ॥

—वा० प० ३।७।९६

अर्थात् असि (तलवार) आदि यदि कर्ता के रूप में विवक्षित हों तो तीक्ष्णतादि

---

१. 'क्रियासिद्धौ प्रकर्षो वा न्यग्भावस्त्वेव कर्तरि।
सिद्धौ सत्यां हि सामान्यं साधकत्वं प्रकृष्यते' ॥ —वा० प० ३।७।९५
द्रष्टव्य—इस पर हेलाराजीय टीका।

करण बन जाते हैं। पुनः यदि तीक्ष्णतादि की ही स्वतंत्ररूप में विवक्षा की जाय तो वही (तीक्ष्णतादि) दो भागों में बँटकर कर्ता तथा करण दोनों रूपों में व्यवस्थित होते हैं। तो यह अर्थ हुआ कि करण जब कर्ता के रूप में विवक्षा द्वारा प्रयुक्त होता है तब अपना स्थानापन्न कुछ-न-कुछ छोड़ जाता है, जिसका प्रकर्ष यथापूर्व बना ही रहता है। करण-कारक का परिवर्तन कर्ता में यों ही नहीं हो जाता, कर्ता बनने की पूरी क्षमता प्राप्त करके ही यह रूपान्तरित होता है। छेदन-क्रिया के प्रति बहुत तेज धार होने के कारण असि (तलवार) इस तथ्य का तिरस्कार कर देता है कि उसका विनियोग कर्ता ने किया है। फलतः स्वतंत्र रूप में उसकी विवक्षा होती है तथा अब वह करण नहीं रहा। तब करण कौन है? जिसके व्यापार के अनन्तर क्रिया होती है उसे ही करण-पद प्राप्त होगा। असि के कर्तृत्व की स्थिति में तैक्ष्ण्य (तेज धार), गौरव (भार), काठिन्य (कठोरता), संस्थान (स्थापित होना) इत्यादि करण होंगे। हम प्रयोग कर सकते हैं—'असिः तैक्ष्ण्येन गौरवेण काठिन्येन संस्थानेन वा छिनत्ति'।

यदि संयोगवश इन्हें भी कर्ता मानने की इच्छा हुई तब लौकिक कठिनाई भले ही हो, शास्त्रीय संगति तो बैठ ही जायगी। व्याकरणशास्त्र में शब्दस्वरूप अर्थ की उपाधि है, अतः शब्द में भेद होने से अर्थ में भी औपाधिक भेद हो जाता है; यथा—'आत्मानमात्मना हन्ति'[1]। यहाँ भी इसी विधि से तैक्ष्ण्य में शब्दभेद की कल्पना करके कर्ता और करण के रूप में उसे प्रतिपन्न किया जा सकता है। स्वाधीन रूप में आश्रित आत्मा कर्ता है तथा साधकतम के रूप में आश्रित होने पर वही करण है—इस प्रकार आत्मा ही दो रूपों में व्यवस्थित होती है (आत्मा द्वेधा व्यवतिष्ठते)। प्रयोग भी होगा—'तैक्ष्ण्यं छिनत्ति स्वसामर्थ्येन (तैक्ष्ण्येन)'। यह विधान इसलिए किया गया है कि क्रिया का करण के साथ व्याप्ति-संबन्ध है, अतः तीक्ष्णता ही छेदन-क्रिया के साधकतम के रूप में वर्तमान रहने से करण बना रहे, कोई दूसरा करण नहीं चला आये[2]। अतः कर्ता और करण भिन्न रूप में हैं, इन्हें एकजातीय समझना भ्रम है।

पाणिनि के 'आकडारादेका संज्ञा' (१।४।१) सूत्र पर अनेक वार्तिक हैं, जिनमें कात्यायन यह दिखाते हैं कि अमुक संज्ञा अमुक संज्ञा को बाधित करती है। इन्हीं में एक वार्तिक है—'करणं पराणि' अर्थात् करण संज्ञा को दूसरी कारक-संज्ञाएँ बाधित करती हैं। इसके उदाहरण हैं—धनुर्विध्यति (धनुष से निकलने वाले बाण वेध-क्रिया के प्रति करण हैं और धनुष कर्ता हो गया है), असिश्छिनत्ति। तात्पर्य यह है कि अपने ही व्यापार में अपने-आप की भी करणत्व-विवक्षा कभी-कभी असम्भव रहती है।

---

१. द्रष्टव्य (प० ल० म०, पृ० १८४)—'एकस्यैव शब्दभेदाद् भेदः। शब्दालिङ्गितस्यैव सर्वत्र भानात्'।

२. 'क्रियायाः कारणाविनाभावात् करणान्तरव्यावृत्तिपरेयं चोदना। तैक्ष्ण्यमेव छिदौ साधकतमं नान्यदिति तस्यातिशयपरिपोषे तात्पर्यम्'। —हेलाराज ३, पृ० ३०९

हेलाराज इसी सन्दर्भ में पूर्वपक्ष उठाते हैं कि यदि उपर्युक्त प्रकार से कर्ता और करण को भिन्न बतलाते हैं तब 'करणं पराणि' वाले वार्तिक में करण के साथ अन्य कारकों का (कर्ता का भी) विप्रतिषेध कैसे दिया गया है ? विप्रतिषेध तभी होता है जब दो भिन्नार्थक प्रसंग एक ही स्थान में युगपत् प्राप्त हों ('यत्र द्वौ प्रसङ्गावन्यार्थावेकस्मिन् युगपत् प्राप्नुतः स तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः'—काशिका १।४।२) । कर्ता और करण भिन्न होंगे तो एक स्थान पर दोनों प्राप्त नहीं हो सकते, अतः यह 'विप्रतिषेध'-शास्त्र निरर्थक हो जायगा ।

वाक्यपदीय में इसका भी समाधान ढूंढा जा सकता है कि विवक्षा के द्वारा कर्ता और करण के रूप में काल्पनिक भेद मानने पर भी वास्तव में एक पदार्थ शक्ति के आधार के रूप में वर्तमान रहता है, वह अपने रूप से पृथक् नहीं होता—

'आत्मभेदेऽपि सत्येवमेकोऽर्थः स तथा स्थितः ।
तदाश्रयत्वाद् भेदेऽपि कर्तृत्वं बाधकं ततः' ॥

—वा० प० ३।७।९७

यह सत्य है कि तैक्ष्ण्य की आत्मा (स्वरूप) में ही कर्ता और करण का भेद कल्पित हुआ है, किन्तु इससे तात्त्विक भेद तो नहीं हो गया । वह पदार्थ वस्तुतः एकाकार ही है । 'तदाश्रय' शब्द में तत् के द्वारा कल्पना का परामर्श होता है अर्थात् केवल कल्पना पर आश्रित होने के कारण भेद होने पर भी वस्तु की एकरूपता यथापूर्व रहती ही है । कुछ लोग कहते हैं कि कर्ता और करण का आधार एक ही पदार्थ है—'तदाश्रय' का यही अर्थ लेना चाहिए । फलतः शक्ति (कारक-सामर्थ्य) में भेद होने पर भी आधार-द्रव्य के एकत्व (identity) के कारण दोनों संज्ञाओं की एक ही स्थान पर युगपत् उपस्थिति का प्रश्न उत्पन्न होता है और तभी यह विप्रतिषेध का विषय बनता है । जो संज्ञा दी जाती है वह शक्ति से विशिष्ट द्रव्य को ही ('संज्ञा हि शक्तिविशिष्टस्य द्रव्यस्यैव'—हेलाराज) । तलवार एक ही है, वह कर्ता हो चाहे करण हो । किन्तु उसके व्यापार या शक्ति में तो भेद हो ही जाता है ।

कर्तृसंज्ञा द्वारा करणसंज्ञा का बाध

इस प्रकार जब वस्तु में विद्यमान रहने वाली एकता पर विवक्षा चलती है तब विषय के एकत्व पर आरूढ होने वाला विप्रतिषेध-शास्त्र उपक्रान्त होता है तथा कर्तृसंज्ञा करणसंज्ञा को बाधित करती है; यथा—असिश्छिनत्ति । यहाँ साधकतमत्व तथा स्वातंत्र्य की विवक्षाओं में व्याप्ति-सम्बन्ध है—प्रथम विवक्षा के द्वारा दूसरी विवक्षा व्याप्त होती है । अतः 'असि' की स्वातंत्र्य-विवक्षा होने पर समान विषय में दोनों संज्ञाओं की प्रसक्ति होने से परत्व के कारण कर्तृसंज्ञा होती है—यही उस वार्तिक का तात्पर्य है । साधकतम होने से ही स्वातंत्र्य का आरोप हो सकता है । ('साधकतमत्वे हि सति स्वातन्त्र्यमारोप्यते'—हेलाराज) । 'धनुषा विध्यति' में इसी प्रकार 'अपादान-मुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते' इस वार्तिक के द्वारा अपाय की सत्ता रहने पर ही धनुष

में साधकतमत्व की प्राप्ति होती है। निष्कर्षतः बाधित होने के लिए भी मूल रूप में सत्ता अनिवार्य है। यहाँ भी मूलतः साधकतम रहने पर ही स्वातंत्र्य की प्राप्ति विवक्षा से हो सकती है। अन्ततः हम पाते हैं कि करण क्रिया के प्रति प्रकृष्ट सहायक होता है।

विद्यमान करण द्वारा क्रियोपकार

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि प्रकृत स्थल में जो करण के द्वारा उपकार किये जाने की बार-बार चर्चा हो रही है वह विद्यमान या सत्ताधारी करण के ही द्वारा सम्भव है, अविद्यमान करण के द्वारा नहीं। पुरुषोत्तमदेव अपने कारकचक्र (पृ० १०८) में ऐसी ही बात कहते हैं। प्रश्न है कि विवक्षा सत् पदार्थ की होती है या असत् की ? सत् पदार्थ की विवक्षा होने पर अतिशय की सत्ता सिद्ध करना सम्भव है। दूसरी ओर, असत् पदार्थ की विवक्षा होने पर शब्द का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा, अतिशय का प्रदर्शन भी नहीं हो सकेगा। इसका यह समाधान दिया जा सकता है कि असत् के स्थलों में विवक्षा से अतिशय-सिद्धि हो जा सकती है, किन्तु यह समाधान पुरुषोत्तम के अनुसार विवक्षा की प्रकृति को ठीक-ठीक नहीं समझनेवाले ही दे सकते हैं। यदि ऐसा होने लगे तो वन्ध्यापुत्र के साथ भी विवक्षा से सम्बन्ध होने लग जाय। विवक्षा वक्ता की इच्छा का द्योतक है और पुरुष की इच्छा पदार्थ पर निर्भर करती है, न कि पुरुष की इच्छा पर पदार्थ चलता है[1]। पदार्थविषयक इच्छा ज्ञात के विषय में ही होती है, अतः ज्ञातव्य पदार्थ को अवश्य ही इच्छा का पूर्ववर्ती होना चाहिए, तभी उसके विषय में इच्छा होगी। अतएव असत् पदार्थ के अतिशय की विवक्षा असंगत है[2]। क्रियासिद्धि के अव्यवहित पूर्व में करण के **विद्यमान रहने से** ही लक्ष्यप्राति होती है; असत् रहने पर वह उपकारक नहीं होगा, अतिशय होना तो दूर की बात है।

असत् पदार्थ का करणत्व

किन्तु पाणिनि-तन्त्र में सामान्यतया इस मत को प्रश्रय नहीं मिलता। यहाँ यह मान्यता है कि जिस प्रकार सत् पदार्थ प्रकृष्टोपकारक है उसी प्रकार असत् भी है। विवक्षा की बात जाने भी दें तो लौकिक दृष्टि से भी अभावात्मक पदार्थ का योगदान क्रियासिद्धि में देखा जाता है। धनाभाव से मरण, ज्ञानाभाव से पराजय, सहायकाभाव

---

१. 'इच्छा च पुरुषस्य पदार्थानुरोधिनी, न पुरुषस्येच्छानुरोधी पदार्थः'।

—पुरुषोत्तम : कारकचक्रम्, पृ० १०८

२. 'पदार्थेच्छा च ज्ञातविषया, तदवश्यं प्राग्ज्ञानविषयो वाच्यो यत्रेच्छया भवितव्यम्। तस्मादसतोऽतिशयस्य न विवक्षा। तदुक्तम्—

उत्कृष्टं नैव करणमन्यैस्तुल्यत्वदर्शनात्।
कथमिच्छामभावस्य को हि कुर्यादबालिशः'॥

—पुरुषोत्तम : कारकचक्रम्, पृ० १०८

से प्रत्यावर्तन इत्यादि लौकिक दृष्टान्त ही इसके उपोद्बलक हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल में विदूषक का मौन योगदान नाटक की लक्ष्यपूर्त्ति में उपकारक होता है। आगमन तर्कशास्त्र (Inductive Logic) में भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों प्रकार के घटनाक्रमों या प्रयोजकों (Conditions) के समुदाय को 'कारण' कहा जाता है। अतः क्रिया का उपकार असत् पदार्थ से नहीं होता, यह कहना गलत है। यही बात भर्तृहरि भी कहते हैं—

'यथा च सन्निधानेन करणत्वं प्रतीयते।
तथैवासन्निधानेऽपि क्रियासिद्धेः प्रतीयते'॥ —वा० प० ३।७।९८

अर्थात् जैसे दात्रादि पदार्थ सन्निहित रहते हुए क्रिया के उपकार में अतिशय पाकर करण के रूप में जाने जाते हैं, वैसे ही 'धनाभावेन मुक्तः' इत्यादि वाक्यों में धन असन्निहित (दूर, अभावात्मक) रहकर भी मुक्ति की सिद्धि करने के कारण करणरूप में प्रसिद्ध है (हेलाराज, पृ० ३१०)। इसके समर्थन में पाणिनि के सूत्र 'करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य' (२।३।३३) की ध्वनि भी सहायक होती है। इस सूत्र में माना गया है कि स्तोक, अल्प इत्यादि शब्द, जो अन्यथा सत्त्ववाचक हैं, असत्त्ववाचक के रूप में आ सकते हैं; जब इनके धर्ममात्र को अभिहित करने के तात्पर्य से प्रयोग किया जाय और इनसे द्रव्य (सत्त्व) का बोध नहीं हो[१]। इसके उदाहरण में 'स्तोकान्मुक्तः' (पंचमी) तथा 'स्तोकेन मुक्तः' (करण-तृतीया)—ये दिये गये हैं। पिछले वाक्य में यह स्पष्ट किया गया है कि स्तोक से लक्षित होनेवाला धर्ममात्र सत् हो या असत्, मुक्तिक्रिया में अतिशय उपकारक होने से करण है। दातव्य पदार्थ (रुपया, अन्नादि) में से थोड़ा ही निष्पन्न हो सका, अधिक देना सम्भव ही नहीं; क्योंकि दाता के पास अब धन नहीं है। अतः उतने से ही मुक्त हुआ है। यहाँ करणभूत 'स्तोक' की सत्ता है। पुनः यदि दातव्य वस्तु में थोड़ा ही देना अवशिष्ट रहे, शेष पूरा कर दिया गया हो तो उस दत्त धन से ही मुक्त (उऋण) समझना चाहिए[२]। यहाँ भी स्तोक की सत्ता ही है। दूसरी ओर, यदि बहुत-सा भाग देना हो, मुक्त होने में कठिनाई हो तो असत् स्तोक (स्तोकाभाव) से मुक्ति-क्रिया की निष्पत्ति माननी होगी[3]। इसी प्रकार 'एकेन न विंशतिः, एकान्न विंशतिः' में एकाभाव को विंशति-निषेध का करण समझना चाहिए। अतएव इस विवेचन से प्रकट होता है कि असत् पदार्थ भी करण हो सकता है।

---

१. 'यदा तु धर्ममात्रं करणतया विवक्ष्यते न द्रव्यं, तदा स्तोकादीनामसत्त्ववचनता'। —काशिका २।३।३३

२. 'स्तोकस्य वाभिनिर्वृत्तेरनिवृत्तेश्च तस्य वा।
प्रसिद्धिं करणत्वस्य स्तोकादीनां प्रचक्षते'॥ —वा० प० ३।७।९९

३. 'यदि तु बहु देयं स्यात्, न मुच्येतेति स्तोकेनाभवता मुक्तः'। —हेलाराज ३, पृ० ३११

यह नहीं कहा जा सकता कि असत् का अर्थ यहाँ त्रिकालबाधित नहीं लेना चाहिए और केवल अविद्यमान पदार्थ को ही असत् कहा गया है। त्रिकाल में बाधित तथा सर्वथा वस्तुशून्य पदार्थ को भी शब्दसत्ता के कारण करण माना जा सकता है; जैसे—वन्ध्यापुत्रेणोदाहरति (अर्थात् वन्ध्यापुत्र-शब्द के द्वारा असत् पदार्थ का उदाहरण देता है)। यहाँ उदाहरण-क्रिया की निष्पत्ति वन्ध्यापुत्र-शब्द के व्यापार (उच्चारणादि) के अनन्तर ही हो जाने से इसका करणत्व संगत है। व्याकरण में शब्दसत्ता या बौद्धार्थ ही ग्राह्य होता है। तभी तो ऐसे-ऐसे वास्तविक दृष्टि से असत् पदार्थों में प्रातिपदिकत्व देकर सु आदि प्रत्यय लगते हैं[1]।

कोई पदार्थ साधन के विभिन्न रूपों को विवक्षा के कारण ग्रहण करता है। इसका परिणाम यह होता है कि साधकतम के रूप में विवक्षित प्रत्येक पदार्थ को करण कहते हैं। भर्तृहरि के शब्दों में—

'धर्माणां तद्वता भेदादभेदाच्च विशिष्यते।
क्रियावधेरवच्छेदविशेषाद् भिद्यते यथा'॥ —वा० प० ३।७।१००

अर्थात् जैसे अवधि में भेद-विशेष की कल्पना करने से क्रिया में विशेषता हुआ करती है वैसे ही आश्रय के साथ आश्रित धर्मों के भेद और अभेद की विवक्षा से भी उसमें विशेषता (भिन्नता) होती है। 'देवदत्तः काष्ठैः पचति' इस वाक्य में इन्धन-गत तेजस् (अग्नि) की अभेद-विवक्षा है; इन्धन आश्रय है, तेजस् आश्रित। हम बोध करेंगे—'देवदत्तकर्तृकेन्धनकरणिका पचिक्रिया'। जब तेजस् का इन्धन से भेद विवक्षित होता है तब प्रयोग 'एधाः पचन्ति तेजसा' तथा बोध 'तेजःकरणिका इन्धन-कर्तृका पचिक्रिया' होगा। फिर भी जब तेजस् से उष्णता का भेद दिखाकर क्रियासिद्धि में उष्णता का उपयोग दिखलाना अभीष्ट हो तब प्रयोग होगा—'तेजः पचत्यौष्ण्येन' (उष्णता से अग्नि पका रही है)। अतः साधनविशेष से क्रिया में भेद होता चला जाता है। इसकी तुलना अपादान-कारक में विवेच्य अवधि के भेदों (अवच्छेदों) से की जाती है। 'ग्रामादागच्छति' को भेद-विवक्षा से 'ग्रामस्य समीपादागच्छति' में बदल सकते हैं। ग्राम में कई चीजों का समूह है—अरण्य, सीमाभूमि, वेदिका, मकान इत्यादि। अब कोई कहाँ से आ रहा है, इसका विशेष बिना कहे 'ग्रामादागच्छति' कहा जाता है, क्योंकि उन विशेषों (आश्रित धर्मों) से ग्राम (आश्रय) के अभेद की विवक्षा होती है। जब ग्राम के मार्गों का प्रसंग आता है तब सीमादि से भेद-विवक्षा होती है और अवधि में भेद होता है—'ग्रामस्य समीपादागच्छति'[2]।

---

१. द्रष्टव्य (प० ल० म०, पृ० ४२३)—
'एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः।
कूर्मक्षीरत्रये स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः॥
इत्यत्र वन्ध्यासुतादीनां बाह्यार्थशून्यत्वेऽपि···प्रातिपदिकत्वम्'।

२. हेलाराज ३, पृ० ३११।

इसी प्रकार करण में भी भेदाभेद-विवक्षा होती है। अनभिहित करण तो तृतीया विभक्ति लेता है किन्तु अभिहित होने पर प्रथमा में ही रहता है। हेलाराज पुनः विवक्षा का आश्रय लेकर प्रधान करण के विषय में कहते हैं कि ल्युट् या घञ् के द्वारा इसका अभिधान होता है; जैसे—पचनमेधः (वह लकड़ी जो पाक का प्रकृष्टोपकारक है), पचनं, तेजः, पचनी स्थाली, पचनमौष्ण्यम्।

नव्यन्याय में करण-विवेचन : भवानन्द

भवानन्द के अनुसार करण वह (क्रिया) हेतु है जो दूसरे कारकों में चरितार्थ नहीं होता अर्थात् दूसरे कारकों के व्यापार जब क्रिया के हेतु या जनक नहीं बनते हैं तब जिसके व्यापार से क्रिया उत्पन्न होती है, वही करण है[१]। इससे करण का पृथक् व्यक्तित्व सिद्ध होता है कि इसका व्यापार किसी भी दूसरे कारक में गतार्थ नहीं हो सकता, वे करण का स्थान नहीं ले सकते। जयराम भी भवानन्द के लक्षण की आवृत्ति करते हुए केवल अस्पष्ट 'हेतुत्वम्' को 'क्रियाहेतुत्वम्' कर देते हैं[२]। वैसे कारकों के सन्दर्भ में क्रिया-हेतुत्व के रूप में सामान्य तथ्य अश्रुत रहने पर भी गम्यमान होता ही है। किन्तु यहाँ भवानन्द यह विशेष तथ्य रखते हैं कि हेतु क्रिया का नहीं, प्रत्युत क्रियाफल का है। फल भी तो क्रिया का अन्यतर अर्थ है।

अब हम यह भी देखें कि भवानन्द किस प्रकार अपने करण-लक्षण में प्रयुक्त 'कारकान्तर में गतार्थ नहीं होता' इस विशेषण की संगति दिखलाने के लिए विभिन्न कारकों के समक्ष करण का व्यक्तित्व प्रदर्शित करते हैं—

(१) कर्ता-कारक पहले से क्रियाजनक के रूप में प्रसिद्ध कुठारादि में अवस्थित संयोगादि व्यापार उत्पन्न करता है और इसीलिए करण के व्यापार के द्वारा ही छिदा (कट जाना) के रूप में फल का उत्पादक या हेतु बनता है। अतएव कर्ता का साक्षात्सम्बन्ध करण से होता है; फल का हेतु तो वह परम्परया बनता है अर्थात् उसके और फल के बीच करण-व्यापार चला आता है। दूसरे शब्दों में—कर्ता करण के प्रति अपने प्रयोजन को व्यक्त करता है और करण उसके प्रयोजन को फल तक पहुँचा कर ही विश्राम करता है[3]।

(२) कर्म-कारक के साथ भी यही बात है। वह भी अपना उद्देश्य करण के समक्ष ही उपस्थित करता है, क्योंकि धान्य (धान्यं लुनाति), काष्ठ (काष्ठं छिनत्ति)

---

१. 'करणत्वं च कारकान्तरेऽचरितार्थत्वे सति हेतुत्वम्। तत्र चरितार्थत्वं च तद्-व्यापारमुत्पाद्येव फलहेतुत्वम्'। —भवानन्द, कारकचक्र, पृ० ४०

२. जयराम, कारकवाद, पृ० ३०।

३. 'कर्ता हि सिद्धं कुठारादिकं व्यापारयन् छिदालक्षणं फलमुत्पादयतीति करणे चरितार्थः, न तु फले'। —का० च०, पृ० ४०

'फले=छिदादिक्रियायामहेतुरिति शेषः'। —माधवी, पृ० ४१

इत्यादि कर्मों के असिद्ध होने पर उन पर व्यापारित होने वाले दात्रादि करणों के व्यापार भी असिद्ध ही रहते हैं। जब छेद्य पदार्थ ही नहीं है तब कुठारादि करण छिदानुकूल व्यापार किस पर करेंगे? यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने कर्म को 'करण के व्यापार का विषय' माना है, जिसका विवेचन पिछले अध्याय में हो चुका है। इस प्रकार कर्म करण में चरितार्थ है[1]।

(३) अधिकरण-कारक कर्ता या कर्म के व्यापार के द्वारा क्रिया का निष्पादक होता है अर्थात् वह इन दोनों में से किसी एक में चरितार्थ होता है; जैसे—'गृहे चैत्रः स्थाल्यां तण्डुलं पचति'। इस वाक्य में गृह तथा स्थाली वे दो अधिकरण हैं। गृह का कारकत्व (क्रियानिष्पादकत्व) चैत्र (कर्ता) के व्यापार-सम्पादन के द्वारा सम्भव होता है और जब तण्डुल (कर्म) अपने व्यापार का सम्पादन करता है तब स्थाली क्रियानिष्पादक बनती है। गृह के साथ चैत्र का संयोग हुए बिना या स्थाली के साथ तण्डुलसंयोग हुए बिना पाक-क्रिया सम्भव नहीं होती।

(४–५) सम्प्रदान और अपादान क्रियासामान्य के प्रयोजक नहीं होते,[2] तथापि वे प्रकारान्तर से चरितार्थ होते हैं। सम्प्रदान दान-क्रिया में अपनी अनुमति का प्रकाशन करके कर्ता की इच्छा उत्पन्न करता है और इसी से उपर्युक्त क्रिया में निमित्त बनता है। इस प्रकार दानरूप क्रिया-विशेष में सम्प्रदान की निष्पादकता स्थित होती है, सभी क्रियाओं में नहीं। अतएव क्रियासामान्य से सम्बद्ध करण का स्थान सम्प्रदान नहीं ले सकता। दान-क्रिया में भी अनुमति-प्रकाशन के द्वारा जहाँ दान-प्रयोजकता नहीं प्रतीत हो (जैसे—हस्तेन ददाति) वहाँ सम्प्रदान नहीं होता, प्रत्युत उपयुक्त परिस्थितियाँ मिल जाने से करण होता है। अपादान-कारक भी पतन के आश्रय पत्रादि में पतन [को] रोकने वाले (विरोधी) संयोग के विनाशक विभाग को उत्पन्न करके चरितार्थ हो[ता] है, पतन-क्रिया का निमित्त बनता है[3]। इसलिए वह करण का प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। जहाँ अपादान उपर्युक्त प्रकार से पतन का प्रयोजक नहीं होता, वहाँ उसका वारण होता है। इस प्रकार अन्य किसी कारक में करण चरितार्थ नहीं होता। दूसरे कारक जब क्रिया की निष्पत्ति में असफल हो जाते हैं तब करण का व्यापार ही उसे निष्पन्न करता है। इसी दृष्टिकोण से करण को अन्तिम या प्रकृष्ट कारण के रूप में नैयायिक स्वीकार करते हैं।

---

१. 'कर्मापि करणे चरितार्थम्। कर्मासिद्धौ करणव्यापार(ा)सिद्धेः। न हि छेद्यासिद्धौ कुठारादिकरणानां छिदानुकूलव्यापारः सम्भवति। अत एव करणव्यापार-विषयत्वं कर्मत्वमिति प्राञ्चः'। 'कर्मणस्तु तादृशक्रियाहेतुत्वविरहादेव नातिप्रसङ्गः'।
—वहीं कारकवादार्थः, पृ० ३१

२. 'सम्प्रदानापादानयोश्च न क्रियासामान्यहेतुत्वम्'। —का० च०, पृ० ४१

३. 'दानेऽनुमतिप्रकाशनेन कर्तुरिच्छामुत्पाद्य सम्प्रदानस्य, पतनाश्रये च पत्रादौ पतनप्रतिबन्धक-संयोगनाशक-विभागमुत्पाद्य अपादानस्य चरितार्थत्वम्'। —वहीं

किन्तु करण को इस रूप में (चरम कारण) स्वीकार करना भवानन्द को अभिप्रेत नहीं है, अतः वे उपर्युक्त लक्षण की व्याख्या करने के बाद भी अपना पक्ष एक अन्य लक्षण के साथ रखते हैं—'व्यापारवत्कारणं करणम्'। व्यापार से युक्त कारण करण है। चरम कारणवाले पक्ष में हस्त, कुठारादि में गौणरूप से करणत्व-प्रयोग हो सकता है, क्योंकि ये प्रकृष्ट या चरम कारण तो हैं नहीं। किन्तु प्रकृत लक्षण के द्वारा इनमें प्रधान रूप से करणत्व की उपपत्ति सम्भव है, क्योंकि सव्यापार कारण तो ये हैं ही। तदनुसार किसी क्रिया का करण होने का अभिप्राय है कि वह व्यापार-सम्बन्ध से उस क्रिया का कारण है ('व्यापारसम्बन्धेन तत्क्रियाकारणत्वं तत्क्रियाकरणत्वमित्यर्थः'—माधवी, ४३)।

आत्मा का करणत्व

इस लक्षण से एक कठिनाई सुलझ सकती है। समस्या यह है कि आत्मा अदृष्ट के द्वारा सभी कार्यों के प्रति कारण है, अतः उनके प्रति आत्मा के करणत्व का अनिष्ट प्रसंग आ जायगा। विशेषतः ज्ञान, इच्छा इत्यादि (जो आत्मा के धर्म हैं) के प्रति मनोयोग के द्वारा आत्मा कारण बनती है, अतः उसका कारणत्व दुरुच्छेद है। किन्तु जब हम व्यापार-सम्बन्ध से कारण होने पर करणत्व की बात करते हैं तब आत्मा में ऐसी स्थिति नहीं मिलती। आत्मा यद्यपि कार्यानुकूल अदृष्ट धारण करती है तथापि व्यापार-सम्बन्ध से उसकी कारणता अप्रामाणिक है[1]। आत्मा को करण मानने में वैयाकरणों को कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि यदि उसी के व्यापार के बाद क्रियानिष्पत्ति विवक्षित हो (जैसे—आत्मानमात्मना वेत्सि) तो उसका करणत्व निर्विवाद होगा। किन्तु प्रत्यक्षादि ज्ञानों में इन्द्रियादि तक ही करण को नियमित करनेवाले नैयायिकों के लिए आत्मा के करण होने में बड़ी विपत्ति है। इसका निराकरण उपर्युक्त प्रकार से तो होता ही है, एक दूसरी विधि भी भवानन्द को दिखलायी पड़ती है। यह सही है कि कार्यमात्र या ज्ञानेच्छादि का कर्ता आत्मा है, वह उपाधेय अर्थात् धर्मी है। उस पर विभिन्न धर्म या उपाधियाँ आरोपित हो सकती हैं। प्रस्तुत स्थल में कर्तृत्व और करणत्व उपाधियों के रूप में हैं जो एक ही साथ आत्मा पर आरोपित हैं। उपाधि और उपाधेय का तादात्म्य होना कोई आश्चर्य नहीं है, सभी वादी इसे मानते हैं। करणत्व और कर्तृत्व—ये उपाधियाँ भले ही एक-दूसरे से भिन्न हैं, उनमें परस्पर तादात्म्य नहीं होता किन्तु उपाधेय के साथ उनका तादात्म्य सम्भव है। अतः आत्मा (उपाधेय) में क्रमशः करणत्व तथा कर्तृत्व का बोध हो सकता है[2] और विवक्षा से

---

१. 'व्यापारसम्बन्धेन कारणत्वस्य विवक्षितत्वान्न दोषः। आत्मनः कार्यानुकूलादृष्टवत्त्वेऽपि तेन सम्बधेन कारणत्वे मानाभावात्'। —का० च० माधवी, पृ० ४३

२. (क) 'न चैवमदृष्टद्वारा कार्यमात्रे, विशेषतो ज्ञानेच्छादौ मनोयोगद्वाराऽऽत्मनः करणत्वापत्तिः उपाधेयसङ्करस्येष्टत्वात्, अनुकूलकृतिसमवायित्वलक्षणकर्तृत्वस्य निरुक्तकरणत्वाद् अन्यत्वेनैव उपाध्योरसङ्करात्'। —का० च०, पृ० ४२

कर्ता में करणत्व का व्यवहार होता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वास्तव में आत्मा करण हो जायगी।

व्युत्पत्तिवाद में कर्तृव्यापार की अधीनता

फिर भी कुछ लोग कर्ता में करणत्व का व्यवहार सहने में अक्षम हैं। भवानन्द उन्हें भी अपनी पंक्ति में लाने के लिए करण-लक्षण में 'कर्तृभिन्नत्वे सति' यह विशेषण लगाने का भी आग्रह करते हैं। व्यापारयुक्त कारण तो करण ही हो सकता है, किन्तु विवक्षा से कर्ता को भी करण मानने की स्थिति में वह लक्षण अशक्तप्राय हो जाता है; अतः 'कर्ता से भिन्न' विशेषण को श्रूयमाण होना आवश्यक है, जिससे कर्ता का वारण करके विशुद्ध करण का लक्षण सम्पन्न हो सके। गदाधर ऐसी ही विषम स्थिति से बचने के लिए 'कर्तृव्यापाराधीनत्वे सति व्यापारवत्त्वं करणत्वम्' ऐसा लक्षण करते हैं[1]। उन्हीं के शब्दों में—यदि ऐसा नहीं किया जाय तो कर्ता को भी करण होने लग जाय तथा 'चैत्रश्चैत्रेण पचति' 'काष्ठं चैत्रेण पचति' इत्यादि अनिष्ट प्रयोग दुर्वार हो जायेंगे जहाँ कर्ता करण बन गया है। यह शंका फिर भी रह ही जाती है कि चेष्टादि के रूप में कर्ता का व्यापार भी तो उसकी कृति (यत्न) आदि के रूप में दूसरे व्यापार के ही अधीन है, अतः कर्ता के व्यापार के अधीन रहने पर भी कर्ता सर्वथा करण नहीं होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मान लिया कि चेष्टा के रूप में कर्तृव्यापार के अधीन करण का व्यापार चल रहा है, क्रिया की निष्पत्ति कर रहा है। अब चेष्टारूप कर्तृव्यापार भी कृतिरूप कर्तृव्यापार के अधीन है, अतः पूर्व व्यापार को (जो कर्ता का है) करणव्यापार के रूप में भी देखा जा सकता है। इसका समाधान यह है कि कर्तृव्यापार को जो हम विशेषणरूप देते हैं वह करण से भिन्न मानकर ही[2]। इस प्रकार अपने से भिन्नरूप कर्ता के व्यापार के अधीन व्यापार से युक्त कारण का नाम करण है—यह लक्षण निकला।

वास्तव में गदाधर कर्तृव्यापार की अधीनता सर्वत्र नहीं स्वीकार करते, क्योंकि उनके अनुसार करणतृतीया की दो पृथक् शक्तियाँ हैं—(१) समभिव्याहृत (एक साथ प्रयुक्त) कर्तृव्यापार की अधीनता तथा (२) व्यापारयुक्त कारण होना[3]। प्रथम शक्ति की व्याख्या अपेक्षित है। जहाँ एक ही पाकक्रिया को चैत्र काष्ठ से और

(ख) "ज्ञानादावात्मादेः करणत्वस्येष्टत्वात्। उपाधेयसङ्करेऽपि कर्तृत्वकरणत्वाद्युपाधेरसाङ्कर्यादेव कारकस्य षड्विधत्वादत एव 'आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना' इत्यादिकः प्रयोगः"। —श० श० प्र०, पृ० ३१३, कारिका ७१

१. 'तच्च व्यापारवत्कारणत्वम्। व्यापारे कर्तृव्यापाराधीनत्वं निवेशनीयम्'। —व्यु० वा०, पृ० २२४

२. 'स्वभिन्नत्वेन कर्तुर्विशेषणीयत्वात्'। —वहीं

३. 'वस्तुतः समभिव्याहृतकर्तृव्यापाराधीनत्वे व्यापारवत्कारणत्वे च तृतीयायाः शक्तिद्वयम्'। —वहीं, पृ० २२५

मैत्र तुष-प्रक्षेप करके सम्पन्न कर रहा हो वहाँ 'चैत्रः तुषैः मैत्रः काष्ठैः पचति'—जैसे प्रसंग होने की सम्भावना है[1]। यहाँ एक साथ उच्चरित कर्तृव्यापारों की अधीनता का आभासमात्र (वास्तविक बोध नहीं) उन-उन करणव्यापारों में होता है—यह मानते हुए उस प्रयोग को अप्रामाणिक सिद्ध किया जा सकता है। फलतः तुष(करण)-निष्ठ व्यापार के चैत्र (कर्ता) के व्यापार के अधीन नहीं रहने के कारण 'चैत्रस्तुषैः (पचति)' नहीं होगा और उसी प्रकार चूँकि काष्ठनिष्ठ व्यापार मैत्रव्यापार के अधीन नहीं, इसलिए 'मैत्रः काष्ठैः पचति' भी नहीं होगा। जिस करण का व्यापार जिस कर्ता के व्यापार के अधीन है उसी के साथ उसका प्रामाण्य भी होगा—'चैत्रः काष्ठैः, मैत्रस्तुषैः' कहें तो कोई आपत्ति नहीं। यहाँ कर्ता और करण का साथ ही उल्लेख हुआ है। जहाँ इस रूप में कर्ता का समभिव्याहार नहीं होता वहाँ करण में केवल व्यापारयुक्त कारणता की प्रतीति होती है; जैसे—शरैः शातितपत्रोऽयम्, दात्रेण लुनाति। किन्तु जहाँ कर्ता का भी समभिव्याहार हो रहा हो वहाँ कर्ता के व्यापार के अधीन व्यापारयुक्त कारण को ही करण होता है, यही विशेषता है[2]।

कारण तथा करण में भेद

गदाधर एक विशेष तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि करणत्व में काम देनेवाला कारण फल को उत्पन्न करने की योग्यता अवश्य रखे, अन्यथा काटने का काम (छिदा-क्रिया) तो कुठार से और दात्र (हँसुआ) से भी सम्पन्न होता है, अतः एक की करणता में होनेवाली क्रियानिष्पत्ति के प्रति दूसरे को भी उसकी स्वरूपयोग्यता के आधार पर करण कह दिया जा सकता है। किन्तु हम जानते हैं कि कुठार के करण होने पर जो छिदाक्रिया निष्पन्न होती है, वह दात्र की करणता में नहीं होती। अतः पूर्ण क्रियानिष्पत्ति को ध्यान में रखकर ही व्यापारयुक्त कारण को करण कहना चाहिए[3]।

नैयायिकों ने कारण और करण का इस प्रकार समान्तर प्रयोग किया है कि कभी-कभी दोनों के पार्थक्य की प्रतीति कठिनता से होती है। किन्तु वस्तुतः दोनों में स्पष्ट विभाग है। भ्रम का कारण यही है कि दोनों की स्थिति कार्य के अव्यवहित पूर्व में होती है। ऐसा होने पर भी अंशतः कार्य की प्रकृति तथा अंशतः व्यापार पर अवलम्बित रहकर करण और कारण का भेद किया जा सकता है।

---

१. एक ही पाकक्रिया में—(१) चैत्रकर्तृकत्व, (२) तुषकरणकत्व, (३) मैत्र-कर्तृकत्व तथा (४) काष्ठकरणकत्व—इन चारों की उपस्थिति होती है, इसीलिए उपर्युक्त व्यतिकर सम्भव है।

२. 'कर्त्रसमभिव्याहारस्थले व्यापारवत्कारणत्वमात्रं प्रतीयते। कर्तृसमभिव्याहार-स्थले व्यापारे तद्व्यापाराधीनत्वमपीति सामञ्जस्यम्'। —व्यु० पृ० २२५

३. 'कारणत्वं च फलोपधानरूपमेव करणताघटकम्। अन्यथा कुठारादिकरण-कच्छिदादौ दात्रादेरपि स्वरूपयोग्यतया करणत्वापत्तेः'। —वहीं

पाणिनि ने तृतीया-विभक्ति का विधान करने वाले सूत्रों में करण तथा कारण को पृथक् स्थान दिया है। करण में होनेवाली तृतीया का सूत्र है--'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (२।३।१८), जब कि कारण में 'हेतौ' (२।३।२३) सूत्र से तृतीया होती है। हेतु का प्रयोग व्याकरण में एक शास्त्रीय अर्थ में भी (हेतुकर्ता) होता है--यह हम देख चुके हैं। किन्तु यहाँ हेतु का प्रयोग उसके साधारण अर्थ (कारण) में ही हुआ है[1]। हेतु और कारण को न्यायशास्त्र में पर्याय माना गया है[2]। अवश्य ही अनुमान के प्रसंग में केवल हेतु का ही प्रयोग होता है, कारण का नहीं। फिर भी इनकी पर्याय-रूपता अक्षुण्ण रहती है, क्योंकि लिंगरूप हेतु भी किसी-न-किसी रूप में कारण रहता ही है; जैसे—'पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्'। यहाँ पक्ष (पर्वत) में वह्निमत्त्व (साध्य) को सिद्ध करने के लिए धूमवत्त्व के रूप में हेतु दिया गया है। यही धूम-वत्त्व वह्निमत्त्व का कारण भी है, क्योंकि इनमें साध्य-साधन या कार्य-कारण का सम्बन्ध है। पर्वतादि पक्ष में धूम का जो ज्ञान होता है उसे परामर्श कहते हैं[3]। इस परामर्श को अनुमितिज्ञान का करण माना गया है और अनुमिति का करण होने से इसी को (जैसे—वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः) अनुमान भी कहते हैं। नैयायिक इस प्रकार प्रमाणों को यथार्थानुभव का करण मानते हैं--प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थसंनिकर्ष (इन्द्रिय, निर्विकल्पक ज्ञान भी), अनुमिति के लिए अनुमान, उपमिति के लिए उपमान और शाब्दबोध के लिए पदज्ञान करण हैं।

इसी सन्दर्भ में कणाद हेतु, लिंग, प्रमाण तथा करण को भी पर्याय रूप में रखते हैं,[4] क्योंकि प्रमाण प्रमा का करण (प्रकृष्ट कारण) है। उसी के अन्तर्गत अनुमान का हेतु और उसका उपर्युक्त परामर्श भी चला आता है। प्राचीन नैयायिक **'व्यापार-वदसाधारणं कारणं करणम्'** कहते हुए थोड़ा भिन्न रूप में व्याप्तिज्ञान को अनुमिति का करण मानते हैं जब कि नव्य नैयायिक परामर्श को करण मानने में रुचि दिखलाते हैं (न्यायकोश, पृ० २००)। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शनों में करण-कारण के समान्तर प्रयोग का मुख्य आधार प्रमाण-विचार है।

गदाधर ने व्युत्पत्तिवाद (पृ० २२६) में 'धूमेन वह्निमनुमिनोति' इस उदाहरण को लेकर भी दो मत दिये हैं। जो लोग लिंगज्ञान को अनुमिति का करण मानते हैं उनके मत में धूम का अर्थ है—धूमज्ञान। इसलिए व्याप्तिविशिष्ट लिंग के ज्ञान का

---

१. 'हेतुरिह कारणं, न शास्त्रीयः। तस्य कर्तृसंज्ञाया अपि सत्त्वेन कर्तृतृतीययैव सिद्धेः'। —ल० श० शे०, पृ० ४३७

२. 'समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम्'। —भाषापरि०, १७

३. 'व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते'। व्याप्य अर्थात् अन्वयव्याप्ति का साधन (हेतु-धूम) पक्ष में वर्तमान है, ऐसा बोध होना परामर्श है।

—वहीं, कारिका ६८

४. 'हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम्'। —वै० सू० ९।२।४

व्यापार होता है; पुनः यहाँ परामर्श व्याप्तिविशिष्ट लिंग का पक्ष के साथ वैशिष्टय (पक्षधर्मता) से सम्बद्ध ज्ञान है, जो अनुमाता पुरुष के व्यापार के अधीन है। अतएव धूम करण है। किन्तु उनका पक्ष दूसरे मत से मिलता है। तदनुसार लिंग-ज्ञान के करण होने पर भी धूम-पद से धूमज्ञान का बोध नहीं होता, अपितु वह अपने शक्यार्थ में ही रहता है, अतः धूम करण नहीं, हेतु ही है और 'हेतौ' सूत्र से उसमें तृतीया होती है।

करण तथा हेतु[1]

पाणिनि ने जहाँ करण और हेतु के भेद का संकेतमात्र किया वहीं उनके सम्प्रदाय में इसकी पूर्ण मीमांसा की गयी तथा पाणिनि-प्रयुक्त हेतु को कारण-पर्याय मानकर भी अनुमान-गत हेतु से पृथक् तो किया ही गया, करण से भी इसका स्पष्ट भेद-निरूपण हुआ। इसमें फल-साधन के योग्य पदार्थ को हेतु कहते हैं (न्यायकोश, पृ० १०७१)। जैसे—धनेन कुशलम्, विद्यया यशः आदि। यहाँ कुशलता और यशोलाभ फल के रूप में निर्दिष्ट हैं, जिनकी सिद्धि के योग्य पदार्थ क्रमशः धन और विद्या हैं; अतः ये हेतु हैं। इन्हें कारण भी कह सकते हैं, क्योंकि कारण के समान ये फलों के उत्पादक भी हैं। स्मरणीय है कि अनुमान में आनेवाला हेतु उत्पादक नहीं, ज्ञापक होता है। सामान्य रूप से कारण के नाम से प्रचलित तत्त्व ही पाणिनि का हेतु है, किन्तु इसमें मुख्यतया निमित्त कारण का ही समावेश है, समवायी और असमवायी का नहीं; यद्यपि इनके निषेध का कोई प्रश्न नहीं उठता।

ज्ञात स्रोतों में वाक्यपदीय में ही सर्वप्रथम करण और हेतु की विभाजक रेखा खींची गयी है। भर्तृहरि उसमें पहली बात बतलाते हैं कि हेतु में व्यापार का आश्रय नहीं लिया जाता, जब कि करण-कारक सव्यापार होता है[2]। विवक्षित वस्तु या प्रयोजन की सिद्धि के लिए व्यापार का आश्रय लिये बिना ही केवल अपनी योग्यता से निमित्त के रूप में जो आश्रित हो, वही हेतु है। हेलाराज के अनुसार हेतु में तृतीया शेषलक्षणा षष्ठी या सम्बन्ध षष्ठी के स्थान में होती है; जैसे—अध्ययनेन वसति। अध्ययन हेतु तथा वास हेतुमान् है। इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध के कारण शेष षष्ठी प्राप्त थी, जिसे रोककर हेतु-तृतीया हुई है। यहाँ क्रिया का निमित्त हेतु है, किन्तु इसमें व्यापार का लेश नहीं। भट्टोजिदीक्षित इसकी व्याख्या में कहते हैं कि हेतु के अन्तर्गत फल को भी ले लिया जाता है। 'अध्ययन के लिए निवास' में पहले निवास होता है, तब अध्ययन। फलतः अनुवर्ती होने के कारण नियमतः अध्ययन को हेतु नहीं कह सकते, क्योंकि हेतु का अर्थ यदि कारण है तो उसे कार्य के पूर्व रहना चाहिए। दूसरी ओर अध्ययन करण भी नहीं है, क्योंकि निवास की सिद्धि में इसकी

---

१. द्रष्टव्य—म० म० हरिकृपालुद्विवेदी स्मारक-ग्रन्थ में—हेतुकरणविवेकः (मेरा निबन्ध)।

२. 'अनाश्रिते तु व्यापारे निमित्तं हेतुरिष्यते'। —वा० प० ३।७।२४ पू०

प्रकृष्टोपकारकता नहीं। तब तृतीया कैसे हुई ? वस्तुतः उपकार्योपकारक-भाव होने से तादर्थ्य में चतुर्थी होनी चाहिए। इसीलिए अध्ययनरूप फल को भी हेतु के अन्तर्गत मानकर तृतीया की सिद्धि हुई है। वास्तव में यहाँ हेतु निमित्त, उद्देश्य, प्रयोजन, फल पर्याय-रूप में हैं। यही दीक्षित का आशय है। अन्यथा निवास-क्रिया का कारण अध्ययन नहीं हो सकता।

नैयायिक केवल गुण और द्रव्य के निमित्त को हेतु मानते हैं, क्रिया के निमित्त को नहीं। उपर्युक्त हेतु निश्चित रूप से अकारक विभक्ति का विषय है। यदि क्रिया का ग्रहण क्रियापद से हो, व्यापार का बोध हो रहा हो तब तो वह कारक-विभक्ति ही है; यथा—विद्यया वसति। यहाँ विद्या निवासव्यापार का निमित्त तथा क्रिया-निर्वर्तक है।

वस्तुतः निमित्त तीन प्रकार का है—(१) स्वरूपभेद से क्रिया का निर्वर्तक होने पर कारक, (२) सामान्यरूप से जनक होने पर हेतु तथा (३) ज्ञापक होने पर लक्षण। इस अन्तिम निमित्त के लिए पाणिनि-सूत्र है—**अनुर्लक्षणे** (१।४।८४)। यथा—'वृक्षमनु विद्योतते' (वृक्ष को लक्षित करके बिजली चमकती है)। यहाँ विद्योतन का ज्ञापकनिमित्त वृक्ष है। लक्षण में यही विशेषता होती है कि इसमें अवधि-भाव मर्यादा, सीमा का भी बोध होता है, जो लक्ष्यमाण वस्तु के प्रकाशन में निरूपित होता है[1]। तदनुसार वृक्ष अवधि के रूप में बिजली चमकने की क्रिया का परिच्छेदक है। 'जपमनु प्रावर्षत्' इत्यादि उदाहरणों में जप वस्तुतः वृष्टि का जनक होने से हेतु है और तदनुसार इसमें तृतीया होनी चाहिए, किन्तु हेतु को ही ज्ञापकत्व-सामान्य से लक्षण मानकर 'अनु' के योग में (**कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया** २।३।८) द्वितीया की गयी है[2]। भट्टोजिदीक्षित इसका अर्थ करते हैं कि वर्षा हेतुभूत जप से उपलक्षित हो रही है अर्थात् जप हेतु ही है। तथापि **'हेतौ'** (२।३।२३) की प्राप्ति परसूत्र होने पर भी यहाँ नहीं होती, क्योंकि 'लक्षणेत्थम्भूत०' (१।४।९०) सूत्र से ही (जो पर में भी है) कर्मप्रवचनीय-संज्ञा की सिद्धि हो जाने पर भी **'अनुर्लक्षणे'** (१।४।८४) सूत्र को पृथक् देकर इसकी शक्ति स्फीत की गयी है और फलतः इसी से 'जपमनु प्रावर्षत्' में जप मुख्यतः लक्षण नहीं होने पर भी लक्षणवत् व्यवहृत होकर द्वितीया ग्रहण करता है[3]।

भर्तृहरि करण और हेतु का दूसरा भेद विषय-वैषम्य के आधार पर सिद्ध करते हैं कि हेतु द्रव्यादि (द्रव्य, गुण और क्रिया) तीनों का विषय है अर्थात् वह तीनों के

---

१. 'आश्रितावधिभावं तु लक्षणे लक्षणं विदुः'। —वा० प० ३।७।२४ उ०

२. 'जनकश्च हेतुः, न लक्षणमिति हेतुरेवात्र ज्ञापकत्वसामान्याल्लक्षणशब्देनोक्तः इत्यविरोधः'। —हेलाराज, पृ० २५१

३. 'हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः। परापि हेताविति तृतीयानेन बाध्यते, लक्षणेत्थम्भूतेत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात्'। —सि० कौ०, पृ० ४२५

साधन में समर्थ है। दूसरी ओर करण-कारक केवल क्रिया की सिद्धि में समर्थ है (**'द्रव्यादिविषयो हेतुः कारकं नियतक्रियम्'**—वा० प० ३।७।२५ पू०)। फलस्वरूप द्रव्य और गुण के साधक में करण की प्राप्ति कभी नहीं होती। करण केवल क्रिया में व्यापार का प्रदर्शन करता है। इसमें भी निर्व्यापार होने से उसे हेतु ही कहते हैं। द्रव्य और गुण की स्थिति में चूँकि करण का कोई योगदान नहीं रहता अतएव उनके साधन में हेतु व्यापार करे या नहीं—कोई अन्तर नहीं पड़ता; दोनों प्रकार से हेतु ही रहता है। करण और हेतु के भेद-विवेचन का यह फलितार्थ है—

१.	निर्व्यापार या	सव्यापार	रहकर	द्रव्य का जनक	हेतु है।
२.	,,	,,	,,	गुण ,,	
३.	,,	—	,,	क्रिया ,,	
४.	—	सव्यापार	,,	क्रिया ,,	करण है।

हेतु के कुछ उदाहरण इसे स्पष्ट कर सकेंगे—

(१) **द्रव्यविषयक हेतु**—दण्डेन घटः। यहाँ दण्ड में व्यापार है, किन्तु उसका साक्षात् क्रिया से अन्वय नहीं होने से वह करण नहीं है। दण्ड घट के जनक के रूप में आया हुआ है[१]। यहाँ हेतु सव्यापार है। दूसरी ओर 'धनेन कुलम्' इस उदाहरण में धन का कोई व्यापार नहीं। व्यापार हो भी तो उससे पृथक् रहकर ही धन अपनी योग्यता-मात्र से कुल का हेतु है—ऐसा आशय है[२]।

(२) **गुणविषयक हेतु**—पुण्येन गौरवर्णः। पुण्य के दो अर्थ हैं—परम अपूर्व (अदृष्ट) तथा यज्ञादि धार्मिक क्रियाकलाप। पहला निर्व्यापार होता है, दूसरा सव्यापार। दोनों ही स्थितियों में यह हेतु ही रहता है, क्योंकि क्रिया से इसका साक्षात् अन्वय नहीं है। इसी प्रकार हेलाराज 'शिल्पाभ्यासेन नैपुण्यम्' यह उदाहरण देते हैं, जिसमें नैपुण्य-गुण का जनक सव्यापार शिल्पाभ्यास विवक्षित है।

(३) **क्रियाविषयक हेतु**—पुण्येन दृष्टो हरिः। यहाँ 'पुण्य' का अर्थ परमापूर्व (अदृष्ट) है, जिसमें कोई व्यापार नहीं होता। अतएव दर्शन-क्रिया से अन्वय (दर्शन-का हेतु) होने पर निर्व्यापार होने के कारण पुण्य हेतु है तथा उसमें हेतु-तृतीया हुई है। यदि हम पुण्य का अर्थ उक्त धार्मिक क्रिया-कलाप (यज्ञ-यागादि) लें तो पुण्य हेतु नहीं रहेगा, क्योंकि दर्शन-क्रिया से अन्वय होने से और सव्यापार होने से इसमें कारकत्व की आपत्ति होगी अर्थात् वह करण कहलायेगा और तृतीया की उत्पत्ति 'हेतौ' (२।३।२३) से नहीं, **'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** (२।३।१८) से होगी। हेलाराज क्रियाविषयक हेतु का उदाहरण 'अग्निना पाकः' देते हैं कि सव्यापार होने पर भी

---

१. 'दण्डे व्यापारसत्त्वेऽपि क्रियाजनकत्वाभावान्न करणत्वम्'।
—ल० श० शे०, पृ० ४३८

२. 'कुलस्य हि धनेन प्रसिद्धिरुपजन्यते। तत्र चोपरतव्यापारं धनं, योग्यता-मात्रात्कुलस्य हेतुरिति'। —हेला० ३, पृ० २५५

अग्निव्यापार के समाप्त होने पर ही पाकक्रिया की सिद्धि होती है। पाकक्रिया की असिद्धि में (यथा—अग्निना पचति) तो अग्नि करण के रूप में है ही। इस प्रकार करण-कारक के लिए विषयरूप में क्रिया ही नियत है, उसमें व्यापारयुक्त होना करण का स्वरूपभेद है[1]। स्मरणीय है कि व्यापारयुक्त क्रिया-विषय को जो हेतु कहा जाता है वह शास्त्रीय हेतु है (**'कर्ता कर्त्रन्तरापेक्षः क्रियायां हेतुरिष्यते'**—वा० प० ३।७।२५ उ०) और वह स्वतन्त्र कर्ता का प्रयोजक होता है।

हेतु और करण में एक विशेष भेद किया जाता है कि हेतु के अधीन कर्ता रहता है, जब कि कर्ता के अधीन करण है। 'धूमेनान्धः' में धूम हेतु है, क्योंकि यह द्रष्टा के अधीन नहीं है, प्रत्युत द्रष्टा ही धूम के अधीन है। दूसरी ओर 'दात्रेण लुनाति' में दात्र (करण) छेदनकर्ता के अधीन है (यदधीना कर्तुः प्रवृत्तिः स हेतुः, कर्त्रधीनं करणमिति हेतुकरणयोर्भेदः)। इसका कारण है कि हेतु को एक तो क्रियानिष्पत्ति से कुछ लेना-देना नहीं है, दूसरे यदि हो भी तो वह निर्व्यापार ही प्रवृत्त होता है। कर्ता की सार्थकता क्रियासिद्धि में स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होने में ही है। क्रिया नहीं हो तो कर्ता का स्वरूप ही न रहे। अतः हेतु का स्वरूप ऐसा है कि कर्ता उसे किसी विषय में व्याप्त नहीं कर सकता। दूसरी ओर वह धन, विद्या इत्यादि हेतुओं के अधीन अपना व्यापार संचालित कर सकता है; जैसे—विद्यया यशः। यहाँ विद्या-हेतु के अधीन कर्ता यशोरूपी फल का लाभ करता है। 'लभते' का अध्याहार करके कर्ता की व्यवस्था हो सकती है।

भर्तृहरि इसी विषय को कर्ता से हटाकर क्रिया पर ले जाते हैं। हम देख चुके हैं कि करण तथा हेतु दोनों का साधारण विषय क्रिया भी है। सव्यापार-निर्व्यापार की बात पृथक् है। तो करण क्रिया की निष्पत्ति के लिए होता है, अतएव क्रिया प्रधान-भाव से रहती है और करण अप्रधान होता है। क्रिया की इसी प्रधानता के कारण जहाँ श्रूयमाण करण नहीं हो वहाँ उसके स्थानापन्न पदार्थ को प्रतिनिधि के रूप में रखते हैं। प्रधान रूप में विद्यमान क्रिया साध्य होने के कारण अपने योग्य साधन का आक्षेप करने में पूर्ण समर्थ है, इसमें सन्देह नहीं[2]। तदनुसार क्रियासिद्धि के लिए करण का प्रतिनिधित्व होता है[3]। क्रिया और हेतु का सम्बन्ध इसके विपरीत होता है, क्योंकि क्रिया हेतु के सम्पादन के लिए होती है; अतः प्रधानभूत हेतु के समक्ष वह स्वयम् अप्रधान बनी रहती है। क्रियासिद्धि में सहायक नहीं होने के कारण अश्रुता-वस्था में भी इसका कोई प्रतिनिधि नहीं होता। 'अध्ययनेन वसति' में वासक्रिया

१. 'क्रियासाधननियतं तु कारकम्। तत्र हि क्रियैव विषयभूता नियता, व्यापारा-विष्टत्वं च स्वरूपभेदः'। —हेलाराज ३, पृ० २५६

२. हेलाराज ३, पृ० २५६।

३. 'क्रियार्थं करणं तस्य दृष्टः प्रतिनिधिस्तथा।
हेत्वर्था तु क्रिया तस्मान्न स प्रतिनिधीयते'॥ —वा० प० ३।७।२६

प्रधानतया प्रतीत हो रही है, फिर भी वस्तु की सामर्थ्य के कारण अध्ययन-हेतु के अधीन है,[1] क्योंकि अध्ययन के लिए ही निवास अभिप्रेत है। दूसरे शब्दों में—अध्ययन साध्य (प्रधान) तथा निवास साधन (अप्रधान) है। गौण वस्तु पर प्रधान वस्तु आश्रित नहीं होती है कि अध्ययन के अभाव में निवास की निष्पत्ति के लिए कुछ दूसरा पदार्थ उसके स्थान पर बैठा दें। यदि दूसरी वस्तु उसके स्थान पर बैठाते हैं तो वही मुख्य हेतु हो जायगी; जैसे—भृत्या वसति (जीविकार्थ रहता है)। निष्कर्षतः अध्ययन में हेतु-तृतीया ही है। सव्यापार अध्ययन के द्वारा वासक्रिया की निर्वृत्ति नहीं हो रही है कि इसे करण मानें; इसके विपरीत निवास-क्रिया का ही साध्य या लक्ष्य अध्ययन है। अतः व्यापारहीन केवल योग्यता से उद्देश्यरूप में वर्तमान अध्ययन निवास का हेतु है[2]। यही अध्ययन यदि व्यापारयुक्त तथा निवास के प्रति अनुकूल होने के रूप में विवक्षित हो तो प्रयोजक कर्ता या शास्त्रीय हेतु भी हो जा सकता है; जैसे—अध्ययनं वासयति (अध्ययन उसे यहाँ ठहराये हुआ है)।

हेतु और तादर्थ्य में भेद

इस विवेचन से हेतु और तादर्थ्य में भ्रम होने की आशंका है, जिसका निराकरण इस कारिका में हुआ है—

'प्रातिलोम्यानुलोम्याभ्यां हेतुरर्थस्य साधकः।
तादर्थ्यमानुलोम्येन हेतुत्वानुगतं तु तत्' ॥

—वा० प० ३।७।२७

हेतु अपने अर्थ की सिद्धि दोनों प्रकार से करता है—अनुलोम-विधि से (दूसरों के संसर्ग से कार्य को उपचिततर करते हुए) तथा प्रतिलोम-विधि से (स्वयं क्षीण होते हुए क्षीणतर कार्य उत्पन्न करते हुए)। तादर्थ्य अनुलोम-विधि का सहारा लेता है तथा हेतुत्व से अनुगत एक प्रकार का हेतु ही है। 'कुण्डलाय हिरण्यम्' इसका उदाहरण है, जिसमें कुण्डल उपकार्य अथवा साध्य है, जब कि हिरण्य उपकारक या साधक है। 'तस्मै इदम्' का समास करके 'तदर्थम्' होता है और इसमें भाववाचक ष्यञ् प्रत्यय लगाकर 'तादर्थ्य' शब्द बनता है। उपकार्य और उपकारक के बीच कार्यकारण-सम्बन्ध का अर्थ है—उद्भूत रूप (जिसका रूप नयनगोचर हो)। 'यह उसमें उद्भूत है' यहाँ करण उपकारक प्रतीत होता है और कार्यकारण-सम्बन्ध के उत्पन्न होने पर जो चतुर्थी होती है वह कार्यवाचक शब्द को ही। कारणवाचक से तृतीया नहीं होती।

---

१. 'अध्ययनेन वसतीति तु वसतिक्रियाऽऽख्याताप्राधान्येनापि प्रतीयमाना वस्तु-सामर्थ्यादध्ययनाख्यहेतुपरतन्त्रा'। —हेलाराज, पृ० ६५६-५७

२. 'न ह्यध्ययनेन व्यापाराविष्टेन वासो निर्वर्त्यते, अपि तु वासस्याध्ययनमेव सम्पाद्यं प्रधानमिति निर्व्यापारं योग्यतामात्रेणोद्देश्यमध्ययनं वासस्य हेतुः'। —हेलाराज, वहीं

इस प्रकार करण, हेतु, लक्षण, तादर्थ्य—इन चारों में निमित्तता की समता होने पर भी लक्षण के व्यामिश्रण का प्रसंग नहीं आता। करण और हेतु का विभेद तो व्याकरण का प्रमुख विषय है ही।

'आश्रय' करणतृतीया का अर्थ है—कौण्डभट्ट

नव्य-वैयाकरणों में कौण्डभट्ट करणतृतीया के दो अर्थ मानते हैं—आश्रय तथा व्यापार। दीक्षित की मूल कारिका (सं० २४) में 'आश्रय'-शब्द व्यापार को भी अन्तर्भूत करने के कारण उपलक्षण है। करण-लक्षण में सर्वत्र व्यापार की चर्चा है कि इसके व्यापार के अनन्तर बिना व्यवधान के क्रियासिद्धि होती है। यह अव्यवधान ही तृतीया की विशिष्टता है। 'साधकतम' में अतिशय-बोधक तमप् का अर्थ प्रकर्ष मानते हुए कौण्डभट्ट कहते हैं कि अव्यवहित फल को उत्पन्न करने वाले व्यापार से युक्त कारण ही करण है। इसी से व्यापार और आश्रय की शक्यार्थता सिद्ध होती है। 'रामेण बाणेन हतो वाली' इस उदाहरण में बाण करण है, जिसके प्रकृत्यर्थ का अभेद-रूप से तृतीयार्थ (आश्रय) में अन्वय होता है। इस आश्रय का अन्वय आधेय होने के कारण व्यापार (करण-तृतीया का दूसरा अर्थ) में होता है। इस व्यापार का अन्वय भी जनकता-सम्बन्ध से (क्योंकि यह व्यापार धात्वर्थ का जनक या निष्पादक है) धात्वर्थ के व्यापार में या प्राण-वियोगात्मक फल में होता है[1]। तदनुसार बोध होता है कि रामनिष्ठ जो व्यापार है उसके विषय के रूप में अवस्थित बाणाश्रय-व्यापार से सम्पन्न होनेवाले (साध्य) प्राणवियोग रूप फल का आश्रय वाली है[2]। भूषणकार का मत अनेक वैयाकरणों को स्वीकार नहीं। वे व्यापार में तृतीया की शक्ति नहीं मानते तथा तृतीयार्थ आश्रय का ही, अपने में (करण में) वर्तमान व्यापार से जन्य होने के कारण, जन्यजनकत्वादि सम्बन्ध से अन्वय दिखला देते हैं। कहने का यह अर्थ है कि इस पक्ष में व्यापार और आश्रय की पृथक् शक्ति नहीं मानी जाती, प्रत्युत आश्रय के अन्तर्गत व्यापार भी समाविष्ट हो जाता है। नागेश भी इसी पक्ष के समर्थक हैं।

ब्रह्मसूत्र में करणत्व-विवक्षा

भर्तृहरि ने जो अन्य कारकों की करणत्व-विवक्षा बतलायी है उस पर वैयाकरण-भूषण में वेदान्तविषयक प्रश्न उठाया गया है। विवक्षा होने पर भी एक ही साथ तो अनेक कारक करण नहीं हो सकते—द्वितीया, सप्तमी आदि विभक्तियों का अवकाश रह ही जाता है। ब्रह्मसूत्र में **'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्'** (२।३।३३) से जीवात्मा के कर्तृत्व की सिद्धि की गयी है कि 'यजेत, जुहुयात्' इत्यादि विधि-वाक्यों की अर्थ-

---

१. द्रष्टव्य—हरिराम, वै० भू० सा० काशिका, पृ० ३७९।

२. 'तथा च रामनिष्ठो यो व्यापारस्तद्विषयीभूत-बाणव्यापारसाध्यप्राण-वियोगाश्रयो वालीति वाक्यार्थः'। —प्रौढमनो०, पृ० ५१०

वत्ता सिद्ध करने के लिए जीवात्मा को कर्ता मानना अनिवार्य है। पुनः यह कहा गया है कि यदि जीव कर्ता न हो, बुद्धि या विज्ञान कर्ता बन जाय तो शक्ति का विपर्यय हो जायगा ('शक्तिविपर्ययात्' २।३।३८) अर्थात् बुद्धि की करण-शक्ति नष्ट होकर उसमें कर्तृत्व-शक्ति आ जायगी, ऐसा होने से बुद्धि ही 'अहम्' के ज्ञान का विषय हो जायगी[1]। यदि बुद्धि कर्ता हो जाय तो उसकी प्रवृत्ति के लिए दूसरे करण की आवश्यकता होगी, क्योंकि समर्थ होने पर भी करण को लेकर ही कर्ता की प्रवृत्ति देखी जाती है[2]। किसी भी स्थिति में बुद्धि का कर्तृत्व वांछनीय नहीं। यदि उपर्युक्त विवक्षा का नियम स्वीकार करते हैं तो करण के कर्तृत्व या उसी प्रकार के अन्य विपर्यय में आपत्ति नहीं होनी चाहिए—अतः विवक्षा-नियम तथा शांकरभाष्य में विरोध-सा लगता है।

किन्तु बात ऐसी नहीं है। सूत्रकार या भाष्यकार का यह आशय कदापि नहीं है कि विवक्षा से सभी कारकों को करणत्व नहीं होगा। प्रत्युत वे यह कहते हैं कि बुद्धि के परिणामभूत अन्तःकरण में जो निश्चित (क्लृप्त) करणत्व है उसकी क्षति हो जायगी तथा अनिश्चित कर्तृशक्ति का प्रवेश हो जायगा। किसी श्रुतिवाक्य में करण के रूप में बुद्धि-परिणाम (अन्तःकरण) निश्चित हो और दूसरे में कर्तृत्वविवक्षा हो तो भी कोई हानि नहीं। विरोध तो तब होता है जब दोनों की युगपत् विवक्षा करें। किन्तु वास्तव में '**यथा च तक्षोभयथा**' (ब्र० सू० २।३।४०) सूत्र के भाष्य में शंकर ने स्पष्ट कर दिया है कि जीव का कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत वह औपाधिक है। यदि स्वाभाविक कर्तृत्व होता तो मुक्ति नहीं होती, क्योंकि कर्तृत्व दुःखरूप होता है। जैसे उष्णता से अग्नि का वियोग सम्भव नहीं उसी प्रकार जीवात्मा का वियोग भी स्वाभाविक कर्तृत्व (दुःख) से नहीं हो सकता था। तक्षा (बढ़ई) बसूला आदि साधनों को (जो करण हैं) हाथ में लिये रहने पर दुःखी होता है, क्योंकि तब वह कर्ता बना रहता है; यदि वह उन करणों को छोड़कर बैठा रहे तो सुखी होता है, क्योंकि तब उसमें कर्तृत्व नहीं रहता। इससे स्पष्ट है कि कर्तृत्व औपाधिक होता है, करणादि के संसर्ग में आने से ही कोई कर्ता कहलाता है। अतएव उपर्युक्त शक्ति-विपर्यय की बात इस तथ्य का द्योतन करती है कि बुद्धि को गौण स्थान प्रदान किया गया है, उसमें कर्तृत्व-शक्ति का अभाव दिखलाना अभिप्रेत है। तक्षा मूलतः कर्ता नहीं है (करण के संसर्ग में आने पर ही कर्ता होता है), उसी प्रकार जीव भी मूलतः कर्ता नहीं। शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि के संसर्ग से इसमें औपाधिक कर्तृत्व आता है। विवक्षा से ये भी कर्ता हो सकते हैं, किन्तु जब जीव में ही कर्तृत्व नहीं तब इनके

---

१. 'यदि पुनर्विज्ञानशब्दवाच्या बुद्धिरेव कर्त्री स्यात् ततः शक्तिविपर्ययः स्यात्। करणशक्तिर्बुद्धेर्हीयेत कर्तृशक्तिरापद्येत। सत्यां च बुद्धेः कर्तृशक्तौ तस्या एवाहम्प्रत्यय-विषयत्वमभ्युपगन्तव्यम्'। —शांकरभाष्य २।३।३८

२. 'शक्तोऽपि हि सन् कर्ता करणमुपादाय क्रियासु प्रवर्तमानो दृश्यते'। —वहीं

कर्तृत्व को कौन पूछता है ? तथापि '**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः**' (यो० सू० १।९) मानने में क्या हानि है ?

नागेश के द्वारा करणत्व-विवेचन

नागेशभट्ट करण को करणताशक्ति से युक्त मानकर इस शक्ति का निर्वचन करते हैं—'**यद्व्यापाराव्यवधानेन क्रियानिष्पत्तिर्विवक्ष्यते तन्निष्ठा**' (ल० म०, पृ० १२५१)। जिसके व्यापार के बाद बिना किसी व्यवधान के क्रियासिद्धि विवक्षित हो उसी में रहनेवाली करणता-शक्ति है। स्पष्टतः उपर्युक्त लक्षणों की ही इसमें प्रतिध्वनि है। इसके अनुसार करण-तृतीया का अर्थ 'करणत्व-शक्ति से युक्त' तथा 'क्रिया-करण-भाव' सम्बन्ध भी है[1]। करण अन्वय के सम्बन्ध में नागेश ने दो मतों का उल्लेख किया है—

(१) तृतीया का ही अर्थ करण है। प्रकृत्यर्थ (बाण का अर्थ) का उसमें अभेदान्वय होने से 'बाणाभिन्न करण' का बोध होता है। अब इस प्रकृत्यर्थ से अभेद-सम्बन्ध से अन्वित तृतीयार्थ का भी अन्वय धात्वर्थ में होता है, जिसके लिए स्वनिष्ठ (करण, तृतीयार्थ में स्थित) व्यापार के अव्यवहित बाद में उत्पत्ति होना सम्बन्ध का काम करता है। परिणामतः 'करणबाणीयो वधः' या 'बाणकरणको वधः' के रूप में बोध होता है। यह मत भूषणकार की इस उक्ति का तिरस्कार करता है कि आश्रय तथा व्यापार ये दो शक्यार्थ हैं[2]।

(२) दूसरा मत नागेश का अपना है, जिसके अनुसार करण का अन्वय धात्वर्थ-व्यापार से होता है, न कि फलांश से। यहाँ उपर्युक्त क्रिया-करणभाव सम्बन्ध का काम करता है। शब्द-शक्ति की यह प्रकृति है कि क्रिया में करण का अन्वय हो। करण का अन्वय व्यापार में होने से ही मीमांसा-दर्शन में 'उद्भिदा यजेत' इस विधि-वाक्य में उद्भिद्-शब्द में कहीं मत्वर्थ-लक्षणा न हो जाय, इस भय से इसे नामधेय (यागविशेष का नाम) मान लिया गया है। तदनुसार अर्थ होता है—उद्भिद् नामक याग से यज्ञ की भावना करे। यदि ऐसा न होकर (फल में भी अन्वय होने पर) व्यापार (भावना) में करण के रूप में अन्वय होता तो धात्वर्थ के फलांश में करण के साथ अन्वय होने में कठिनाई नहीं होती और अन्वयानुपपत्ति पर आश्रित लक्षणा का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता कि उसका वारण किया जाय।

भाव यह है कि 'उद्भिदा यजेत' में यदि उद्भिद् का अर्थ वनस्पति लेते हैं तो अभीष्ट अर्थ तक पहुँचने के लिए अर्थ करना होगा—'उद्भिद्वता यजेत' (वनस्पति-युक्त याग से यज्ञ की भावना करे) अर्थात् मत्वर्थ-लक्षणा माननी होगी। किन्तु यह जघन्य वृत्ति है, अतः उद्भिद् को यागविशेष का नाम मानकर अभिधावृत्ति से ही

---

१. ल० म०, कला, पृ० १२५२।

२. 'करणं तृतीयार्थः। प्रकृत्यर्थस्य तत्राभेदेनान्वयः। तस्य च स्वनिष्ठव्यापारा-व्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्वसम्बन्धेन धात्वर्थेऽन्वय इत्येके'। —ल० म०, पृ० १२५२

अभीष्ट अर्थ पर पहुँचा जा सकता है। मीमांसक यही करते भी हैं। नागेश कहते हैं कि यह द्योतित करता है कि करण का अन्वय व्यापार में ही होता है, क्योंकि करण के साथ धात्वर्थ व्यापार के अन्वय में अनुपपत्ति होने से ही लक्षणा का प्रसंग आता है, धात्वर्थ फलांश के साथ तो करणरूप में अन्वय ठीक ही हो जाता है, जिससे लक्षणा प्रसक्त नहीं होती। इसीलिए 'सोमेन यजेत' में मीमांसक लोग छान्दस मत्वर्थ-लक्षणा मानकर काम चलाते हैं। यदि व्यापार में ही करण का अन्वय किया जाय तो फल का करण के रूप में अन्वय हो जायगा, जिससे 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' यह कर्मस्वरूप-मात्र का बोधक होने से उत्पत्ति-विधि है, उसी में विहित करण के द्वारा अवरुद्ध हो जाने से पुनः दूसरे करण के अन्वय की योग्यता नहीं रहेगी और अन्ततः लक्षणा आवश्यक हो जायेगी। छान्दस लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं।

नागेश इस विषय में अपना मत देते हैं कि फल में भी यदि करण का अन्वय किया जाय तो फलांश में वैरूप्य उत्पन्न हो जायगा, क्योंकि एक ओर तो भावना से निरूपित करण का रूप उसे मिलेगा और दूसरी ओर अपने करण से निरूपित साध्य भी वही होगा—ये दोनों स्थितियाँ युगपत् उपस्थित होंगी, अतः अन्वयानुपपत्तिजन्य लक्षणा का आश्रय अनिवार्य है[1]। इस प्रकार करण के अन्वय को लेकर नागेश मीमांसकों के विधिवाक्यों की विधिवत् मीमांसा करते हैं। करणतृतीया पर उनका वक्तव्य इसी में सीमित है।

यद्यपि करण का मुख्य सूत्र एक ही है तथापि पाणिनि दो अन्य सूत्रों में भी करण-संज्ञा का आंशिक विधान करते हैं। प्रथम सूत्र में कर्म तथा दूसरे में सम्प्रदान करण के साथ विकल्पित है। दूसरे का निरूपण अगले अध्याय में होगा। कर्मकारक के विकल्प का सूत्र है—**'दिवः कर्म च'** (पा० सू० १।४।४३)। दिव्-धातु (क्रीड़ा) के प्रयोग में जो साधकतम कारक होता है उसे करण और कर्म दोनों संज्ञाएँ विकल्प से होती हैं; जैसे—अक्षान् दीव्यति, अक्षैर्दीव्यति। इसी विकल्प के कारण 'मनसा देवः' (मनसा दीव्यति—कर्मण्यण्) की सिद्धि होती है। **'मनसः संज्ञायाम्'** (पा० ६।३।४) सूत्र से करण-तृतीया का अलुक् होता है। इसका दूसरा फल है—'अक्षैर्देवयते यज्ञदत्तेन'। इसमें सकर्मक क्रिया होने से अण्यन्तावस्था के कर्ता (यज्ञदत्त) को ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा नहीं हुई। पुनः **'अणावकर्मकात्'** (१।३।८८) से होने वाला परस्मैपद भी नहीं हुआ, क्योंकि कर्मविकल्प के कारण यह सकर्मक क्रिया है।

यहाँ कहा जा सकता है कि 'अक्षान् दीव्यति' में परत्व के कारण तृतीया विभक्ति ही न्याय्य है। दोनों संज्ञाओं के अवकाश-स्थल पृथक्-पृथक् है। करण का अवकाश है—'देवना अक्षाः' (वे पासे जिनसे खेल हो), जिसमें करण में ल्युट् हुआ है। दूसरी ओर कर्म का अवकाश है—'दीव्यते अक्षाः' (पासे खेले जा रहे हैं), यहाँ कर्मवाच्य में यक् और आत्मनेपद हुआ है। 'अक्षान्' में तो दोनों संज्ञाओं के प्रयोग के प्रसंग में

१. 'फलेऽप्यन्वये युगपत्फलांशस्य भावनानिरूपितं करणत्वं स्वकरणनिरूपितं चेति वैरूप्यं स्यादिति साऽऽवश्यकीत्यन्ये'। —ल० म०, पृ० १२५३

पर-विभक्ति ही होनी चाहिए। यह पूर्वपक्ष उठाकर दीक्षित कहते हैं कि कार्यकाल पक्ष में **'कर्मणि द्वितीया'** (पा० २।३।२) से जिसकी उपस्थिति होती है वह अनवकाश है, अतः द्वितीया होगी ही। अब कोई कहे कि 'दीव्यन्तेऽक्षाः' में कर्म के अभिहित होने पर भी करणत्व के अनिभिहित होने से करण में तृतीया हो जाय, अथवा 'देवना अक्षाः' में ल्युट् के द्वारा करण का अभिधान होने पर भी कर्म अनभिहित होने से द्वितीया हो जाय—तो हम कहेंगे कि यहाँ एक ही शक्ति दोनों संज्ञाओं के उपयुक्त हो सकती है। इस प्रकार दोनों स्थितियों में अभिधान ही है, अनभिधान नहीं (शब्दकौस्तुभ २, पृ० १२६-२७), नागेश इस उत्तर का प्रत्याख्यान करते हैं कि एक ही शक्ति दो-दो संज्ञाओं के उपयोग में आ सकती है। कर्मादि पद कर्मत्वादि विविध शक्तियों के रूप में बोध कराते हैं, अतः दोनों में भेद करना ही उचित है[1]।

करण के भेद

करण का विभाजन पाणिनीयेतर सम्प्रदायों में हुआ है, जो मुख्यतः सांख्यदर्शन में निरूपित करण की कल्पना पर आश्रित है। दर्शनों में करण इन्द्रियार्थक है। व्याकरण में उस करण-कल्पना का इतना ही उपयोग है कि दर्शनशास्त्रोक्त सभी करण—अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय—विषयोपलब्धि के प्रति साधकतम हैं। वहाँ करण का निर्वचन है—कर्ता जिससे पुरुषार्थ का साधन करे। जिस प्रकार कर्ता छेदनादि पुरुषार्थों का सम्पादन दात्रादि से करता है, उसी प्रकार वह इन्द्रियों की सहायता से उपलब्धि-रूप पुरुषार्थ का सम्पादन करता है। इस प्रकार दार्शनिक करण व्याकरण के करण से भिन्न नहीं।

(१) सांख्य-दर्शन में पहले दो करण माने गये हैं—अन्तःकरण और बाह्यकरण अन्तःकरण तीन हैं—बुद्धि, अहंकार तथा मन। बाह्यकरण दस हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वचा) तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ)[2]। इनमें बाह्यकरणों का व्यापार केवल वर्तमान काल तक सीमित है, जब कि अन्तःकरण या आभ्यन्तर करण तीनों कालों में वृत्ति रखते हैं[3]।

वेदान्तियों के मत में चार आभ्यन्तर करण होते हैं, जैसा कि वेदान्तपरिभाषा (पृ० ३२) में विषयों के साथ उनका उल्लेख है—

---

१. 'एकैव शक्तिः संज्ञाद्वयोपयोगिनीति तु चिन्त्यम्। कर्मादिपदानां कर्मत्वादितत्तच्छक्तिरूपेण बोधकतया तयोर्भेदस्यैवौचित्यादिति मञ्जूषायां विस्तरः'।

—ल० श० शे०, पृ० ४३५

२. सांख्यकारिका २६।

३. वहीं, कारिका ३३—

'अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्'॥

'मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम् ।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी' ।।

इन विषयों पर एक दृष्टि डालने से ही इनकी त्रैकालिक वृत्ति का अनुमान हो सकता है । सांख्यों का उपर्युक्त भेद करणमात्र को व्याप्त नहीं करता, इसकी मर्यादा इन्द्रियों या विषयोपलब्धि के साधनों तक ही है । अतः हमें अन्य भेद करने होंगे ।

(२) भरतमल्लिक अपने कारकोल्लास में करण के दो भेद करते हैं—बाह्य (जो शरीर के अवयवों से भिन्न हो) और आभ्यन्तर (जो शरीर में समवेत हो) ।[1] पहले के उदाहरण में 'चक्रेण दैत्यांश्चिच्छेद समरे मधुसूदनः' दिया गया है, जिसमें चक्र बाह्य करण है । दूसरी ओर 'मनसा कृष्णपादाब्जं सेव्यते साधुना सदा' में मन आभ्यन्तर करण है । इस विभाजन में मुख्य असंगति है कि इसके अनुसार हस्त, पाद आदि भी शरीर से समवेत होने के कारण आभ्यन्तर करण हो जायेंगे और ऐसा कहना अप्रसिद्धि-दोष माना जायगा । यह विभाजन मन, बुद्धि तथा हस्तपादादि में कोई भेद नहीं मानता । आभ्यन्तर और बाह्य के रूप में करण का भेद करना ही हो तो दार्शनिक भेद ही मान्य होगा । हाँ, एक सुझाव हो सकता है कि पहले करण के शारीर और अशारीर ये दो भेद कर लें और तब शारीर करण के बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद मानें ।

सांख्यों के अनुसार बाह्य तथा आभ्यन्तर करण मानकर बाह्य को पुनः दो भेदों में रखा जा सकता है—कर्तृशरीरसम्बन्ध तथा तद्भिन्न । 'उरसा गच्छति, नखेन छिनत्ति' इत्यादि में प्रथम कोटि तथा दात्रादि में द्वितीय कोटि का करण होगा ।

---

१. कारकोल्लास, श्लोक ५४ तथा आगे ।

अध्याय : ७

सम्प्रदान-कारक

व्युत्पत्ति

सम् तथा प्र इन दो उपसर्गों से युक्त दा-धातु से ल्युट्-प्रत्यय लगाकर सम्प्रदान-शब्द की निष्पत्ति होती है। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा० ३।३।११३) सूत्र के अनुसार ल्युट् अपने निर्दिष्ट क्षेत्र (भाव, करण तथा अधिकरण—पा० ३।३।११५, ११७) से भिन्न अर्थों में भी होता है, अतः 'सम्यक् प्रदीयतेऽस्मै' यह निर्वचन सुविधापूर्वक दिया जा सकता है। अतः सम्प्रदानार्थक ल्युट् यहाँ लगा है। निर्वचन के अनुसार जिसे कोई वस्तु सम्यक् रूप से दी जाय वह सम्प्रदान है। इसमें सदा के लिए दे देना या अपना अधिकार वस्तुविशेष से हटाकर (स्वत्व-निवृत्तिपूर्वक) दूसरे व्यक्ति का अधिकार उस पर स्थापित करना (पर-स्वत्वापादन) सम्प्रदान की अनिवार्यता है। इस अर्थ में कुछ लोगों के द्वारा सम्प्रदान की विवेचना होने पर भी यह सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है। किसी शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ सदा स्थिर रहे, यह आवश्यक नहीं।

पाणिनि-सूत्र का विश्लेषण

पाणिनि ने सम्प्रदान-संज्ञा के लिए कई सूत्र दिये हैं, जिनमें प्रथम सूत्र को सम्प्रदाय में प्रधान तथा अन्य सूत्रों को गौण सम्प्रदान का संज्ञासूत्र माना गया है। प्रथम सूत्र है—'**कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्**' (पा० १।४।३२)। इस सूत्र का सरलार्थ है कि जिस पदार्थ या व्यक्ति को कर्ता अपने कर्म के द्वारा सम्बद्ध करता है या करना चाहता है वह सम्प्रदान कारक है। पतंजलि इस सूत्र की व्याख्या में—(१) कर्मणा, (२) यं···सः तथा (३) अभि + प्र के प्रयोग का प्रयोजन बतलाते हैं।

(१) यदि सूत्र में 'यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' इतना ही अंश रहता तो कर्ता का आक्षेप करके अर्थ करते कि जिसे कर्ता सम्बद्ध करता हो उसे सम्प्रदान कहते हैं अर्थात् उसके ईप्सिततम (कर्म) को भी सम्प्रदान कहने का प्रसंग उपस्थित हो जाता। 'उपाध्यायाय गां ददाति' में उपाध्याय तथा गौ दोनों ही अभिप्रेत हैं—करण-रूप दानक्रिया के द्वारा गौ अभिप्रेत (सम्बद्ध) होती है और गौ के द्वारा उपाध्याय अभिप्रेत होते हैं। दोनों स्थितियों में सम्पदान-संज्ञा की सिद्धि हो जाती है, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यह समाधान दिया जा सकता है कि परत्व के कारण गौ को कर्मसंज्ञा होगी तथा परिशेष-विधि से उपाध्याय को ही सम्प्रदान होगा[1]। किन्तु दोनों में अभिप्रेयमाणता समानरूप से सम्भव होने पर भी यह सम्प्रदान-संज्ञा कर्मरूप

---

१. 'तत्र परत्वाद् गोः कर्मसंज्ञेति पारिशेष्यादुपाध्यायस्यैव सम्प्रदानसंज्ञा भविष्यतीति प्रश्नः'। —कैयट २, पृ० २५६

गौ को ही अधिक उपयुक्त पड़ेगी, क्योंकि वह अन्तरंग है। गौ दानक्रिया से अभिप्रेत है, अतः उसका क्रिया-सम्बन्ध अन्तरंग है; जब कि दानक्रिया से अभिप्रेत गौ से भी अभिप्रेत उपाध्याय है, अतः दूर का सम्बन्ध होने के कारण उपाध्याय का क्रियासम्बन्ध बहिरंग है[1]। अब यह शंका हो सकती है कि तब तो कर्मसंज्ञा निरर्थक हो जायगी जिसका किसी प्रकार पाणिनि के वचन-सामर्थ्य का आश्रय लेकर, दोनों संज्ञाओं को पर्याय मानकर समाधान किया जा सकता है। कारक-प्रकरण में सामर्थ्य से प्रतीत होनेवाले प्रकर्ष-योग का आश्रय नहीं लिया जाता, किन्तु अन्तरंग-बहिरंग का व्यवहार तो चलता ही है[2]। फलतः कर्म और सम्प्रदान का पर्याय होना अनिवार्य हो जायगा।

वास्तव में सम्प्रदान तथा कर्म के उभयनिष्ठ धर्म का विभेद 'कर्मणा' इस सूत्रस्थ पद के द्वारा हो जाता है कि सम्प्रदानसंज्ञा उसे ही होती है जो करणरूप कर्म से (कर्मणा) सम्बद्ध हो—गौ-कर्म के द्वारा उपाध्याय ही अभिप्रेयमाण है, अतः उसे ही सम्प्रदान-संज्ञा होती है, गौ को नहीं।

'कर्म के द्वारा सम्बद्ध होना' सम्प्रदान का लक्षण मानने पर भी 'अजान्नयति ग्रामम्' (बकरों को गाँव में ले जाता है) इस उदाहरण में ग्राम को सम्प्रदान नहीं होता, यद्यपि 'नयति' क्रिया के कर्मस्वरूप अज से वह सम्बद्ध है। इसका कारण जानने के लिए हमें पूर्वमीमांसा (४।२।१६-१७) के मैत्रावरुण-न्याय की सहायता लेनी पड़ेगी। एक वैदिक विधि है—'क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति'। यहाँ द्वितीया (कर्म) तथा चतुर्थी (सम्प्रदान) एक ही वाक्य में विद्यमान हैं। प्रश्न होता है कि इनमें प्रधान कौन है ? पूर्वपक्षी दण्ड (द्वितीया) की प्रधानता बतलाकर दण्ड-प्रदान की क्रिया को प्रतिपत्तिकर्म (शेष या गुणीभूत पदार्थ का विहित स्थल-विशेष में विनियोग करने वाली क्रिया) कहते हैं, क्योंकि दीक्षित व्यक्ति के द्वारा हाथ में धारण किये जाने में दण्ड की कृतार्थता है और द्वितीया-विभक्ति से उसी की प्रधानता मालूम होती है, दान की नहीं। इसलिए मैत्रावरुण (एक पुरोहित-विशेष) के हाथ में ही दण्ड का प्रक्षेप करना चाहिए।

किन्तु उत्तरपक्षी यहाँ द्वितीया की व्याख्या 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' का आश्रय लेकर करते हैं, जिससे यह दण्ड प्रधान या ईप्सिततम का बोधक नहीं रहता। दूसरी ओर सम्प्रदान चतुर्थी का मैत्रावरुण की प्रधानता तथा दण्ड-प्रदान की गौणता सिद्ध होती है। दूसरे शब्दों में द्वितीया चतुर्थी की अपेक्षा दुर्बलतर है, क्योंकि अर्थसामर्थ्य अर्थात् कर्तृसंयोग की दृष्टि से चतुर्थी में स्थित अर्थ प्रधान है। फलस्वरूप दण्डप्रदान अर्थकर्म (मैत्रावरुण का संस्कारक) है। दण्डप्रदान यदि अर्थकर्म हो तो चतुर्थी (सम्प्रदान) प्रधान हो जाती है, किन्तु प्रतिपत्तिकर्म की दृष्टि में यह अप्रधान होती

---

१. 'दानक्रियाभिप्रेतगवोपाध्यायोऽभिप्रेत इति तस्य क्रियासम्बन्धो बहिरङ्गः'।
—उद्योत २, पृ० २५६

२. कैयट २, पृ० २५६।

है[1]। यही न्याय प्रस्तुत उदाहरण में भी उपादेय है। 'यमभिप्रैति' में यम् के द्वारा उद्देश्यत्व के रूप में शेषित्व प्रतीत होता है और 'कर्मणा' के द्वारा गो आदि शेष के रूप में प्रतीत होते हैं। शेष का अर्थ है—दूसरे के उद्देश्य से प्रवृत्त होनेवाला गुणीभूत पदार्थ। यहाँ पर (सम्प्रदान की व्याख्या में) किसी के उद्देश्य से होनेवाली इच्छा के विषय को ही शेष कहते हैं[2]। 'ब्राह्मणाय गां ददाति' में उक्त कारण से गौ शेष है[3] तथा उद्देश्य रूप ब्राह्मण शेषी। ग्राम के प्रति अजा को शेष नहीं कहा जा सकता और न अजा के प्रति ग्राम ही शेषी है, अतः सम्प्रदान की प्राप्ति यहाँ नहीं है।

इस विवेचन का फलितार्थ है कि उद्देश्य शेषी, अंगी अर्थात् प्रधान होता है, शेष नहीं। गो-दान ब्राह्मण का संस्कारक है, अर्थकर्म है; किन्तु अजानयन ग्राम का संस्कारक नहीं। यदि देवात् ऐसा मान ही लें तो भी परत्व के कारण ग्राम में कर्म-संज्ञा मान कर निर्वाह कर लें।

(२) यदि सूत्र में 'यम्...सः' छोड़ दें तथा 'कर्मणाभिप्रैति सम्प्रदानम्' इतना ही अंश रहे तो सम्बद्ध करने वाले अथवा उसके इच्छुक कर्ता को ही सम्प्रदान मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा, क्योंकि कर्म के द्वारा कर्ता ही किसी को अभिप्रेत करता है। यद्यपि 'यम्' तथा 'सः' का अध्याहार करके भी सूत्र के उचित अर्थ पर पहुँचा जा सकता है, तथापि अध्याहार का विशेष नियम है; यदृच्छा से यह नहीं होता। जब श्रूयमाण पदों के अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध से आकांक्षा का शमन नहीं होता और अनुपपत्ति रह जाती हो तभी पद-विशेष का अध्याहार किया जाता है। प्रकृत स्थल में 'यम्...सः' के न रहने पर भी श्रूयमाण पदों के अर्थों के सम्बन्ध से ही वाक्य निराकांक्ष हो जाता है, अतः अध्याहार की आवश्यकता नहीं रह जाती, प्रत्युत वही अनुपपन्न हो जायगा[4]। अतएव कर्ता में सम्प्रदान का अतिप्रसंग रोकना ही इन सर्वनामों के प्रयोग का फल है।

(३) 'अभिप्रैति' में अभि + प्र + एति ये तीन पद हैं। इनमें 'अनुव्यचलत्' के समान समास नहीं हुआ है, क्योंकि 'कुगतिप्रादयः' (पा० २।२।१८) के अन्तर्गत जो वार्तिक ऐसे स्थलों में समास का विधान करता है (उदात्तगतिमता च तिङा) उसका

---

१. तुलनीय—वै० भू० सा० की काशिका-टीका, पृ० ३८९ तथा Mimamsa : The Vakyashastra of Ancient India, chap. xi, para 12 & 15.

२. 'तदुद्देश्यकेच्छाविषयत्वं च शेषत्वमित्येव पूर्वतन्त्रे निरूपितम्'।
—वै० भू० सा०, पृ० ३८९

३. द्रष्टव्य (जै० सू० ३।१।२)—'शेषः परार्थत्वात्'। शबरः—'यः परस्योपकारे वर्तते स शेषः'।

४. 'श्रुतपदार्थसम्बन्धेनैव निराकाङ्क्षत्वेऽध्याहारानुपपत्तिरिति भावः'।
—कैयट २, पृ० २५१

अधिकार केवल वैदिक भाषा में है, संस्कृत में नहीं[1]। 'सह सुपा' (२।१।४) की व्याख्या में इस विषय पर दीक्षित कहते हैं कि तिङन्त का समास केवल वेद में होता है, क्योंकि 'अनुव्यचलत्' इत्यादि उदाहरणों में, जहाँ समास होने के कारण प्रातिपदिक हो जाने से संस्कृत-भाषा में सुप्-प्रत्ययों की प्राप्ति अनिवार्य हो जाती है, छान्दस व्यत्यय का आश्रय लेकर ही सुप् के लोप का समर्थन किया जा सकता है। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो 'पर्यभूषयत्' जैसे हलन्त उदाहरणों में सु-प्रत्यय का (क्योंकि सामान्यरूप से एकवचन का सु-प्रत्यय ही समासों के बाद लगाया जाता है) लोप हम 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (पा० ६।१।६८) के द्वारा भले ही कर सकते हैं, किन्तु 'यत्प्रकरोति' इत्यादि में लोप का कोई कारण नहीं होगा, 'सु' को श्रूयमाण ही रहना होगा। हाँ, एक उपाय है। समास को नपुंसक लिंग मानकर 'स्वमोर्नपुंसकात्' (पा० ७।१।२३) से सु का लोप करें, किन्तु नपुंसकलिंग का आश्रय लेने से 'यत्प्रकुरुते' इत्यादि में 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (पा० १।२।४७) से ह्रस्व की प्रसक्ति का भी भय है। यही नहीं, 'यत्प्रकुर्वीरन्' में तो 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) के द्वारा न् के लोप का प्रसंग होगा[2]। इसलिए दीक्षित के अनुसार 'प्रभवति' इत्यादि काव्यगत प्रयोगों में उपसर्ग पृथक् पद है, समास का अवयव नहीं। अतः 'अभिप्रैति' में भी पृथक् पद हैं।

पतञ्जलि इसमें 'अभि' तथा 'प्र' इन दो उपसर्गों की अनिवार्यता सिद्ध करते हैं। इनके अभाव में 'कर्मणा यमेति स सम्प्रदानम्' मात्र रहने से केवल वर्तमान काल के उदाहरण ही दिये जा सकते हैं, सन्निहित पदार्थ में ही सम्प्रदान-संज्ञा हो सकती थी—'उपाध्यायाय गां ददाति'। 'एति' क्रिया वर्तमान का बोध कराती है। इसमें उक्त उपसर्गों का उपादान होने पर ही काल-विषयक सीमा समाप्त हो जाती है, अतः अतीत एवं भविष्यत् कालों में भी सम्प्रदान-संज्ञा हो सकती है। ध्यातव्य है कि वचन की अविवक्षा होने पर भी उसका बोध हो ही जाता है, जिससे 'विप्रेभ्यो गाः ददाति' में सम्प्रदान की व्यवस्था होती है। 'अभि' का अर्थ आभिमुख्य (उद्देश्य) है, जिससे भविष्यत् का बोध होता है और 'प्र' आरम्भार्थक है। अतएव जिस पदार्थ को कर्म के द्वारा भूत, वर्तमान या भविष्यत् काल में भी सम्बद्ध करने का उद्देश्य सूचित हो, वह सम्प्रदान है[3]।

क्रियासम्बन्ध से सम्प्रदान

कात्यायन पाणिनि के इस सूत्र में क्रिया के ग्रहण का प्रस्ताव करते हैं कि कर्म के अतिरिक्त क्रिया से भी सम्बध्यमान पदार्थ को सम्प्रदान की संज्ञा दी जाय। स्पष्टतः

---

१. द्रष्टव्य—श० कौ० २, पृ० १२०।

२. श० कौ० २, पृ० १६० तथा तत्त्वबोधिनी, पृ० ४४०।

३. 'तेन यं चाभिप्रैति, यं च[illegible]ष्यति, यं चाभिप्रागाद्—आभिमुख्यमात्रे सर्वत्र सिद्धं भवति' (भाष्य २, पृ० २५६)। (उद्योत)—'कर्मणा करणभूतेन क्रियारम्भे यमुद्दिशतीत्यर्थः। स चोद्देशः सर्वत्रास्तीति भावः'।

यहाँ अकर्मक क्रिया से ही कात्यायन का अभिप्राय है, क्योंकि सकर्मक क्रिया की स्थिति में सम्प्रदान को कर्म के ही द्वारा सम्बद्ध किया जा सकता है तब यह वार्तिक निरर्थक हो जाता[1]। इसलिए इस वार्तिक में अकर्मक क्रिया के ही उदाहरण दिये गये हैं— श्राद्धाय निगर्हते (श्राद्ध को लक्षित करके निन्दा करता है), युद्धाय सन्नह्यते (युद्ध के उद्देश्य से सज्जित होता है), पत्ये शेते (पति के निकट जाकर सोती है)[2]। जहाँ सकर्मक क्रिया का प्रयोग हो किन्तु कर्म श्रूयमाण नहीं हो वहाँ गम्यमान कर्म के आधार पर पाणिनि-सूत्र से ही सम्प्रदान-संज्ञा की व्यवस्था हो सकती है; जैसे—तस्मै (कथां) कथयति। विकल्पत: सकर्मक क्रिया को अकर्मक मानकर भी प्रस्तुत वार्तिक से काम लिया जा सकता है। यह दूसरा विकल्प इसलिए लिया गया है कि अनेक वैयाकरण सूत्रस्थ 'कर्मणा' शब्द में केवल दानक्रिया के कर्म का ग्रहण करते हैं, अन्य क्रियाओं के नहीं।

पतञ्जलि इस वार्तिक का प्रत्याख्यान करते हुए इसका प्रयोजन सूत्र द्वारा गतार्थ मानते हैं। लौकिक प्रयोग में क्रिया का अर्थ कर्म ही होता है, क्योंकि 'कां क्रियां करिष्यति' का अर्थ होता है—'किं कर्म करिष्यति'। किन्तु कर्म और क्रिया को पर्याय मानना ही पर्याप्त नहीं है। शास्त्रीय कर्म (कृत्रिम) तथा क्रियार्थक लौकिक (अकृत्रिम) कर्म दोनों की उपस्थिति होने पर शास्त्रीय कर्म का ही ग्रहण किया जायगा (कृत्रिमाकृत्रिमयो: कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति)। अत: जब तक उक्त क्रिया-बोधक कर्म को कृत्रिम सिद्ध नहीं किया जाता, हमारा उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। पतञ्जलि कहते हैं कि क्रिया भी कृत्रिम कर्म ही है, क्योंकि कर्म के रूप में क्रिया का प्रयोग सभी वैयाकरणों को अभीष्ट नहीं। कृत्रिम कर्म की उपपत्ति तभी होती है जब शास्त्रान्तर में या लोक में उसे वैसा प्रयुक्त न करें, केवल शास्त्र-विशेष में ही यह प्रयुक्त हो। 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' के अनुसार होनेवाला कर्म ही कृत्रिम है। यदि किसी प्रकार कर्म और क्रिया की पर्यायरूपता सिद्ध भी कर दें तो उक्त कर्मलक्षण वाले सूत्र की व्याख्या में असंगति होगी। उसी क्रिया के द्वारा (क्रियया) वही क्रिया (कर्म) कैसे ईप्सित हो सकती है ? काल तथा रूप के भेद से कोई पदार्थ विभिन्न कारकों की शक्ति ले सकता है, किन्तु एक समय में वही क्रिया कर्म तथा करण दोनों कारकों में नहीं हो सकती। आप्-धातु से बोध्य क्रिया का करण तो क्रिया है ही, यदि क्रिया वहाँ कर्म भी हो जाय तब तो असंगति की कोई सीमा ही नहीं।

किन्तु भाष्यकार असंगति में भी संगति सिद्ध करते हैं कि क्रिया के द्वारा भी क्रिया ईप्सिततम (आप्यमान) हो सकती है; यदि संदर्शन, प्रार्थना और अध्यवसाय

---

१ तुलनीय (ल० श० शे०, पृ० ४४१)—'ननु कर्मणेत्युक्तावकर्मकक्रियोद्देश्यस्य सम्प्रदानत्वं न स्यादत आह—क्रिययेति। कर्मरहितक्रिययेत्यर्थः'।

२. तुलनीय (हेलाराज ३।७।१३०)—"इह श्राद्धाय निगर्हते, युद्धाय सन्नह्यते, पत्ये शेते इत्यकर्मकधातुविषये कर्मणोऽभावात् तेनाभिप्रेयमाणस्य सम्प्रदानता न सिध्यतीति 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति वार्तिकेऽभिहितम्"।

क्रियाओं की प्रतीति हो। होता यह है कि दूरदर्शी व्यक्ति किसी पदार्थ की अपने मन में कल्पना करता है (संदर्शन), तब तद्विषयक इच्छा उसके मन में उठती है (प्रार्थना) और अन्त में निश्चय होता है कि कार्यारम्भ हो (अध्यवसाय)। तदनुसार प्रयास होता है और एक समय कार्य की समाप्ति भी हो जाती है। अन्त में फल मिलता है। जब तक सन्दर्शन, प्रार्थना और अध्यवसाय नहीं होते तब तक कोई भी व्यक्ति कोई कार्य करके उसका फल नहीं पा सकता। अतएव सभी क्रियाओं को प्राप्त करने की इच्छा कर्ता में रहती ही है। दूसरे शब्दों में—क्रिया भी कर्ता का ईप्सिततम है और इसीलिए कृत्रिम कर्म के रूप में सिद्ध होती है, क्योंकि 'ईप्सिततम' की कठिनाई दूर की जा सकती है (भाष्य २, पृ० २५७)।

कर्म तथा सम्प्रदान : भेदाभेद-विवक्षा

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ सम्प्रदान अभीष्ट हो वहाँ सन्दर्शनादि तथा मुख्य क्रिया के बीच भेद विवक्षित रहता है। इसीलिए उन प्रतीयमान क्रियाओं के द्वारा आप्यमान अथवा ईप्सित क्रिया को कृत्रिम कहने में कोई आपत्ति नहीं और उस क्रिया के द्वारा सम्बध्यमान पदार्थ को सम्प्रदान कहते हैं। 'पत्ये शेते' इत्यादि उदाहरणों में यही बात हुई है[१]। दूसरी ओर, सम्प्रदान की विवक्षा नहीं होने से उक्त भेद-विवक्षा भी नहीं होती। फलस्वरूप उत्पत्ति, विक्लित्ति इत्यादि किसी एक फल की निश्चित सीमा के अन्तर्गत एकीभूत क्रिया से जो पदार्थ व्याप्त होता है वह कर्म है; जैसे—ओदनं पचति, कटं करोति। अतएव क्रिया से सम्बद्ध किये जाने पर भी ओदन, कट आदि शब्दों में सम्प्रदानत्व नहीं है, अन्यथा 'क्रियया यमभिप्रैति०' इस वार्तिक से यहाँ भी उसकी प्राप्ति थी। गत्यर्थक धातुओं में भेद और अभेद दोनों की विवक्षा होती है। भेद-विवक्षा होने पर 'ग्रामाय गच्छति' और अभेद-विवक्षा की दशा में 'ग्रामं गच्छति' प्रयोग होता है[२]। इसी आधार पर भाष्यकार ने **'गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि'** (पा० सू० २।३।१२) का प्रत्याख्यान किया है कि द्वितीया तो कर्म में सिद्ध होती है और चतुर्थी सम्प्रदान में, क्योंकि 'ग्रामाय गच्छति' में गमन-क्रिया के द्वारा कर्ता ग्राम को सम्बद्ध करता है[३]।

इस भेद-विवक्षा पर भर्तृहरि की उक्ति उपजीव्यात्मक सन्दर्भ के रूप में सर्वत्र ग्राह्य रही है—

---

१. 'भाष्यमते तु यत्र सम्प्रदानत्वमिष्टं तत्र सन्दर्शनादीनां क्रियायाश्च भेदो विवक्ष्यते। ततश्च तैराप्यमाना क्रियापि कृत्रिमं कर्मेति सिद्धम्। तयाभिप्रेयमाणस्य सम्प्रदानत्वम्'। —श० कौ० २, पृ० १२१

२. वहीं।

३. द्रष्टव्य (कैयट २, पृ० ४९६)—'तत्र यदा गमनस्य सन्दर्शनादीनां च भेदो विवक्ष्यते तदा सन्दर्शनादिभिः क्रियाभिराप्यमानत्वात् कर्मणा गमनेनाभिप्रेयमाणस्य सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी भवति'।

'भेदस्य च विवक्षायां पूर्वां पूर्वां क्रियां प्रति ।
परस्याङ्गस्य कर्मत्वान्न क्रियाग्रहणं कृतम्' ॥ —वा० प० ३।७।१३१

जब प्रधान क्रिया से सन्दर्शनादि क्रियाएँ (जो व्यक्ति की प्रवृत्ति में अनिवार्य होने के कारण सन्निहित प्रतीत होती हैं) भिन्न रूप में विवक्षित होती हैं, तब प्रत्येक पूर्ववर्ती क्रिया के प्रति उसका उत्तरवर्ती अंग कर्म हो जाता है और 'कर्म के द्वारा अभिप्रेयमाण' ही तो सम्प्रदान है । इसीलिए 'क्रिया के द्वारा अभिप्रेयमाण' का पृथक् उपन्यास नहीं करके भाष्यकार ने उसे सूत्र के अन्तर्गत ही रखा है । मान लें कि प्रधान क्रिया 'गच्छति' है, इसके अंग हैं—संदर्शन, प्रार्थना तथा अध्यवसाय । संदर्शन-क्रिया के द्वारा प्रार्थना-क्रिया आप्यमान (ईप्सिततम) है, प्रार्थना के द्वारा अध्यवसाय । इन तीनों से ही प्रधान-क्रिया (गमन) आप्यमान है । दूसरे शब्दों में—प्रार्थना, अध्यवसाय तथा सम्पूर्ण गमन-क्रिया कर्म है । अब ऐसे कर्म से सम्बध्यमान पदार्थ को सरलता से सम्प्रदान की संज्ञा दी जा सकती है (हेलाराज २, पृ० ३३५) ।

ऐसी स्थिति में यह शंका की जा सकती है कि 'ओदनं पचति' में भी तथाकथित क्रियाकर्म (कृत्रिम कर्म के रूप में स्वीकृत क्रिया) से अभिप्रेयमाण पदार्थ अर्थात् ओदन को सम्प्रदानसंज्ञा दी जा सकती है जो असंगत है । इसका समाधान यह है कि क्रियाकर्म के रहने पर भी ओदन को कर्मसंज्ञा देने में बाधा नहीं होगी, यदि अभेद-विवक्षा हो—

'क्रियाणां समुदाये तु यदेकत्वं विवक्षितम् ।
तदा कर्म क्रियायोगात् स्वाख्ययैवोपचर्यते' ॥ —वा० प० ३।७।१३२

जब सन्दर्शनादि अवान्तर क्रियाओं का समुदाय परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से विद्यमान नहीं हो, समान कोटि में ही सभी की स्थिति हो, जिससे समुच्चय[1] होकर एक ही फल उत्पन्न करने के कारण सभी को प्रधान क्रिया अङ्गीकार कर ले, तब भेदबोधक क्रिया-कारकभाव की प्रतीति नहीं होती । फलतः ऐसी क्रिया कर्मभाव नहीं प्राप्त करती और ऐसी स्थिति में (पचति आदि) क्रिया से सम्बद्ध होनेवाला (ओदनादि) पदार्थ अपनी मूल आख्या (अर्थात् क्रिया के द्वारा ईप्सिततम होने से कर्मसंज्ञा) के द्वारा ही व्यवहृत होता है, सम्प्रदान-संज्ञा के द्वारा नहीं (हेलाराज ३, पृ० ३३६) । अभेद-विवक्षा वाले इस पक्ष में समुच्चय के द्वारा अभिधान होता है, इसीलिए अवान्तर क्रियाओं में अंग और अंगी का सम्बन्ध नहीं रहता । प्रधान क्रिया तथा इनके बीच अभेद का बोध होता है, अतएव क्रिया कर्म के रूप में नहीं होती ।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अभेद-विवक्षा में तो कर्म-संज्ञा यहाँ हुई; किन्तु यदि कोई भेद-विवक्षा करे तो क्या 'ओदन' को सम्प्रदान भी हो सकता है ? उत्तर है कि नहीं; विवक्षा नियत होती है, यादृच्छिक नहीं—

---

१. 'यत्र परस्परनिरपेक्षाणामनेकेषामेकस्मिन् क्रियादान्वयः स समुच्चयः' ।
—न्यायकोश, पृ० ९७४

'भेदाभेदविवक्षा च स्वभावेन व्यवस्थिता।
तस्माद् गत्यर्थकर्मत्वे व्यभिचारो न दृश्यते' ॥ —वा० प० ३।७।१३३

प्रसिद्ध लौकिक प्रयोगों के समर्थन के लिए व्याकरणशास्त्र उपाय की परिकल्पना करता है। अतएव इन प्रयोगों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भेद और अभेद की विवक्षा नियत है। 'पत्ये शेते' में केवल भेद की विवक्षा है तो 'ओदनं पचति' में केवल अभेद की। यदि 'ओदनाय पचति' प्रयोग होता तो हम विवक्षा को यादृच्छिक मान सकते थे, किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः लौकिक प्रयोग का आधार लेने से विवक्षा भी नियत-विषय या असार्वत्रिक मानी जाती है। इसीलिए गत्यर्थक धातुओं के साथ उभयविध प्रयोग (कर्म तथा सम्प्रदान में) देखकर (ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति) भेद और अभेद दोनों की वैकल्पिक विवक्षा मानने में उक्त नियम का (कि विवक्षा नियत-विषय है) उल्लंघन नहीं होता।

पतञ्जलि के प्रामाण्य पर इस समस्त मान्यता की पुष्टि भर्तृहरि को अभीष्ट है—

'विकल्पेनैव सर्वत्र संज्ञे स्यातामुभे यदि।
आरम्भेण न योगस्य प्रत्याख्यानं समं भवेत्' ॥ —वा० प० ३।७।१३४

यदि सर्वत्र विकल्प से ही दोनों संज्ञाएँ (कर्म तथा सम्प्रदान) हुआ करतीं, तो भाष्यकार 'गत्यर्थकर्मणि०' (२।३।१२) सूत्र को आरम्भ करके इसके साथ ही उसका प्रत्याख्यान नहीं करते, क्योंकि इसमें अतिप्रसंग होता। भला अवांछित पदार्थ का निरर्थक विस्तार करने से क्या लाभ है ? किन्तु भाष्यकार के मन में विवक्षा का नियम व्यक्त करने का उद्देश्य था। इसलिए आरम्भ तथा प्रत्याख्यान में कोई अन्तर न मानते हुए ही वे इसका खंडन करते हैं, जो युक्तिसंगत है। फलतः उपर्युक्त प्रकार से प्रयोगों में भेद और अभेद की नियत विवक्षा होती है। चेष्टा का बोध नहीं होने पर या अध्ववाचक शब्द रहने पर जो केवल द्वितीया होती है वह भी अभेद-विवक्षा के ही अन्तर्गत है—'मनसा पाटलिपुत्रं गच्छति, अध्वानं गच्छति'। यही स्थिति 'स्त्रियं गच्छति', 'अजां नयति' इत्यादि उदाहरणों की है, जो असम्प्राप्त कर्म के रूप में गत्यर्थ कर्म की व्याख्या करने से समर्थित होते हैं। इसके अनुसार गत्यर्थक धातुओं के कर्म का अर्थ है कि जो गमन-क्रिया के द्वारा अभी तक सम्प्राप्त नहीं हुआ है किन्तु सम्प्राप्त होगा[1]। स्त्री तथा अजा सम्प्राप्त कर्म हैं, क्योंकि इन्हें कर्ता पहले ही प्राप्त कर चुका है। चेष्टा होने पर भी इसीलिए यहाँ चतुर्थी की प्राप्ति नहीं होती। सम्प्राप्त तथा असम्प्राप्त कर्मों का विभाजन वास्तव में कर्म तथा सम्प्रदान का एक महत्त्वपूर्ण व्यावर्तक तत्त्व है। इसकी प्रतीति हमें तथाकथित वैकल्पिक उदाहरणों में भी होती है। तदनुसार 'गामं गच्छति' में गति के साथ लक्ष्य की सम्प्राप्ति का भी अर्थ रहता

१. 'असम्प्राप्तं यद्वस्तु गमनेन सम्प्रेप्स्यते तस्मिन् कर्मणीत्यर्थः'।
—प्रदीप (कैयट), पृ० ४९६

है, जब कि 'ग्रामाय गच्छति' में ग्राम के उद्देश्य से होने वाली गमन-क्रिया मात्र का बोध होता है।

'अध्वानं गच्छति' में भी अध्व सम्प्राप्त कर्म है, जिससे द्वितीया की प्राप्ति होती है। वस्तुतः व्यक्ति मार्ग पर पहले से ही प्राप्त है, अतः इसे शुद्ध रूप में कर्म ही कहा जायगा। दूसरी ओर, यदि मार्ग पहले से सम्प्राप्त नहीं हो और उसके उद्देश्य से कोई यात्रा कर रहा हो तो 'अध्वने गच्छति' अवश्य होगा। इस पर कात्यायन का वार्तिक भी है—'आस्थितप्रतिषेधश्च' (सं० १४२१)। अध्ववाचक शब्द का बोध होने पर सामान्यतया चतुर्थी का निषेध होता है, किन्तु यह तभी होगा जब मार्ग पहले से ही आक्रान्त या प्राप्त हो। जब उन्मार्ग से मार्ग पर जाना अभीष्ट हो तब 'उत्पथेन पथे गच्छति' या 'अध्वने गच्छति' यही रूप होता है। पतञ्जलि इस पर बल देते हैं[1]। इस प्रसंग में भर्तृहरि द्वारा भी इसका समर्थन द्रष्टव्य है—

> **'त्यागरूपं प्रहातव्ये प्राप्ये संसर्गदर्शनम्।**
> **आस्थितं कर्म यत्तत्र द्वैरूप्यं भजते क्रिया'**॥ —वा० प० ३।७।१३५

जिस मार्ग पर चल रहे हैं वह आस्थित है। गमनक्रिया के सम्बन्ध से वह कर्म है अर्थात् आस्थित कर्म है। ऐसे मार्ग से सम्बद्ध होनेवाली गमन-क्रिया के दो रूप होते हैं। अतिक्रमण के योग्य (हातव्य) मार्ग के विषय में क्रिया का रूप त्यागात्मक होता है, किन्तु जो भाग अभी अतिक्रान्त नहीं हुआ है, आसाद्य (प्राप्य) ही है, उसके विषय में क्रिया का रूप संसर्गात्मक होता है। इस त्यागरूप और ग्रहण रूप का अविच्छिन्न प्रवाह गमन-क्रिया में चलता रहता है। दोनों रूप गमन-क्रिया से अभिन्नतया सम्बद्ध रहते हैं और इससे आक्रान्त (आस्थित) 'अध्व' कर्मसंज्ञा का ही विषय रहता है। क्रिया के भेद के अभाव में, उपर्युक्त अभेद-विवक्षा की विधि से, यह 'अध्व' कर्मभूत क्रिया से सम्बद्ध नहीं होता और सम्प्रदान-संज्ञा का विषय नहीं बन सकता है। इसलिए 'अध्वानं गच्छति' प्रयोग होता है। 'ग्राम' आदि के साथ दूसरी बात है; वह अध्व के रूप में नहीं है कि अध्वगमन की प्रक्रिया उस पर लागू हो।[2] हाँ, यह बात अवश्य है कि जहाँ मार्ग अनास्थित हो वहाँ अवश्य ही दोनों विभक्तियाँ प्राप्त होती हैं। यह तभी होता है जब एक ही पथ पर गमन का बोध नहीं हो—उत्पथ से पथ पर जा रहा हो। ऐसी स्थिति में त्याग और ग्रहण इन दो रूपो का पार्थक्य स्पष्ट रहता है, क्रिया एकरूप नहीं होती। उत्पथ का त्याग और पथ का ग्रहण—क्रिया के ये ही दो रूप यहाँ प्रतीत होते हैं। एक ही मार्ग पर चलने की तरह दोनों रूपों का अविच्छिन्न प्रवाह प्रतीत नहीं होता।

---

१. "यो ह्युत्पथेन पन्थानं गच्छति, 'पथे गच्छति' इत्येव तत्र भवितव्यम्"। (उद्योत)—'एवकारो भिन्नक्रमः। इति तत्र भवितव्यमेवेत्यर्थः'।

—भाष्य २, पृ० ४९५

२. द्रष्टव्य—हेलाराज ३, पृ० ३३७-३८।

कर्म और सम्प्रदान के इस विनिमय-विवेचन से सम्बद्ध ही एक वार्तिक है—**'कर्मणः करणसंज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा'** (सं० १०९६)। इसमें कर्म को करण-संज्ञा तथा सम्प्रदान को कर्मसंज्ञा होने की बात कही गयी है; यथा—'पशुं रुद्राय ददाति' के अर्थ में 'पशुना रुद्रं यजते' (रुद्र-देवता का उद्देश्य से पशु का त्याग करता है)। अग्नि में पशु का प्रक्षेप होता है जिसे रुद्र के उद्देश्य से दिया जाता है। यहाँ यजन-क्रिया पूजार्थक नहीं है, दानार्थक है। कैयट इसीलिए इस वार्तिक को छन्दो-विषयक मानते हैं, क्योंकि लोक में तो उक्त क्रिया पूजा के अर्थ में होती है जिससे पशु कारण के ही रूप में सिद्ध है। वैदिक उदाहरण होने के कारण भट्टोजिदीक्षित इसे सुप् का व्यत्यय मानकर खण्डनीय कहते हैं (श० कौ० २, पृ० १२१)।

दानक्रिया तथा सम्प्रदान : अन्वर्थसंज्ञकता

पाणिनितन्त्र में सम्प्रदान की अन्वर्थसंज्ञकता पर दो स्पष्ट मत हैं। एक ओर पतञ्जलि की मान्यता है कि सम्प्रदान महासंज्ञा होने पर भी अन्वर्थ-संज्ञा नहीं। दूसरी ओर भर्तृहरि, जयादित्य, भट्टोजिदीक्षितादि इसे अन्वर्थसंज्ञा मानते हैं। केवल दानार्थक क्रिया से सम्बद्ध मानने से ही सम्प्रदान की अन्वर्थता होती है; प्रत्युत सम्यग् रूप से प्रदान करना इसमें निहित है। दान के अन्तर्गत स्वत्वनिवृत्ति और परस्वत्वा-पादन—ये दो क्रियाएँ हैं। जब तक ये दोनों क्रियाएँ नहीं होती तबतक सम्यक् प्रदान नहीं कहा जा सकता। तन्त्रान्तर में आचार्यों ने पूजा, अनुग्रह तथा काम्या को दान के कारणों में लिया है।[1] पुरुषोत्तम देव के अनुसार भाव को शुद्ध रखते हुए गुरु, देवता या ब्राह्मण का सम्मान जो ध्यान, प्रणाम तथा दान के द्वारा किया जाय उसे 'पूजा' कहते हैं। कुरूप, प्रमत्त, धनहीन या दयनीय को, घृणा का प्रदर्शन किये बिना, जो दान और सम्मान से पूर्ण किया जाता है वह 'अनुग्रह' है। इसी प्रकार कुछ फल के उद्देश्य से दान, यज्ञ, जप आदि जो कायिक कर्म किये जाते हैं, वे मनीषियों के द्वारा 'काम्या' के अधीन स्वीकृत किये गये हैं।[2]

यद्यपि पतञ्जलि मुख्यवृत्ति से अन्वर्थसंज्ञकता का निरासन नहीं करते; तथापि उनके द्वारा इस मत के ग्रहण के पक्ष में ये युक्तियाँ हो सकती हैं—(क) 'क्रियाग्रहण' वाले वार्तिक का खण्डन करने के कारण यह प्रतीत होता है कि पतञ्जलि सम्प्रदान के ग्रहण में सम्यक् प्रदान तो दूर रहा, दानमात्र के ही ग्रहण में उदासीन हैं। वे तो सकर्मक-अकर्मक सभी क्रियाओं का ग्रहण सूत्र में ही कर लेना चाहते हैं, केवल दान-क्रिया का नहीं। स्पष्ट है कि सम्प्रदान दान-क्रिया तक ही सीमित नहीं है। (ख) 'गत्यर्थकर्मणि०' (पा० २।३।१२) की व्याख्या में, गत्यर्थक धातुओं के

---

१. पूजानुग्रहकाम्याभिः स्वद्रव्यस्य परार्पणम्।
दानं, तस्यार्पणस्थानं सम्प्रदानं प्रकीर्तितम्॥
—रामतर्कवागीश, मुग्धबोध-टीका (सू० २९४)।

२. पुरुषोत्तम, कारकचक्र, पृ० १०९।

साथ भी सम्प्रदान होता है, इसकी पुष्टि वे करते हैं। (ग) अब सम्यक् प्रदान की बात लें। भाष्यकार के कुछ प्रयोग इसका भी अवसर समाप्त कर देते हैं; यथा—'न शूद्राय मतिं दद्यात्, खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति'। इन दोनों उदाहरणों को सम्यक् प्रदान के निकष पर रखें तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। अपने स्वामित्व का त्याग करके दूसरे को उसे देने का अर्थ किसी में नहीं।[1]

भर्तृहरि तथा हेलाराज के अनुसार सम्प्रदान में सम्यक् प्रदान का अर्थ निहित रहने से यह अन्वर्थ संज्ञा है; यद्यपि क्रिया-ग्रहण वाले वार्तिक को भी वाक्यपदीय में कारिकाबद्ध किया गया है। किन्तु इसे भाष्यकार की व्याख्यामात्र से प्रयोजन है, उनके समर्थन से नहीं। हेलाराज तो स्पष्ट कहते हैं—'अन्वर्थत्वात्सम्प्रदानशब्दस्य त्यागाङ्गमिति लक्षणलाभः' (पृ० ३३१)। भर्तृहरि का सम्प्रदान-लक्षण है—**'त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम्'**। दिये जाने वाले पदार्थ की स्वत्वनिवृत्ति करके उस पर दूसरे का स्वत्व आपादित करना त्याग कहलाता है। इस त्याग का अंग अर्थात् निमित्त सम्प्रदान है। किन्तु केवल इतना कहने से हाथ आदि को भी सम्प्रदान हो जा सकता है, इसलिए विशेषण के रूप में 'कर्मणा ईप्सितम्' भी कहा गया है। जो कर्म त्याग का विषय है उसके द्वारा कर्ता जिसे प्राप्त करना चाहे वह सम्प्रदान है। यह वस्तुतः पाणिनी-सूत्र का ही प्रकारान्तर से कथन है, किन्तु पाणिनि के 'कर्मणा' शब्द ने विभिन्न क्रियाओं के कर्म के रूप में इसे व्याख्यात करने का अवकाश रख छोड़ा है, जब कि भर्तृहरि इसे 'त्यागकर्मणा' या 'दानकर्मणा' के रूप में सीमित कर देते हैं। यही अर्थ काशिका में जयादित्य को तथा दीक्षित को भी अपने ग्रन्थों में स्वीकार्य है।

सम्प्रदान के भेद

सम्प्रदान का लक्षण निरूपित करने वाली कारिका में भर्तृहरि यह भी दिखलाते हैं कि त्याग के उक्त निमित्त किन रूपों में सम्प्रदान-कारक का रूप धारण करते हैं—

'अनिराकरणात्कर्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम्।
प्रेरणानुमतिभ्यां च लभते सम्प्रदानताम्'॥ —वा० प० ३।७।१३१

अर्थात् त्याग का निमित्त पदार्थ जिसे कर्ता अपने कर्म के द्वारा प्राप्त करने की इच्छा करे, सम्प्रदान-कारक कहलाता है और यदि वह निमित्त कर्ता के द्वारा किये गये उक्त त्याग का—(१) निराकरण नहीं करे, (२) उसकी प्रेरणा दे या (३) उसे वैसा करने की अनुमति दे—ये तीनों कारण सम्प्रदान के भेद के आधार हैं।

(१) **अनिराकरण**—जब पदार्थ ग्रहण करनेवाला (सम्प्रदान) दिये गये द्रव्य का निराकरण (तिरस्कार) नहीं करता, तब सम्प्रदान-व्यापार होता है। यथा—उपाध्यायाय गां ददाति। त्यागा जानेवाला कर्म (गौ) उपाध्याय से सम्बद्ध होता है, क्योंकि उन्हीं के अभिप्राय या उद्देश्य से वस्तु का त्याग हो रहा है। ये उपाध्याय

१. कैयट २, पृ० २५७।

अपने से सम्बद्ध होनेवाले कर्म का तिरस्कार नहीं करते और न ही वे उसका त्याग करने वाले व्यक्ति को 'दान मत करो' ऐसा कहते हैं। यदि निराकरण करते तो त्याग सम्पन्न नहीं होता। निराकरण होने पर परस्वत्वापादन नहीं होता और मना करने पर स्वत्वनिवृत्ति नहीं होती। हेलाराज अनुमति को भी इसी में अन्तर्भूत करते हैं। इसीलिए उनके अनुसार उपाध्याय की अनुमति भी इस सम्प्रदान-व्यापार में उपलब्ध होती है।

किन्तु हेलाराज की यह व्याख्या-विधि भ्रामक है। स्पष्टतः हरि ने तीन पृथक् कारण रखे हैं, जिन्हें हेलाराज—(१) अनिराकरण-सह-अनुमति तथा (२) प्रेरणा के द्वैविध्य में स्वीकृत कर पृथक् दिशा में अग्रसर होते हैं। इसका संशोधन कारकचक्र, शब्दकौस्तुभ, भूषणादि ग्रन्थों में हुआ है। इनके अनुसार अनिराकर्तृ सम्प्रदान वह है जो न दान की प्रार्थना (याचना) करे, न अनुमति दे और न इस क्रिया का निराकरण करे जैसे—सूर्यायार्घ्यं ददाति[1]। निर्जीव, मूक तथा अमूर्त सम्प्रदान इसी भेद में लिये जा सकते हैं।

(२) **प्रेरणा**—जब कर्ता को दान की प्रेरणा सम्प्रदान से मिले या याचनापूर्वक दान-क्रिया का प्रवर्तन हो[2] तब भी त्याग में सहायक होने के कारण त्याग का निमित्त सम्प्रदान कारक होता है, जैसे—'विप्राय गां ददाति'। यहाँ प्रतीति होती है कि विप्र गोदान के लिए अपने यजमान को प्रेरित करता है। इसी प्रकार 'भिक्षवे भिक्षां ददाति' में याचना के कारण त्याग सम्पन्न होता है। इस सम्प्रदान को 'प्रेरक' कहते हैं।

(३) **अनुमति**—जब कर्ता के द्वारा किये गये त्याग की प्रेरणा नहीं हो, किन्तु त्याग के पश्चात् सम्प्रदान उसे स्वीकार कर ले और यह भी कहे कि अच्छा किया, तब उक्त त्याग का सम्पादन अनुमति से जाना जाता है। यथा—विप्राय गां ददाति। अनुमति के द्वारा त्याग सम्पन्न होने पर सम्प्रदान को 'अनुमन्तृ' कहते हैं। दिये गये पदार्थ को स्वीकार कर लेने पर अनुमति तथा अस्वीकार नहीं करने पर अनिराकरण समझा जाता है। इस प्रकार दोनों को एकरूप समझने का भ्रम होता है। किन्तु दूसरे दृष्टिकोण से विचार करने पर दोनों में भेद का प्रकाशन होता है। अनुमति में भावरूप स्वीकृति होती है, यह त्याग के पूर्व ही निर्धारित होती है। दूसरी ओर अनिराकरण की प्रतीति स्वत्वनिवृत्ति या त्याग के पश्चात् होती है तथा वह निषेध रूप क्रिया है।

अनिराकरण तथा परस्वत्वापादन में विरोध की कल्पना नहीं करनी चाहिए। यह निश्चित है कि दोनों स्वत्वनिवृत्ति के बाद ही सम्भव है। परस्वत्वापादन में तभी

---

१. 'नात्र सूर्यः प्रार्थयते, न वानुमन्यते, न च निराकरोति'।
—श० कौ० २, पृ० १२२

२. 'याच्ञापूर्वके च दाने प्रेरणमभ्यर्थनया दाने प्रवर्तनमपि सम्प्रदानव्यापारः।
—हेलाराज ३, पृ० ३३२

बाधा हो सकती है जब दूसरे पक्ष (सूर्य, देवतादि) से निराकरण या अस्वीकार हो। तथापि अनिराकर्तृ सम्प्रदान स्वरूपतः अव्याख्येय होने से नैयायिकों के निमित्तकारण के समान[1] परिशेष-विधि से समझा जा सकता है। यही कारण है कि अन्य सम्प्रदानों के विषय में मितभाषी (उदाहरण से ही संतुष्ट) रहने पर भी अनिराकर्तृ सम्प्रदान का उदाहरण देकर परिशेष-विधि की सम्पूर्ण औपचारिकताओं का निर्वाह करने में परवर्ती आचार्य पीछे नहीं रहते।

सम्प्रदान में दान-क्रिया का महत्त्व एक दूसरे प्रसंग में भी सिद्ध हो सकता है। हेलाराज यह पूर्वपक्ष उठाते हैं कि जब दानक्रिया सम्प्रदान की सिद्धि के लिए प्रस्तुत की जाती है तब 'तादर्थ्ये चतुर्थी' (पा० २।३।१३ का वार्तिक) से ही काम क्यों नहीं लिया जाय ? व्यर्थ सम्प्रदान-संज्ञा की कल्पना करके विस्तार क्यों किया जाय ? तादर्थ्य से भले ही शास्त्रतः प्रकृति-विकृति-भाव अथवा कार्य-कारण-भाव प्रतीत होता हो,[2] किन्तु उसके सामान्य अर्थ को लेकर ऐसी शंका की जा सकती है। जो गाय उपाध्याय को दी जाती है वह उपाध्याय के लिए ही होती है—अतः तादर्थ्य में इसका अन्तर्भाव सम्भव है[3]। किन्तु यह शंका यथार्थ नहीं है, क्योंकि दानक्रिया और सम्प्रदान में तादर्थ्यसम्बन्ध विपरीत दिशा में है। दानक्रिया की निष्पत्ति के लिए सम्प्रदान है, उस क्रिया में साधनरूप होने से ही यह कारक है। ऐसी बात नहीं कि दानक्रिया सम्प्रदान के उद्देश्य से प्रवृत्त होती है। सम्प्रदान के लिए तो वस्तुतः दिया गया कर्म ही विद्यमान रहता है। इस प्रकार वाक्यार्थ के रूप में प्रयुक्त दानक्रिया और तादर्थ्य में भेद है, एकरूपता नहीं[4]। समानता तभी सम्भव थी जब दानक्रिया सम्प्रदान के लिए होती जो असंगत है। यद्यपि पतंजलि भी तादर्थ्य से सम्प्रदान की रक्षा करते हैं किन्तु उनकी युक्ति प्रधान सम्प्रदान से सम्बद्ध नहीं है। वे रुचि-आदि के अर्थ में होनेवाली सम्प्रदान-संज्ञा की रक्षा के लिए उसमें तथा तादर्थ्य में भेद करते हैं[5]। किन्तु सम्प्रदान-संज्ञा का विधान एक दूसरे कारण से भी आवश्यक है। **'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने'** (पा० ३।४।७३) सूत्र में उक्त संज्ञा-शब्द का ग्रहण किया गया है जो प्रधान सम्प्रदान से ही सम्बद्ध है। 'दाशन्ति तस्मै इति दाशः, आगताय तस्मै दातुं गां घ्नन्ति इति

१. 'निमित्तकारणं तदुच्यते यन्न समवायिकारणं नाप्यसमवायिकारणम्। अथ च कारणम्'। —तर्कभाषा, पृ० ३९

२. 'तदर्थस्य भावस्तादर्थ्यमिति कार्यकारणसम्बन्ध उच्यते, समासकृत्तद्धितेषु भावप्रत्ययेन सम्बन्धाभिधानमिति वचनात्'। —कैयट २, पृ० ४९७

३. 'यो ह्युपाध्यायाय गौर्दीयते, उपाध्यायार्थः स भवति। तत्र तादर्थ्यं इत्येव सिद्धम्'। —भाष्य २, पृ० ४९८

४. तुलनीय—(हेलाराज ३, पृ० ३३२) 'दानक्रियार्थं हि सम्प्रदानम्, न तु दानक्रिया तदर्था, कारकाणां क्रियार्थत्वात्'।

५. 'अवश्यं सम्प्रदानग्रहणं कर्तव्यम्। यान्येन लक्षणेन सम्प्रदानसंज्ञा तदर्थम्—छात्राय रुचितम्। छात्राय स्वदितमिति'। —भाष्य २, पृ० ४९८

गोघ्नोऽतिथिः'— यहाँ दाश और गोघ्न दोनों ही सम्प्रदान हैं, जिसमें इनका निपातन हुआ है। यही नहीं, यह निपातन दानार्थक सम्प्रदान में ही हुआ है। यदि सम्प्रदान का कार्य तादर्थ्य से ही सम्पन्न होता तो इस सूत्र में उसी का उल्लेख करना अधिक संगत होता। यहाँ पतञ्जलि जो अप्रधान सम्प्रदान के लिए संज्ञा-ग्रहण मानते हैं, वह वस्तुतः तादर्थ्य का व्यापक अर्थ लेने के कारण है। इन पंक्तियों की व्याख्या में नागेश भी हेलाराज का समर्थन करते हैं कि दान का कर्म (गवादि) तो सम्प्रदानार्थक है, तथापि दानक्रिया सम्प्रदानार्थक नहीं होती इसलिए चतुर्थी विभक्तिवाले शब्द के अर्थ का अन्वय दान-क्रिया से नहीं हो सकेगा—इसी के लिए सम्प्रदानसंज्ञा का विधान है (उद्योत, वहीं)। उदाहरणार्थ गाय उपाध्याय के लिए है किन्तु दानक्रिया तो वैसी नहीं है। तब दानक्रिया से उपाध्याय का अन्वय कैसे हो? इसका समाधान सम्प्रदान-संज्ञा से होता है जो तत्सम्प्रदानक दान के रूप में अन्वय करा देती है।

इस प्रकार इस मत में दानक्रिया की ही निष्पत्ति में सम्प्रदान होता है और यह क्रिया स्वत्वनिवृत्ति के साथ परस्वत्वापादन के रूप में प्रसिद्ध है। यहाँ एक आशंका होती है कि यह परस्वत्वापादन अपने स्वत्व के रहते ही होता है या उसके समाप्त हो जाने पर? यदि अपने स्वत्व के रहते ही होता है तो दो व्यक्तियों के स्वत्वों की युगपत् स्थिति असम्भव होने के कारण असंगति होगी। दूसरी ओर, यदि अपने स्वत्व की निवृत्ति हो जाने पर कोई दूसरे को उसका स्वत्व समर्पित करे तो यह भी असम्भव है। जिस वस्तु को वह छोड़ चुका है उस पर उसका अधिकार ही कहाँ है कि वह दूसरे को समर्पित कर सके[1]।

यह आशंका वस्तुतः दान का एकांगी अर्थ ग्रहण करने से ही उत्पन्न होती है। 'ददाति' क्रिया का उचित अर्थ है अपने स्वत्व के त्याग से आरम्भ करके परस्वत्व के आधान-पर्यन्त एक क्रिया-समूह। पूर्वार्ध कारण है, उत्तरार्ध कार्य। दोनों का संयुक्त प्रयोग 'दान' कहलाता है। केवल स्वत्व का परित्याग अथवा केवल परस्वत्वापादन दान नहीं है। दोनों के बीच अन्तराल पड़ने से उक्त दोष को अवसर मिल जाता है। सामुदायिक अर्थ लेने पर दोनों के बीच व्यवधान नहीं होता, जिससे दान का प्रयोजन सिद्ध होता है।

कुछ संशयात्मक उदाहरण

अब हम सम्प्रदान के कतिपय संशयात्मक उदाहरणों को दान की इस कसौटी पर कसें—

---

१. 'स्वस्वत्वे विद्यमाने हि परस्वत्वं न विद्यते।
परित्यज्य प्रदानं चेदौदासीन्यान्न सिध्यति'॥
—पुरुषोत्तम, कारकचक्र, पृ० ११०

(१) **रजकाय वस्त्रं ददाति**—रजक को प्रक्षालनार्थ वस्त्र प्रदान किया जाता है। इस प्रदान में स्वत्वनिवृत्ति-पूर्वक परस्वत्वापादन का बोध नहीं रहने से विधिवत् त्याग की औपचारिकता का निर्वाह नहीं होता, अतः रजक सम्प्रदान नहीं हो सकता। अतः उक्त प्रयोग को असाधु मानते हुए प्रायः सभी आचार्य यहाँ 'ददाति' का गौण प्रयोग स्वीकार करते हैं। हेलाराज का कथन है कि त्याग ऐसा हो जिसमें त्याग करने वाला व्यक्ति उस द्रव्य से अपनी ममता समाप्त कर दे तथा सम्प्रदान उसका उपयोग स्वेच्छा से कर सके। ऐसी बात यहाँ नहीं है। इसलिए सम्बन्ध-सामान्य से यहाँ षष्ठी विभक्ति ही उचित है—'रजकस्य वस्त्रं ददाति'। यही बात 'घ्नतः पृष्ठं ददाति' (मारने वाले व्यक्ति की ओर पीठ कर देता है) में भी है (हेलाराज ३, पृ० ३३२)।

किन्तु भाष्यकार के मत में रजक सम्प्रदान हो सकता है, क्योंकि उनके अनुसार सम्प्रदान अन्वर्थसंज्ञा नहीं। अतः दानक्रिया के कर्म के द्वारा अभिसम्बद्ध करने में स्वत्वनिवृत्ति कोई अनिवार्य तत्त्व नहीं है। 'रजकाय' बिल्कुल शुद्ध प्रयोग है। नागेश यहाँ 'ददाति' का अर्थ 'अधीनीकरण' (कुछ समय के लिए मलनाशार्थ प्रदान करना) मानकर ऐसे प्रयोग में कोई आपत्ति नहीं देखते[1]। 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' का प्रयोग शेष-षष्ठी से समर्थनीय है। यह नहीं कि रजक के सम्प्रदानत्व पर किसी प्रकार की आपत्ति है। रजक के सम्प्रदानत्व के विषय में पतञ्जलि तथा नागेश की सहमति विशेष ध्यान का विषय है।

(२) **न शूद्राय मतिं दद्यात्**—इस प्रयोग में भी दानक्रिया की मुख्यार्थता एवं गौणार्थता के प्रश्न पर मतभेद है। हेलाराज का विचार है कि मति-सन्तान (बुद्धि-राशि) का अपक्रमण (पार्थक्य) होने से बुद्धि का उपयोग दूसरे व्यक्ति के लिए निर्विवाद रूप से सिद्ध है। ज्ञान-प्रदान करने की क्रिया में ज्ञान देनेवाले व्यक्ति देय ज्ञान पर से अपनी ममता का आवरण पृथक् करके सम्प्रदान को उस ज्ञान के उपयोग का पूरा अधिकार दे देता है। इसीलिए तो पार्थक्य का बोध धारा-प्रवाह के रूप में होने से 'उपाध्यायादागमयति' जैसे प्रयोगों में अपादान-संज्ञा की सिद्धि होती है। इसमें उपाध्याय अपादान है तथा बुद्धिसमूह का एकदेश आंशिक रूप से परित्यक्त होता है। फलतः स्वत्वनिवृत्ति-क्रिया के अंग के रूप में परस्वत्वापादन-क्रिया (उपात्तविषय अपादान का रूप) का बोध होने से 'ददाति' की औपचारिकता पूरी हो जाती है और यह क्रिया मुख्यार्थ में ही रहती है। शूद्र की (निषेधमूलक) सम्प्रदानता में इसलिए कोई असंगति नहीं है क्योंकि स्वत्वनिवृत्ति तथा परस्वत्वापादन का सम्मिलित अर्थबोध होता है। दूसरे लोगों का कथन है कि यहाँ दातृ-सम्बन्ध का नियमतः ज्ञान नहीं होता क्योंकि ज्ञानदाता अपने से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर लेता। इसलिए वे लोग 'ददाति' का गौणप्रयोग मानते हैं (हेलाराज, वहीं)।

---

1. द्रष्टव्य—प० ल० म०, ज्योत्स्ना, पृ० १८१।

(३) **वराय कन्यां ददाति**—कन्या का पिता जब उसके विवाह के समय कन्या-दान करता है, तब उसमें भी दानक्रिया की औपचारिकता पूरी हो जाती है तथा इसलिए दान का मुख्य अर्थ ही लिया जाता है, गौण नहीं। यद्यपि इसमें पिता तथा पुत्री के मध्य जन्य-जनक-सम्बन्ध नहीं टूटता, किन्तु उनमें स्वस्वामिभाव की निवृत्ति तो हो ही जाती है और यह सम्बन्ध वर-कन्या के बीच स्थापित हो जाता है (हेलाराज, वहीं)। सारस्वतकार यहाँ कन्या के गोत्र तथा ज्ञातित्व के सद्यः परिवर्तन के कारण पिता की स्वत्वनिवृत्ति मानते हैं। इसलिए वर की सम्प्रदानता एक तथ्य है[1]।

(४) **प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली** (वा० रामायण, यु० ९।२१)—यहाँ रावण का सीता पर कोई वैध अधिकार नहीं है कि वह राम को दान के रूप में उन्हें समर्पित करे। इससे यह कल्पना हो सकती है कि दान के निमित्त कर्ता को वास्तविक अधिकार नहीं रहने पर भी दान-क्रिया की सिद्धि हो सकती है, यदि स्वत्वनिवृत्ति और परस्वत्वापादन की उपर्युक्त औपचारिकता का निर्वाह होता हो। किन्तु वैयाकरणों के सम्प्रदाय में यह असह्य है। इसीलिए कातन्त्रटीका में सुषेण कविराज विवक्षा-शास्त्र का आश्रय लेकर इसका समर्थन करते हैं। रावण को वैध अधिकार वस्तुतः नहीं रहने पर भी वक्ता को वैसा कहने की इच्छा है[2]। वास्तव में वक्ता कहना चाहता है कि सीता राम को श्रद्धापूर्वक लौटा दी जाय। विवक्षा के अधीन स्वत्व के अन्य उदाहरण भी रामायण में हैं—

'धनानि रत्नानि विभूषणानि वासांसि दिव्यानि मणींश्च चित्रान्।
सीतां च रामाय निवेद्य देवीं वसेम राजन्निह वीतशोकाः'॥

—वा० रा०, यु० १५।१४

प्रश्न है कि 'दान' का मुख्यार्थ यहाँ है या नहीं ? व्यवहार में हम देखते हैं कि चुराई हुई वस्तु पर अपहर्ता का नियंत्रण तथा अधिकार भी रहता है। अतः रावण का सीता पर तब तक के लिए तो अधिकार है—ऐसा मान लें। किन्तु धर्मशास्त्र के अनुसार जिस पदार्थ को उसके स्वामी ने बेचा नहीं हो (चुराया गया या न्यास के रूप में रखा हुआ पदार्थ हो) वह अपने पूर्वस्वामी के पास चला जाता है ('द्रव्यमस्वामिविक्रीतं पूर्वस्वामिनमाप्नुयात्')। कुछ लोग यहाँ 'अस्वामी' का अर्थ अयोग्य या 'अवैध स्वामी' लेते हैं जिससे 'पूर्व' शब्द का विशेषणत्व सुरक्षित रहे। तदनुसार अवैध स्वामी यदि उसे बेच भी दे तो भी वह पूर्वस्वामी (मूलस्वामी) का ही रहता है, चोर के द्वारा बेचा हुआ पदार्थ मूलस्वामी को दिलाया जाता है। परिणामतः

१. विवाह के पर्याय के रूप में भी इसीलिए सम्प्रदान-शब्द का प्रयोग हुआ है; यथा—'सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका (दारिका)'। —ऐ० ब्रा० ३३।१।५ सायण०

२. 'रावणस्य मैथिल्यां स्वत्वाभावेऽपि स्वत्वविवक्षया प्रयोगस्य साधुत्वम्'।
—व्या० द० इति० पृ० ३०२ पर उद्धृत

रावण को अवैध स्वामी होने के कारण सीता को न बेचने का अधिकार है न प्रदान का। प्रदान गौण अर्थ में ही है तथा रावण का स्वत्व विवक्षित है, वास्तविक नहीं[1]।

(५) **खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति**—भाष्य के इस प्रयोग में हेलाराज दान का मुख्यार्थ मानते हैं। वास्तव में यहाँ चपेटा (थप्पड़) पर स्वामित्व की वास्तविक सत्ता प्रतीत नहीं होती, किन्तु शिष्य का उपकार करने का उद्देश्य विद्यमान रहने से चपेटा मारने वाले गुरु में उसका स्वामित्व किसी-न-किसी रूप में उद्दिष्ट ही है। चपेटा शिष्य में तत्काल तो प्रतिकूल वेदना उत्पन्न करती है (दुःखद है), अतः उसका तात्कालिक उपयोग तो शिष्य के लिए नहीं है, किन्तु विद्याभ्यास में तल्लीनता-रूप दूरवर्ती फल के द्वारा चपेटा का परोपयोग निःसन्दिग्ध है। चपेटा सहने पर ही शास्त्राभ्यास की योग्यता या प्रवृत्ति मिलती है। अतः यहाँ भी स्वत्व-निवृत्ति और परस्वत्वापादन के रूप में दान का अर्थ सुव्यवस्थित है[2]।

नव्यन्याय में सम्प्रदान-विवेचन : उद्देश्यत्व

पाणिनि के द्वारा 'अभिप्रैति' के प्रयोग से नव्यन्याय तथा तत्प्रभाविक ग्रन्थों में सम्प्रदान का अर्थ उद्देश्यत्व माना गया है[3]। किन्तु उद्देश्यमात्र को सम्प्रदान नहीं कहा जा सकता, इसलिए कौण्डभट्ट उद्देश्यविशेष को सम्प्रदान कहते हैं। इस विशेष का निर्वचन भवानन्द के शब्दों में इस प्रकार है—**'तत्क्रियाकारणीभूत-कर्मजन्यफल-भागित्वेन उद्देश्यत्वं सम्प्रदानत्वम्'**। तदनुसार किसी क्रिया के (दानादि के) कारण के रूप में जो गवादि कर्म हो उससे उत्पन्न होने वाले फल का अधिकारी रहते हुए जो उद्देश्य हो वही सम्प्रदान है। यही उद्देश्य की विशिष्टता है। इस लक्षण में स्थित 'तत्क्रियाकारणीभूत' विशेषण 'चैत्रो ग्रामं गच्छति' जैसे उदाहरणों में चैत्रादि के सम्प्रदानत्व का वारण करता है। यहाँ गमन-क्रिया के कर्म (ग्राम) से उत्पन्न होने-वाले सुखादि फलों के अधिकारी (उपभोक्ता) के रूप में चैत्र उद्देश्य तो है, किन्तु ग्राम गमन-क्रिया का कारण नहीं हो सकता। गमन के एकदेश संयोग का वह कारण हो सकता है, गमनमात्र का नहीं। जहाँ कर्म क्रिया का कारणीभूत नहीं हो वहाँ सम्प्रदान नहीं हो सकता[4]। 'विप्राय गां ददाति', 'वृक्षेभ्यो जलं सिञ्चति' इत्यादि उदाहरणों में लक्षण का समन्वय पूर्णतः हो जाता है क्योंकि दान, सेकादि क्रियाओं का कारण गो, जलादि कर्म है। इस कर्म से उत्पन्न फल के अधिकारी के रूप में विप्र, वृक्षादि उद्देश्य हैं, अतः सम्प्रदान हैं।

---

१. गुरुपद हालदार, व्या० द० इति०, पृ० ३०२।

२. हेलाराज ३, पृ० ३३३।

३. 'उद्देश्यः सम्प्रदानचतुर्थ्यर्थः'। —वै० भू०, पृ० ११२

४. 'ग्रामं गच्छतीत्यत्र गमनकर्मजन्यफलभागित्वेनोद्देश्यस्य चैत्रादौ सत्त्वात्, चैत्रादेस्तत्क्रियायां सम्प्रदानत्वाभावात् तद्वारणाय कारणीभूतेति'।

—कारकचक्र, पृ० ५५-६

यदि इस लक्षण में 'कर्म' पद का निवेश नहीं हो तो कर्म को ही सम्प्रदानसंज्ञा होने लगे; जैसे —ओदनं पचति। यहाँ पाक-क्रिया-रूप कारण से उत्पन्न विक्लित्ति फल के अधिकारी के रूप में ओदन ही उद्देश्य है, अतः उसे सम्प्रदान कहते, किन्तु पाक-क्रिया के कारणरूप 'कर्म' से उत्पन्न फल का वह अधिकारी नहीं। भाष्यकार भी 'कर्मणा' के पदकृत्य में ऐसी ही बात कह चुके हैं।

इच्छाविषयत्व

गदाधर इस लक्षण को आगे बढ़ाते हुए 'कर्ता के अभिप्रेत अथवा इच्छाविषय' के रूप में सम्प्रदान का निर्वचन करते हैं। उनके अनुसार सम्प्रदान मुख्य तथा गौण दोनों प्रकार से होता है, क्योंकि दानक्रिया कहीं तो अपने मुख्यार्थ (त्याग) में रहती है, किन्तु कहीं-कहीं उस रूप में नहीं भी रहती। इसके अतिरिक्त दानेतर क्रियाओं में भी, पाणिनि के दूसरे सूत्रों से सम्प्रदान की प्राप्ति होती है जो गौण सम्प्रदान कहलाता है। इन दोनों ही स्थितियों में, क्रिया के कर्म के सम्बन्धी के रूप में जो कर्ता को अभिप्रेत हो वही सम्प्रदान है[1]। 'ब्राह्मणाय गां ददाति' में दानक्रिया के कर्म (गौ) का सम्बन्धी ब्राह्मण है। गौ को ब्राह्मण से सम्बद्ध कर देना कर्ता को अभीष्ट है, अतएव वह सम्प्रदान है। क्रियाजन्य फल के आश्रय को क्रियाकर्म कहते हैं। यहाँ फल स्वत्व के रूप में है अतः स्वत्वशालित्व गौ में है, वह स्वत्व का आश्रय है। दानक्रिया से यही स्वत्वरूप फल उत्पन्न होता है। यहाँ कुछ लोगों की शंका है कि दान तो एक प्रकार का त्याग है, अतः वह (दान-क्रिया) स्व-स्वत्वध्वंसमात्र का ही वैधरूप में जनक हो सकता है, परस्वत्वपर्यन्त का नहीं। परस्वत्व का जनक तो न्यायतः प्रतिग्रहीता के द्वारा किये गये पदार्थ-स्वीकार को कह सकते हैं। फलतः दानक्रिया से जन्य फल जो मिलेगा वह स्वत्वध्वंस ही होगा, परस्वत्वापादन नहीं। किन्तु यह शंका नितान्त निर्मूल है, क्योंकि ब्राह्मण के लिए जो गौ परित्यक्त होती है उसमें 'यह गौ ब्राह्मण की है, मेरी नहीं' यह जो सार्वजनीन प्रतीति होती है, वही इसका प्रत्याख्यान करने में समर्थ है। यही कारण है कि विदेशस्थ पात्र के उद्देश्य से जो धन निकाला जाता है उसे पात्र स्वीकार करे या नहीं (पात्र को उस त्याग का पता भी न हो)—पात्र के मरने पर, पितृदाय के रूप में, उसे उसके वंशधर ले लेते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो पुत्रादि के समान ही उदासीन व्यक्ति भी उस धन पर अरण्यकुशादि के समान अपना अधिकार दिखलाने लगते[2]।

अब तथाविध कर्मत्व से युक्त पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है अर्थात् कर्मत्वयुक्त पदार्थ में अवस्थित फल का भागित्व मिल जाता है। दान-क्रिया से उत्पन्न स्वत्व-फल का आश्रय गौ है, इसमें क्रियाकर्मत्व है। इस क्रियाकर्मत्व से युक्त पदार्थ (गौ) का

१. 'सम्प्रदानत्वं च मुख्यभा[illegible]साधारणं क्रियाकर्मसम्बन्धितया कर्त्रभिप्रेतत्वम्'। —व्यु० वा०, पृ० २३६

२. द्रष्टव्य—व्यु० वा०, पृ० २३७ (प्रकाशटीका)।

सम्बन्ध ब्राह्मण से कराया जाता है। तदनुसार ब्राह्मण गौ में अवस्थित उपर्युक्त स्वत्वफल का भागी होगा। सीधे शब्दों में कहें कि ब्राह्मण गौ को स्वधन के रूप में समझने लगा। यह नहीं समझना चाहिए कि ब्राह्मण के लिए पदार्थ को स्वीकार करना सम्प्रदान होने के लिए अनिवार्य है। पुनः सम्प्रदान के भेदों में 'अनिराकर्तृ' भी होता है, जो इस स्वीकार-विधि से सर्वथा अस्पृष्ट रहता है। गदाधर के कहने का अभिप्राय इतना ही है कि क्रियाजन्य फल के अधिकारी के रूप में (भले ही पात्र को अपने इस अधिकार का पता नहीं हो) कर्ता का जो इच्छा-विषय होता है वह सम्प्रदान है[1]। उक्त उदाहरण का शाब्दबोध गदाधर अपने न्यायमत से कराते हैं— **'त्यागरूप-क्रियाजन्य-गोनिष्ठ-स्वत्वभागितया दातुरिच्छाविषयो ब्राह्मणः'**। यह शाब्द-बोध उपर्युक्त लक्षण को ध्यान में रखते हुए दिया गया है।

जिस प्रकार केवल 'उद्देश्यत्व' कह देने से काम नहीं चलता, उसी प्रकार 'इच्छा-विषयत्व' भी अपने-आप में सम्प्रदानत्व को लक्षित करने में असमर्थ है। कर्म तथा सम्प्रदान का भेद निरूपित करते समय गदाधर इसे स्पष्ट करते हैं। फल के **आश्रय** के रूप में जो इच्छाविषय हो वह कर्म है; फल के **सम्बन्धी** के रूप में इच्छाविषय होने वाला सम्प्रदान है। ब्राह्मण चूँकि त्यागजन्य स्वत्व (फल) के आश्रय के रूप में दानकर्ता का इच्छाविषय नहीं है, अतः वह कर्म नहीं। ब्राह्मण स्वत्व के निरूपक के रूप में ही दाता को इष्ट है[2]। इस प्रकार इच्छाविषयत्व की विशेषता देखी जा सकती है। आश्रयता कर्म का नियमन करती है और सम्बन्ध सम्प्रदान का नियामक है।

यह शंका हो सकती है कि आश्रयता भी तो एक प्रकार का सम्बन्ध ही है। ऐसी स्थिति में त्यागफल का आश्रय (गौ) भी सरलता से सम्प्रदान बन सकता है, जो संगत नहीं। यदि यह कहें कि आश्रयता के रूप में जहाँ पर कहना अभीष्ट होता है वहाँ कर्मसंज्ञा के द्वारा सम्प्रदान-संज्ञा बाधित होती है तथा सम्प्रदान का निरूपक सम्बन्ध इस आश्रयता से भिन्न होता है; तब तो 'वृक्षायोदकमासिञ्चति, पत्ये शेते' इत्यादि उदाहरणों में—(१) सेक से उत्पन्न जलसंयोग (फल), (२) शयन से उत्पन्न प्रीति (फल)—इत्यादि के आश्रय के रूप में जो वृक्ष, पति प्रभृति पदार्थ है उन्हें सम्प्रदान नहीं हो सकेगा, क्योंकि आप आश्रयता से भिन्न सम्बन्ध को सम्प्रदान का नियामक मान रहे हैं। इस शंका के समाधानार्थ गदाधर कहते हैं कि सम्प्रदान में फलाश्रयत्व (जो कर्म-कारक का नियामक है) से भिन्न फल-सम्बन्ध तो रहता है

---

१. 'तथा च क्रियाजन्यफलभागितया कर्तुरिच्छाविषयत्वम्'। —व्यु० वा०, वहीं

२. 'फलाश्रयतयेष्टत्वमेव हि कर्मत्वम्। फलसम्बन्धितयेष्टत्वं सम्प्रदानत्वम्। ब्राह्मणादिश्च न त्यागजन्यस्वत्वाश्रयतया दातुरिष्टः, अपितु तन्निरूपकतयैवातो न तस्य कर्मता'। —व्यु० वा०, पृ० २३८

किन्तु फलाश्रयत्व सर्वसाधारण दृष्टिकोण का नहीं है, क्योंकि यहाँ फल को धात्वर्थ के रूप में (धात्वर्थतावच्छेदक) ग्रहण करना चाहिए[१]।

दा-धातु का अर्थ है—स्वत्वजनक त्याग। इसका अवच्छेदक फल संयोग के रूप में है। 'वृक्षायोदकं सिञ्चति, पत्ये शेते' इत्यादि प्रयोगों में जो धात्वर्थ के अनवच्छेदक (धात्वर्थ-भिन्न) फल के भागी के रूप में सम्प्रदान-भाव देखते हैं वहाँ उद्देश्यत्व को भी साथ लेना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में—जब तक वृक्ष और पति उद्देश्य के रूप में विद्यमान न हों तब तक अन्य स्थितियों के रहने पर भी सम्प्रदानत्व स्वीकार्य नहीं। किसी दूसरे उद्देश्य से जल फेंका जाय और उसका संयोग दैवात् वृक्ष से हो जाय अथवा दूसरे उद्देश्य से किसी की पत्नी शयन करे तथा दैवात् पति को फल-सम्बन्ध प्राप्त हो जाय तो उपर्युक्त प्रयोग असंगत होंगे। फलतः स्वत्वभागित्व के रूप में उद्देश्यत्व अनिवार्य है।

नागेश द्वारा सम्प्रदानत्व-निर्वचन

नागेश अपनी लघुमंजूषा (पृ० १२६१) में चतुर्थ्यर्थ का विश्लेषण करते हुए नैयायिकों की उक्तियों का संक्षेप करते हैं—प्रकृत धात्वर्थ के कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला फल, जो गौ के लाभ से मिलनेवाला सुखादि है, उसके भागी (प्राप्तिकर्ता) के रूप में जो इच्छाविषय है वही सम्प्रदान है। पूर्वपक्ष का आशय है कि कर्मत्व क्रिया से निरूपित होता है, इसलिए प्रकृत क्रिया के कर्म के द्वारा, उक्त कर्म के सम्बन्धजन्य फलभागी के रूप में कर्ता जिसे सम्बद्ध करता है, इच्छाविषय बनाता है, वह सम्प्रदान है। गौ की प्राप्ति होने से ब्राह्मण को मिलने वाला सुखादि वह फल है जो कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। यह फल पदों के सहोच्चारण तथा तात्पर्य से विशेषरूपेण भासित होता है। इसके अनुसार कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न फल के भागी के रूप में उद्देश्य को चतुर्थी विभक्ति का अर्थ माना जाता है, किन्तु नागेश के मत से यह अर्थ न तो सूत्र का स्वरस (वाच्यार्थ) है और न ही इस प्रकार का शाब्दबोध होता है।

'विप्राय गां ददाति' में शाब्दबोध का वास्तविक रूप यह है—'**विप्राभिन्न-सम्प्रदाननिष्ठोद्देश्यता-निरूपकं दानम्**' (ल० म०, पृ० १२६२)। अपने में (सम्प्रदान में) वर्तमान उद्देश्यता का निरूपक होना ही सम्बन्ध है। बोध दो प्रकार का हो सकता है—'सम्प्रदानविप्रीय' या 'विप्रसम्प्रदानक' के रूप में।

कुछ लोगों ने इच्छाविषयत्व और उद्देश्यत्व को समानार्थक समझने की भूल की है[२], किन्तु ऐसी बात नहीं है। 'देवो रूपवान्' इस वाक्य में देव उद्देश्य है, रूपवान् विधेय—दोनों का इसी रूप में अन्वय होता है। देव में उद्देश्यत्व की प्रतीति तो हो

---

१. 'धात्वर्थतावच्छेदक-फलाश्रयत्वभिन्न-फलसम्बन्धस्य सम्प्रदानत्वशरीरे निवेशेन सामञ्जस्यात्'। —व्यु० वा०, पृष्ठ २३८

२. ल० म० की कला-टीका में इसे भूषणकारादि की उक्ति कहा गया है।

रही है किन्तु इच्छाविषयत्व की नहीं, क्योंकि देव किसी की इच्छा का विषय नहीं है। अतएव उद्देश्यादि पदों का शक्यतावच्छेदक उद्देश्यत्व पृथक् पदार्थ है। यह दूसरी बात है कि कहीं-कहीं इच्छाविषयत्व के समानाधिकरण पदार्थ के रूप में इसका प्रयोग हुआ है। इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि दोनों एक ही हैं।

उद्देश्य और इच्छाविषय में स्पष्ट भेद-निरूपण को दृष्टि में रखकर ही नागेश उद्देश्य को सम्प्रदान चतुर्थी का अर्थ बतलाते हैं[1]। उनके मत में क्रियामात्र के कर्म से सम्बन्ध बनाने के लिए जो कारक क्रिया में उद्देश्य हो वही सम्प्रदान है ('क्रियामात्रकर्मसम्बन्धाय क्रियायामुद्देश्यं यत्कारकं तत्त्वं सम्प्रदानत्वम्'—परमलघुमंजूषा, पृ० १८०)। 'विप्राय गां ददाति' में दानक्रिया के कर्मरूप गौ के साथ सम्बन्ध बनाने के कारण विप्र उस क्रिया का उद्देश्य है। तदनुसार गौ और विप्र के बीच स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। इसी प्रकार 'चैत्रो मैत्राय वार्ताः कथयति' में मैत्र और वार्ता के बीच ज्ञेय-ज्ञातृ-भाव सम्बन्ध है। आनुषंगिक रूप से यह ज्ञातव्य है कि नागेश भी भाष्यकार के इस मत के समर्थक हैं कि सभी क्रियाओं में सम्प्रदान-कारक हो सकता है, केवल दानक्रिया में ही नहीं। इसीलिए तो 'तदाचक्ष्वासुरेन्द्राय स च युक्तं करोतु यत्' (दुर्गासप्तशती, ५।१२९) इस प्रयोग में 'असुरेन्द्र' में सम्प्रदान-चतुर्थी है।

सकर्मक के समान अकर्मक क्रिया का उद्देश्य भी सम्प्रदान हो सकता है; यथा—पत्ये शेते। इसमें फल तथा व्यापार की समान वृत्तिवाली शयन-क्रिया का उद्देश्य पति है, अतः उसे सम्प्रदान कहेंगे। बोध होता है—**'पत्युद्देश्यकं नायिकाकर्तृकं शयनम्'**। लघुमंजूषा इस प्रश्न पर कुछ अधिक विस्तार से विचार करती है। जैसे 'पिण्डीम्' कहने से इसमें गम्यमान क्रिया पद (आनय) की अपेक्षा रखकर कारकतत्त्व (कर्मत्व) दिखलायी पड़ता है, वैसे ही यहाँ शयन-क्रिया के कर्म की भी कल्पना की जा सकती है। इस स्थिति में कर्मत्व संदर्शन, प्रार्थना और व्यवसाय से उत्पन्न होने वाली आरम्भ-क्रिया के द्वारा निरूपित होता है। जब कोई किसी पदार्थ को अच्छी तरह से देखता है (संदर्शन अर्थात् फलविषयक संकल्प करता है) तब प्रार्थना (फलोपाय की इच्छा) करता है। तब व्यवसाय (दृढ़ निश्चय) होकर आरम्भ-क्रिया होती है। इन क्रियाओं का क्रमशः साध्य-साधनभाव हम देख चुके हैं। संदर्शन-क्रिया का साधन क्रियासाध्य फल की अभिलाषा की योग्यता रखनेवाला (विशिष्ट) चैतन्य ही है[2]। भाष्यकार के 'क्रियाग्रहण'-विवेचन का अनुवाद करके नागेश यहाँ

१. 'सम्प्रदानचतुर्थ्यर्थः उद्देश्यः। तथा च ब्राह्मणोद्देश्यकं गोकर्मकं दानमिति बोधः'। —प० ल० म०, पृ० १८१

२. तुलनीय (वा० प० ३।७।१६-१७)—

'सन्दर्शनं प्रार्थनायां व्यवसाये त्वनन्तरा।
व्यवसायस्तथारम्भे साधनत्वाय कल्पते॥
पूर्वस्मिन्या क्रिया सैव परस्मिन् साधनं मता।
सन्दर्शने तु चैतन्यं विशिष्टं साधनं विदुः'॥

इसके फलस्वरूप 'पत्ये शेते' का संशोधित शाब्दबोध कराते हैं—'**पतिसम्प्रदानकमारम्भकर्मभूतं पत्नीकर्तृकं शयनम्**'।

उद्देश्यत्व का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता है, इच्छाविषयत्व का सीमित अर्थ में। इसलिए विशिष्ट इच्छाविषयत्व को उद्देश्यत्व के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। नागेश दोनों में स्पष्ट भेद मानते हुए भी, लघुमंजूषा में 'इच्छा-विषय' का प्रयोग करते हुए सम्प्रदानत्वशक्ति का निर्वचन करते हैं—'और वह शक्ति है, उन-उन धातुओं के अर्थ के कर्म में निवास करनेवाले फल के निरूपक के रूप में इच्छाविषय में जिसका निवास हो' (ल० म०, १२६१)। दानार्थक धातु के कर्म (गौ) में विद्यमान फल (स्वत्वनिवृत्ति, परस्वत्वापादन) का निरूपक ब्राह्मण है, इसी रूप में वह इच्छा का विषय है, अतः सम्प्रदान है। प्राचीन आचार्यों ने इसे ही उद्देश्य कहा है (ल० म० कला)। कर्म चूँकि इस चतुर्थी का निमित्त है, इसलिए उक्त लक्षण में 'कर्मनिष्ठाफलनिरूपक' के रूप में सम्प्रदान का ग्रहण किया गया है। कर्म और सम्प्रदान के बीच सम्बन्ध भी इसी रूप में होता है।

'पितृभ्यः श्राद्धं दद्यात्' इस प्रयोग में यद्यपि पितरों के द्वारा स्वत्व के निरूपण में बाधा पहुँचती है, क्योंकि दान का पूरा अर्थ जो स्वत्वनिवृत्ति तथा परस्वत्वापत्ति है वह यहाँ व्यवस्थित नहीं हो सकता; तथापि अपने स्वत्व की निवृत्ति के अनन्तर परमात्र में (सामान्यतया) स्वत्वापादन के अनुकूल त्याग के रूप में जो दा-धातु का अर्थ है उसमें पितरों के उद्देश्यत्व का भाव है। यहाँ नागेश के द्वारा स्वीकृत दा-धातु का विलक्षण अर्थ ध्यातव्य है, क्योंकि इसी पर इस धातु के विभिन्न प्रयोगों की पुष्टि निर्भर करती है। परस्वत्व का आपादान अक्षरशः न भी हो तो कोई हानि नहीं, तदनुकूल व्यापारमात्र से काम चल जायगा, जो त्याग के रूप में रह सकता है। त्याग ही तो परस्वत्व का कारण है। अतः उक्त वाक्य का शाब्दबोध होगा—'**पित्रभिन्न-सम्प्रदान-निष्ठोद्देश्यतानिरूपकः स्वत्वनिवृत्त्याद्यनुकूलो व्यापारः**' (कला, १२६३)।

अपनी इस मान्यता के समर्थन में नागेश धर्मशास्त्रीय दायभाग का उदाहरण देते हैं। परदेश में गये हुए किसी पात्र के उद्देश्य से जो धन अलग किया जाय उसे यदि पात्र को स्वीकार करने का अवसर न मिले तथा उसकी मृत्यु हो जाय तो ऐसी दशा में पिता के दाय के रूप में उस धन का विभाजन उसके पुत्र आपस में कर लेते हैं, दूसरों को यह अधिकार नहीं है। यह सामान्य अनुभव है कि जो धन विप्र के उद्देश्य से त्यागा गया है वह विप्र का ही है, दाता का नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो अरण्यस्थ कुशादि के समान सभी लोग उसका व्यवहार करने लगते, प्रत्यवाय का भय नहीं रहता। यह प्रश्न हो सकता है कि जब ग्रहणकर्ता की स्वीकृति के बिना भी दानक्रिया पूरी हो जाती है तब इस स्वीकृति की आवश्यकता ही क्या है? उत्तर है कि स्वीकृत धन-दान अर्थात् प्रतिग्रह अधिक फलद है (लब्धावष्टगुणं पुण्यम्)। प्रतिग्रह का वास्तविक अर्थ है—अदृष्ट फल की प्राप्ति के लिए दिये गये धन को स्वीकार करना। इसलिए दूसरे के द्वारा पितृ-परितोषादि (अदृष्ट फल) के लिए प्रदत्त

या विक्रीत तिल, तुरग आदि स्वीकार करने में कोई दोष नहीं, क्योंकि वह भी प्रतिग्रह है।

संसृष्टि[1] के स्थल में, जहाँ कई परिवार एक साथ अपने स्वत्व का सामूहिक प्रतिग्रह करते हों, असाधारण (individual) स्वत्व के नाश के बाद साधारण (collective) स्वत्व की उत्पत्ति होने पर भी 'ददाति' का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसलिए 'परमात्र में स्वत्व की उत्पत्ति के अनुकूल त्याग' को धात्वर्थ कहा गया है। फिर भी आशंका हो सकती है कि स्वत्व का नाश तो इस विधि से व्यवस्थित नहीं हो सकता, अतः परमात्र में स्वत्वोत्पत्ति इत्यादि कहने की आवश्यकता नहीं। केवल इतना ही कहें कि अपने स्वत्व की निवृत्ति के बाद परस्वत्व की आपत्ति के अनुकूल त्याग ही धात्वर्थ है, 'मात्र' शब्द देने की कोई आवश्यकता नहीं। उत्तर में कह सकते हैं कि पूर्वस्वत्व के नाश की व्यवस्था इस प्रकार हो सकती है कि स्वत्व से युक्त पदार्थ या व्यक्ति में स्वत्व की उत्पत्ति नहीं हो रही है, यही स्वत्वनाश है। निष्कर्ष यह निकलता है कि जब सभी भाई अपने-अपने स्वत्व को पुनः एक ही में विलीन करके मिल जायें तब स्वत्व की आपत्ति नहीं होती—अपना स्वत्व सामुदायिक स्वत्व के रूप में बदल जाता है। सभी का उस पर अधिकार रहता है। अतएव इस स्थल में 'ददाति' क्रिया नहीं प्रयुक्त होती कि प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वत्व देता है। 'परमात्र' की यहीं सार्थकता है।

अब हम उपेक्षा (उदासीनता) का उदाहरण लें। कोई व्यक्ति अपने उद्देश्य से दिये गये दान को उपेक्षित करे तो यहाँ नियमतः परस्वत्व का आपादान नहीं होता। इसलिए 'ददाति' के प्रयोग से उपेक्षा का स्थल भी वंचित रहता है। परस्वत्व का आपादन नियमपूर्वक (as a rule) होना चाहिए, कभी-कभी नहीं। विक्रय के स्थल में भी दान-क्रिया की सार्थकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि वस्तु-विक्रय परस्वत्व का नियमपूर्वक आपादन नहीं करता। विक्रय तो परस्वत्वापादन का हेतु है ही नहीं। यह (परस्वत्वापादन) वस्तुतः उस क्रय से होता है जो मूल्यदान के अनन्तर स्वीकार के रूप में रहता है। विक्रय में स्वत्व-निवृत्ति होती है तो क्रय में परस्वत्वापादन। अतएव विक्रयस्थल में 'ददाति' का प्रयोग नहीं होता। यदि होता है (वणिक् ग्राहकाय वस्त्रं ददाति) तो भाक्त प्रयोग से निर्वाह कर सकते हैं।

स्वत्वविचार

नागेश स्वत्व-पदार्थ का दार्शनिक विवेचन भी करते हैं, जिसका उपयोग जयराम के कारकवाद में भी हुआ है[2]। नव्य नैयायिकों से सहमति रखते हुए नागेश स्वत्व को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। यह दान-क्रिया से नष्ट तथा प्रति-

---

१. विभक्त किये हुए धन को पुनः एकत्र करना। तुलनीय—याज्ञ० स्मृ० २।१४३ तथा उसकी मिताक्षरा।

२. द्रष्टव्य—ल० म० कला, पृ० १२६४ तथा कारकवाद, पृ० २६–२७।

ग्रह से उत्पन्न होता है। किसी वस्तु का जब हम अपनी इच्छा के अनुकूल विनियोग कर सकें तब उसके ऊपर हमारा स्वत्व कहा जाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि शास्त्रों में इस विनियोग का निषेध नहीं होना चाहिए। यह स्वत्व क्रय, प्रतिग्रह आदि क्रियाओं का विषय होता है अर्थात् इस स्वत्व को हम खरीद सकते हैं, स्वीकार कर सकते हैं इत्यादि। प्राचीन तथा नव्य आचार्यों के बीच इस विषय में मतभेद है कि यह बाह्य इन्द्रियों से वेद्य है या नहीं। प्राचीन आचार्य प्रतिग्रहादि को एक विशेष मानस-ज्ञान के रूप में देखते हुए बहिरिन्द्रियों का अविषय मानते हैं। किन्तु नव्य आचार्य इसका खण्डन करते हैं कि प्रतिग्रहादि के नाश के अनन्तर भी स्वत्व का व्यवहार होता ही रहता है। दान से स्वत्वनाश और प्रतिग्रह से स्वत्व की उत्पत्ति का व्यवहार सर्वविदित है। 'स्वं पश्यामि' (मैं अपने धन को, अधिकार को देखता हूँ) इस प्रयोग से भी यही सिद्ध होता है। किसी के स्वत्व का साक्षात्कार तभी होता है जब हमें यह ज्ञान हो जाय कि किसी के यथेष्ट (इच्छानुकूल) विनियोग की योग्यता इसमें है[1]। जयराम के अनुसार स्वत्व की अनुमिति ही होती है, साक्षात्कार नहीं। स्वत्व को अलौकिक विषयिता से युक्त उसके साक्षात्कार में उस प्रकार के विशेष दर्शन को हेतु मान लें तो कल्पनागौरव होगा (कारकवाद, पृ० २७)। 'स्वं पश्यामि' का अनुव्यवसाय (मानस ज्ञान, निश्चयात्मक प्रत्यक्ष) तो 'सुरभिचन्दनं पश्यामि' के समान विशेषण अंश में लौकिक विषय से ही सम्बद्ध है।

सम्प्रदान के अन्य सूत्र

इस प्रकार स्वत्व की वेद्यता पर प्राचीन (बहिरिन्द्रिय से अवेद्य), नव्य (उससे वेद्य) तथा नव्यतर (अनुमेय) मतों के बीच नागेश नव्यमत के समर्थक हैं। नागेश तक सम्प्रदान के मुख्य सूत्र पर विशद विवेचन का इस रूप में पर्यवेक्षण किया गया। अब हम उसका विधान करनेवाले कुछ गौणसूत्रों की व्याख्या करें। इनमें आठ सूत्र विशुद्ध सम्प्रदान के हैं और एक में करण का विकल्प है।

(१) '**रुच्यर्थानां प्रीयमाणः**' (१।४।३३)—दूसरे के द्वारा उत्पन्न की गयी (अन्यकर्तृक) अभिलाषा को रुचि कहते हैं[2]। वैसे दीप्ति के अर्थ में भी रुच् धातु का प्रयोग होता है, किन्तु वह अर्थ यहाँ अभिमत नहीं है, इसलिए 'आदित्यो रोचते दिक्षु' में सम्प्रदान-संज्ञा नहीं होती (तत्त्वबोधिनी, पृ० ४४१ तथा श० कौ० २, पृ० १२३)। सूत्रार्थ है कि रुचि के अर्थ में आनेवाले धातुओं का प्रयोग होने पर जो अर्थ प्रीयमाण हो, जिसे प्रसन्न या तृप्त किया जाय उसे भी सम्प्रदान कहते हैं; जैसे—'देवदत्ताय रोचते मोदकः' (देवदत्त को मिष्टान्न तृप्ति देता है)। यहाँ देवदत्तस्थ

१. 'तत्साक्षात्कारे च तदीयस्वत्वव्याप्य-तदीययथेष्टविनियोग्यत्ववदिदमिति ज्ञानं हेतुः'। —ल० म०, पृ० १२६५

२. काशिका, पृ० ६८; हेलाराज ३, पृ० ३३३।

अभिलाषा का कर्ता मोदक है। देवदत्त प्रीयमाण है, क्योंकि तथोक्त अभिलाषा के कर्ता के द्वारा उसे ही तृप्ति या प्रसन्नता मिलती है।

भर्तृहरि तथा हेलाराज यहाँ दूसरी प्रक्रिया आरम्भ करते हैं। अन्यकर्तृक अभिलाषा को रुचि कहते हैं, इसलिए अभिलाषा के विषयीभूत मोदक का प्रयोग देवदत्त कर रहा है—यही अर्थ निकलता है। दूसरे शब्दों में—अपनी चंचलता से तदनुकूल (मिठाई पाने की दिशा में) आचरण करता है, तभी तो लोग उक्त प्रयोग करते हैं। फलतः प्रयोजक देवदत्त को हेतुसंज्ञा प्राप्त होने लगती है, जिसके स्थान पर सम्प्रदान-संज्ञा होती है। हेतुसंज्ञा के अभाव में णिच्-प्रत्यय भी नहीं लगता तथा हेतु से समवेत दूसरी क्रिया की प्रतीति भी नहीं होती। अतएव मोदक अपनी धातुवाच्य क्रिया का कर्ता बनता है, कर्म नहीं (हेलाराज ३, पृ० ३३३)। जैसे 'हरिः भृत्यं गमयति' इस वाक्य में णिच् के अभाव में भृत्य गमन-क्रिया का कर्ता ही रहता है—'भृत्यः गच्छति'। 'रोचते' का अर्थ है—अभिलाषा का विषय बनता है।

जब 'देवदत्ताय रोचते मोदकः' का अर्थ होता है 'देवदत्तं मोदकः प्रीणयति', जैसा कि 'प्रीयमाण' विशेषण से प्रकट होता है, तब कर्मसंज्ञा के स्थान में सम्प्रदान-संज्ञा होने के लिए प्रस्तुत सूत्र का आरम्भ मानना चाहिए। रुच् अकर्मक धातु है, इसके प्रयोग में कर्मसंज्ञा का आना असंगत प्रतीत हो सकता है, किन्तु धातु की अर्थान्तर में वृत्ति होने पर सकर्मकता होती है ('धातोरर्थान्तरे हि वृत्तौ सकर्मकत्वम्'—हेलाराज, पृ० ३३४); इसमें कोई संदेह नहीं। अतः 'प्रीणयति' के अर्थ में 'रोचते' का उपयोग करने पर सकर्मकता होगी और तब कर्मसंज्ञा होने पर उसे सम्प्रदान में बदलने की बात निर्मूल नहीं लगेगी।

इस सूत्र का तीसरा प्रयोजन शेषत्व के स्थान में सम्प्रदान का विधान करना भी है। जब देवदत्त की अभिलाषा देवदत्त-विषयक बन जाती है, ऐसा अर्थ लिया जाय तब शेष के कारण षष्ठी की प्राप्ति होगी। ऐसी स्थिति में सम्प्रदान होगा—यह भी सूत्र का लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में—विशेष विवक्षा के अभाव में केवल क्रिया के निमित्त के रूप में सामान्यतया ग्रहण करने पर शेष षष्ठी की प्राप्ति हो रही थी[१]। अतएव हेतुसंज्ञा, कर्मसंज्ञा तथा शेषलक्षण षष्ठी—इन तीन अनिष्ट प्रसंगों के वारणार्थ प्रस्तुत सूत्र का अवतारण हुआ है कि देवदत्तादि को सम्प्रदान-संज्ञा ही हो[२]। ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार उक्त तीन संज्ञाओं के स्थान में सम्प्रदान होता है उसी प्रकार अधिकरणादि के स्थान में यह नहीं हो सकता। इसीलिए 'प्रीयमाण' का प्रयोजन बतलाते हुए जयादित्य तथा दीक्षित प्रत्युदाहरण देते हैं—'देवदत्ताय रोचते मोदकः

---

१. 'यदा तु देवदत्तस्य योऽभिलाषस्तद्विषयो भवतीत्यर्थस्तदा शेषत्वात्षष्ठ्यां प्राप्तायां वचनमिति'। —श० कौ० २, पृ० १२३

द्रष्टव्य—हेलाराज (३।७।१३० पर)।

२. 'हेतुत्वे कर्मसंज्ञायां शेषत्वे वापि कारकम्।
रुच्यर्थादिषु शास्त्रेण सम्प्रदानाख्यमुच्यते'॥

पथि'। 'पथिन्' शब्द में अधिकरण है, उसके स्थान में सम्प्रदान नहीं होगा। इसके अतिरिक्त वह प्रीयमाण भी नहीं।

भवानन्द अपने कारकचक्र में 'नारदाय रोचते कलहः' तथा 'वैश्याय शतं धारयति' इन दोनों प्रयोगों में नारद और वैश्य को सम्प्रदान नहीं मानने तथा सम्बद्ध सूत्रों के बल पर सम्बन्धमात्र में यहाँ चतुर्थी स्वीकार करते हैं। चतुर्थी का सम्बन्ध धातु के साथ रुचि के रूप में है और आख्यात के द्वारा विषयता अभिहित है। फलतः 'नारदस्य रुचिविषयः कलहः' यही अर्थ होता है। स्पष्ट है कि भर्तृहरि की शेषत्व-विवक्षा वाले विकल्प का इस व्याख्या पर प्रभाव है। चूँकि शेषत्व कारक नहीं है अतः उसके स्थान में सम्प्रदान स्वीकार करने में नैयायिक भवानन्द को आपत्ति हो रही है। गदाधर को इसमें संकोच नहीं। प्रीतिजनकता के रूप में जो रुचि का अर्थ है उसी में विद्यमान प्रीति के भागी नारद को वे दृढ़तापूर्वक सम्प्रदान सिद्ध करते हैं (व्युत्पत्तिवाद, पृ० २४२)। यहाँ आश्रितत्व के रूप में चतुर्थी का अर्थ है—जिसका अन्वय प्रीति में होता है। इस प्रकार की प्रीतिक्रिया का आश्रय होने से कलह का कर्तृत्व निर्विवाद है।

नागेश को 'शेषत्व के स्थान में रुच्यर्थक सम्प्रदान' की बात ठीक नहीं लगती, क्योंकि हेतुसंज्ञा के स्थान में सम्प्रदान-संज्ञा का प्रसंग तो वे हेलाराज का अनुवाद करके चलाते ही हैं[1] और "कर्मसंज्ञा के स्थान में सम्प्रदान' के पक्ष में भी बोलते हुए न्याय-मत में गौरव-दोष दिखलाकर उसका निरसन करते हैं। पूर्वपक्ष के अनुसार प्रीति के समानार्थ में रुचि अभिहित है, जिससे कर्म के अपवादस्वरूप सम्प्रदान का विधान होता है। नागेश कहते हैं कि सूत्र में जो 'प्रीयमाण' शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ कर्मवाच्य में शानच् लगा है अर्थात् देवदत्तादि सम्प्रदान को कर्मसंज्ञा (हरिं प्रीणयति—हरिः प्रीयते—हरिः प्रीयमाणः) प्राप्त थी ही। यदि कर्मसंज्ञा के अपवाद के रूप में सम्प्रदान होता तो 'हरिं प्रीणयति' की संगति कभी होती ही नहीं, क्योंकि उत्सर्ग से अपवाद अधिक प्रबल होता है। दूसरे, यदि रुचि और प्रीति समानार्थ होते तो प्रीधातु के योग में भी सम्प्रदान-संज्ञा होनी चाहिए, किन्तु नहीं होती। निष्कर्षतः प्रीधातु के योग में जो कर्म रहता है वही रुचि अर्थ वाले धातुओं के लिए (जो प्रीत्यनुकूल अर्थ रखते हैं) सम्प्रदान है।

अभिपूर्वक लष्-धातु के योग में भी सम्प्रदान नहीं होता—'हरिः भक्तिमभिलष्यति'। इसका कारण यह है कि 'अभिलष्यति' क्रिया रुचि के अर्थ में नहीं है। इस क्रिया से हमें उस व्यापार का बोध होता है जो विषयता-सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रीति के अनुकूल तो है ही, साथ-साथ प्रीति से व्यधिकरण (भिन्नाधारयुक्त) भी है (ल० म०, पृ०

---

१. 'केचित्तु प्रीतिविषयतामापद्यमानं मोदकं लौल्याद् देवदत्तः प्रयुङ्क्ते, तदानुगुण्यमाचरतीति हेतुत्वे प्राप्त इदम्। एवं च हेतुसंज्ञाभावे णिचोऽभावाद् हेतुगतव्यापाराप्रतीतेः मोदकः स्वक्रियायां कर्ता भवति, न तु देवदत्तः। उपात्तक्रियायां तस्य स्वातन्त्र्याभावादित्याहुः'।
—ल० म०, पृ० १२६८

१२६९)। किसी वस्तु में होने वाली प्रीति को ही विषयता सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रीति कहते हैं; जैसे—मोदकविषयक या कलहविषयक प्रीति। जिस वस्तु में प्रीति है उसी में अनिवार्यतया अभिलाषा नहीं है। रुचि का अर्थ प्रीति के अनुकूल तथा प्रीति का समानाधिकरण व्यापार है। जिसमें प्रीति, उसी में रुचि—यह स्थिति है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों पर्याय हों। प्रीति रुचि का परिणाम है—दोनों में कार्यकारणभाव है। अभिलाषा तो रुचि तथा प्रीति से बिलकुल भिन्न ही है। 'हरये रोचते भक्तिः' में इस प्रीति का समवाय-सम्बन्ध से हरि आश्रय है, अतः उसमें सम्प्रदानत्व-शक्ति है। अब प्री-धातु का अर्थ है—समवाय-सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रीति के अनुकूल व्यापार। इस सम्बन्ध के कारण ही 'हरिं प्रीणयति' में कर्म होता है। इसके अभाव में षष्ठी विभक्ति होती। अब हम निम्नलिखित तीन उदाहरणों पर पहुँच चुके हैं—

(१) हरये रोचते भक्तिः—रुचि के अर्थ के फलभूत प्रीति का समवाय सम्बन्ध से आश्रय हरि सम्प्रदान है।

(२) हरिर्भक्तिमभिलष्यति—रुच्यर्थ से भिन्न अभिलषण-क्रिया का आश्रय हरि कर्ता है[१]।

(३) हरिं प्रीणयति—प्री-धातुगत व्यापार का फलाश्रय हरि कर्म है। स्मरणीय है कि प्रीत्यनुकूलता का समान अर्थ रहने पर भी तीनों के साथ हरि को विभिन्न कारक-संज्ञाएँ मिलती हैं, क्योंकि अन्ततः तीनों धातु भिन्नार्थक हैं।

हेलाराज एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं कि सम्प्रदान के प्रथम सूत्र से ही जब काम चल जाता है तब 'रुच्यर्थानाम्' इत्यादि सूत्रों को आरम्भ करने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में वे कहते हैं कि सम्प्रदान-शब्द अन्वर्थ है, अतः प्रथम सूत्र में विहित सम्प्रदान का अर्थ लौकिक है, किन्तु पिछले सूत्रों से होने वाली सम्प्रदान-संज्ञा में लौकिक अर्थ नहीं रहता। अतः केवल शब्द का संस्कार (रचना, साधुत्व) प्रतिपादित करने के लिए भी शास्त्रारम्भ करना असंगत नहीं है। 'हरये' इत्यादि शब्दों में निर्दिष्ट चतुर्थी की सिद्धि करने के लिए ही उक्त संज्ञा का अतिदेश किया गया है। हेलाराज इस प्रकार सम्प्रदान के दो भेद कर डालते हैं—(१) लौकिक तथा (२) शास्त्रीय सम्प्रदान[२]। दोनों स्थितियों में सम्प्रदान कृत्रिम संज्ञा ही है, किन्तु लौकिक सम्प्रदान न्यूनाधिक रूप से लौकिकार्थ के अधिक निकट है, दुर्गाचार्य के

१. द्रष्टव्य—(ल० श० शे०, पृ० ४४१) 'यत्किञ्चिद्विषयक-प्रीत्यनुकूलव्यापाराश्रयोऽभिलष्यतिकर्ता'।

२. 'अन्वर्थत्वात् सम्प्रदानशब्दस्य लौकिक एव सम्प्रदानार्थः पूर्वमुक्तः। इह तु रुच्यर्थादिविषये तदर्थाभावाच्छब्दसंस्कारमात्रप्रतिपादनाय शास्त्रारम्भसामर्थ्यात् सम्प्रदानत्वमुच्यत इति शास्त्रीयलौकिकभेदेन द्विविधं सम्प्रदानं व्याख्यातम्'।

—हेलाराज ३, पृ० ३३५

शब्दों में 'प्रत्यक्षवृत्ति' है। शास्त्रीय सम्प्रदान कृत्रिमता की पराकाष्ठा पर है, परोक्ष-वृत्ति' है। शास्त्रकार की घोषणा के अभाव में उसे कोई भी सम्प्रदान नहीं कह सकता, क्योंकि दान से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

(२) '**श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः**' (१।४।३४)—श्लाघ् (कत्थन, स्तुति), ह्नुङ् (अपनयन, छिपाना), स्था (गतिनिवृत्ति) तथा शप् (उपालम्भ)—इन धातुओं का प्रयोग होने पर जिस व्यक्ति-विशेष को बोध कराना अभिप्रेत हो उसे भी सम्प्रदान कहते हैं। जैसे—(क) 'गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते' (गोपी कामपीड़ा से कृष्ण की स्तुति कर रही है)। यहाँ कृष्ण को यह बोध कराना अभिप्रेत है कि उनके वियोग में उनकी प्रेमिका स्तुति कर रही है। प्राचीन उदाहरणों में 'देवदत्ताय श्लाघते' आता है, जिसकी व्याख्या में हेलाराज कहते हैं कि देवदत्त गुणोत्कर्ष के कारण प्रशंसित हो रहा है और इसी गुणवत्ता के कारण अपनी शक्ति के अनुकूल आचरण भी करता है, अतः उस पर प्रयोजकत्व का आरोपण होता है तथा उसे हेतुसंज्ञा प्राप्त होती है—इसे रोककर यह सूत्र उसे सम्प्रदान में व्यवस्थित करता है। अथवा गुणों के वर्णन से देवदत्त को बोध कराना अभीष्ट है। ज्ञापन-क्रिया के द्वारा प्राप्य होने से उसकी कर्म-संज्ञा भी प्राप्त है, जिसे रोककर सम्प्रदान की व्यवस्था होती है।

दूसरे प्राचीन आचार्यों का मत है कि देवदत्त के समक्ष अपने को या दूसरे को श्लाघ्य कहता है (देवदत्तायात्मानं परं वा श्लाघ्यं कथयति)—यह अर्थ है। इसी अर्थ में भट्टि का भी प्रयोग है—'श्लाघमानः परस्त्रीभ्यस्तत्रागाद् राक्षसाधिपः' (भट्टि-काव्य ८।७३) इस पक्ष में कारक-शेष होने के कारण षष्ठी की प्राप्ति थी, इसे रोककर सम्प्रदान-संज्ञा का विधान होता है। ज्ञीप्स्यमान (ज्ञप्+णिच्+सन्+कर्मणि यक्+शानच्)—पद[1] के द्वारा णिजर्थ (प्रेरणा) के प्रधान कर्म का ग्रहण होता है। सन्-प्रत्यय (इच्छार्थक) के प्रयोग का प्रयोजन है कि जिस विषय के ज्ञान के अनुकूल व्यापार हो उस प्रकृत्यर्थ-कर्म का भी ग्रहण उस पद से समझना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो 'ज्ञाप्यमान' कहकर भी काम चलाया जा सकता था (लघुमंजूषा, पृ० १२७०)। पूर्वोक्त उदाहरण का बोध होता है—'गोपीकर्तृका स्मरहेतुका कृष्ण-सम्प्रदानिका (अर्थात्) कृष्णबोधविषया स्तुतिः'। यह प्रकरणादि से समझ लें कि स्तुति अपनी हो रही है या दूसरे की। यदि कृष्ण ही स्तुत्य हों तब तो परत्व के कारण कर्म ही होगा—कृष्णं स्तौति।

(ख) कृष्णाय ह्नुते (कृष्ण को बोध कराने के लिए गोपी छिपती है)—सपत्नियों के सामने कृष्ण को दिखाकर छिपती हुई गोपी उन्हें अपनी स्थिति बतला देती है अथवा छिपने योग्य स्थान का बोध करा देती है। नागेश के अनुसार ह्नु-धातु का अर्थ है—बोध के लिए, दूसरे को दिखायी न पड़ने योग्य स्थान में रख

---

१. 'ज्ञप मिच्च (चु० उ०) इति चुरादिकात्सनि कर्मणि शानचि ज्ञीप्स्यमान इति रूपं बोध्यम्। न तु ज्ञाधातोः। तस्य बोधने मित्त्वाभावात्। तज्ज्ञापयति इत्यादि भाष्यप्रयोगात्'। —श० कौ० २, पृ० १२३-४

देना। यहाँ 'आत्मानम्' (अपने को) का अध्याहार होता है। सपत्नी के भय से अपने को उस रूप में स्थापित करना अर्थ है। शाब्दबोध इस प्रकार होगा—'गोपी-कर्तृका कृष्णसम्प्रदानिका (अर्थात्) कृष्णवृत्तिबोधविषया आत्मकर्मकतथावस्थानानुकूला क्रिया' (गोपी के द्वारा कृष्ण के लिए अर्थात् कृष्ण के बोध का विषय अपने को बनाते हुए उस रूप में अवस्थित होने के अनुकूल क्रिया—ल० म०, पृ० १२७०)।

(ग) कृष्णाय तिष्ठते (कृष्ण को बोध कराने के लिए स्थिर हो जाती है)—यहाँ गतिनिवृत्ति (ठहर जाना) के द्वारा अपने अभिप्राय को बोध कराने का अर्थ है। अभिप्राय यही है कि मैं इस प्रकार की हूँ। इसका बोध इस प्रकार होगा—'गोपी-कर्तृका कृष्णसम्प्रदानिका बोधानुकूला स्थितिः'। स्था-धातु का अर्थ जहाँ अभिप्रायकथन (प्रकाशन) हो वहाँ यह आत्मनेपद होता है—'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (पा० १।३।२३)।

(घ) कृष्णाय शपते (कृष्ण को बोध कराने के लिए गोपी शपथ लेती है, उलाहना देती है)—यहाँ उपालम्भ द्वारा कृष्ण को बोध कराना अभीष्ट है। पाणिनि-सूत्र १।३।२१ पर वार्तिक है—शप उपलम्भने। उपलम्भन (प्रकाशन—कैयट, शपथ—काशिका) के अर्थ में शप्-धातु आत्मनेपद होता है। इस धातु के अनेक अर्थ हैं—(१) आक्रोश यथा—देवदत्तं शपति (निन्दति); (२) शारीरिक या मानस स्पर्श यथा—विप्रैः शपे, क्षात्रधर्मेण शपे; (३) प्रकाशन यथा—देवदत्ताय शपते[1]। नागेश काशिका के इस मत पर आक्षेप करते हैं कि उपलम्भन का अर्थ शपथ है। जयादित्य ने कहा है कि वाणी से शरीर का स्पर्श करना (शपथ लेना, Swearing) उपलम्भन है। नागेश उद्योतटीका में इसे प्रकाशन के अर्थ में व्यवस्थित करके भी पुनः लघु-मंजूषा में शाब्दबोध देते हुए शपथ-रूप अर्थ ही रख देते हैं—'तत्सम्प्रदान-बोधानुकूलं शपथकरणम्' (पृ० १२७१)।

नागेश प्रकारान्तर से भी इसकी व्याख्या करते हैं। ज्ञीप्स्यमान पद में ण्यर्थकर्म तथा प्रकृत्यर्थकर्म का भी ग्रहण होता है, इसलिए बोध भी दो प्रकार के होंगे। पहला अर्थ होता है—स्तुति से, ह्नुति से, स्थिति से और शपथ से कृष्ण को अपने अनुराग का बोध कराती है। दूसरे प्रकार में स्तुत्यादि से कृष्ण को अपने सखीजन का ज्ञान कराती है। अनुराग-रूप ज्ञायमान पदार्थ यहाँ पर ण्यर्थकर्म है। गोपी का अनुराग कृष्ण के द्वारा ज्ञात हो जाय इसीलिए वह स्तुत्यादि करती है। स्वसखीजन के रूप में ज्ञीप्स्यमान पदार्थ प्रकृत्यर्थकर्म है, क्योंकि गोपी का उद्देश्य कृष्ण तक अपने अनुराग को पहुँचाना ही नहीं, अपनी सखियों का बोध कराना भी अभिप्रेत है। सन् प्रत्यय के प्रयोग के कारण ऐसा अर्थ होता है। इस प्रकार नागेश का आशय है कि दोनों प्रकार के अर्थ निकलते हैं, यद्यपि वाक्य एक है[2]।

(३) **'धारेरुत्तमर्णः'** (१।४।३५)—उत्तमर्ण का अर्थ है ऋणदाता, जिसका

---

१. प्रदीपोद्योत, पृ० १६२।

२. ल० श० शे०, पृ० ४४२ तथा ल० म०, पृ० १२७०–७१।

ऋण उत्तम हो अर्थात् जिसका धन हो। ऋण का प्रयोक्ता, धन का स्वामी सम्प्रदान कहलाता है जब धारयति-क्रिया का प्रयोग हो। जैसे—'देवदत्ताय शतं धारयति' (वह देवदत्त के सौ रुपये लिये हुआ है)। ऋण ग्रहण करने वाले को अधमर्ण कहते हैं। यहाँ हेलाराज कहते हैं कि उपर्युक्त हेतु, कर्म तथा शेष इन तीनों के स्थान में सम्प्रदान के विधान का जो सामान्य नियम है वह सर्वत्र लागू नहीं होता। कहीं-कहीं एकाध के ही स्थान में सम्प्रदान होता है[1]। जैसे इसी स्थल में केवल शेष षष्ठी प्राप्त होने पर सम्प्रदान-संज्ञा के लिए यह सूत्र है। तात्पर्य यह है कि स्वरूप में स्थित सौ रुपयों को देवदत्त स्थापित करता है, अधमर्ण उन्हें धारण करता है। उत्तमर्ण देवदत्त दान-क्रिया के द्वारा धारण का निमित्त है, क्योंकि वही दान करता है। किन्तु 'ददाति' क्रिया यहाँ श्रूयमाण नहीं है। अतः अश्रूयमाण 'ददाति' क्रिया के विषय में कारकशेष होने से यहाँ षष्ठी की प्राप्ति थी—इसे रोककर शास्त्र द्वारा सम्प्रदान-विधान हुआ है[2]।

धृङ्-धातु का अर्थ है—अवस्थान। इसमें प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय लगाने पर 'धारयति' बनता है, जिसमें अवस्थान के अनुकूल व्यापार का अर्थ निहित है। इस अर्थ की अवस्थिति का जो आश्रय (ऋण लेने वाला) हो उसका सम्बन्धी (ऋण-दाता) सम्प्रदान है। 'भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः' यह उदाहरण नव्य ग्रन्थों में है। उक्त प्रक्रिया से इसका शाब्दबोध होगा—'हरिकर्तृको भक्तसम्प्रदानको मोक्षकर्मकावस्थित्यनुकूलो व्यापारः'। यहाँ मोक्ष स्वरूपतः अवस्थित है, उसमें परिवर्तन नहीं होता। धारण-क्रिया का यही अर्थ है कि गृहीत ऋण को उसी रूप में देने के लिए अधमर्ण व्यक्ति रखा हुआ है।

यहाँ प्रश्न होता है कि मोक्ष को ऋण कहा जा सकता है या नहीं? ऋण के विषय में दो मान्यताएँ हैं। पहली मान्यता यह है कि जब सजातीय द्रव्यान्तर का दान स्वीकार्य हो तब दूसरे के द्वारा दिये गये उसके द्रव्य का ग्रहण करना ऋण है ('ऋणं नाम सजातीयद्रव्यान्तरदानमङ्गीकृत्य परदत्त-परकीयद्रव्यादानम्'—ल० म०, पृ० १२७२)। यह सम्भव नहीं कि जिस वस्तु का ऋण लिया गया है उसे उसी रूप में लौटा दिया जाय, अन्यथा ऋण का प्रयोजन (उपयोग) ही नहीं होगा। किन्तु द्रव्य की राशि, गुण या परिमाण में परिवर्तन करके दूसरा द्रव्य नहीं दिया जा सकता। देना तो द्रव्यान्तर ही है, किन्तु वह सजातीय ही हो। यह नहीं कि लिया तो अच्छा अन्न और लौटाने लगे निकृष्ट अन्न। चौर्य का निरसन करने के लिए 'परदत्त' शब्द का प्रयोग है। इसके अनुसार तो हरि की अधमर्णता कभी सम्भव नहीं, क्योंकि मोक्ष के सजातीय द्रव्य का आदान हरि जब भक्त से किये हुए रहेंगे तभी वे उसके अधमर्ण हो सकते हैं।

---

१. 'यथासम्भवं हि हेत्वादित्रयं प्राप्तमुच्यते, न तु प्रत्येकम्'।
—हेलाराज, पृ० ३३४

२. 'विशेषविवक्षाया अभावे क्रियानिमित्तत्वमात्राश्रयणेन शेषत्वं प्राप्तमिति बोध्यम्'।
—ल० म०, पृ० १२७२

ऋण के विषय में दूसरी मान्यता है कि उपर्युक्त द्रव्यादान से उत्पन्न होने वाला, अधमर्ण में स्थित तथा परिशोधन से नष्ट होने योग्य अदृष्ट-विशेष को ऋण कहते हैं। इस विषय में गदाधर का कथन है कि इसी अदृष्ट के कारण ऋणशोध किये बिना मरे हुए लोगों को नरक-प्राप्ति होने की बात कही गयी है। दोनों मान्यताओं को मिलाकर ही गदाधर 'धारयति' का अर्थ करते हैं[1]। इस दूसरी मान्यता के अनुसार भी हरि अधमर्ण नहीं होते। अदृष्ट का निषेधात्मक प्रयोजन गदाधर स्पष्ट कह चुके हैं। हरि को मोक्षरूप ऋण का परिशोधन नहीं करने पर भी नरकादि फल नहीं मिल सकता। यदि मिलने लगे तो पूर्णत्व पर आपत्ति होगी। इस प्रकार स्थिति अत्यन्त ही विषम है। हरि वास्तव में अधमर्ण हैं कि नहीं ? नागेश समाधान करते हैं कि मोक्ष चूँकि अवश्यदेय है, अत: उसे भी ऋण कहा जा सकता है[2]।

(४) **'स्पृहेरीप्सितः'** (१।४।३६)—स्पृह-धातु (ईप्सा, चु० प०) के प्रयोग में जो पदार्थ ईप्सित अर्थात् इच्छा का विषय हो वह भी सम्प्रदान है; जैसे—'पुष्पेभ्यः स्पृहयति'। ईप्सित पुष्प सम्प्रदान हैं। यहाँ सम्प्रदान-संज्ञा के विधान के प्रयोजन को लेकर हेलाराज और हरदत्त में मतभेद है। हेलाराज का कथन है कि पुष्पों के ईप्सित-तम होने से कर्मसंज्ञा हो सकती थी, साथ ही शेषत्व-विवक्षा होने पर षष्ठी की भी प्राप्ति थी। इन दोनों का निवारण करके यह सूत्र सम्प्रदान का विधान करता है। दूसरी ओर हरदत्त का कहना है कि शेषत्व-विवक्षा में षष्ठी होती ही है, जिससे 'कुमार्य इव कान्तस्य त्रस्यन्ति स्पृहयन्ति च' में षष्ठी का समर्थन होता है। हेलाराज ऐसी स्थिति में कहेंगे कि विभक्ति-विपरिणाम से 'कान्ताय स्पृहयन्ति' के रूप में व्याख्या करनी चाहिए (प्रौढमनोरमा, पृ० ५२२)। यह सम्प्रदान-संज्ञा ईप्सितमात्र में सम-झनी चाहिए। जब प्रकर्ष की विवक्षा हो (ईप्सिततम) तब तो परत्व के कारण कर्मसंज्ञा ही होगी—'पुष्पाणि स्पृहयति'। इसीलिए तो कर्मत्व के कारण 'परस्परेण स्पृहणीयशोभम्' तथा 'स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिः' इत्यादि प्रयोग समर्थित होते हैं, जिनमें शोभा, गुण आदि स्पृह-धातु के कर्म हैं, क्योंकि प्रकर्षविवक्षा है। हेलाराज यहाँ पर 'स्पृहणीय' शब्द को दानीय के समान सम्प्रदानार्थक अनीयर्-प्रत्यय से निष्पन्न मान सकते हैं (द्रष्टव्य—उपरिवत्)। इनके अनुसार कर्म तथा शेषत्व के स्थान में सम्प्रदान ही होता है, जब कि हरदत्त तीनों सम्भावनाओं का विकल्प विवक्षा से ग्रहण करते हैं।

यह सही है कि 'स्पृहयति' इच्छामात्र का वाचक है। किन्तु इसका विशेष अर्थ दो प्रकार का होगा—(१) इच्छा के अनुकूल मनःसंयोगादि व्यापार का यह वाचक हो सकता है और ऐसी दशा में सम्प्रदान कारक होता है—'पुष्पेभ्यः स्पृहयति'। (२) कभी-कभी फल से अवच्छिन्न इच्छा का भी यह वाचक हो सकता है और तब कर्म-

---

१. 'तथा च द्रव्यान्तरदानाभ्युपगमपूर्वकपरदत्तद्रव्यादानजन्यादृष्टविशेषवत्त्वमेव धारयतेरर्थः'। —व्यु० वा०, पृ० २४३

२. 'आवश्यकदेयत्वेन तत्रापि ऋणव्यवहारात्'। —ल० म०, पृ० १२७२

कारक होगा—'पुष्पाणि स्पृहयति'। सम्प्रदान की स्थिति में ईप्सित पदार्थ धात्वर्थ के व्यापार से उत्पन्न फल का आश्रय होता है। यहाँ धात्वर्थ में फल का ग्रहण नहीं होता है। फलस्वरूप बोध होता है—पुष्पसम्प्रदानिका इच्छा। नागेश इस प्रकार हेलाराज की यह बात नहीं मानते कि कर्मसंज्ञा की प्राप्ति होने पर सम्प्रदान-विधान होता है। दोनों के विषय-क्षेत्र (jurisdiction) अत्यन्त भिन्न हैं। हाँ, शेष षष्ठी के अपवाद में इसे रख सकते हैं[1]। किन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि शेषविवक्षा होने पर षष्ठी का कोई वारण नहीं कर सकता।

नागेश के कथन का सारांश यह है कि—(१) क्रियाजनकत्व होने पर सम्प्रदान, (२) क्रियासम्बन्धित्व-मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी तथा (३) क्रिया के फल-लाभ की विवक्षा होने पर कर्म होता है[2]।

(५) **'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः'** (१।४।३७)—क्रोध (अमर्ष, रोष), द्रोह (अपकार या अहित की इच्छा), ईर्ष्या (परोत्कर्ष को न सहना) तथा असूया (गुणों में दोष ढूँढ़ना)—इन अर्थों का प्रयोग होने पर जिसके प्रति कोप हो वह सम्प्रदान होता है। जैसे—हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति। सम्प्रदान के सूत्रों में प्रथम सूत्र के अतिरिक्त एकमात्र इसी सूत्र की व्याख्या पतंजलि ने की है। वे शंका करते हैं कि क्रोधादि एकार्थक हैं या नानार्थक? यदि सबों का एक ही अर्थ है तो इनका पृथक्-पृथक् निर्देश क्यों किया गया है? और यदि ये नानार्थक हैं तो 'यं प्रति कोपः' इस सामान्य विशेषण से सम्बद्ध कैसे होंगे? क्या सबों में कोप का भाव रहता है?

इसका समाधान करते हुए वे कहते हैं कि कोप का वाच्यार्थ सबों में सामान्यतया रहता ही है, सभी वृत्तियाँ कोपमूलक ही हैं। कैयट इसे सम्प्रदान-विवक्षा के स्थानों के लिए प्रयुक्त मानते हैं—ऐसी बात नहीं है कि द्रोहमात्र या ईर्ष्यामात्र ही कोपपूर्वक होता है। 'यं प्रति कोपः' विशेषण की सार्थकता व्यभिचार (विरोधी उदाहरण) के मिलने में ही है। कहीं-कहीं कोपशून्य द्रोहादि मिलते हैं; यथा—भार्यामीर्ष्यति। यहाँ भार्या से इसलिए ईर्ष्या है कि दूसरा कोई उसे न देखे। कोप का भाव नहीं है। बात इतनी ही है कि दूसरे के द्वारा देखे जाने पर भार्या को सह नहीं पाता। उसमें असहिष्णुता है, अतः सम्प्रदान नहीं हुआ।

लघुमंजूषा में प्रसंगतः क्रोधादि का विश्लेषण हुआ है। वधादि के अनुकूल व्यापार को उत्पन्न करनेवाली एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति, जो क्रोध के रूप में है, वही धात्वर्थ (क्रुध् का अर्थ) है। दुःख उत्पन्न करनेवाली क्रिया के रूप में अपकारजनक चित्तवृत्ति को द्रोह कहते हैं। ये दोनों धातु अकर्मक हैं, क्योंकि धात्वर्थ से कर्म का उपसंग्रह होता है। जिस प्रकार 'प्राणान् धारयति' का उपसंग्रह 'जीवति' क्रिया में हो

---

१. 'शेषषष्ठ्यपवाद एतत्सम्प्रदानविभक्तिः'। —ल० म०, पृ० १२७३

२. ल० श० शे०, पृ० ४४३।

जाने से वह अकर्मक है उसी प्रकार 'क्रुध्यति' या द्रुह्यति' में भी क्रिया द्वारा कर्म का ग्रहण हो गया है— वधादिकं जनयति, अपकारं जनयति। विषयता-सम्बन्ध से इस धात्वर्थ के मूलरूप कोप से सम्बद्ध हरि को सम्प्रदान-संज्ञा हुई है। यहाँ शाब्दबोध होता है—'हरिसम्प्रदानको द्रोहः'। यह भी शेषषष्ठी का अपवाद है।

उत्कर्ष के विरोधी धर्म के आरोप के अनुकूल व्यापार को उत्पन्न करनेवाली चित्तवृत्ति ईर्ष्या है। शौच, आचारादि गुणों के विषय में 'दम्भ से ऐसा किया जा रहा है' इस प्रकार के दोषों के आरोप के अनुकूल चित्तवृत्ति का नाम असूया है। कोप भी एक चित्तवृत्ति है, जो सबों के मूल में है। कोप का प्रयोग सामान्यतया अव्यक्त क्रोध के लिए हुआ है। वही जब प्ररूढ हो, वाणी-नेत्रादि के विकारों से लक्षित हो तो उसे क्रोध कहा गया है।

नागेश प्रकृत सूत्र से बोध्य सम्प्रदान का निर्वचन करते हैं—'तद्धात्वर्थमूलभूतकोपविषयत्वे सति तद्धात्वर्थफलाश्रयस्य सम्प्रदानत्वम्' (ल० म०, पृ० १२७४)। अर्थात् उपर्युक्त चारों धातुओं के अर्थ के मूलभूत कोप का जो विषय हो तथा उन धातुओं के अर्थ के फलों का आश्रय हो वही यहाँ सम्प्रदान है। द्वेष का उदाहरण भी यहाँ दिया गया है। यह वह चित्तवृत्ति है जो अप्रीतिजनक है तथा प्रबल दुःख-साधनता के ज्ञान (कि यह वस्तु अत्यधिक दुःखदायी है) से उत्पन्न होती है। कोपाभाव में यहाँ सम्प्रदान नहीं होता। द्वेष को ही अनभिनन्दन (प्रीत्यभाव) कहते हैं। इसीलिए अचेतन पदार्थ में भी द्विष्-धातु का प्रयोग होता है—'औषधं द्वेष्टि'। इसमें केवल कर्म ही होता है—'योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः' (अथर्व० सं० २।११।३), 'रम्यं द्वेष्टि' (शाकु०)। 'मित्राय द्रुह्यति प्रतापः' (राजा का प्रताप सूर्य से भी द्रोह करता है)—यहाँ चेतनता का आरोप हुआ है।

हेलाराज यहाँ कर्मसंज्ञा की प्राप्ति होने पर सम्प्रदान-संज्ञा मानते हैं[1]। इसीलिए पाणिनि का यह विधान चरितार्थ होता है कि क्रुध् और द्रुह् धातु यदि सोपसर्ग हों तो जिसके प्रति कोप हो उसे कर्मसंज्ञा होती है, सम्प्रदान नहीं (१।४।३८)। जैसे—क्रूरमभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति। ये दोनों धातु मूलतः अकर्मक हैं। यह सन्दिग्ध है कि उसी अर्थ में उपसर्ग लगते ही ये सकर्मक हो जायँ और कर्म की खोज करें। इसीलिए कल्पना होती है कि अभि कर्मप्रवचनीय होगा जिसके प्रयोग में द्वितीया होती है।

(६) **'राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः'** (१।४।३९)—राध् (संसिद्धि) तथा ईक्ष (दर्शन) यद्यपि अपने अर्थों में प्रसिद्ध हैं तथापि प्रकृत स्थल में शुभ और अशुभ के पर्यालोचन के अर्थ में लिये गये हैं और वह पर्यालोचन भी प्रश्न पूछने के बाद हो।

---

१. 'द्रुह्यादौ कर्मसंज्ञाप्रसङ्गः। द्रोहस्यापकारत्वात्तदर्थाः सकर्मकाः। एवमीर्ष्यासूयार्था अपि'। स्पष्टतः ये सभी धातुओं को सकर्मक मानते हैं, किन्तु दीक्षित, नागेशादि प्रथम दो को अकर्मक तथा पिछले दो को सकर्मक मानकर क्रमशः षष्ठी तथा कर्मसंज्ञा के अपवाद के रूप में इस सम्प्रदान का ग्रहण करते हैं। देखें—श० कौ० २, पृ० १२५।

यहाँ भी शुभ और अशुभ इन दो कर्मों का धात्वर्थ (राध्यति, ईक्षते) के द्वारा उपसंग्रह हो रहा है, अतः ये दोनों क्रियाएँ अकर्मक हैं (श० कौ० २, पृ० १२५)। राध्यति = शुभाशुभं पर्यालोचयति। यही अर्थ 'ईक्षते' का भी है। विप्रश्न का अर्थ है विविध प्रश्न। जिसके शुभाशुभ की बात पूछी जाती है, उसीका विप्रश्न भी होता है। अतः सूत्रार्थ हुआ कि राध् और ईक्ष् धातुओं के प्रयोग में जिसके सम्बन्ध में अनेक प्रश्न पूछे जाते हैं वह कारक भी सम्प्रदान होता है। जैसे—'देवदत्ताय राध्यति ईक्षते वा' (देवदत्त के विषय में पूछने पर ज्योतिषी शुभाशुभ फल बतलाते हैं)।

हेलाराज यहाँ हेतुसंज्ञा की प्राप्ति होने पर सम्प्रदान मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार दैव (भविष्यत्फल) का पर्यालोचन करने के लिए गणक को देवदत्त ही प्रेरित करता है अर्थात् देवदत्त प्रयोजक या हेतु है। किन्तु ऐसा कहना सर्वथा अभ्रान्त नहीं है, क्योंकि देवदत्त के विषय में ज्योतिषी से पूछनेवाला व्यक्ति देवदत्त का कोई सम्बन्धी भी तो हो सकता है जो दैव-पर्यालोचन की प्रेरणा दे। ऐसी दशा में देवदत्त को हेतुसंज्ञा कहाँ प्राप्त है ? अतः नव्य-वैयाकरणों का मत है कि देवदत्त के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाने से षष्ठी की प्राप्ति अवश्य थी जिसे रोककर सम्प्रदान-संज्ञा विहित हुई है (श० कौ०)। नागेश के अनुसार धात्वर्थ 'प्रश्नविषयक शुभाशुभ का पर्यालोचन' है। उस प्रश्न के विषय से सम्बद्ध कृष्ण को सम्प्रदान होकर शाब्दबोध होगा—'कृष्णसम्प्रदानकम् (अर्थात्) कृष्णसम्बन्धिप्रश्नविषयशुभाशुभपर्यालोचनम्' (ल० म०, पृ० १२७५)।

(७) **'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता'** (१।४।४०)—प्रति और आङ्—इन दो उपसर्गों के बाद श्रु-धातु का प्रयोग हो तो पूर्व अर्थात् प्रवर्तन-रूप व्यापार का कर्ता सम्प्रदान होता है; जैसे—'देवदत्ताय गां प्रतिशृणोति, आशृणोति' (देवदत्त के द्वारा गौ देने के लिए प्रवृत्त किये जाने पर कोई उसे देने की प्रतिज्ञा करता है)। यहाँ वास्तव में दो वाक्य हैं। देवदत्त गोदान के लिए प्रेरणा देता है, तब दूसरा व्यक्ति उसे गोदान करने का वचन देता है। पूर्व वाक्य में प्रवर्तन-व्यापार है, जिसके कर्ता देवदत्त की सम्प्रदान-संज्ञा हुई। हेलाराज, दीक्षित तथा नागेश इस विषय में सहमत तथा समर्थनीय हैं कि हेतुसंज्ञा प्राप्त होने पर सम्प्रदान-विधान हुआ है। किन्तु हरदत्त के अनुसार विवक्षा से 'देवदत्तो गां प्रतिश्रावयति' प्रयोग हो सकता है (जहाँ प्रवर्तना-व्यापार के कर्ता को सम्प्रदानत्व-विवक्षा नहीं हुई है)। दीक्षित इसका दृढ़ प्रतिवाद करते हैं कि ऐसी दशा में तो 'देवदत्तो रोचयति मोदकम्' का प्रयोग भी अनिवार्य हो जायगा। किन्तु ऐसे प्रयोगों का हेलाराज ने तथा स्वयं हरदत्त ने विरोध किया है। वहाँ हेतुत्व का बाध करने के फलस्वरूप यदि णिच् नहीं होता तो यहाँ भी तुल्य अनुशासन होना चाहिए, विषमता ठीक नहीं। निष्कर्षतः हेतुसंज्ञा के स्थान में इस सूत्र से सम्प्रदान होता है, विवक्षा भी प्रतिवर्तन की अनुमति नहीं देती।

प्रवर्तन से उत्पन्न अभ्युपगम (स्वीकृति) धात्वर्थ है और स्वार्थ के लिए किये गये प्रवर्तन का आश्रय सम्प्रदान है (ल० म०, पृ० १२७५)।

(८) **'अनुप्रतिगृणश्च'** (१।४।४१)—अनु और प्रति से युक्त गृ-धातु (क्र्यादि, प०) का प्रयोग होने पर पूर्वक्रिया के कर्ता को सम्प्रदान कहते हैं। अनुगरण और प्रतिगरण वस्तुतः श्रौतयाग में प्रयुक्त होनेवाले शब्द हैं। यहाँ भी दो वाक्य होते हैं—पहले होता शंसन (ऋचाओं का पाठ) करता है, दूसरा व्यक्ति उसे प्रोत्साहित करता है। इसमें पूर्ववाक्य की क्रिया का कर्ता सम्प्रदान है—होत्रेऽनुगृणाति, प्रतिगृणाति। पूर्ववाक्य में शंसन-क्रिया है, उसका कर्ता 'होता' है। शंसनकर्ता के प्रोत्साहन के अर्थ में अनुगर-प्रतिगर क्रियाओं का प्रयोग होता है। इसलिए नागेश धात्वर्थ-निरूपण करते हैं—शंसन के विषय में हर्षानुकूल व्यापार से लक्षित होनेवाला प्रोत्साहन धात्वर्थ है (ल० म०, उपरिवत्)। शंसन का आश्रय (होता इत्यादि) सम्प्रदान है।

हेलाराज कहते हैं कि यहाँ 'होतारं शंसनेन (शंसन्तं ?) प्रोत्साहयति' इस रूप में वाक्यार्थ करने पर 'होता' को कर्मसंज्ञा प्राप्त थी, उसे रोक कर सम्प्रदान हुआ है। इन सभी सूत्रों में विशेष-विवक्षा के अभाव में षष्ठी तो प्राप्त है ही जिसके अपवाद-स्वरूप सम्प्रदान-विधान है।

(९) **'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्'** (१।४।४४)—इस सूत्र में करण और सम्प्रदान का विकल्प है। परिक्रयण का अर्थ है—वेतनादि से किसी को निश्चित समय के लिए स्वीकार करना, सदा के लिए क्रय नहीं करना। जब नियत समय के लिए (१ वर्ष, ३० वर्ष इत्यादि) कुछ वेतन देकर किसी को सेवक के रूप में स्वीकार किया जाय तो वही परिक्रयण है। परि = सामीप्य। क्रय = सदा के लिए स्वीकार करना[1]। परिक्रयण का अर्थ होने पर जो साधकतम कारक हो वह सम्प्रदान या करण भी है; जैसे—'शताय परिक्रीतः, शतेन वा' (सौ रुपयों से या के लिए वह नौकरी किये हुए है)। यहाँ शत का व्यापार है दान। सौ रुपयों को वह अपनी शक्ति प्रदान कर रहा है। नागेश इस सम्प्रदान के प्रति उपेक्षाभाव दिखलाते हैं कि करण का ही सम्प्रदान के रूप में भान होता है[2]।

---

१. 'परिशब्दः सामीप्यं द्योतयति। क्रयो नामात्यन्तिकं स्वीकरणम्। नियतकालं तु तस्य समीपमिति भावः'। —श० कौ० २, पृ० १२७

'तच्च नियतकालं ततो न्यूनत्वात्'। —प्रौढमनोरमा, पृ० ५२३

२. ल० श० शे०, पृ० ४४५।

अध्याय : ८

अपादान-कारक

व्युत्पत्ति

अप और आ इन दो उपसर्गों के बाद दानार्थक दा-धातु से भाववाचक ल्युट्-प्रत्यय लगकर निष्पन्न अपादान-शब्द का निर्वचन है—'अपादीयते पृथक् क्रियते' अर्थात् पृथक् किया जाना। आदान शब्द ग्रहण, धारण प्रभृति संश्लेषात्मक अर्थों में आता है, जब कि अपादान इसके ठीक विपरीत विश्लेषात्मक अर्थ में प्रयुक्त होता है। सामान्यतया सम्प्रदान और अपादान परस्पर सम्बद्ध शब्द हैं, जिनका समकालिक विकास हुआ था, क्योंकि संश्लेष तथा विश्लेष भी परस्पर सम्बद्ध हैं। ये ही उन दोनों कारकों के आधार हैं।

पाणिनीय लक्षण

अपादान का उक्त लौकिक अर्थ शास्त्रीय अर्थ से अनिवार्यतया सम्बद्ध होने पर भी भिन्न है। पाणिनि का अपादान-लक्षण इस प्रकार है—'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (१।४।२४)। अपाय उक्त विश्लेष या पृथक्करण के अर्थ में आया है। ध्रुव का[1] सामान्य अर्थ है—स्थिर। इसे पतंजलि ने भी स्वीकार किया है, यद्यपि कालान्तर में वैयाकरणों ने इसे अवधि के (जहाँ से विभाग आरम्भ हो) अर्थ में परिभाषित किया है। सूत्रार्थ है कि विश्लेष होने पर जो पदार्थ ध्रुव या स्थिर रहे वह अपादान है; यथा—'वृक्षात्पर्णं पतति'। वृक्ष और पर्ण के विभाग की स्थिति में पर्ण की अस्थिरता तथा वृक्ष की स्थिरता विवक्षित है, अतः वृक्ष अपादान है।

सूत्र में यदि 'ध्रुव' शब्द का प्रयोग नहीं होता तो 'ग्रामादागच्छति शकटेन' इस वाक्य में विश्लेषमात्र के आधार पर शकट को भी अपादान कहा जा सकता था, किन्तु अध्रुव होने के कारण शकट अपादान नहीं है। इसी प्रकार 'ग्रामादागच्छन् कंसपात्र्यां पाणिनौदनं भुङ्क्ते' (गाँव से आते हुए—कहीं पर राह में—कांस्यपात्र में हाथ से भात खाता है) इस वाक्य में 'कंसपात्री' को अपादान कह सकते थे, किन्तु विश्लेष होने पर भी यह ध्रुवत्व के अभाव में अपादान नहीं। इस पर कहा जा सकता है कि परत्व के कारण करण तथा अधिकरण संज्ञाएँ अपादान-संज्ञा की प्राप्ति रोक देती हैं। अतएव सूत्रस्थ 'ध्रुव' पद का प्रयोजन दिखलाने के लिए पतञ्जलि दूसरे प्रत्युदाहरण देते हैं—**वृक्षस्य पर्णं पतति, कुड्यस्य पिण्डः** (दीवाल का टुकड़ा) **पतति**। पतनक्रिया

---

१. 'ध्रु गतिस्थैर्ययोः इत्यस्मात्कुटादेः पचाद्यच्। ये तु ध्रुव स्थैर्ये इति पठन्ति तेषामिगुपधलक्षणः कप्रत्ययः'। —श० कौ० २, पृ० ११५

होने से यहाँ आपाततः अपाय की प्रतीति होती है, किन्तु वस्तुतः अपाय नहीं है। वृक्ष और पर्ण पृथक् नहीं हो रहे हैं और न कुड्य-पिण्ड का वियोग ही विवक्षित है। ध्रुव वस्तु की सत्ता के बिना केवल गति को अपाय नहीं कह सकते। लौकिक दृष्टि से अपाय रहने पर भी ध्रुव अविवक्षित है, अतः यहाँ वृक्ष और कुड्य को अपादान-संज्ञा नहीं होगी।

ध्रुव की शास्त्रीयता : अवधि की अनिवार्यता

ध्रुव का अर्थ यदि स्थिर या अचल लेते हैं तो उपर्युक्त—'वृक्षात्पर्णं पतति' इत्यादि उदाहरणों में तो अचलता के कारण अपादान-संज्ञा वृक्षादि में हो सकती है, किन्तु गतिशील पदार्थों में अपादान कैसे होगा? **रथात्प्रवीतात्पतितः** (तेज दौड़ते हुए रथ से गिर गया), **अश्वात् त्रस्तात्पतितः** (डरकर भाग रहे घोड़े से गिर पड़ा), **सार्थाद् गच्छतो हीनः** (जाते हुए अपने साथियों के समूह से बिछुड़ गया) इत्यादि ऐसे उदाहरण हैं जहाँ गतिशील रथ, अश्व, सार्थ इत्यादि निश्चित रूप से अपादान हैं। इनकी क्या व्यवस्था होगी? कात्यायन कहते हैं कि यहाँ अपादान इसलिए माना जा सकता है कि अध्रुवता अविवक्षित है[1] अर्थात् वक्ता इन पदार्थों को अध्रुव होने पर भी ध्रुव मानना चाहता है। परन्तु यह कैसे हो सकता है कि स्पष्टतः परि-स्पन्दित होनेवाले पदार्थों को हम ध्रुव मान लें?

पतंजलि कहते हैं कि अश्व में जो अश्वत्व (जाति, प्रवृत्ति निमित्त अर्थ) तथा आशुगामित्व (व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थ) है, वही ध्रुव है—इसे वक्ता कहना चाहता है। निश्चय ही वे एकरूपता को ध्रुव मानते हैं,[2] क्योंकि अश्व के उपर्युक्त धर्म सदा एकरूप हैं, वह चाहे शान्त हो या त्रस्त। कैयट कहते हैं कि ऐसे उदाहरणों में पहले कारक (अश्व) का क्रिया (पतितः) से अन्वय होता है, जो श्रुतिगम्य है। अब विशेषण के साथ वाक्यगत संबन्ध होता है (त्रस्तः अश्वः)। इस प्रकार यदि 'अश्वा-त्पतितः' इस संबन्ध के प्रदर्शन में अश्व में अध्रुवता नहीं है तो बाद में त्रस्त के साथ सम्बन्ध होने पर भी अश्व की अन्तरंग संज्ञा निवृत्त नहीं होगी, जिससे उसकी अध्रुवता भी पूर्ववत् बनी रहेगी। अब रही बात 'त्रस्त' शब्द के अपादानत्व की, यह कहा जा सकता है कि उसमें अपादान नहीं रहने पर भी विशेष्य के अनुरोध से ही विभक्ति लगायी गयी है, अनियम से नहीं[3]। 'त्रस्त' में विभक्ति-साधन का अन्य उपाय भी कैयट दिखलाते हैं जो नागेश के अनुसार भाष्य का स्वरस है। वह यह है कि 'त्रस्त' को भी अपादान माना जाय, क्योंकि त्रास की अपेक्षा से उसमें भले ही अध्रुवत्व हो

---

१. 'न वाऽध्रौव्यस्याविवक्षितत्वात्'। (१।४।२४ पर वार्तिक)

२. 'ध्रुवमेकरूपमुच्यते' —कैयट २, पृ० २४९

३. 'विशेषणस्यासत्यप्यपादानत्वे सामयिकी विभक्तिः।
सा च विशेष्यानुरोधेन प्रवर्तते, न त्वनियमेन'॥ —वहीं

किन्तु पतन-क्रिया को दृष्टि में रखते हुए तो उसमें ध्रुवत्व है ही। यही कल्पना परवर्ती वैयाकरणों के विवेचनों में विकसित हुई।

इसी प्रकार रथ और सार्थ में भी ध्रुवत्व का बोध किया जा सकता है। रथ में रथत्व (जाति) तथा 'जिसमें आनन्द लें' (रमन्तेऽस्मिन् इति रथः) यह व्युत्पत्ति-निमित्त अर्थ ही ध्रुव के रूप में विवक्षित है। सार्थ (Carvan) में सार्थत्व तथा सहार्थभाव (समान प्रयोजन होना, व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थ) ध्रुव हैं। इस रूप में ध्रुवत्व-मर्यादा का निर्वाह होता है। किन्तु यह व्यवस्था वहीं संभव है जहाँ क्रिया प्रवृत्तिनिमित्त नहीं हो, केवल व्युत्पत्तिजन्य अर्थ पर आसीन रहे। यदि क्रिया शब्द के व्यावहारिक अर्थ पर चलने लगे; यथा—'धावतः पतितः, त्वरमाणात्पतितः', तब अपादानत्व-साधक ध्रुव की मर्यादा कहाँ रहेगी ?[1] पतंजलि यहाँ भी अध्रुवत्व की अविवक्षा को सारी व्यवस्था का भार दे देते हैं। लोक में सत्पदार्थ की अविवक्षा और असत् की विवक्षा के उदाहरण मिलते हैं। 'अलोमिका एडका (लोमहीन = कम रोएँ वाली भेंड़), अनुदरा (उदरहीन = पतले उदरवाली) कन्या—यहाँ पदार्थ होने पर भी अविवक्षा के कारण नञ् का प्रयोग हुआ है। 'समुद्रः कुण्डिका' (सागर एक छोटा कलश है), विन्ध्यो वर्धितकः (विन्ध्याचल भात का छोटा पिण्ड है)—यहाँ पदार्थ वस्तुतः उस प्रकार के नहीं हैं तथापि विवक्षा है। अतः अवस्थित होने पर भी अध्रुव-त्व की अविवक्षा लौकिक व्यवहार के लिए नई चीज नहीं है।

इस प्रकार पतंजलि अपादान-संज्ञा के सूत्र में प्रयुक्त ध्रुव तथा अपाय दोनों को अपने व्यावहारिक अर्थ में लेकर सब प्रकार के संभाव्य प्रयोगों की व्याख्या करते हैं। बाद के वैयाकरणों ने दोनों को पारिभाषिक अर्थ में लिया है। इस दिशा में भर्तृहरि का महत्त्वपूर्ण योगदान है, किन्तु उनके नाम से अनेक कारिकाएँ, जो अपादान के प्रसङ्ग में वैयाकरणों के द्वारा उद्धृत की गयी हैं, वाक्यपदीय के वर्तमान संस्करण में नहीं मिलती। तथापि उनका अपादान-विवेचन समस्त परवर्ती ग्रन्थकारों के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उपजीव्य रहा है, इसमें संदेह नहीं।

प्रस्तुत ध्रुवत्व को भर्तृहरि द्रव्य का स्वभाव अर्थात् कूटस्थ या निष्क्रिय के अर्थ में नहीं लेते, ऐसा उन्हें सूत्र का स्वारस्य प्रतीत होता है। पतंजलि की 'अश्वत्व, आशुगामित्व'—प्रभृति व्याख्या से असम्मति दिखलाते हुए वे अपाय के विषय को ध्रुव मानते हैं[2]। अपाय अर्थात् पृथक् होने की क्रिया के प्रति जो स्थिर हो, अपाय क्रिया से असंस्पृष्ट हो तथा उसके प्रति जो उदासीन हो वही ध्रुव हो सकता है। 'धावतो-ऽश्वात्पतितः' इस वाक्य में अपायबोधक क्रिया 'पतितः' है। इसका कर्ता अश्व नहीं

---

१. 'ये त्वेतेऽप्यन्तं गतियुक्तास्तत्र कथम्। धावतः पतितस्त्वरमाणात्पतित इति'।
—भाष्य २, पृ० २४९

२. 'द्रव्यस्वभावो न ध्रौव्यमिति सूत्रे प्रतीयते।
अपायविषयं ध्रौव्यं यत्तु तावद् विवक्षितम्'॥ —वा० प० ३।७।१३८

है, प्रत्युत अश्व उस क्रिया के प्रति उदासीन है। पतन-क्रिया से अनावेश (साक्षात्सम्बन्ध का अभाव) रहने के कारण अश्व का ध्रुवत्व निर्विवाद है[1]। नव्य-व्याकरण ग्रन्थों में भर्तृहरि के नाम से इस कारिका का बहुधा उद्धरण दिया गया है—

'अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाचलम्।
ध्रुवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते'॥

इसका उदाहरण दिखलाने के लिए एक पृथक् श्लोक दिया गया है—

'पततो ध्रुव एवाश्वो यस्मादश्वात्पतत्यसौ।
तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते'॥

इन श्लोकों का भाव हेलाराज ने (वा० प० ३।७।१३८-३९ की व्याख्या) तो दिया ही है भर्तृहरि भी इससे सहमत हैं।

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त क्रम से विश्लेष क्रिया के प्रति जो उदासीन या निरपेक्ष हो, वह चाहे चल हो या अचल; वही **ध्रुव** है, क्योंकि वह विश्लेष-बोधक क्रिया से साक्षात्सम्बद्ध नहीं है। इसलिए ध्रुव के दो भेद हैं—अचल (वृक्ष) तथा चल। दूसरे श्लोक में चल ध्रुव की ही सोदाहरण व्याख्या है। 'कुड्यात्पततोऽश्वात्पतति' (दीवार से गिर रहे घोड़े से वह गिरता है)—इस उदाहरण में विश्लेषण-हेतुक दो क्रियाएँ हैं। 'पतति' से बोध्य द्वितीय पतन-क्रिया का कर्ता कोई व्यक्ति है जो अश्व पर आरूढ है। जिस अश्व से वह व्यक्ति गिरता है वह इस पतन-क्रिया के प्रति उदासीन होने के कारण ध्रुव है। दूसरे शब्दों में—व्यक्ति के पतन के प्रति अश्व ध्रुव है। किन्तु वही अश्व 'पततः' से बोध्य प्रथम पतन-क्रिया के प्रति कर्ता है, ध्रुव नहीं। इस क्रिया के प्रति निरपेक्ष होने से कुड्य अवश्य ही ध्रुव है। इस प्रकार 'ध्रुव' का निर्गलित अर्थ हुआ—विश्लेष-हेतुक (पतन, सरण, हान, भ्रंश इत्यादि) क्रिया का प्रयोग होने पर जो पदार्थ उस क्रिया के प्रति उदासीन हो, वही ध्रुव है। भर्तृहरि ने ध्रुव तथा अध्रुव का भेद दिखलाया है—

'सरणे देवदत्तस्य ध्रौव्यं पाते तु वाजिनः।
आविष्टं यदपायेन तस्याध्रौव्यं प्रचक्षते'॥ —वा० प० ३।७।१३९

अश्व में समवेत सरण-क्रिया (तेज दौड़ता) होने पर जिस प्रकार देवदत्त में ध्रुवत्व है, क्योंकि उस क्रिया से वह अप्रभावित रहता है, ठीक उसी प्रकार देवदत्त में समवेत पतनक्रिया होने पर उससे अप्रभावित (अनाविष्ट) होने के कारण अश्व में भी ध्रुवत्व है। 'अपाय का अनावेश' ध्रुव होने का हेतु है। दूसरी ओर जो पदार्थ अपायाविष्ट है उसे अध्रुव कहते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि अश्व के भागने पर देवदत्त को लौकिक दृष्टि से ध्रुव भले ही कह लें, किन्तु पारिभाषिक ध्रुवत्व के अभाव

१. 'ध्रुवं कूटस्थं निष्क्रियमिति द्रव्यस्वभावः।'''ध्रुवताश्वस्य तत्रास्त्येव'।
—हेलाराज २, पृ० ३४०

में उसे अपादान-संज्ञा नहीं होगी। कारण यह है कि ध्रुव होने पर भी अवधि (जहाँ से विश्लेष का आरम्भ हो) के रूप में देवदत्त का ग्रहण नहीं हुआ है। यदि उस रूप में ग्रहण करें तो 'सरतो देवदत्ताद् धावत्यश्वः' इस प्रकार अपादान की प्राप्ति अवश्य होगी। यह अवधि ही ध्रुव को लोक-प्रयुक्त अर्थ से हटाकर शास्त्रीय अर्थ में व्यवस्थित करती है। तदनुसार यह विभाग की सीमा और अपाय से अनाविष्ट पदार्थ के रूप में ध्रुव को नियत करती है।

अवधि का महत्त्व इतना अधिक है कि इसके अभाव में किसी भी गति को अपाय कह ही नहीं सकते[1]। स्पष्टतः अपाय भी सावधि गति मात्र के लिए प्रयुक्त होने से पारिभाषिक शब्द सिद्ध होता है। 'वृक्षस्य पर्णं पतति' इस वाक्य में वृक्ष से सम्बद्ध पर्ण का पतन विवक्षित है। वक्ता वृक्ष को अवधि के रूप में रखना नहीं चाहता, अतः इसमें पतन-क्रिया होने पर भी अवधि की अविवक्षा से अपाय की प्रतीति नहीं होती। इसलिए अपादान-मूलक पञ्चमी भी नहीं है। अपाय की विवक्षा होने से वृक्ष अवधि हो जायगा और तभी 'वृक्षात्पर्णं पतति' का प्रयोग हो सकेगा। ऐसी स्थिति में यह ज्ञात नहीं होता कि पर्ण किससे सम्बद्ध है—कंक से या कुरर से? षष्ठीवाले उदाहरण में वृक्ष की विवक्षा पर्ण के विशेषण के रूप में हुई है—वृक्षसम्बद्ध पर्ण। इसका अर्थ है कि यह प्रयोग तभी होता है जब शाखा पर स्थित पर्ण वृक्ष का त्याग किये बिना भूमि का स्पर्श करता है। अतः अवधिहीन गति अपाय नहीं होती, अन्यथा उक्त वाक्य में अपादान-संज्ञा हो सकती थी[2]।

ध्रुव के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए 'उदासीन' शब्द की व्याख्या करते हुए पुरुषोत्तमदेव कुछ अधिक स्पष्ट प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं कि अपाय के विषय में जो अविचलता है अर्थात् गमन-क्रिया के प्रति अगमन, पतन-क्रिया के प्रति अपतन, वही ध्रुव है। 'धावतोऽश्वात्पतति देवदत्तः' में देवदत्त के गिरने पर अश्व तो नहीं गिरता। यदि वह भी गिरता तो 'अश्वदेवदत्तौ पततः' यह प्रयोग होता। पतन-क्रिया में अनुप्रवेश न होने से अश्व की उदासीनता ध्रुवत्व है।

अब एक शंका होती है कि यदि यह ध्रुव क्रिया के प्रति उदासीन है तो कारक नहीं हो सकता, क्योंकि कारक घटना-रूप होता है और उदासीन घटित नहीं होता। उसके घटित होने पर उदासीनता पर ही आक्षेप होगा[3]। इसका उत्तर पुरुषोत्तम देते

---

१. 'गतिर्विना त्ववधिना नापाय इति कथ्यते।
वृक्षस्य पर्णं पततीत्येवं भाष्ये निर्दर्शितम्'॥ —वा० प० ३।७।१४३

२. उक्त कारिका पर हेलाराज—'एतस्माच्चावसीयते—सावधिकगतिरपायो, न शुद्धा। अन्यथावध्यविवक्षायामप्यत्रापायसम्भवादपादानत्वं स्यादेवेति ज्ञापकमेतत्'।

३. 'ध्रुवं न कारकं मन्ये नोपकारि गतौ यतः।
अपायाधारभूतोऽसौ स क्रियश्च न कथ्यते'॥ —पुरु० कारकचक्र, पृ० १११

हैं कि सभी कारक स्वगत क्रिया के द्वारा प्रधान-क्रिया के निमित्त बनते हैं, यह सर्व-सम्मत सत्य है। जिस प्रकार पाक-क्रिया में काष्ठादि ज्वलन-क्रिया के द्वारा ही निमित्त बनते हैं उसी प्रकार 'ग्रामाद् देवदत्तः आगच्छति' इस वाक्य में ध्रुवरूप ग्राम भी अवस्थान-क्रिया के द्वारा देवदत्त के आगमन (अर्थात् प्रधान क्रिया) के प्रति निमित्त है। यह सच है कि ग्राम अवस्थित है तथापि वह इस रूप में रहकर ही प्रधान क्रिया का निर्वर्तक होने से कारक है। दूसरे शब्दों में—ग्राम अपने अनागमन द्वारा देवदत्त के आगमन का निमित्त है। सभी कार्यों की कुछ कारण-सामग्री होती है। यहाँ अपनी क्रिया से उदासीन साधन के द्वारा साध्य होने से अपायरूप कार्य की यही कारणसामग्री है[1]।

पुनः शंका होती है कि अवस्थान जो गतिनिवृत्ति के अर्थ में आता है अभावरूप पदार्थ है, इसे क्रिया कैसे कह सकते हैं? उत्तर यह है कि वैयाकरणों ने धात्वर्थ को ही क्रिया माना है, अतः धातु से अभिहित होने के कारण अभाव भी क्रिया है; जैसे 'नश्यति' से अभिधेय क्रिया अभावरूप ही है। यदि अभावरूप क्रिया नहीं मानते तो 'अवतिष्ठते' 'नश्यति' इत्यादि में अक्रियार्थक की धातुसंज्ञा होती ही नहीं।

उदासीन का यहाँ अर्थ है कि आगमन-क्रिया के प्रति वह कर्ता नहीं है। देवदत्त जा रहा है, ग्राम उसका अनुगमन नहीं करता। तथापि वह अपाय का निमित्त तो है ही। अपाय एक सम्बन्ध है, जिसकी सिद्धि दो सम्बन्धियों के द्वारा होती है। इस अपाय में एक सम्बन्धी तो क्रिया में प्रवृत्त होता है (कर्ता), किन्तु दूसरा प्रवृत्त नहीं होता (अपादान)—इस दूसरे सम्बन्धी की उदासीनता भी अपाय-सिद्धि में निमित्त है। ध्रुव की उदासीनता का यही तात्पर्य है।

अपाय तथा वैशेषिक दर्शन का विभाग-विवेचन

यद्यपि अपाय शास्त्रीय अर्थ में आया है किन्तु वैशेषिक-दर्शन में स्वीकृत अन्यतम गुण—विभाग से इसकी प्रायः पर्यायता है। अपादान के विविध उदाहरणों की व्याख्या के लिए इसका परिचय आवश्यक है। प्राप्तिपूर्वक अप्राप्ति को वैशेषिक विभाग कहते हैं,[2] जो विभक्ति की प्रतीति का कारण है। कणाद ने संयोग के भेदों का ही अतिदेश विभाग में किया है[3]। यह विभाग पहले दो भागों में बँटा है—कर्मज तथा विभागज। कर्मज विभाग सम्बन्धियों में से किसी एक के कर्म से उत्पन्न हो सकता है (अन्यतरकर्मज); जैसे—स्थाणु और श्येन का विभाग; दोनों के कर्मों से भी उत्पन्न होता है (उभयकर्मज); जैसे संयुक्त मल्लों या मेषों का विभाग। विभागज विभाग

---

१. 'कस्यचित्कार्यस्य कियत्यपि सामग्री, स्वक्रियोदासीनसाधनसाध्यत्वाद् अपायस्ये-यती सामग्री'।

२. प्रशस्तपादभाष्य (चौखम्बा सं०), पृ० ६७।

३. द्रष्टव्य—'एतेन विभागो व्याख्यातः' (वै०सू० ७।२।१०) तथा उपस्कार।

की सिद्धि में वैशेषिकों का स्वतन्त्र अभिनिवेश है[1]। यह भी दो प्रकार का है—(क) कारणमात्र से उत्पन्न विभाग, यथा—दो कपालों के विभाग से उत्पन्न कपाल तथा आकाश (पूर्वदेश) का विभाग। (ख) कारण तथा अकारण दोनों के विभाग से उत्पन्न कार्य तथा अकार्य का विभाग, यथा—हस्त और पुस्तक के विभाग से उत्पन्न शरीर और पुस्तक का विभाग। यहाँ शरीर का कारण हस्त (अवयव) तथा अकारण पुस्तक है। इन दोनों के विभाग से हस्त के कार्य (शरीर) तथा अकार्य (पुस्तक) का विभाग उत्पन्न हुआ है[2]।

अन्यतरकर्मज तथा उभयकर्मज विभागों में अपादान की स्थिति

वैशेषिकों के इस विभाग-विवेचन से परवर्ती वैयाकरणों की व्याख्या अत्यधिक प्रभावित हुई है। पतञ्जलि अन्यतरकर्मज विभागमात्र के उदाहरण से सन्तुष्ट हैं, किन्तु भर्तृहरि उभयकर्मज विभाग की भी व्याख्या करते हैं, जिस विषय में उनकी ये दो प्रसिद्ध कारिकाएँ हैं—

'उभावप्यध्रुवौ मेषौ यद्यप्युभयकर्मजे।
विभागे प्रविभक्ते तु क्रिये तत्र विवक्षिते॥
मेषान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक्।
मेषयोः स्वक्रियापेक्षं कर्तृत्वं च पृथक् पृथक्'॥

—वा० प० ३।७।१४०-४१

'स्थाणोः श्येनोऽपसर्पति' (सूखे वृक्ष से बाज अलग हो रहा है)—यहाँ तो अन्यतरकर्मज विभाग है। गमन-रूप कर्म केवल बाज में है, स्थाणु में नहीं। इसलिए अपाय का अनावेश होने से स्थाणु को ध्रुव कहेंगे। किन्तु 'अपसर्पतो मेषादपसर्पति मेषः' (हटते हुए मेष से दूसरा मेष हटता है) इसमें उभयकर्मज विभाग है, दोनों मेष अलग हो रहे हैं। अपाय से सीधे सम्बन्ध होने के कारण दोनों मेष यद्यपि अध्रुव हैं तथापि एक के अपाय से दूसरे का अनावेश है। अतः कर्तृभेद से अपायबोधक क्रियाएँ भी भिन्नरूप दी गयी हैं। एक मेष को दूसरे मेष की क्रिया की अपेक्षा से अवधि कहा जा सकता है, क्योंकि उसे मेषान्तर के साथ लगी हुई अपाय-क्रिया आविष्ट नहीं करती। तदनुसार दोनों मेष बारी-बारी से अपादान होंगे। दूसरी ओर यदि दोनों मेषों का विचार अपनी क्रिया को दृष्टि में रखकर करें तो उनका कर्तृत्व भी निर्विवाद है। यह भी एक-एक करके सम्भव है। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मेष कर्ता और अपादान दोनों है। कौण्डभट्ट भी इसका विश्लेषण इसी रूप में करते हैं[3]।

---

१. 'द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः'॥

—सर्वदर्शनसं०, पृ० ४१९ (औलूक्य०)

२. द्रष्टव्य—भाषापरिच्छेद, १२०-२१।

३. 'यथा निश्चलमेषादपसरद् द्वितीयमेषस्थलेऽपसरद्द्वितीयमेषक्रियामादायापरस्य

कभी-कभी परस्पर अवधिभाव की विवक्षा नहीं होती और एक शब्द का ग्रहण करके दोनों में विद्यमान क्रियाओं की संयुक्त रूप से विवक्षा होती है; जैसे—'पर्वतात् मेषावपसर्पत:' (पर्वत से दोनों मेष हट रहे हैं) अथवा 'परस्परस्मात् मेषावपसर्पत:' (दोनों मेष एक-दूसरे से हट रहे हैं)। ऐसी स्थिति के विषय में भर्तृहरि कहते हैं—

'अभेदेन क्रियैका तु द्विसाध्या चेद्विवक्षिता।
मेषावपाये कर्तारौ यद्यन्यो विद्यतेऽवधिः' ॥ —वा० प० ३।७।१४२

दो कर्ताओं द्वारा सम्पाद्य क्रिया (मेषावसर्पत:) यदि एकात्मक रूप में प्रतीत करायी जा रही हो तो दोनों मेषों में क्रियावेश के कारण कर्तृत्व सिद्ध होता है। यद्यपि ऐसी स्थिति में अपाय हो रहा है तथापि किसी एक को भी अवधि नहीं कहा जा सकता। इसीलिए इनमें अपादान-कारक भी नहीं है। ध्रुव के रूप में पर्वतादि जब अवधि हैं तब अपाय के कर्ता मेष ही रहते हैं। पर्वत या परस्पर को ध्रुवत्व के आधार पर अपादानसंज्ञा हुई है (द्रष्टव्य—उक्त कारिका पर हेलाराज)।

दीक्षित तथा कौण्डभट्ट **'परस्परस्मान्मेषावपसर्पत:'** में प्रत्येक को ध्रुव तथा कर्ता मानते हैं कि एक मेष में विद्यमान गति को लेकर दूसरे मेष को अपादानत्व हुआ है[1]। प्रस्तुत वाक्य को **'अपसर्पतो मेषादपसर्पति मेषः'** के तुल्य योगक्षेम समझकर टालने की प्रवृत्ति इन दोनों में है। नागेशभट्ट ने इसीलिए अपनी लघुमञ्जूषा में भूषणकार के मत का अनुवाद करके प्रबल खण्डन किया है। किन्तु इसे पूरे परिप्रेक्ष्य में ही देखना ठीक होगा।

नागेश द्वारा अपादानत्व-निर्वचन

लघुमञ्जूषा में अपादानत्व-शक्ति का निर्वचन इस प्रकार है—'प्रकृतधातूपात्त-विभागजनक-व्यापारानाश्रयत्वे सति प्रकृतधात्वर्थविभागाश्रयो यस्तद्वृत्तिः' (पृ० १२-८४-५)। जिस धातु का वाक्य में प्रयोग होता है वह प्रकृत धातु है; जैसे—पत्, आ+गम्, अप+सृ इत्यादि। इनमें विभाग का अर्थ समाविष्ट है। अपादान-कारक इस प्रकार के विभाग को उत्पन्न करनेवाले व्यापार का आश्रय (आधार) नहीं होता है। 'पर्णं पतति', 'रामः आगच्छति' इत्यादि वाक्यों में पर्ण, राम इत्यादि विभागजनक व्यापार के आश्रय हैं, किन्तु अपादान ऐसे नहीं होते इसलिए यह विशेषणांश कर्तृ-कारक में अतिव्याप्तिवारण के लिए लगाया गया है। अपादान का मुख्य लक्षण तो विशेष्यांश में प्रकट हुआ है कि प्रकृत धातु के अर्थ रूप में जो विभाग हो रहा हो उसका आश्रय अपादान है (प्रकृत-धात्वर्थविभागाश्रय)। किन्तु विभाग के आश्रय

ध्रुवत्वं तथात्रापि विभागस्यैक्येऽपि क्रियाभेदादेकनिष्ठक्रियामादायापरस्य ध्रुवत्वम्'। —वै० भू०, पृ० ११०

१. 'तथा परस्परस्मान्मेषावपसरत इत्यत्र सृधातुना गतिद्वयस्याप्युपादानात् एक-मेषनिष्ठां गतिं प्रत्यपरस्यापादानत्वं सिध्यति'। —श० कौ० २, पृ० ११५

तो वृक्ष और पर्ण दोनों हैं, अतः उभयत्र समान रूप से प्रसक्त होनेवाले अपादान का पर्ण में अतिव्याप्ति-वारण के लिए पूर्व विशेषण लगाया गया है।

वस्तुस्थिति यह है कि पत्-धातु वृक्ष और पर्ण में विभाग उत्पन्न करता है, दोनों ही इस विभाग के आश्रय हैं। किन्तु पर्ण विभागाश्रय होने के साथ-साथ विभागजनक क्रिया (पतन) का भी आश्रय है। सारांशतः पर्ण विभाग का कर्ता है, जब कि वृक्ष नहीं। अतः वृक्ष विभागजनक व्यापार का आश्रय नहीं होने से अपादान है।

परमलघुमञ्जूषा में अपादान-निर्वचन की दूसरी ही प्रक्रिया देखी जाती है—'तत्तत्कर्तृसमवेत-तत्तत्क्रियाजन्य-प्रकृतधात्ववाच्यविभागाश्रयत्वमपादानत्वम्'। 'चैत्रो ग्रामादायाति' में चैत्र कर्ता है, उत्तरदेशसंयोगानुकूल क्रियाएँ (चरणप्रक्षेपादि) उसी कर्ता में समवेत हैं, क्योंकि क्रिया और क्रियावान् में अयुतसिद्धि होने के कारण समवाय सम्बन्ध है। ये क्रियाएँ विभागजनक हैं। यहाँ प्रकृत धातु (या = जाना) का विभाग के साथ वाच्य-वाचक-भाव नहीं है, आना-जाना विभागजनक है, किन्तु उसके वाचक नहीं। अतः विभाग उक्त क्रियाओं से उत्पन्न होने के साथ-साथ धातु से अवाच्य भी है। ऐसे ही विभाग का आश्रय अपादान है। हम जानते हैं कि प्रकृत धातु से वाच्य व्यापार का आश्रय कर्ता ही हो सकता है। वैसे 'अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते' इस नियम से ही अपादान की प्रवृत्ति कर्ता रोक देता है।

'तरुं त्यजति खगः' में भी विभाग का बोध होता है, किन्तु दोनों विभागाश्रयों में कोई भी अपादान नहीं है, क्योंकि यहाँ त्यज्-धातु का वाच्यार्थ ही विभाग है। अतः प्रकृत धातु से वाच्य विभाग-व्यापार का आश्रय होने से खग कर्ता है तथा उक्त विभाग-व्यापार का फलतावच्छेदक सम्बन्ध से आश्रय होने से तरु कर्म है। यहाँ भी परत्व के कारण कर्मसंज्ञा अपादान को बाधित करेगी—यह युक्ति देना सम्भव है। इस लक्षण के अनुसार अपादान की अनिवार्यताएँ इस प्रकार हैं—

(१) विभाग का आश्रय होना।
(२) विभाग की क्रियाजन्यता (वैशेषिकानुमोदित)।
(३) उक्त क्रिया का कर्ता में समवेत होना।
(४) विभाग का प्रकृत धातु से अभिधेय न होना।

'परस्परस्मान्मेषावपसरतः' में प्रत्येक मेष अपनी पारी (turn) आने पर अपादान है। एक (मेष) में समवेत क्रिया से उत्पन्न विभाग का आश्रय दूसरा (मेष) है—यही 'तत्तत्' का तात्पर्य है। अतएव दोनों ही बारी-बारी से अपादान हैं और इसीलिए दोनों मेषों के लिए बारी-बारी से प्रयुक्त 'परस्पर' अपादान होने के कारण पञ्चमी ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त मेष तथा परस्पर—इन दोनों शब्दों के अर्थों में औपाधिक या कृत्रिम भेद मानकर कारक-व्यवस्था की जाती है। 'मेष' पद के वाच्यार्थ के रूप में जो दो पशु-विशेष हैं उन्हें क्रियाश्रय अर्थात् कर्ता मानने की विवक्षा है। दूसरी ओर 'परस्पर' शब्द के वाच्यार्थ के रूप में जो वही पशुविशेष हैं, उनकी विभागाश्रयत्व(अपादानत्व)-विवक्षा है। इस प्रकार एक ही पदार्थ शब्दगत

उपाधि के भेद से भिन्न कारकों में व्यवस्थित है[1]। यही कारण है कि 'देवदत्तयज्ञदत्तावन्योन्यमाश्लिष्यतः' में अन्योन्य-शब्द में कर्मत्व की सिद्धि होती है (लघुमञ्जूषा, पृ० १२८७)।

नागेश इस विषय में भर्तृहरि के मत का खण्डन करते हैं। सर्वप्रथम वे हरि-मत का इस रूप में उल्लेख करते हैं—एक-एक (मेष) व्यक्ति के रूप में विभाग की बुद्धिगत व्यवस्था करके एक-एक विभाग के अनुकूल क्रिया की सत्ता दूसरे मेष-व्यक्ति में नहीं पाये जाने के कारण दोनों को ध्रुव कहा जा सकता है[2]। आशय यह है कि हरि ऐसी स्थिति में दो क्रियाओं की सत्ता मानते हैं। नागेश बतलाते हैं कि यद्यपि मेषों में समवेत क्रियाओं में भेद है, तथापि सृ-धातु के द्वारा यही गृहीत हो रहा है कि दोनों क्रियाओं में भेद की निवृत्ति हो चुकी है। इसलिए दोनों मेषों को अपसरण-क्रिया का आश्रय होने के कारण परिवर्तिनी कर्तृसंज्ञा ही दी जा सकती है, अपादान-संज्ञा नहीं[3]। सृ-धातु से बोध्य क्रिया एकात्मक है, दो के रूप में प्रतीत होनेवाला पदार्थ वास्तव में क्रिया का आश्रय (मेष) है। यह तस्-विभक्ति के द्वारा बोध्य है। पतञ्जलि ने इसीलिए कहा है कि तिङन्त-रूपों का एकशेष नहीं हो सकता, क्योंकि क्रिया एक-रूप ही होती है[4]। जिस प्रकार 'बालकश्च बालकश्च बालकौ' में एकशेष होता है, उसी प्रकार 'अपसरति चापसरति चापसरतः' नहीं हो सकता। अतः भर्तृहरि का यह कथन कि 'एक की क्रिया की अपेक्षा से दूसरे मेष को ध्रुव या अवधि कहें' असंगत है। वास्तव में दोनों की क्रियाएँ तो एकरूप हो गयी हैं। भर्तृहरि के अनुयायी भूषणकार के मत का भी खण्डन प्रधानमल्ल-निबर्हण न्याय से हो जाता है।

इस प्रकार 'परस्परस्मान्मेषावपसरतः' की व्याख्या के दो भाग हैं—(१) प्रत्येक कर्ता में एकरूप क्रिया बारी-बारी से समवेत होती है। यह सही है कि क्रिया एक ही है किन्तु वह जिस समय एक मेष में समवेत है, उस समय उसी मेष की क्रिया से विभाग उत्पन्न होता है। भर्तृहरि दोनों मेषों की दो क्रियाओं की युगपत् सत्ता मानते हैं—यही भेद है। (२) इसके अतिरिक्त मेष और परस्पर शब्दों के अर्थ में औपाधिक भेद है, यद्यपि दोनों का पर्यवसान मेष-रूप अर्थ में ही होता है। इसी से एक कर्ता और दूसरा अपादान है। यह आशंका की जा सकती है कि इस औपाधिक भेद को ही लेकर अपादान की सिद्धि कर दी जाय, व्यर्थ 'तत्तत्कर्तृसमवेत' यह अंश क्यों लगाया गया है ? किन्तु हम पूर्व अंश का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, क्योंकि

१. 'शब्दस्वरूपोपाधिकृतभेदोऽप्यर्थे गृह्यते'। —प० ल० म०, पृ० १८४

२. 'तत्तद्व्यक्तित्वेन विभागस्य बुद्धया तत्तद्विभागानुकूलक्रियावत्त्वस्य अपरत्राभावादुभयोरपि ध्रुवत्वमित्यर्थः'। —ल० म०, पृ० १२८७

३. 'वस्तुतस्तन्निष्ठयोर्भेदेऽपि सृधातुना निवृत्तभेदस्यैवोपादानादुभयोरपि तत्क्रियाश्रयत्वेन परत्वात्कर्तृत्वापत्तेः'। —वही, पृ० १२८८

४. भाष्य (१।२।६४ सरूपाणाम्०)—'न वै तिङन्तान्येकशेषारम्भं प्रयोजयन्ति, क्रियाया एकत्वात्'।

'पर्वतात्पततोऽश्वात्पतति' में औपाधिक भेद कुछ नहीं कर सकता, अपादानत्व-सिद्धि का भार पूर्व अंश पर ही है। एक ही पदार्थ विभिन्न पदार्थों के सम्पर्क से बारी-बारी से कर्ता और अपादान दोनों हैं--पर्वत के अपादानत्व की स्थिति में अश्व कर्ता है और अश्व के अपादानत्व की दशा में अश्ववाह कर्ता है। शास्त्रीय शैली में कहेंगे कि अश्व में समवेत क्रिया से जन्य तथा प्रकृत धातु के अवाच्य-रूप विभाग का आश्रय होने से पर्वत अपादान है। दूसरी ओर अश्ववाह में समवेत क्रिया से जन्य तथा प्रकृत धातु के अवाच्यरूप विभाग का आश्रय होने से अश्व भी अपादान है[1]।

'प्रकृत धात्वर्थ' का तात्पर्य धातुगत शब्द से गृहीत अर्थ नहीं, प्रत्युत नागेश विवक्षित अर्थ को धात्वर्थ मान रहे हैं। यही कारण है कि 'धनुषा विध्यति' में अपादान-संज्ञा को रोक कर करण-संज्ञा होती है। वास्तव में यहाँ दो क्रियाएँ हैं--(१) धनुष से बाण का निःसरण तथा (२) बाण द्वारा लक्ष्य का वेध। 'विध्यति' में जो 'व्यध-धातु' है उसका यहाँ विवक्षित अर्थ है—निःसरणजन्य वेध। यदि बाण-निःसरण पर दृष्टि रखते हैं तो धनुष अवधि (ध्रुव) हो जायगा, किन्तु यदि व्यधन-क्रिया पर ध्यान दें तो वह करण हो जाता है। इस प्रकार विवक्षितार्थ का ही ग्रहण करने से दोनों कारकों की उपस्थिति निमित्त-रूप में हो पाती है तथा विप्रतिषेध-परिभाषा को अपनी शक्ति दिखलाने का अवसर मिलता है। यदि केवल शब्दोपात्त अर्थ का ग्रहण करते तो असंगति होती, क्योंकि धनुष से तो किसी का वेध नहीं हो सकता।

नैयायिकों के विभागाश्रयत्व-मत का खण्डन

नागेश अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों के अतिरिक्त नव्य-न्याय में भी तत्काल प्रचलित अपादानत्व-निर्वचन का निरसन करते हैं। उनके विवेचन का पूर्वपक्ष न्यायमत का सारांश देता है। नैयायिक विभाग को पंचम्यर्थ मानकर प्रकृति-प्रत्यय के अर्थों के संसर्ग को आश्रयता कहते हैं। विभाग का इस प्रकार जन्य-जनकभाव से धात्वर्थ में अन्वय होता है[2]। यह सारांश वस्तुतः नैयायिकों के 'विभागाश्रयत्वमपादानत्वम्' के विश्लेषण पर आश्रित है[3]। गदाधर पंचमी में शक्तिद्वय मानते हुए कहते हैं कि 'वृक्षात्पर्णं पतति' में जो प्रकृत्यर्थ वृक्ष है उसका भेद तथा विभाग दोनों में आधेयता-सम्बन्ध से अन्वय होता है। दूसरे शब्दों में—आधाररूप वृक्ष के आधेय रूप में भेद तथा विभाग दोनों ही हैं। गदाधर के विवेचन को नागेश सरलतम शब्दों में रखते हैं। गदाधर आगे चलकर कहते हैं कि विभाग तथा जनकत्व दोनों ही पंचम्यर्थ हैं, जो

---

१. प० ल० म० (ज्योत्स्ना), पृ० १८५।

२. ल० म०, पृ० १२८९।

३. तुलनीय (कारकचक्र, पृ० ६३)—'परकीयक्रियाजन्यविभागाश्रयत्वम्'। तथा—(व्यु० वा०, पृ० २५२)—'स्वनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकीभूत-क्रियाजन्य-विभागाश्रयत्वम्'।

परस्पर अनुस्यूत हैं। विभाग के प्रति प्रकृत्यर्थ का सम्बन्ध 'अवधिक' रूप में रहता है; यथा—वृक्षावधिक। इसी सम्बन्ध के द्वारा प्रकृत्यर्थ से विशिष्ट विभाग का अन्वय जनकत्व में होता है (व्युत्पत्तिवाद, पृ० २५२-५३)। पंचम्यर्थ के रूप में विभागजन-कत्व को भी अंगीकार करते हुए गदाधर उक्त वाक्य का शाब्दबोध कराते हैं—'वृक्ष-निष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदक-तन्निष्ठ-विभागजनक-पतनाश्रयः पर्णम्' (वहीं)। इस प्रकार अवधि की सत्ता मानते हुए भी नैयायिकों में विभाग तथा आश्रय को अपादान-पंचमी का अर्थ मानने का पर्याप्त अभिनिवेश है।

दूसरी ओर कौण्डभट्ट भी विभाग और आश्रय को पंचम्यर्थ मानते हैं[1]। दोनों प्रतिपक्षियों की समान स्थिति होने से इनके खण्डन में नागेश को सुविधा है। विभाग को पंचम्यर्थ मानने में साधारण अनुभव से ही विरोध होता है। हमें 'वृक्षापादानक' बोध होता है, 'वृक्षविभागक' नहीं। दूसरी आपत्ति यह है कि 'वृक्षाद् विभजते' में विभाग के बोध की आवृत्ति होगी—पंचम्यर्थ तथा धात्वर्थ दोनों ही विभाग हैं। इस प्रकार पुनरुक्ति-दोष होगा। जब केवल अपादान को पंचम्यर्थ मानकर सभी कार्यों को सुव्यवस्थित किया जा सकता है तब विभाग और आश्रय दोनों को यह कार्यभार समर्पित करना अर्धजरतीयन्याय से निरर्थक है। इसके अतिरिक्त यदि नैयायिकसम्मत विभाग को पंचम्यर्थ मानें तो प्रकृत्यर्थ और विभक्त्यर्थ भिन्नाश्रय हो जायेंगे तथा बड़े परिश्रम से इनके बीच सिद्ध किया गया नैयायिकों का ही अभेदान्वय अग्राह्य हो जायगा। यही कारण है कि विभाग और आश्रय, विभाग और जनक इत्यादि के रूप में न्याय में स्वीकृत पंचम्यर्थ असंगत है।

'वृक्षात्पर्णं पतति' में अभेदान्वय की प्रक्रिया दिखलायी जा सकती है। यहाँ पत्-धातु का अर्थ है—विभाग से उत्पन्न होनेवाला संयोग। पूर्वदेश से विभाग होकर उससे उत्तरदेश-संयोग उत्पन्न होता है। पंचम्यर्थ विभाग का विशेषण है तथा प्रकृत्यर्थ प्रत्ययार्थ का विशेषण है। इस प्रकार 'वृक्षरूपापादानक-विभाग' ऐसा बोध होता है। पूरे वाक्य का वैयाकरण-मत से शाब्दबोध होगा—'अपादानवृक्षीय-पर्णकर्तृकं पतनम्' (ल० म०)।

नागेश इसी प्रकार अपादान के विभिन्न उदाहरणों में धात्वर्थ का प्रदर्शन करते हैं—कहीं संकेतमात्र और कहीं पूर्ण रूप से शाब्दबोध देकर। उदाहरणार्थ—'वृक्षाद् भूमिं पर्णं पतति' में भी पत्-धातु का अर्थ है—विभाग से उत्पन्न होनेवाला संयोगा-नुकूल व्यापार। किन्तु यहाँ विभाग फलता का भी अवच्छेदक (निर्णायक) है अर्थात् विभाग से भूमि को फल भी प्राप्त हो रहा है कि पर्ण के साथ उसका संयोग हो रहा है। हम देख चुके हैं कि फलतावच्छेदक सम्बन्ध से विभागाश्रय बनने वाला कारक कर्म है।

---

१. 'तस्मादुक्तावधित्वान्तर्गतव्यापारांशस्य लाभादाश्रयो विभागश्चार्थ इत्याद्य-बधेयम्'। —वै० भू०, पृ० १११

'वृक्षं त्यजति' का संकेत किया जा चुका है। यहाँ विभाग होने पर भी वृक्ष को इसीलिए कर्म-कारक हुआ है कि धात्वर्थ ही है—विभागानुकूल व्यापार। अपादान के लिए विभागजन्य संयोग अर्थ चाहिए। केवल एक की सत्ता से कारक-व्यत्यय हो जायगा। महाभाष्य के 'वृक्षस्य पर्णं पतति' की व्याख्या में इसीलिए नागेश कहते हैं कि यहाँ पत्-धातु का अर्थ केवल संयोगानुकूल व्यापार है, अतः अपादान नहीं हुआ (उद्योत २, पृ० २४७)। यही कारण है कि 'वृक्षं त्यजति' में केवल विभागव्यापार होने से विभागाश्रय को कर्मसंज्ञा हो गयी है। त्यज्-धातु का सर्वत्र वही अर्थ हो, यह कोई नियम नहीं। 'वृक्षात्फलं त्यजति' में ही इसका अर्थ विभागजन्य संयोग के अनुकूल व्यापार है। इसीलिए अपादान हो सका है। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि 'वृक्षात्स्पन्दते' भी शुद्ध प्रयोग है। यहाँ स्पन्द् विभाग का वाचक ही नहीं है। अतएव नागेश के मत से इसका शुद्ध रूप होगा—वृक्षे स्पन्दते। 'आसनाच्चलितः' के प्रयोग के आधार पर चल्-धातु का अर्थ अवश्य ही विभाग से सम्बद्ध है। 'वृक्षाद् विभजते' में धातु का अर्थ है—विभागजन्य पूर्वदेशसंयोग का नाश। यह अपादानत्व का प्रयोजक है। इसी रूप में 'जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः' (शिशु० वध १।१२) में उत् + स्था-धातु का भी अर्थ वही है।

अपादान-विषयक अन्य स्थल

अपादान के प्रमुख सूत्र के अतिरिक्त अन्य सात सूत्रों में पाणिनि ने इस कारक का निर्देश किया है। प्रथम सूत्र के अन्तर्गत कात्यायन ने एक वार्तिक भी दिया है—'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्'। प्रथम दो मुनियों के अनुसार ये सभी स्वतन्त्र विधान हैं, किन्तु पतञ्जलि इनका अन्तर्भाव 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' में ही बुद्धिकल्पित अपाय मानकर करते हैं। त्रिमुनि के इस मतभेद से व्याकरण-शास्त्र के इतिहास में दो मत हो गये। जिनेन्द्र, चान्द्र, हैम, सौपद्मादि सम्प्रदायों में जहाँ पतञ्जलि का अनुसरण किया गया है वहीं काशिका, सरस्वतीकण्ठाभरण, संक्षिप्तसार, मुग्धबोध, सारस्वत तथा हरिनामामृत में पाणिनि-कात्यायन के मत का समर्थन हुआ है[1]। कातन्त्र तथा जैनशब्दानुशासन में यद्यपि पाणिनि के मत का साक्षात् विरोध नहीं है, तथापि इन सूत्रों को शिष्यबुद्धि के विकास के लिए माना गया है। इसे ही प्रपञ्च भी कहते हैं ('तदेतत्सर्वं प्रपञ्चमात्रम्। न च प्रपञ्चे गुरुलाघवं चिन्त्यते')। पाणिनीय वैयाकरणों में भर्तृहरि तथा उनके टीकाकार हेलाराज,[2] भट्टोजिदीक्षित[3] इत्यादि इस प्रपञ्चमत के समर्थक हैं। नव्य-नैयायिकों को और नागेश को तो अपने-अपने अपादान लक्षणों पर इतनी आस्था है कि वे उन्हीं के अन्तर्गत सभी उदाहरणों का समावेश कर लेते हैं। इसी पृष्ठभूमि में इन नियमों की व्याख्या अपेक्षणीय है।

---

१. गुरुपद हाल्दार, व्या० द० इति०, पृ० ३१४।

२. 'सर्वत्र पूर्वेणैवापादानसंज्ञायामुत्तरो विधिः प्रपञ्चार्थः। लक्षणप्रपञ्चाभ्यां हि व्याकरणम्'। —वा० प० ३।७।१४७ तथा हेलाराज

३. 'एवमुत्तरसूत्रेष्वपि प्रपञ्चत्वं बोध्यम्'। —श० कौ० २, पृ० ११८

कात्यायन के उक्त वार्तिक का अर्थ है कि जुगुप्सा (घृणा), विराम तथा प्रमाद के अर्थ में भी अवधिभूत कारक को अपादान कहते हैं। जैसे—अधर्माज्जुगुप्सते (अधर्म से घृणा करता है), धर्माद्विरमति (धर्म से निवृत्त होता है), धर्मात् प्रमाद्यति (धर्म से अनवहित रहता है)। वार्तिककार को संश्लेषपूर्वक विश्लेष को अपाय मानना अभिप्रेत है। इन स्थितियों में कोई ऐसा (वास्तविक) अपाय नहीं है। इसीलिए इस वार्तिक की आवश्यकता है। यदि बुद्धिकल्पित अपाय का ग्रहण करते हैं तो वह गौण है अर्थात् वास्तविक अपाय के रूप में प्रसिद्ध है (उद्योत)। भाष्यकार ने दूसरे उपसंख्यानों की भी आवश्यकता बतलायी है; यथा—'सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः' (सांकाश्यवासियों की अपेक्षा पाटलिपुत्र के निवासी अधिक सुन्दर हैं)। किन्तु यदि इसी तरह उपसंख्यान करते रहें तो कितने ही स्थलों के उदाहरणों के लिए हमें अनन्त नियम बनाने पड़ेंगे।

इसी आनन्त्य-दोष से बचने के लिए पतञ्जलि बुद्धिकल्पित या गौण अपाय की योजना करते हैं। 'अधर्माज्जुगुप्सते, विरमति, बीभत्सते' इत्यादि उदाहरणों का अर्थ है कि जो मनुष्य दूरदर्शी (प्रेक्षापूर्वक या सोच-विचार कर काम करनेवाला) है वह सोचता है कि अधर्म दुःख का स्रोत है, अतः उससे हानि है, लाभ नहीं। वह इस विचार के बौद्धिक सम्पर्क में आकर उस अधर्म से अलग हो जाता है, अतः वहाँ मुख्य सूत्र से ही बुद्धिकृत अपाय मानते हुए अधर्म को ध्रुव (उदासीन) समझ कर अपादान की व्यवस्था हो सकती है। यही बात 'धर्माद् विरमति, प्रमाद्यति' के साथ है। जो व्यक्ति सम्भिन्न बुद्धि का (=नास्तिक, जिसकी बुद्धि धर्म-अधर्म दोनों में समान रहती है) है, वह सोचता है कि धर्म नामक कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसका सम्पादन किया जाय। यही समझ कर वह निवृत्त हो जाता है।

इस वार्तिक के उदाहरणों की व्याख्या में नागेश का नव्यन्याय से स्पष्ट मतभेद है। 'अधर्माज्जुगुप्सते' में भवानन्द के अनुसार पञ्चमी का अर्थ कर्मत्व है और धात्वर्थ है निन्दा। फलस्वरूप 'अधर्मं निन्दति' के रूप में इसका अर्थ-पर्यवसान होता है (कारकचक्र, पृ० ७४)। दूसरी ओर नागेश 'जुगुप्सा' का अर्थ करते हैं—अनिष्ट-साधनता के ज्ञान के रूप में निन्दा (ल० म०, पृ० १२९१)। पञ्चमी-विभक्ति का अर्थ है विषयता। जिसे विषय बनाकर जुगुप्सादि विवक्षित हो वही अपादान है। यदि उसी विषय की क्रियाजनक कारक के रूप में विवक्षा नहीं हो, प्रत्युत सम्बन्धी के रूप में कहना अभिप्रेत हो तो 'पापस्य जुगुप्सते' ऐसा प्रयोग हो सकता है[1]। इस उदाहरण का नागेश-सम्मत अर्थ है—अनिष्टसाधनता का ज्ञान रखते हुए कोई व्यक्ति अधर्म से निवृत्त होता है। पतञ्जलि का भी यही मत है। कर्मत्व (भवानन्द) तथा

---

१. "जुगुप्सादीनां यद्विषयकत्वेन विवक्षा तदपादानम्। तस्यैव विषयस्य...... सम्बन्धित्वेन च विवक्षायां 'पापस्य जुगुप्सते' इति षष्ठी भवत्येव सत्यभिधाने"।

—ल० श० शे०, पृ० ४५२

विषयत्व (नागेश) की अन्ततः सदृश परिणति होने पर भी नागेश का विश्लेषण अधिक महत्त्वपूर्ण है।

'धर्माद् विरमति' में धातु का अर्थ है—प्रागभाव की साधारण कृति के अभाव के अनुकूल व्यापार (ल० म०, पृ० १२९२)। विराम निषेध-रूप व्यापार है, जिसमें कृति (प्रयत्न) का अभाव रहता है। उत्पत्ति के पूर्व जिस प्रकार कार्य का अभाव रहता है (असत्कार्यवादियों के अनुसार), उसी प्रकार धर्मज्ञान के पूर्व नास्तिक में भी धर्म के प्रति कृत्यभाव होता है कि धर्म कोई वस्तु नहीं। वह उसके प्रति उत्साह-हीनता दिखलाता है, निवृत्त हो जाता है। यहाँ अनुकूलता का तात्पर्य लेना चाहिए कि यह जीविका-निर्वाह (योगक्षेम) के सदृश व्यापार है। यह व्यापार धर्म के विषय में है अर्थात् एक प्रकार की आकांक्षा है। धर्म से नास्तिक को योग-क्षेम सिद्ध होता नहीं प्रतीत होता, इसलिए वह निवृत्त हो जाता है। पतञ्जलि के विवेचन को ध्यान में रखते हुए ही नव्यशैली में यह विश्लेषण नागेश ने किया है।

विराम के अर्थ के विषय में नैयायिकों के मत की नागेश ने कड़ी आलोचना की है। नैयायिक लोग कृति के असमानाधिकरण (भिन्नाश्रयी) कृतिध्वंस को, जो जीवनव्यापी हो, विराम कहते हैं। तदनुसार वे 'चैत्रो धर्माद् विरमति' का शाब्दबोध करते हैं–'स्वजीवनकालावच्छिन्नो धर्मविषयकृत्यसमानाधिकरणकृतिध्वंसः चैत्रवृत्तिः'[1]। यहाँ कृति को सर्वत्र एक ही विषय से संयुक्त मानना चाहिए—चैत्र की कृति हो तो बाल, युवा, वृद्ध इन सभी दशाओं में वह कृति चैत्र से संयुक्त मानी जायगी। जीवन का भी अर्थ है—कर्ता से सम्बद्ध जीवन। पुनः यहाँ एक ही साथ उच्चरित (समभि-व्याहृत) हुए कर्तृपद से बोधित होनेवाले शरीर (पिण्ड) के सजातीय शरीर के आधार पर समानाधिकरण की कल्पना होती है। चैत्रादि कर्तृपदों से शरीरविशिष्ट आत्मा का तो बोध होता ही है, शरीर का भी बोध होता है। सजातीयता का ग्रहण चैत्रादिपदों के द्वारा लाये गये (उपस्थापित) चैत्रत्वादि जाति के आधार पर ही करना चाहिए। विराम-शब्द के इस नैयायिक अर्थ के अनुसार—भविष्यत्काल में देहान्तर पाकर कोई धर्माचरण भले ही करे किन्तु उसके वर्तमान शरीर से सम्बद्ध अन्तिम कृति-ध्वंस के आधार पर 'धर्माद् विरमति' इस प्रयोग की सिद्धि होती है। यह विरति जीवनभर चलती रहेगी। कृतिध्वंस तथा कृति दोनों असमाना-धिकरण हैं।

नैयायिकों के मत में तीन प्रमुख दोष हैं—(१) युवक होने पर यदि कोई व्यक्ति धर्म करने लगे तो उसके बालशरीर से सम्बद्ध कृतिध्वंस के आधार पर 'विरमति' का प्रयोग नहीं हो सकेगा, क्योंकि कृतिध्वंस और कृति एक ही शरीर से सम्बद्ध (समाना-धिकरण) है। (२) पूर्वकाल में तथा परकाल में धर्माचरण करने पर भी यदि मध्यकाल में अल्पावधि में को [illegible] धर्म पर नहीं चलता तो यहाँ भी 'विरमति' का प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि जिस [illegible]रीर में कृतिध्वंस है उसी में कृति भी है (विराम

१. ल० म०, (कला) पृ० १२९३।

दोनों के असमानाधिकरण होने पर होता है) । (३) 'धर्माद्विरतोऽपि पुनः प्रवृत्तः'— ऐसे प्रयोग भी इसीलिए नहीं हो सकेंगे । इनसे बचने का उपाय नागेश की विरति-व्याख्या है, जिसमें क्षणिक, स्थायी सभी प्रकार की विरतियाँ समाविष्ट हैं ।

'धर्मात्प्रमाद्यति' में प्र + मद्-धातु का अर्थ है इष्टसाधनरूप पदार्थ (धर्म) में समान देश और समान काल—इन दोनों सम्बन्धों से अधिकार-विशिष्ट इष्टसाधनता के अभाव का ज्ञान । अथवा संक्षेप में कह सकते हैं कि अनिष्ट साधनता का ज्ञान ही यहाँ धात्वर्थ है । ज्ञान से अन्वित होनेवाली विषयता पंचमी का अर्थ है । वैसे पूरे वार्तिक का ही इस दृष्टि से अर्थ होगा—जुगुप्सादि की विवक्षा जिसे विषयीभूत बनाकर की जाय वह भी अपादान होता है ।

पतञ्जलि ने 'सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः' यह उदाहरण भी बौद्ध अपाय के प्रदर्शनार्थ दिया है । यह वाक्य उसी के द्वारा प्रयुक्त होता है जो व्यक्ति पहले से ही सांकाश्य तथा पाटलिपुत्र के निवासियों के समान गुणों का ज्ञान रखता है और अब प्रकर्ष का आश्रय लेकर एक को पृथक् करके कुछ कहना चाहता है । यहाँ गम्यमान क्रिया का आक्षेप करके कारकत्व की व्यवस्था होती है । इसे अपादान के तीन भेदों में अन्यतम—अपेक्षितक्रिय—मानते हैं । कैयट ने इस उदाहरण की व्याख्या में तीनों भेदों का वर्णन किया है (खण्ड २, पृ० २४८) ।

अपादान के भेद

अपादान के भेदों का प्रचार परवर्ती सूत्रों को प्रपंच मानने वालों ने किया है । वे सभी प्रकार के अपादानों को इन तीन भेदों में ही गतार्थ करते हैं—निर्दिष्टविषय, उपात्तविषय तथा अपेक्षितक्रिय । इनका सर्वप्रथम उल्लेख वाक्यपदीय (३।७।१३६) में हुआ है । अब हम क्रमशः इनका निरूपण करें ।

(क) **निर्दिष्टविषय अपादान**—जहाँ धातु के द्वारा साक्षात् विभाग का निर्देश हो वहाँ इसी प्रकार का अपादान होता है[1] । इसमें अपदान का विषय (अपाय) अपने शब्द से (स्वधातु द्वारा) व्यक्त किया जाता है; जैसे—'ग्रामादागच्छति, पर्वतादवरोहति, अश्वात्पतति' । इन उदाहरणों में स्ववाक्य में प्रयुक्त धातु के ही द्वारा विश्लेष प्रकट हो रहा है । नागेश के मत में 'घटाद्भिन्नः' में भी इसी प्रकार का अपादान है, क्योंकि सूत्रगत अपाय-शब्द का अर्थ 'भेद' भी है । जिस प्रकार 'पञ्चमी विभक्ते' (पा० २।३।४२) में विभक्त का अर्थ भेद है उसी प्रकार जब कभी भी भेदमूलक सम्बन्ध अभिव्यक्त करने की इच्छा वक्ता में हो तो घटगत भेद भी उसका विषयक्षेत्र बन सकता है । धातुपाठ में जो 'भिदिर् विदारणे' पढ़ा गया है वहाँ विदारण

---

१. द्रष्टव्य—(क) 'यत्र धातुनापायलक्षणो विषयो निर्दिष्टः' ।

—उद्योत, पृ० २४८

(ख) 'यत्र साक्षाद्धातुना गतिर्निर्दिश्यते तन्निर्दिष्टविषयम्' ।

—वै० भू०, पृ० १११

भेदज्ञान का भी विषय है। कहने का अर्थ है कि विदारण से भौतिक तथा बौद्धिक दोनों प्रकार के भेद व्यक्त होते हैं। 'घटाद्भिन्नः' में बौद्धिक भेद से अपादान हुआ है। एकत्व के रूप में यदि वस्तु का ग्रहण किया जाय तथा भौतिक दृष्टि से भेदज्ञान नहीं हो तो भी इस बौद्धिक भेद का आश्रय लेकर अपादानत्व-व्यवस्था की जा सकती है[1]। भिन्न शब्द के ही पर्याय 'अन्य' के साथ अपादान नहीं होता, क्योंकि 'घटादन्यः' में कोई क्रिया इसके कारकत्व का समर्थन करने के लिए नहीं है। इसीलिए क्रिया के अभाव में 'घटः पटो न' में भी पंचमी नहीं होती। नञ् का अर्थ भेदात्मक रहने पर भी वह क्रियारूप नहीं है। 'घटादन्यः' को तो 'अन्याराादितर०' (पा० २।३।२६) से उपपदरूप पंचमी-विभक्ति की प्राप्ति भी हो जाती है, 'घटः पटो न' में वैसा भी कुछ नहीं है[2]।

(ख) **उपात्तविषय अपादान**—जहाँ वाक्यगत धातु ऐसे स्वार्थ को प्रकट करे जो दूसरे धातु के अर्थ का अंग हो वहाँ उपात्तविषय अपादान होता है[3]। दूसरे धातु का अर्थ प्रधान भी हो जा सकता है और गौण भी। यथा—'बलाहकाद् विद्योतते' (मेघ से ज्योति चमकती है)। द्युत्-धातु का अर्थ है विद्योतन (चमकना)। यह निःसरण-क्रिया का अंग है अर्थात् मेघ से निकल कर ज्योति चमकती है (बलाहकान्निःसृत्य ज्योतिर्विद्योतते)—यह अर्थ निकलता है। इस प्रकार निःसरण-क्रिया मुख्य हो गयी है (क्योंकि इसी पर अपादान आश्रित है) और विद्योतन-क्रिया गौण है।

हेलाराज इन विद्योतन की अवान्तर क्रियाओं का परस्पर अंगांगिभाव मानते हैं। या तो निःसरण के अंग के रूप में विद्योतन है (ऊपर की तरह) या विद्योतन के अंग के रूप में निःसरण है (बलाहकाद् विद्योतमानं ज्योतिः निःसरति)। इसी अर्थ में वि + द्युत्-धातु का प्रयोग है। इस प्रकार निःसरण पर आश्रित अपाय विद्योतन-क्रिया की प्रधान या गौण दशा में उपात्त होता है[4]। नागेश इस क्रिया का अर्थ लेते हैं—विभागजन्य संयोग के अनुकूल क्रिया के रूप में निःसरण के पश्चात् विद्योतन-व्यापार। इसलिए उक्त प्रयोग का शाब्दबोध भी इसी दृष्टि से किया जा सकता है—'बलाहकापादानक-विभागजन्य-संयोगानुकूल-क्रियोत्तरकालिकं विद्युत्कर्तृकं विद्योतनम्'।

(ल० म०, पृ० १२९०)

मेघ में धूम, ज्योति, सलिल तथा वायु का संघात है। जब किसी व्यक्ति को मेघ के अवयवरूप ज्योति के भेद की विवक्षा होती है तो इसमें विभाग विवक्षित होने से मेघ अवधि बन जाता है। पुनः यदि मेघ ज्योति के आधार के रूप में विविक्षित हो तो

---

१. तुलनीय—ल० म०, पृ० १२९१।

२. ल० श० शे०, पृ० ४५६।

३. 'उपात्तः क्रियान्तरस्य गुणभावेन प्रधानभावेन वा यत्रापायलक्षणो विषयस्तदुपात्तविषयम्'। —हेलाराज ३, पृ० ३३८

४. 'अत्र हि निःसरणाङ्गे विद्योतने, विद्योतनाङ्गे वा निःसरणे विद्युतिर्वर्तते इति निःसरणलक्षणोऽपायो विद्योतनस्य गुणप्रधानभावेनोपात्तः'। —वहीं

'बलाहके विद्योतते' इस रूप में अधिकरण-सप्तमी भी होती है। अन्त में, यदि कोई मेघ और ज्योति की अभेद-विवक्षा करे कि ज्योतिःस्वरूप (तेजोमय) होने के कारण इसमें प्रकाशन की सामर्थ्य है तथा जलादि अङ्गीभूत पदार्थ इस प्रकाशन के प्रतिबन्धक के रूप में विवक्षित न हों तब 'बलाहको विद्योतते' ऐसा प्रयोग होता है। यहाँ क्रिया का स्वाधीन आश्रय होने की पूर्ण क्षमता मेघ में विद्यमान है। (नागेश, वहीं)।

इस अपादान के दूसरे उदाहरण हैं—कुसूलात्पचति (कोठी से निकाल कर पकाता है)। यहाँ पच्-धातु का अर्थ है आदान का अङ्गभूत पाक। आदान-क्रिया प्रधान है जो सीधे अपाय से सम्बद्ध है—कुसूलादादाय पचति। इसी प्रकार 'ब्राह्मणात् शंसति' में शंस्-धातु का अर्थ ग्रहण-क्रिया का अंग है, इसलिए अर्थ है—'ब्राह्मणाद् गृहीत्वा शंसति'। पतञ्जलि इसे उपात्तविषय अपादान के रूप में लेते हैं, जब कि कात्यायन 'ब्राह्मणाच्छंसी' शब्द में द्वितीया के अर्थ में पंचमी मानकर उसका अलुक् करते हैं[1]।

(ग) **अपेक्षितक्रिय अपादान**—जहाँ क्रियापद श्रुतिगोचर नहीं हो प्रत्युत प्रतीयमान हो वहाँ अपाय के विषय को अपेक्षितक्रिय अपादान कहते हैं। क्रिया की प्रतीति वाक्य में श्रूयमाण पदों से ही होती है[2]। जैसे—'सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रकाः अभिरूपतराः'। यहाँ 'विभक्ताः' इस क्रियापद की प्रतीति होती है[3]। प्रकर्ष की प्रतीति होने के कारण यहाँ विभाग का हेतु है 'सांकाश्यक'। अतः अपाय का बोध करानेवाली अपकर्षण-क्रिया अनुमित होती है (हेलाराज, पृ० ३३९)। उपात्तविषय अपादान में धातु के द्वारा ही अपाय सूचित होता है, जब कि यहाँ क्रिया अपेक्षित या प्रतीयमान होती है। इस अपादान के विषय में दीक्षित (श० कौ, ११७), कौण्डभट्ट (वै० भू०, १११) तथा नागेश (ल० म०, पृ० १२९०) तीनों समान लक्षण और उदाहरण देते हैं—किसी के प्रत्यक्ष आगमन को मन में रखकर कोई पूछता है आप कहाँ से (कुतो भवान्) ? इसका उत्तर होता है—पाटलिपुत्र से। दोनों वाक्यों में आगमन-क्रिया अपेक्षित है। किसी अनिवार्य विषय का उपादान नहीं होने से आकांक्षा

---

१. 'ब्राह्मणानि ग्रन्थविशेषरूपाणि यः शंसति स कथ्यते ब्राह्मणाच्छंसीति वृत्तिविषयेऽत्र द्वितीयार्थे पञ्चमी वक्तव्या। भाष्यकारस्तु ब्राह्मणाद् गृहीत्वा आहृत्य शंसतीत्याहरणाङ्गे शंसने शंसिर्वर्तते इत्युपात्तविषयमेतदपादानं मन्यते'।

—हेला० ३, पृ० ३३८-३९ भाष्य (६।३।२)

२. 'यत्र क्रियावाचि पदं न श्रूयते, केवलं क्रिया प्रतीयते'।

—कैयट २, पृ० २४८

३. तुलनीय—'बुद्धया समीहितैकत्वान्पञ्चालान्कुरुभिर्यदा।
पुनर्विभजते वक्ता तदापायः प्रतीयते'॥

—वा० प० ३।७।४

होती है। यहाँ इसी अकांक्षा से प्रेरित होकर क्रिया का अध्याहार किया जाता है। कारक-विभक्ति की प्राप्ति तो गम्यमान क्रिया के भी आधार पर होती है, अतः कारकत्व के उच्छेद की शंका नहीं करनी चाहिए।

अपादान-संज्ञा के अन्य सूत्र

(१) **भीत्रार्थानां भयहेतुः** (१।४।२५)—सूत्र में 'भी' और 'त्रा' शब्द इन्हीं धातुओं से क्विप्-प्रत्यय लगाकर बनाये गये हैं। इसलिए अर्थ हुआ कि भय तथा त्राण के अर्थ में होनेवाले धातुओं के योग में भय-हेतु कारक अपादान होता है। यथा—'वृकेभ्यो बिभेति, चौरेभ्यः त्रायते'। इस विषय में भाष्यकार कहते हैं कि विचार कर काम करनेवाला व्यक्ति देखता है कि यदि भेड़िया या चोर उसे देख ले तो निश्चय ही वह मारा जायगा। यही सोचकर वह निवृत्त होता है। दूसरे उदाहरण में प्रेक्षापूर्वकारी सुहृत् सोचता है कि यदि मेरे मित्र को चोर देख लेंगे तो मार डालेंगे या बन्धनादि कष्ट देंगे। इसीलिए वह अपने मित्र को निवृत्त करता है।

कैयट यहाँ उपात्तविषय अपादान मानते हैं, क्योंकि भय-क्रिया निवृत्ति-क्रिया का अंग है—चौराद् बिभेति = चौरान्निवर्तते। भय का अर्थ है—आकुलीभाव (कैयट), अनिष्टसम्भावना (गदाधर) अथवा अनिष्टज्ञान (नागेश)। वैयाकरण-मत से बोध होगा—'चौरापादानक अनिष्टज्ञान तथा अनिष्ट-परिहार'। प्रथम भयार्थक तथा द्वितीय त्राणार्थक है। इन दोनों के अर्थों में अनिष्ट का बोध होने से 'भयहेतु' का अर्थ अनिष्ट-हेतु या अनिष्टजनक मानना उपयुक्त है। किन्तु प्रश्न है कि जब भय का अर्थ अनिष्टज्ञान है तो भय-हेतु को अनिष्ट-हेतु कैसे कह सकते हैं? अधिक-से-अधिक हम अनिष्ट ज्ञान के हेतु को भयहेतु का अर्थ कहें। इस शंका को ध्यान में रखते हुए नागेश भयहेतु का अर्थ करते हैं—भय के एकदेश का अनिष्ट-हेतु होना। ऐसी स्थिति में भय के सभी प्रकारों में—चाहे आंशिक भय हो या पूर्ण—भयहेतु की संगति हो सकती है।

गदाधर अनिष्ट-सम्भावना की स्थिति में अपादान की व्यवस्था सर्वत्र करते हैं। शत्रु के भ्रम से यदि मित्र से अनिष्ट-सम्भावना प्रसक्त हो तो 'मित्राद् बिभेति' कहने में कोई आपत्ति नहीं। अनिष्ट सर्वत्र अनुगत दुःख के अर्थ में लिया जाता है। कभी-कभी किसी पदार्थ से उत्पन्न होनेवाला दुःख सभी व्यक्तियों में प्रसिद्ध नहीं होता; जैसे—सर्प, काँटे इत्यादि से उत्पन्न होनेवाले दुःख से कोई अनभिज्ञ भी रह सकता है। इस स्थिति में अपने (अनुभवी व्यक्ति के) अनुभव के आधार पर भय या त्राण का प्रयोग करके पञ्चमी-विभक्ति व्यवस्थित हो सकती है[1]। नागेश भी यही कहते हैं कि जिससे उत्पन्न होनेवाला भय लोकप्रसिद्ध नहीं हो उसमें अपादानाश्रित पञ्चमी नहीं हो

---

१. 'यज्जन्यं दुःखं कस्यापि न प्रसिद्ध्यति तादृशस्याहिकण्टकादेर्यद्यपादानत्वमिष्यते तदा तन्निष्ठस्वदुःखोपधायक-व्यापार-विरहानुकूलव्यापारस्तदपादानकं स्वकर्मकं रक्षणमिति वक्तव्यम्'। —व्यु० वा०, पृ० २५५-५६

सकती, किन्तु ऐसा प्रयोग यदि अभीष्ट ही हो तो उस पर हेतुत्व का आरोप किया जा सकता है; जैसे—'कण्टकाद् बिभेति'। स्मरणीय है कि भय की लोकप्रसिद्धि देशकालापेक्ष है। आरोप का आश्रय लेकर ही तो 'अन्तरिक्षेण जुहोति' 'परमाणुं न पश्यति' इत्यादि प्रयोग संगत होते हैं, अन्यथा असम्भव पदार्थों का बोध अथवा निषेध करना असंगत है।

महाभाष्य में जो भयपूर्वक या त्राणपूर्वक निवृत्ति के अर्थ में इन धातुओं को लिया गया है वह नागेश को भी मान्य है। इसीलिए लघुमंजूषा में शाब्दबोध कराते हुए नागेश इस तथ्य का विशेष ध्यान रखते हैं—(१) 'बुद्धिप्राप्तचौरापादानिका प्रत्यासत्त्या तद्भयपूर्विका निवृत्तिः'। (२) 'बुद्धिप्राप्तचौरापादानिका प्रत्यासत्त्यानिष्टपरिहारफलिका निवृत्तिः'। चोरों के बीच में रहने पर भी यदि उनके सम्पर्क के फलस्वरूप होनेवाले बन्धन, वधादि से निवृत्त हो तो चोरों से ही निवृत्ति समझी जायगी। इस प्रकार भय के एकदेश को भी भय कहकर 'भयहेतु' की व्यवस्था होती है।

वाल्मीकि ने 'कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे' (वा० रा० १।१।४) प्रयोग किया है। यहाँ शेषविवक्षा या अपादानत्व की अविवक्षा से षष्ठी का समर्थन किया जा सकता है, किन्तु दीक्षित यहाँ 'कस्य संयुगे' का अन्वय करके भयहेतु की समस्या ही समाप्त कर देते हैं (श० कौ० २, पृ० ११८)। संयुग में भी अपादान की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि परत्व के कारण अधिकरण अपादान का बाधक होगा।

(२) **पराजेरसोढः** (१।४।२६)—परा-पूर्वक जि-धातु के प्रयोग में जो पदार्थ असह्य के रूप में विवक्षित हो उसे अपादान कहते हैं। 'असोढ' की व्युत्पत्ति है—नञ् + सह् + क्त। 'परा + जि' का प्रयोग प्रायः अभिभव के अर्थ में आता है; यथा—'शत्रून्पराजयते'। किन्तु यहाँ यह असहिष्णुता के अर्थ में लिया जा रहा है, यह 'असोढ' के प्रयोग से ध्वनित होता है। यथा—'अध्ययनात्पराजयते' (अध्ययन असह्य है, जिससे वह पिछड़ रहा है)। इस स्थिति में (परास्त होना, हार मानना) यह धातु अकर्मक है। इसीलिए इसे न्यूनीभाव (कैयट) तथा शक्तिवैकल्य के अर्थ में लिया गया है।

पतञ्जलि इस उदाहरण की व्याख्या में कहते हैं कि विवेकी पुरुष अध्ययन को दुःखद और दुर्धर समझता है, गुरुजनों का वह ठीक से उपचार नहीं कर पाता। ऐसा सोचकर वह उससे निवृत्त (पृथक्) हो जाता है। अतः बौद्ध अपाय मानकर प्रमुख सूत्र में ही इसका अन्तर्भाव हो सकता है। यह इसलिए उपात्तविषय अपादान है कि 'परा + जि' से बोध्य पराजय-क्रिया निवृत्ति-क्रिया का अंग है। शक्तिवैकल्य के कारण वह व्यक्ति अध्ययन से निवृत्त हो रहा है।

'असोढ' शब्द में क्त-प्रत्यय यद्यपि भूतकालिक है तथापि काल यहाँ अविवक्षित है। इसलिए अन्य कालों में भी इसके उदाहरण हो सकते हैं; यथा—'अध्ययनात्पराजेष्यते'। दीक्षित 'असोढ' शब्द को व्यर्थ समझते हैं, क्योंकि इसका प्रयोजन जो 'शत्रून्

पराजयते' में पंचमी का वारण करना है वह अन्यथा भी (परत्व के कारण कर्मसंज्ञा के द्वारा अपादानसंज्ञा का बाध होने से) सिद्ध हो जाता है[1]। इसका समाधान ज्ञानेन्द्र सरस्वती करते हैं कि जहाँ कर्मत्व की विवक्षा नहीं होगी, वहाँ शेष षष्ठी को रोककर पंचमी प्राप्त हो सकती थी। इसके वारणार्थ 'असोढ' की उपस्थिति सूत्र में अनिवार्य है[2]।

नागेश नव्यन्याय की विश्लेषण-पद्धति स्वीकार कर इन सारी शंकाओं का समाधान अत्यन्त सूक्ष्मेक्षिका से प्रस्तुत करते हैं। उक्त उदाहरण में धातु का अर्थ है—कृति (प्रयत्न) की असाध्यता के ज्ञान के समानाधिकरण तद्विषयक (अध्ययन के विषय में) उत्साह का अभाव। जिस व्यक्ति को अध्ययन की असाध्यता का ज्ञान है, उसी में अध्ययन के प्रति उत्साह का अभाव भी है। विषय ही यहाँ अपादान है अर्थात् पराजय (असह्यता) अध्ययन को विषय बनाकर हो रही है, यह अपादान है। इस मत से शाब्दबोध इस रूप में होगा—'अध्ययनापादानको देवदत्तकर्तृक उत्साहाभावः'। नागेश प्रकारान्तर से 'तत्पूर्वक निवृत्ति' के रूप में धात्वर्थ मानते हैं। आशय यह है कि उत्साहाभाव के अनन्तर विषय से निवृत्त हो जाना यहाँ धात्वर्थ है। यह भाष्यकार के मत का समर्थन है, जब कि पूर्व प्रकार सूत्रकार के मत से सम्बद्ध है। 'शत्रून्पराजयते' में धातु का वही अर्थ नहीं है जो यहाँ है। इसमें पराजय का अर्थ है—तिरस्कार के अनुकूल (जनक) व्यापार। यही कारण है कि फल और व्यापार का आश्रय भिन्न होने से क्रिया यहाँ सकर्मक है, व्यापाराश्रय कर्ता तथा फलाश्रय (शत्रु) कर्म है।

नैयायिकों ने पूर्व उदाहरण में अनिष्ट को धात्वर्थ माना है। तदनुसार शाब्दबोध होता है—अध्ययन से उत्पन्न होने वाला अनिष्ट। नागेश इसका प्रत्याख्यान करते हैं कि—(१) हमें इस प्रकार के बोध का अनुभव नहीं होता—अध्ययन से अनिष्ट हो रहा है यह जानकर कोई उससे भागे, ऐसा बोध नहीं देखते हैं। (२) पुनः 'असोढ' शब्द से इस नैयायिक-सम्मत अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। पतंजलि ने तो यहाँ तक कहा है कि व्यक्ति अपने मन में ही अध्ययन की असाध्यता तथा दुर्धरता का विचार करके उससे दूर हो जाता है; इस प्रकार अध्ययन के सर्वथा अप्रवृत्त रहने (प्रारम्भ नहीं होने) पर भी ऐसा प्रयोग हो सकता है। (३) अन्त में, जो अध्ययन आरम्भ भी नहीं हुआ है (असत् है) वह भी अनिष्ट उत्पन्न करने लगेगा। कार्य उत्पन्न करने के लिए कारण की सत्ता आवश्यक होती है। प्रकृत उदाहरण में असत् अध्ययन से अनिष्ट की प्राप्ति का प्रसंग हो जाने से यह न्याय-मत भ्रामक है।

(३) **वारणार्थानामीप्सितः** (१।४।२७)—वारणार्थक धातुओं के प्रयोग में

---

१. 'वस्तुतस्तु असोढग्रहणं व्यर्थम्, शत्रून्पराजयते इत्यत्र परत्वात्कर्मसंज्ञासिद्धेः'।
—श० कौ० २, पृ० ११८

२. तत्त्वबोधिनी, पृ० ४५३।

क्रिया के द्वारा जिसे प्राप्त करने की इच्छा की जाय वह भी अपादान है। जैसे—'यवेभ्यो गां वारयति' (जौ के खेत में जाने से गाय को रोकता है)। यहाँ गौ के वारण का अर्थ है उसकी प्रवृत्ति का विघात करना। पतंजलि 'माषेभ्यो गां वारयति' यह उदाहरण देकर ईप्सित की व्याख्या करते हैं। जिस व्यक्ति के पास माष (उड़द) हो, गाय नहीं—उस व्यक्ति को माष ईप्सित हो सकते हैं, किन्तु जिसके पास केवल गाय है, माष नहीं—उसके लिए तो गाय ही ईप्सित है। उस व्यक्ति को माष कैसे ईप्सित हो सकते हैं? किन्तु वास्तव में उसे भी माष ईप्सित ही है, चूंकि वह गायों का उससे वारण करता है अतः माष उसका ईप्सित तो है ही। स्थिति यह है कि वारण-क्रिया के द्वारा परकीय होने पर भी माषों को वारणकर्ता ईप्सित समझता है कि इनका नाश न हो। इसीलिए अपनी गायों को वह उनसे अलग करता है[1]। अभिप्राय यह है कि यहाँ 'ईप्सित' का अर्थ है 'जिसे वारण-क्रिया के द्वारा प्राप्त करना अभीष्ट हो'। इसी आधार पर भाष्यकार 'कूपादन्धं वारयति' में कूप को ईप्सित सिद्ध करते हैं। वारणकर्ता यह देखता है कि कहीं अन्धा कूप में न जा पड़े, अतः वारण-क्रिया का ईप्सित कूप ही है। जिस प्रकार गायों के वारण में शस्य-विनाश को ध्यान में रखकर सोचा जाता है कि कहीं गायें माष के खेतों में न चली जायँ उसी प्रकार यहाँ अन्धे के विनाश को ध्यान में रखा जाता है।

भाष्यकार प्रकारान्तर से भी कूप को ईप्सित सिद्ध करते हैं। तदनुसार वारणकर्ता को कूप ईप्सित नहीं, अन्धे को है[2]। वास्तव में यह व्याख्या सूत्र का अर्थ स्पष्ट करती है कि **वारण-क्रिया के कर्म का ईप्सित अपादान होता है**। अन्धे को कुछ दिखलायी नहीं पड़ता, इसलिए उसे जैसे कूपेतर स्थान ईप्सित है, वैसे ही कूप भी है। उसे क्या पता कि वह कूप में जा रहा है कि सड़क पर। दोनों ही उसके लिए समान रूप से ईप्सित है।

'अग्नेर्माणवकं वारयति' में माणवक (कर्म) को ईप्सित होने के कारण अपादान की प्राप्ति का प्रसंग होने पर कह सकते हैं कि कर्मसंज्ञा परवर्तिनी होने के कारण अपादान को रोक लेगी। किन्तु ऐसी स्थिति में अग्नि में भी तो अपादान का बाध हो जायगा। इससे बचने के लिए सुझाव दिया गया है कि कर्म का जो ईप्सित हो अथवा ईप्सित का भी ईप्सित हो वही अपादान है—ऐसा लक्षण करें[3]। कात्यायन इस संकट से बचाते हैं कि ऐसी स्थिति नहीं आ सकती, क्योंकि कर्म के लक्षण में

---

१. "तत्र वारणक्रियया परकीया अपि माषा वारयितुमिष्टा भवन्ति, 'मा नशन्नेते' इत्येतेभ्योऽसौ गा वारयति"। —कैयट २, पृ० २५१

२. 'ईप्सित इत्यनेन कर्मणा कर्तृमात्रस्याक्षेपान्निवार्यमाणस्यान्धस्य गमनादिक्रियया कूप आप्तुमिष्टो भवतीति प्रवर्ततेऽपादानसंज्ञा'। —कैयट २, पृष्ठ २५१

३. 'तस्माद् वक्तव्यम्—कर्मणो यदीप्सितमिति। ईप्सितेप्सितमिति वा'। —महाभाष्य, खंड २, पृ० २५२

'ईप्सिततम' का प्रयोग है। वहाँ प्रकर्ष-विवक्षा है। कर्मसंज्ञा का अवकाश वारणार्थ-भिन्न धातुओं में है, अपादान का अवकाश प्रकर्षहीन ईप्सित पदार्थ में है। जहाँ दोनों प्रसक्त हों तब वहाँ ईप्सिततम में परत्व के कारण कर्मसंज्ञा ही होती है[1]।

अन्त में भाष्यकार इस सूत्र को 'ध्रुव'-सूत्र के अन्तर्गत रखते हुए कहते हैं कि विवेकी पुरुष विचार करता है कि ये गायें यदि खेतों में घुस जायँगी तो शस्य-विनाश होगा, जिससे अधर्म और राजदंड दोनों मिलेंगे। यही सोचकर वह इन्हें माषों के सम्पर्क में आने के पूर्व ही पृथक् कर देता है। यहाँ भी निवृत्ति का अंग वारण-क्रिया है।

अब हम नागेश की चिन्तन-प्रक्रिया से इन उदाहरणों का विश्लेषण देखें। 'यवेभ्यो गां वारयति, अग्नेर्माणवकं वारयति, कूपादन्धं वारयति'—इन तीनों में क्रिया का अर्थ है—भक्षण, संयोगादि फलों को उत्पन्न करने वाले व्यापार के अभाव के अनुकूल व्यापार (ल० श० शे०, पृ० ४५३)। प्रथम उदाहरण में गायों के द्वारा यव-भक्षण होना फल है, इसे उत्पन्न करने वाले व्यापार का (जैसे गायों का निर्विघ्न जाने देना या उसी ओर प्रेरित करना) अभाव जिस रूप में भी हो, ऐसे व्यापार (कार्य) का ही बोध 'वारयति' से होता है। अन्य उदाहरणों में 'संयोग' (अग्नि-संयोग, कूपसंयोग) फल के रूप में हैं। इसे उत्पन्न करने वाले व्यापार के अभाव के योग्य व्यापार को यहाँ धात्वर्थ लेना चाहिए। अन्य फलों के लिए भी अवकाश रखने के लिए 'आदि' शब्द का प्रयोग हुआ है।

अभाव के प्रतियोगी व्यापार से उत्पन्न होने वाले फल का आश्रय यहाँ ईप्सित (अपादान) है। वारण-क्रिया व्यापार से उत्पन्न भक्षण तथा संयोग-रूप फल यथा-शक्ति यव, अग्नि तथा कूप में निहित हैं। इन फलों के वे आश्रय हैं, इसीलिए नागेश के अनुसार वारणार्थ-धातु के अर्थ के फल का आश्रय ही ईप्सित है (ल० म०, पृ० १२९५)। ईप्सित-शब्द से प्रधान अथवा अप्रधान दोनों में से किसी एक के व्यापारा-श्रयमात्र का ग्रहण किया जाता है। कर्म के लक्षण में तमप्-प्रत्यय का ग्रहण होने से प्रकृत धात्वर्थ के फलाश्रय का बोध होता है (ल० श० शे०, पृ० ४५४)।

'वारयति' का अर्थ देने में नागेश 'अनुकूल व्यापार' का प्रयोग करते हैं। इस अनुकूल का अर्थ है कि वह ऐसा करने में सर्वथा समर्थ है (अनुकूलता=योग्यता)। इसका फल यह हुआ कि प्रतिषिद्ध होने पर भी गाय जब जौ के पौधों को खाती ही जाती है, मानती नहीं तब भी ऐसा प्रयोग हो सकता है—'अयं वारयति, तथापि न निवर्तते'। यहाँ भक्षण-जनक व्यापार का सर्वथा अभाव नहीं हो रहा है तथापि व्यापार का अभाव लाने की योग्यता तो वारणकर्ता में है ही, इसी आधार पर यह प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार जब गाय ने चरना आरम्भ नहीं किया हो उस समय भी उसका वारण (अप्रवृत्त-वारण) करने में यह प्रयोग समर्थित हो सकता है। नागेश की यह व्याख्या अनेक शंकाओं का समाधान करके सभी उदाहरणों का समावेश कर सकती

---

१. कैयट २, पृ० २५२।

है। तथापि 'कूपादन्धं वारयति' के विषय में वे अलग से कहते हैं कि अभिमुख-देश में गमन करने के कारण कूप-पतन अन्धे का इच्छा-विषय (ईप्सित) है। अन्धा उस दिशा में बढ़ता जाता है और यद्यपि उधर स्थित कूप की सत्ता का उसे पता नहीं है तथापि कूप-पतन में परिणत होने वाला उसका 'उस दिशा में चलते जाना' ही इच्छा का विषय है। सारांश यह है कि साधन (गमन) अभीष्ट है तो तत्सम्बद्ध साध्य या फल (कूप-पतन) भी अभीष्ट ही है।

यहाँ नागेश के पूर्ववर्ती गदाधर का कहना है कि यद्यपि कूप-गमन इच्छा-विषय नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि ज्ञान हो जाने पर अन्धा कभी उधर जा ही नहीं सकता, तथापि अभिमुख-देश में गमन के कारण कूप-गमन भी इच्छा-विषय है। अन्ततः कूपादि-देश में अन्धे की क्रिया से उत्पन्न संयोग इच्छा का विषय होता है। यहाँ तक दोनों में मतसाम्य है (व्यु० वा०, पृ० २५६)। किन्तु इसी के आधार पर गदाधर ने जो 'मित्रं विषाद् वारयति' की व्याख्या की है वह नागेश को अमान्य है। गदाधर कहते हैं कि जहाँ चैत्रादि पुरुष अपने भोजन से अभिन्न रूप में विष खा रहे हों (अन्न विष-मिश्रित हो), अपनी इच्छा से केवल विष नहीं खाएँ तो ऐसे स्थानों में इस भोजन-व्यापार को रोकने वाले कर्ता का यह प्रयोग नहीं होता—विषाद् वारयति। शुद्ध प्रयोग होगा—'सविषाद् भोजनात् वारयति'। प्रथम प्रयोग के निवारणार्थ ही सूत्रकार ने 'ईप्सित' में सन्-प्रत्यय का प्रयोग किया है। सविष अन्न में अन्न इच्छा-विषय है, विष नहीं। आत्महत्या के अतिरिक्त कभी भी विष इच्छा-विषय नहीं होता। आत्महत्या का स्थल यहाँ नहीं है[1]।

गदाधर की धारणा भ्रममूलक है, क्योंकि जिस प्रकार अभिमुख-देश-गमन के कारण कूपगमन ईप्सित है उसी प्रकार भक्ष्य के रूप में प्रतीयमान होने के कारण विष भी इच्छा का विषय हो सकता है। भले ही विष विषरूप में इच्छाविषय न हो, किन्तु भक्ष्यरूप में (भक्ष्य से मिश्रित होने के कारण) तो वह अवश्य ही इच्छा का विषय है। अतएव 'विषाद् वारयति' प्रयोग करने में कोई आपत्ति नहीं[2]। यहाँ स्मरणीय है कि जब जीवन से ऊब कर कोई व्यक्ति स्वेच्छा से आत्मघात के उद्देश्य से शुद्ध विष का भक्षण करता हो तब विष अवश्य ही ईप्सित है और इसके वारण में गदाधर को भी 'विषाद् वारयति' के प्रयोग पर आपत्ति नहीं होगी।

(४) **अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति** (१।४।२८)—अन्तर्धि का अर्थ है—व्यवधान, छिपना। यदि व्यवधान का अर्थ हो तो जिस कर्ता के द्वारा अपने दर्शन का निषेध कोई पुरुष चाहता है उसे (कर्ता को) भी अपादान कहते हैं। 'येन' शब्द में कर्तरि-

१. "यत्र चैत्रादेर्नान्तरीयकतया विषभोजनादिकं, न तु स्वेच्छातस्तत्र तद्भोजन-विरोधव्यापारकर्तरि 'चैत्रं विषाद् वारयति' इति न प्रयोगः, अपितु 'सविषाद् वारयति' इत्यादिरेव। तत्र पूर्वप्रयोगवारणाय सूत्रकृता ईप्सित इत्यनेन सम्प्रत्ययेनेच्छोपादानात्"।
—व्यु० वा०, पृ० २५७

२. ल० म०, पृ० १२९६।

तृतीया है। 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० २।३।६५) से कृद्योग में (दृश् + ल्युट् = दर्शनम्) षष्ठी की प्राप्ति होने पर 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (२।३।६६) से केवल कर्म में ही (कर्ता में नहीं) यह होती है। दीक्षित की इस व्याख्या से नागेश सहमत नहीं, क्योंकि पिछले सूत्र की प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ कर्ता और कर्म दोनों का वास्तविक प्रयोग हुआ हो। उद्योत (पृ० २५२) में इसलिए नागेश 'येन' में सौत्री (सूत्रमात्र में सिद्ध) तृतीया मानते हैं। तदनुसार अर्थ होता है कि व्यवधान के लिए **जिसे कर्ता बनाकर**, अपने को कर्म के रूप में रखते हुए अदर्शन चाहता हो वह अपादान है ('अन्तर्धिनिमित्तकं यत्कर्तृकमात्मकर्मकमदर्शनमिच्छति तदपादानम्'—उद्योत)। यथा—'उपाध्यायादन्तर्धत्ते। मातुर्निलीयते कृष्णः'। उपाध्याय (कर्ता) के द्वारा वह (कर्म) देखा न जाय, इसलिए वह तिरोभूत होता है। इसी प्रकार माता (कर्ता) कृष्ण (कर्म) को देख न ले, इसी उद्देश्य से कृष्ण छिप जाते हैं।

पतञ्जलि इसे भी बौद्ध अपाय के अन्तर्गत रखते हुए कहते हैं कि शिष्य पहले से विचार करता है कि यदि उपाध्याय उसे देख लेंगे तो कोई कार्यभार दे देंगे अथवा उपालम्भन (डाँटना) ही आरम्भ कर दें—इसी से वह निवृत्त हो जाता है।

दीक्षित इस सूत्र में 'इच्छति' का प्रयोजन बतलाते हैं। जब अदर्शन की इच्छा विद्यमान हो और उसके अनुकूल कार्य भी किया जा रहा हो, किन्तु दैववश दर्शन हो जायें, ऐसी स्थिति में भी ये प्रयोग होते हैं, क्योंकि दर्शन होने पर भी अदर्शन की इच्छा तो मन में है ही। यदि 'इच्छति' का प्रयोग सूत्रकार नहीं करते तो केवल दर्शनाभाव के स्थल में ही ऐसे प्रयोग हो सकते थे, दर्शन होने की दशा में नहीं[1]। 'मातुर्निलीयते' इत्यादि उदाहरणों में इच्छा का बोध आक्षेप से होता है। 'चौरान्न दिदृक्षते' (चोरों को देखना नहीं चाहता) यहाँ अन्तर्धि (व्यवधान) की सत्ता न होने से अपादान नहीं हुआ है। तथापि शब्दकौस्तुभ में 'अन्तर्धि' को चिन्त्य-प्रयोजन बतलाते हुए इसका तिरस्कार किया गया है कि उक्त उदाहरण में परत्व के कारण कर्मसंज्ञा उपपन्न हो जाती है, अन्तर्धि की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु ज्ञानेन्द्र सरस्वती इसकी अनिवार्यता व्यक्त करते हैं कि 'चोर मुझे देख न लें' इसी उद्देश्य से वह चोरों को देखना नहीं चाहता, यही अर्थ विवक्षित है। अब कर्म (चौरान्) में यदि कर्मत्व-विवक्षा नहीं हो, प्रत्युत शेषत्व की विवक्षा हो तो उससे उत्पन्न षष्ठी को रोककर यहाँ इस अन्तर्धि-विहीन सूत्र से पञ्चमी हो जायगी। इसके वारणार्थ 'अन्तर्धि' का प्रयोग आवश्यक है। अतः अन्तर्धि-बोध के अभाव में 'चौरान्न दिदृक्षते' का प्रयोग होता है।

नागेश के अनुसार नि + लीङ्-धातु (निलीयते) का अर्थ है—स्वकर्मक दर्शनाभाव की प्रयोजिका देश-विशेष में स्थिति अर्थात् अपने-आप को दिखलायी नहीं पड़ने देने के

१. तुलनीय—(श० कौ० २, पृ० ११९ तथा ल० श० शे०, पृ० ४५४) 'अदर्शनेच्छया तदनुकूलव्यापारकरणे दैववशात् दर्शने सत्यपीत्यर्थः। अन्यथा यत्र दर्शनाभाव एव तत्रैव स्यादिति भावः'।

लिए किसी निभृत स्थान में अवस्थित रहना। धात्वर्थ में प्रयुक्त दर्शनव्यापार का कर्ता ही यहाँ अपादान है और उसी से अदर्शन के लिए निवृत्त होना धातु का अर्थ है। अतः शाब्दबोध में मातृ-प्रभृति शब्दों का अपादान के रूप में अन्वय होगा—यह भाष्यकार का भी मत है। दर्शन-व्यापार के प्रति 'माता' कर्ता है, यह ज्ञान प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से प्राप्त होता है।

(५) **आख्यातोपयोगे** (१।४।२९)—आख्याता = प्रतिपादन करने वाला। उपयोग = नियमपूर्वक विद्या-ग्रहण करना। छात्र की ओर से जब विद्याग्रहण की प्रवृत्ति प्रदर्शित होती है तभी नियम की सार्थकता है। अतः जब नियमपूर्वक विद्या-स्वीकार साध्य हो, ऐसी क्रिया चल रही हो तब आख्याता को अपादान-कारक कहते हैं। जैसे—'उपाध्यायादधीते'। यहाँ छात्र के द्वारा नियमपूर्वक विद्याग्रहण का अर्थ तो है ही, ग्रहण-क्रिया साध्य अर्थात् उद्देश्य के रूप में भी विवक्षित है। ग्रन्थ के शब्दों तथा अर्थों के धारणार्थ जो ग्रहण किया जाता है वास्तव में वही उपयोग है। यदि उपयोग नहीं होता हो तो 'नटस्य गाथां शृणोति' की तरह अपादान की प्राप्ति नहीं होगी।

यहाँ कात्यायन प्रश्न करते हैं कि अनुपयोग की स्थिति में यह आख्याता कारक रहेगा या अकारक? (१) यदि कारक रहता है तो अकथित रहने से कर्मत्व प्रसक्त होगा। (२) यदि वह अकारक रहता है तो उपयोग-शब्द निरर्थक हो जायगा, क्योंकि कारकत्वाभाव कह देने से ही 'नटस्य' में अपादानत्व की अप्राप्ति हो जायगी। उपयोग के अभाव में अपादान-निवारण का प्रश्न ही नहीं उठेगा। भाष्यकार कर्मसंज्ञा की प्रसक्ति का प्रत्याख्यान करते हैं कि अकथित कर्म के धातु परिगणित हैं। यदृच्छा से अकथित-व्यपदेश नहीं होता। फल यह हुआ कि अनुपयोग की स्थिति में 'नटस्य (गाथां) शृणोति' यह प्रयोग निर्भ्रान्त है।

पतञ्जलि यहाँ भी बौद्ध अपाय की उपपत्ति करते हैं कि उपाध्याय से अध्ययन के वाक्य अलग (अपक्रान्त) होते हैं। अब प्रश्न होता है कि वृक्ष से फल के अपाय के समान यहाँ भी उपाध्याय से वाक्यों का आत्यन्तिक अपाय क्यों नहीं होता? बात यह है कि उपाध्याय के मुख से शब्दों के रूप में विचार सतत प्रवाहित होते हैं। शब्द-व्यंजक ध्वनियाँ आचार्य के मुख से पुनः-पुनः उत्पन्न होती हैं। वे भिन्नरूप होने पर भी सादृश्य के कारण तत्त्वतः पहचान ली जाती हैं तथा श्रोता के श्रोत्रप्रदेश में पुनः-पुनः (अविरल गति से) जाकर व्यक्तिस्फोट के रूप में शब्द का अभिव्यञ्जन करती हैं। एक दूसरा उत्तर भी हो सकता है कि ज्ञान ज्योति के सदृश होते हैं। जैसे ज्वाला के रूप में अविच्छिन्न उत्पन्न होनेवाली ज्योति सादृश्य के कारण सतत प्रतीत होती है उसी प्रकार आचार्य के विभिन्न ज्ञान भी भिन्नरूप शब्दों में निकलते हुए भी सतत प्रतीत होते हैं। इसलिए आत्यन्तिक अपाय की समस्या नहीं उठती, क्योंकि यहाँ धारा-प्रवाह न्याय से अपाय होता है। इस स्थल पर कैयट तथा नागेश दोनों ने ही अपनी टीकाओं में दार्शनिक चिन्तन तथा पाण्डित्य का प्रकर्ष प्रदर्शित किया है।

लघुमञ्जूषा में नागेश 'अधीते' क्रिया का अर्थ करते हैं—उच्चारण के अनन्तर

होनेवाला नियमपूर्वक ग्रन्थस्वीकार के अनुकूल व्यापार। उच्चारण का आश्रय यहाँ अपादान है। अर्थ होता है कि वह (शिष्य) उपाध्याय के मुख से निकलते हुए ग्रन्थ का अध्ययन करता है। यहाँ 'नटस्य शृणोति' के रूप में जो अतिप्रसंग होता है उसे अनभिधान (विद्वानों की अस्वीकृति) का आश्रय लेकर दूर किया जा सकता है। (उद्योत २, पृ० २५४)

(६) **जनिकर्तुः प्रकृतिः** (१।४।३०)—जनि = उत्पत्ति (जन् + इण्)। जनेः कर्ता = जनिकर्ता (षष्ठीतत्पुरुष)। इसका अर्थ है जायमान पदार्थ, क्योंकि वही जनन-क्रिया का कर्ता है। जन्म लेने वाले पदार्थ की प्रकृति को अपादान कहते हैं; यथा—'गोमयात् वृश्चिको जायते, ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते, पुत्रात्प्रमोदो जायते'। पतञ्जलि यहाँ भी प्रकृति से तत्तत् पदार्थों के अपक्रमण के कारण अपाय मानते हैं। साथ ही आत्यन्तिक अपाय नहीं होने का कारण वे सातत्य अथवा विभिन्न रूपों में होनेवाले प्रादुर्भाव को समझते हैं।

प्रकृति-शब्द का अर्थ विवादास्पद रहता है। एक ओर काशिकाकार, भट्टोजि-दीक्षित तथा गदाधर इसे कारणमात्र के अर्थ में लेते हैं, जब कि दूसरी ओर भाष्य-कार, कैयट तथा नागेश इसे केवल उपादान-कारण के अर्थ में स्वीकार करते हैं। 'ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते' उभयनिष्ठ उदाहरण है। सामान्यतया हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) सृष्टि का हेतु है, उपादान नहीं। किन्तु अद्वैतवेदान्त के अनुसार मायारूप उपाधि से युक्त (उपहित) चैतन्य ब्रह्म है, जो समस्त कार्यों का उपादान है। तदनुसार समस्त जगत् ब्रह्मरूप उपादान का विवर्त है।

हेतु या कारण के अर्थ में 'प्रकृति' शब्द का ग्रहण करनेवालों की युक्ति है कि 'पुत्रात्प्रमोदो जायते' इत्यादि उदाहरणों में जो प्रस्तुत सूत्र से अपादान-संज्ञा होकर पञ्चमी होती है वह उपादान-कारण में नहीं। पुत्र प्रमोद का उपादान कारण नहीं है। अतएव प्रकृति का अर्थ समवायि, असमवायि तथा निमित्त—इन तीनों कारणों को मानना चाहिए, केवल प्रथम को नहीं। गदाधर प्रकृति के विकारित्व अर्थ का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जिन पदार्थों में प्रकृति-विकृतिभाव नहीं हो वहाँ भी पञ्चमी देखते हैं; यथा—'प्राक्केकयीतो भरतस्ततोऽभूत्'। पुत्र का शरीर माता-पिता के शरीर का विकार नहीं होता, प्रत्युत उनके शुक्र-शोणितादि से निर्मित होता है। ये यद्यपि शरीर में ही रहते हैं तथापि मल-मूत्रादि के समान ये भी शरीर के अवयव नहीं है[1]। यह शंका नहीं करनी चाहिए कि 'मृत्पिण्डाद् घटो जायते' इत्यादि उदाहरणों में अपा-दान-पञ्चमी न होकर हेतु-पञ्चमी है। हेतु-पञ्चमी की प्रवृत्ति अस्त्रीलिंग गुणवाचक शब्दों से होती है, मृत्पिण्ड तो गुणवाचक पद नहीं है। अतः इसमें अपादान-पञ्चमी ही है (व्यु० वा०, पृ० २५७)।

---

१. 'शुक्रशोणितादेः शरीरस्थत्वेऽपि मलमूत्रादेरिव शरीरावयवत्वाभावात्'।
—व्यु० वा०, पृ० २५७

गदाधर यद्यपि 'दुग्धाद् दधि जायते, मृदो घटो जायते' प्रभृति उदाहरणों में समवायिकारण में ही प्रकृति की व्यवस्था करते हैं तथापि सिद्धान्ततः वे कहते हैं—'तस्मात्कारणत्वमेव प्रकृतित्वम्'। इसीलिए 'दण्डाद् घटो जायते' इत्यादि इष्ट-प्रयोग उपपन्न होते हैं, जहाँ दण्ड घट का निमित्त कारण है। यही स्थिति 'यतो द्रव्यं गुणाः कर्म तथा जातिः परापरा' में है, जहाँ 'यतः' का अर्थ 'ईश्वरात्' है। इनकी प्रकृति के रूप में ईश्वर निमित्त-कारणता का आश्रय लेकर सिद्ध है।

प्रकृति का अर्थ उपादान कारण माननेवाले नागेश कहते हैं कि 'ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते' से इस प्रकार बोध होता है—'ब्रह्मापादानिका प्रजाकर्तृकोत्पत्तिः (प्रजा ब्रह्म से निकलती हुई उत्पन्न होती है)। निःसरण का अर्थ लोकव्यवहार पर अवलम्बित है, क्योंकि व्यवहार में वस्तु जिससे उत्पन्न होती है वह उसी से निर्गत के रूप में प्रयुक्त होती है। भाष्यकार के मत में यह व्यवहार उपादान कारण का ही विषय है। 'पुत्रात्प्रमोदो जायते' में प्रत्यक्षतः उपादान कारण नहीं है, किन्तु उपादानत्व का निर्वाह उसका आरोप करके नागेश करते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'प्रकृति' का मुख्य अर्थ हैं—समवायि या उपादान कारण, किन्तु आरोप के द्वारा हम दूसरे कारणों में भी इसका निर्वाह कर सकते हैं (ल० म०, पृ० १२९७)।

उपर्युक्त तथ्य की सिद्धि के लिए दूसरी युक्तियाँ भी दी गयी हैं[१]। 'मृदो घटो जायते, तन्तुभ्यो वस्त्रं जायते, ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते' इत्यादि में तो उपादान कारण में पञ्चमी है ही, क्योंकि 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छां० उ० ६।१।१) इस श्रुति-वाक्य में उपादान-कारण के रूप में मृत्तिका का दृष्टान्त देकर ब्रह्म उपादानकारणत्व का समर्थन है। इसीलिए 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ०३।१) इत्यादि वाक्य में प्रदर्शित प्रपञ्च का ब्रह्म में अभिसंवेश सिद्ध होता है; जैसे [illegible] का मृत्तिका में या पट का तन्तुओं में होता है। पुनः 'आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' इस वाक्य में प्रजा का उपादान-कारण अन्न है, अन्न का वृष्टि और वृष्टि का आदित्य—यह पञ्चाग्नि-विद्या के (छा० ४।९-१०) अनुरोध से उपपन्न होता है। आदित्य यहाँ ज्योतिःस्वरूप है और यही ज्योति वृष्टि रूप में परिणत होती है, वृष्टि अन्न के रूप में और अन्न प्रजा के रूप में परिणत होता है।

कुछ लोग 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' (२।३।२५) में विभाषा-शब्द का योग-विभाग करके अगुणवाचक शब्द में ही हेतुपञ्चमी की सिद्धि करते हैं; जैसे—'धूमादग्न्यनुमितिर्जायते'। इसी आधार पर ये 'पुत्रात्प्रमोदो जायते' में भी पञ्चमी की सिद्धि करते हैं और पुत्र को प्रमोद का हेतु मानते हैं। किन्तु यह होने पर भी पञ्चमी-विभक्ति ब्रह्म की निमित्तकारणता नहीं सिद्ध कर पाती। इसके अतिरिक्त 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० उ० ६।२।३—उसने कल्पना की कि मैं अनेक रूपों में जन्म लूँ)—

---

१. द्रष्टव्य—भाष्य २, पृ० २५४-५५ पर रघुनाथ शास्त्री की पादटिप्पणी।

यहाँ 'कुर्याम्' नहीं कहकर 'स्याम्' तथा 'प्रजायेय' का प्रयोग ब्रह्म की उपादानकारणता ही सिद्धि करता है[1]।

इस विवेचन से यह स्थिर होता है कि प्रकृत सूत्र में 'प्रकृति' उपादान वाचक है तथा जहाँ उपादानकारण के अभाव में भी पञ्चमी की श्रुति हो वहाँ अपादान में नहीं, हेतु में पञ्चमी है। इसकी सिद्धि उक्त सूत्र में 'विभाषा' को पृथक् करके अर्थ करने पर हो सकती है, अन्यथा सूत्रानुसार तो हेतु के गुणवाचक होने पर ही पञ्चमी का विकल्प हो सकता है। तदनुसार 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' इत्यादि प्रयोग भी समर्थित हो सकते हैं, इसके लिए उपादान-कारणत्व की सिद्धि में आकाश-पाताल एक करने की आवश्यकता नहीं।

(७) **भुवः प्रभवः** (१।४।३१)—भू-धातु के कर्ता के उत्पत्तिस्थान को भी अपादान कहते हैं; जैसे—'हिमवतो गङ्गा प्रभवति, कश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति'। भाष्यकार के अनुसार जल का अपसरण होने से अपाय के अन्तर्गत ही यहाँ अपादान है। आत्यन्तिक अपसरण इसलिए नहीं होता कि उसमें सातत्य है। अथवा विभिन्न रूपों में जल उत्पन्न होता रहता है। 'प्रभवति' का अर्थ है—प्रथम प्रकाशन (व्यु० वा०, पृ० २५८ तथा ल० म०, पृ० १२९७)। इसलिए प्रथम प्रकाश के अधिकरण को अपादान कहते हैं—यही सूत्रार्थ हुआ[2]।

भवानन्द अपने कारकचक्र में कहते हैं कि कि इस सूत्र के उदाहरण में पंचमी का अर्थ हेतु नहीं है, अन्यथा 'जनिकर्त्तुः प्रकृतिः' में ही इसका अन्तर्भाव हो जाता। इसलिए यहाँ आद्य-बहिः-संयोग को धात्वर्थ मानना चाहिए। बहिः पदार्थ पृथ्वी ही है, क्योंकि गंगा वहीं प्रकट होती है। पंचम्यर्थ है—हिमवान् के संयोगध्वंस के अव्यवहित उत्तरक्षण में विद्यमान रहना। आख्यातार्थ आश्रयता है। इस प्रकार वे न्यायमत से शाब्दबोध देते हैं—'हिमवत्संयोगध्वंसाव्यवहितोत्तरक्षणवर्त्याद्यपृथिवीसंयोगाश्रयतावती गङ्गा' (का० च०, पृ० ७३)। इस शाब्दबोध में 'अव्यवहित' तथा 'आद्य' पदों का निवेश नहीं हो तो 'वैकुण्ठात् काशीतो वा गङ्गा प्रभवति' जैसे अपप्रयोग होने लगेंगे। स्पष्टीकरण यह है कि वैकुण्ठ से गंगा का संयोगध्वंस होने के तुरन्त बाद ही पृथ्वी से सम्बन्ध नहीं होता। दूसरी ओर काशी से गंगा का संयोग-ध्वंस होने के बाद पृथ्वी से आदि-सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि यह तो बहुत ही पहले हो चुका है जब वह हिमालय से गिरी। भवानन्द का सूक्ष्म विश्लेषण बहुत रोचक है। मेघदूत के 'वल्मीकाग्रात्प्रभवति' में भी यही अर्थ है, किन्तु इसमें बाह्य पदार्थ के रूप में वल्मीकाग्र ऊर्ध्वदेश है। भवानन्द के शिष्य जगदीश ने इस गुरुमार्ग को संक्षिप्त करके प्रथम प्रकाशन के रूप में प्रभवन का अर्थ माना है, जो गदाधर और नागेश को सम्मत है। जगदीश द्वारा दिया गया शाब्दबोध इस प्रकार है—'वल्मीकाग्र-वृत्ति-प्रथमप्रकाशनवद् आखण्डलस्य

---

१. श० कौ० २, पृ० ११९-२०।

२. 'प्रभवनं प्रथमप्रकाशः, प्रग्रहणात्। तदधिकरणमपादानमित्यर्थः'।

—ल० श० शे०, पृ० ४५५

धनुःखण्डम्' । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जगदीश ने वल्मीक का अर्थ परम्परा से हटकर 'सातपमेघ' किया है ।

'हिमवतो गङ्गा प्रभवति' का शाब्दबोध इस प्रकार कराते हैं—'हिमवदपादानको गङ्गाकर्तृकः प्रथमः प्रकाशः' । तदनुसार यह भी अर्थ हो सकता है कि हिमालय से निकलती हुई गंगा प्रकाशित होती है ।

उपसंहार

पाणिनि के द्वारा अपादान-संज्ञा के विधान के लिए दिये गये ये सूत्र अनेक वैयाकरणों को आवश्यक प्रतीत हुए हैं । दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में इस 'सप्तसूत्री' की व्याख्या के अनन्तर पतंजलि के विचारों का संक्षेप में निदर्शन करके उनका प्रत्याख्यान किया है । उनका कथन है कि निवृत्ति, विस्मरण आदि दूसरे धातुओं के अर्थ से विशिष्ट अपाय का आश्रय लेकर (तथाकथित उपात्तविषय अपादान के अन्तर्गत) किसी-किसी प्रकार उपर्युक्त प्रयोगों का हम समर्थन भले ही कर लें, किन्तु वैसी दशा में 'नटस्य शृणोति' के समान धातु के मुख्यार्थ के आधार पर षष्ठी-विभक्ति का वारण नहीं किया जा सकता । 'उपाध्यायादधीते' और 'नटस्य शृणोति' इन दोनों में शब्द के निःसरण के अनुकूल व्यापार तो समान ही है, कोई भेद तो है नहीं । इसी प्रकार अपक्रमण, निवृत्ति, अपगमन इत्यादि अपायार्थक क्रियाओं का आश्रय लेकर 'सप्तसूत्री' के प्रयोगों का अपाय में अन्तर्भाव का जो पातंजल-प्रयास हुआ है, वह षष्ठी के दुर्वार प्रयोग का प्रयोजक है । अनभिधान (विद्वानों के द्वारा प्रयुक्त न होना) रूप अमोघ अस्त्र का आश्रय लेकर षष्ठी का निषेध करना शोभाजनक नहीं है । इसी से 'जुगुप्सा' इत्यादि वार्तिक भी अनिवार्य हैं । इस प्रकार अपादान के संज्ञी हुए—ध्रुव, भयहेतु, अ[illegible] इत्यादि । परत्व के कारण दूसरी संज्ञाओं की प्राप्ति होने पर भी शेषत्व की विव[illegible] में 'न माषाणाम[illegible]ीयात्' के समान षष्ठी हो सकती है और ऐसे स्थल में अपाद[illegible]-संज्ञा के वारण में कोई आपत्ति नहीं होगी ।

अधिकरण-कारक

'अधि' का प्राचीन अर्थ

अधि-पूर्वक कृ-धातु से अधिकरणार्थक ल्युट्-प्रत्यय लगकर बने हुए अधिकरण-शब्द का निर्वचन है—'अधिक्रियन्ते (क्रियाः) यस्मिन्' अर्थात् जिसमें क्रिया का निवास या आश्रय हो। इस शब्द में लगने वाला 'अधि' निपात के रूप में वैदिक काल से ही सप्तमी-विभक्ति पर नियमन करता आ रहा है; यथा—'वयो न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये' (ऋ० १।८५।७ घ), 'प्रतीदं विश्वं रोचते यत्किञ्च पृथिव्यामधि' (ऋ० ५।८३।९ गद्य), 'यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु' (ऋ० ७।१०३।५ घ)। यद्यपि इस 'अधि' के योग में कहीं-कहीं पंचमी भी देखी जाती है किन्तु वह इसका गौण प्रयोग है तथा ऐसे अवसर अत्यल्प हैं[१]। सप्तमी के प्रयोगाधिक्य के कारण ही 'अधि' का उपयोग सप्तमी-विभक्ति के अर्थ में होने वाले अव्ययीभाव समास में भी होता है; जैसे—अधिहरि, अधिकन्धरम् (शिशु० १।५४)। पाणिनि 'अधि' को ईश्वर (स्वामी) के अर्थ में कर्मप्रवचनीय मानते हैं ('अधिरीश्वरे' पा० सू० १।४।९४) तथा ऐसे कर्म-प्रवचनीय के योग में उस शब्द से सप्तमी का भी विधान करते हैं जिससे आधिक्य दिखाना या जिसमें स्वामित्व प्रदर्शित करना इष्ट हो ('यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' २।३।९); जैसे—'अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः, अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः'। 'यस्य चेश्वरवचनम्' में ईश्वर शब्द भावप्रधान (ईश्वरत्व-वाचक) है, अतः स्वामी तथा अधिकृत पदार्थ दोनों में सप्तमी का विकल्प होता है[२]।

अधि के इस अर्थप्रयोग-विवेचन के सन्दर्भ में अधिकरण-संज्ञा की सार्थकता प्रतीत होती है। आधिक्यवाचक 'अधि' के साथ करण का संयोग भी कम रोचक नहीं है। तदनुसार करण की अपेक्षा अधिक व्याप्ति वाले कारक को अधिकरण-संज्ञा मिलती है। हम देख चुके हैं कि करण के लक्षण में प्रकर्षवाचक तमप्-प्रत्यय के योग से उसकी व्याप्ति क्षीण हो गयी है। अधिकरण के साथ ऐसी बात नहीं। तमप् नहीं होने से सभी प्रकार के आधारों को अधिकरण कहते हैं, न कि करण के समान केवल कुछ साधकों को। अतएव गौण आधार भी अधिकरण होते हैं, यह हम देखेंगे। इस-लिए करण की अपेक्षा अधिक व्यापक होने के कारण इसे अधिकरण कहा गया हो, यह सम्भव लगता है। इसलिए पाणिनि ने इसे करण का अव्यवहित परवर्ती बनाया है।

---

१. Macdonell, Vedic Grammar for Students, Art. 176.2.

२. "'यस्य चेश्वरवचनम्' इ[illegible]ार्थद्वयम्। ईश्वरशब्दो भावप्रधानः। यस्य स्वामिन ईश्वरत्वमुच्यते तस्मात्स्वामिनः सप्तमीत्येकः, यस्य स्वस्येश्वर उच्यते तस्मात्स्वात्सप्त-मीत्यपरः"। पदमञ्जरी, १।४।९४

अधिकरण का अर्थ

आधार को अधिकरण का लक्षण माना गया है (आधारोऽधिकरणम् १।४।४५)। कारक-प्रकरण में क्रिया सापेक्ष होने के कारण उसे अध्याहृत किया जाता है। तदनुसार क्रिया का आधार अधिकरण है। यहाँ प्रश्न होता है कि क्रिया का आधार या तो कर्ता होता है या कर्म, क्योंकि कर्तृस्थ (रामो गच्छति) या कर्मस्थ (ओदनं पचति) के रूप में ही क्रिया होती है। तब अधिकरण को क्रिया का आधार कैसे कहा जा सकता है ? यदि इसके उत्तर में हम कर्तृ-कर्मसंज्ञाओं का अनवकाश कहकर निकल जाना चाहें तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी दशा में भी अधिकरण के साथ इनके पर्याय का प्रसंग उत्पन्न हो जायगा—कभी अधिकरण-संज्ञा तो कभी कर्तृ-संज्ञा या कर्म-संज्ञा[1]। स्पष्ट है कि लक्षण अपने-आप में अपूर्ण है।

आधार की परम्परया अधिकरणता

इस प्रसंग के निवारणार्थ लक्षण की व्याख्या में कहा जाता है कि क्रिया के आश्रय के रूप में विद्यमान कर्ता या कर्म में स्थित धारण-क्रिया के प्रति जो आधारभूत कारक हो उसे अधिकरण कहते हैं[2]। धारण-क्रिया के प्रयोग से यह नहीं समझना चाहिए कि अपादान या सम्प्रदान के समान अधिकरण भी क्रिया-विशेष से सम्बद्ध होता है। इसके विपरीत यह सभी क्रियाओं से सम्बद्ध है। क्रिया का आधार होने के कारण उन-उन क्रियाओं को धारण करने की बात इसमें अवश्य उठती है। क्रिया को कोई पदार्थ दो तरह से धारण कर सकता है—साक्षात् या परम्परा से। जहाँ तक क्रिया को साक्षात् धारण करने का प्रश्न है तो यह केवल कर्ता या कर्म से ही सम्भव है। अधिकरण व्यवधान से ही क्रिया को धारण करता है। यह व्यवधान कर्ता या कर्म के द्वारा उपस्थित होता है। अतः अधिकरण क्रिया के साक्षात् आश्रयस्वरूप कर्ता या कर्म का आधार बनकर (उन्हें धारण करके) क्रिया का आधार कहलाता है[3]। तात्पर्य यह है कि अधिकरण उक्त प्रकार से क्रिया-धारण करने के प्रति असाक्षात् उपकारक होता है।

वाक्यपदीय में अधिकरण-लक्षण

भर्तृहरि इन्हीं विषयों को दृष्टि में रखकर अधिकरण का लक्षण इस प्रकार करते हैं—

'कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद्धारयत्क्रियाम्।
उपकुर्वत्क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्'॥

—वा० प० ३।७।१४८

कर्ता या कर्म से व्यवहित क्रिया को असाक्षात् रूप से धारण करता हुआ जो

१. न्यास (१।४।४५), पृ० ५६१।
२. द्रष्टव्य—काशिका, उक्त सूत्र पर।
३. न्यास—उपरिवत्, पृ० ५६१-६२।

क्रिया की निष्पत्ति में भी सहायता पहुँचाता है वही इस (व्याकरण) शास्त्र में अधिकरण समझा जाता है । लोक में अधिकरण के विषय द्रव्य, गुण तथा क्रिया--ये तीनों हैं, किन्तु इस शास्त्र में कारकों के अन्तर्गत होने से क्रिया का अध्याहार (आक्षेप) अनिवार्य है, अतः क्रिया में ही एक विशेष प्रकार का उपकार होने (अर्थात् उसे धारण करने) के कारण अधिकरण-संज्ञा की व्यवस्था होती है । कर्तृस्थ क्रिया के अधिकरण का उदाहरण है—कटे शेते (चटाई पर सोता है) । यहाँ शयन-क्रिया कर्ता में स्थित है तथा उसी का आधार होने के कारण 'कट' क्रियाधार या अधिकरण है । कर्मस्थ क्रिया के अधिकरण का उदाहरण है—'स्थाल्यां पचति' । यहाँ विक्लित्ति रूप फलवाली पाकक्रिया ओदनादि कर्म में वर्तमान है । चूँकि उस कर्म का आधार स्थाली है अतः वह अधिकरण है । कर्ता या कर्म को धारण करके उसमें समवाय-सम्बन्ध से वर्तमान क्रिया की सहायता (उपकार) अधिकरण परम्परया करता ही है, क्योंकि यदि अधिकरण न हो तो कर्ता या कर्म भी क्रिया के उपकारक नहीं हो सकते । अतः आधार इन दोनों का तो उपकार करता ही है, इनके माध्यम से क्रियोपकारक भी है[1] । कारक यदि क्रिया का जनक व्यवहित रूप में भी हो तो कोई हानि नहीं[2] । अधिकरण और क्रिया के बीच व्यवधान की पुष्टि भर्तृहरि के दो शब्दों से होती है—'व्यवहिताम्' तथा 'असाक्षात्' । तदनुसार व्यवधान अधिकरण में बहुत आवश्यक है ।

इस दृष्टि से करण तथा अधिकरण परस्पर प्रतिलोम हैं कि करण और क्रिया के बीच लवमात्र भी व्यवधान नहीं होता, जब कि क्रिया और अधिकरण में व्यवधान अनिवार्य है । कर्ता या कर्म का व्यापार करण के पूर्व होता है, जब कि अधिकरण के पश्चात् ही उनकी स्थिति होती है ।

इस साक्षात् और असाक्षात् क्रियोपकार को लेकर एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्ता और कर्म को साक्षात् क्रियाधार होने से मुख्य आधार क्यों नहीं कह दें ? दूसरी ओर कर्ता और कर्म के आधार रूप कटादि को गौण आधार कहना चाहिए, क्योंकि ये असाक्षात् क्रियाधार हैं । जब मुख्य आधार है ही तब गौण आधार को किस प्रकार अधिकरण-संज्ञा दी जा सकती है ? उत्तर में यह कह सकते हैं कि करण के लक्षण में तमप्-प्रत्यय का प्रयोग यह बतलाता है कि गौण आधार को भी अधिकरण कहा जा सकता है । किन्तु यह कोई उत्तर नहीं है । गौण आधार को हम अधिकरण भले ही कह लें, किन्तु मुख्य आधार (कर्ता, कर्म) को यह संज्ञा क्यों नहीं मिलेगी ? इसका अन्तिम उत्तर यह है कि केवल परम्परा से क्रियाधारण करनेवाले पदार्थ में ही अधिकरण-संज्ञा सावकाश होती है, अन्यत्र नहीं । कर्ता और कर्म इसमें

---

१. 'असति ह्याधारे कर्तृकर्मणी क्रियोपकारं न प्रतिपद्येयातामिति तयोराधार उपकुर्वन् क्रियामपि तत्स्थामुपकरोति' । —हेलाराज ३, पृ० ३४८

२. 'कारकाणां च क्रियानिमित्तत्वं यथा तथापि भवदाश्रीयत इति व्यवधानेन क्रियोपकारकत्वमविरुद्धम्' । —वहीं

निरवकाश रहते हैं। दूसरी ओर क्रिया को साक्षात् धारण करनेवाले पदार्थों को परत्व के कारण कर्ता या कर्म की ही संज्ञा दी जायगी। पाणिनि-सूत्रों में अधिकरण के बाद कर्ता, कर्म आये हैं और विप्रतिषेध की स्थिति में पर-संज्ञा ही प्रवृत्त होगी (द्रष्टव्य —हेलाराज, वहीं)। पूर्व में आनेवाली अधिकरण-संज्ञा इस प्रकार गौणाधार में सावकाश हो जाती है। अपने विपरीत कर्ता या कर्म की संज्ञाओं से बाधित होकर उनके विषय में यह अतिक्रान्त नहीं होती (न्यास, पृ० ५६२)। तथ्य यह निकला कि क्रिया के साक्षात् आधार के रूप में कर्ता और कर्म ही व्यवस्थित हैं; इन दोनों के आधार के रूप में स्थित आधार रूप कारक को अधिकरण कहते हैं।

यद्यपि अधिकरण-कारक के परम्परया आधार वाले लक्षण की आवृत्ति पाणिनीय तथा दूसरे सम्प्रदायों में भी हुई है किन्तु क्रिया के साक्षात् आधार के भी उदाहरण मिलते हैं; यथा—'गले बद्ध्वा गौर्नीयते' (गले में बन्धन लगाकर गौ को ले जाते हैं। यहाँ बन्धन-क्रिया का साक्षात् सम्बन्ध गले (अधिकरण) के साथ है, कर्ता या कर्म के माध्यम से नहीं। अतः उक्त सिद्धान्त का खण्डन-सा होता प्रतीत हो रहा है। कातन्त्र-सम्प्रदाय के टीकाकार सुषेण कविराज ने इसे परम्परावाद की परिधि में लाने का प्रयास किया है कि कुछ लोगों के अनुसार अवयव (गले) में भी अवयवी (गौ) की सत्ता होती है। तदनुसार बन्धन-क्रिया का आधार गौ (जो वास्तव में कर्म है) है और गला उसके सम्पूर्ण शरीर का एक अवयव होने के कारण गौ को धारण कर रहा है, उसका आधार है। इसलिए 'क्रिया के कर्म (गौ) का आधार' गला बहुत सरलता से सिद्ध हो जाता है और अधिकरण के उक्त साम्प्रदायिक लक्षण की रक्षा हो जाती है[1]।

किन्तु अपनी इस व्याख्या से स्वयं सुषेण को सन्तोष नहीं है। दूसरी वैकल्पिक व्याख्या देने में उनका यह अपरितोष प्रकट होता है[2]। उनका कथन है कि क्रिया के आधार के रूप में जिसकी विवक्षा हो वही अधिकरण है। अब यह परिस्थिति-विशेष पर निर्भर करता है कि क्रियाधारता साक्षात् होती है या कर्ता-कर्म के द्वारा। इसके अनुसार 'असाक्षाद् धारयत् क्रियाम्' वाली व्याख्या उपलक्षण मात्र है।

पाणिनि-तन्त्र में साक्षात् आधार वाले मत को कभी मान्यता नहीं मिली। प्रत्युत इस मत का उल्लेख करके खण्डन तक किया गया है। उदाहरणस्वरूप काल को साक्षात् क्रियाधार समझने का भ्रम हो जाता है, क्योंकि 'समये चैत्रस्तण्डुलान्पचति' जैसे प्रयोग होते हैं। वस्तुतः अधिकरण-संज्ञा का विधान करनेवाले सूत्र में स्वरितत्व-प्रतिज्ञा के द्वारा[3] यह निश्चित होता है कि काल भी परम्परा से ही क्रिया का आश्रय

---

१. डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य, पाणिनि-व्याकरण का अनुशीलन, पृ० १५७।

२. 'व्याख्यान्तरविकल्पस्य द्वयमिष्टं निबन्धनम्।
स्वव्याख्यापरितोषो वा व्यप्तिर्वा विषयान्तरे'॥

३. पाणिनि के 'स्वरितेनाधिकारः' (१।३।११) सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने अधिकार-शब्द के प्रयोजनों में 'अधिक कार्य' के रूप में द्वितीय प्रयोजन रखा है।

है। हमें इस प्रकार का अनुभव भी होता है कि उक्त उदाहरण में काल चैत्र तथा तण्डुल (जो क्रमशः कर्ता तथा कर्म हैं) दोनों का आधार है। यदि क्रिया के साक्षात् आधार के रूप में काल की विवक्षा हो तो 'कालः भूतानि पचति' ऐसा प्रयोग होगा अर्थात् वह कर्ता हो जायगा[1]। परिणामतः अधिकरण का क्रिया के साथ अन्वय कर्तादि के अन्वय के माध्यम से ही होता है, क्योंकि जिसका कारक-भाव (कारकत्व) जिसके माध्यम से होता है उसका क्रिया के साथ अन्वय भी उसी के माध्यम से होगा— यह शास्त्रीय व्यवस्था है।

आकाश तथा काल का आधारत्व

भर्तृहरि अधिकरण-विवेचन के प्रसंग में आकाश तथा काल के आधारत्व का भी निरूपण करते हैं। उनके अनुसार सभी संयोगवान् पदार्थों का आदि आधार आकाश ही है। ग्रह, नक्षत्र, विमानादि आकाशीय पदार्थों का आधार तो प्रत्यक्षतः आकाश है ही; रथादि पार्थिव पदार्थों के आधार जो हम पृथ्वी का भाग-विशेष देखते हैं वह भी अन्ततः परम्परया आकाश पर ही आधृत है। इसीलिए सभी संयोगी पदार्थों का प्रथम आधार आकाश को मानने में कोई आपत्ति नहीं है[2]। हेलाराज न केवल संयोगी पदार्थों का अपितु समवायी पदार्थों का भी पार्यन्तिक आधार आकाश को ही सिद्ध करते हैं, क्योंकि उनका तात्कालिक आधार तो अपने ही अवयव हैं और अन्त में परमाणुओं तक पहुँचा जा सकता है। इन परमाणुओं के बीच देशगत विभाग का कारण आकाश ही आधार-रूप में है। इस प्रकार वैशेषिकों के अपर सामान्य (सत्ता) के समान आकाश अपर या मुख्य अधिकरण का पद ले सकता है।

यहाँ देशगत प्रविभाग करना आकाश का प्रधान कार्य समझना चाहिए, अन्यथा एकत्व-संख्या से विशिष्ट नित्य आकाश में विभिन्न पदार्थों के आधेय-रूप में अवस्थित

किसी सूत्र में मुख्य स्वरित का प्रयोग करके पाणिनि यह दिखलाना चाहते हैं कि तत्रत्य नियम अपने निश्चित कार्य से अधिक कार्य को व्याप्त करता है; जैसे अपादान या अधिकरण की व्याप्ति मुख्य अपादानादि के अतिरिक्त गौण में भी होती है। तदनुसार जहाँ *सम्पूर्ण आधार-स्वरूप* व्याप्त होता है (तिलेषु तैलम्, दध्नि सर्पिः) केवल वहीं अधिकरण नहीं होता प्रत्युत लाक्षणिक, सामीपिक इत्यादि आधार भी अधिकरण ही हैं, यह स्वरित का प्रसाद है। यह अधिक कार्य (अधिकार) सूचित करना इस सूत्र का उद्देश्य है। यहाँ भी इस प्रतिज्ञा के आधार पर 'आधार' शब्द से परम्पराधार का ग्रहण होता है।

१. 'यद्यपि कालस्य साक्षात्क्रियापरिच्छेदकत्वं, तथापि तदधिकरणं कर्तृकर्मद्वारैव, तथैवानुभवात्। साक्षात्तदाधारत्वेऽपि (आधारपदे) स्वरितत्वप्रतिज्ञानात्परम्पराधारस्य ग्रहणम्'। —ल० श० शे०, पृ० ४७७

२. 'आकाशमेव केषाञ्चिद् देशभेदप्रकल्पनात्।
आधारशक्तिः प्रथमा सर्वसंयोगिनां मता'॥ —वा० प० ३।७।१५१

रहने से सांकर्य का दोष उपस्थित होगा। एक देशभाग (आधार) में एक ही वस्तु रह सकती है। किन्तु तथ्य यह है कि व्यापक आकाश के अन्तर्गत विभिन्न पदार्थ अपना-अपना देश-विशेष घेरकर रखे रहते हैं। यह देश-विशेष प्रत्येक पदार्थ का पृथक्-पृथक् होता है। अतः आकाश-आधार में ही सभी पदार्थ परस्पर सत्तागत विरोध के बिना ही प्रेमपूर्वक सहयोग-सहित निवास करते हैं[1]। आकाश में यह देशभेद कल्पना-मात्र है; केवल व्यवहार के लिए है, परमार्थतः नहीं।

उक्त प्रथमाधार के रूप में निरूपित आकाश की सत्ता भी आधारशक्ति पर आश्रित है[2]। समस्त भाव पदार्थों के विषय में जो कहा जाता है कि यह यहाँ है (इदमत्र), वह व्यवहार ही सिद्ध करता है कि 'अत्र' के द्वारा किसी ऐसे भाव-पदार्थ का निर्देश हो रहा है जो पृथ्वी आदि से भिन्न है। सामान्य वस्तुओं से वस्तुतः पृथ्वी का भाग परिमित नहीं होता, पृथ्वी से ऊपर का शून्य स्थान ही व्याप्त होता है। अन्ततः पृथ्वी भी उसी शून्यस्थान को घेरती है। फलतः उस शून्यस्थान रूप भाव-पदार्थ को 'आकाश' कह कर व्यवहार में लाते हैं। इसे हम अपदार्थ या अवस्तु नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अवस्तु में किसी प्रकार की शक्ति नहीं होती और उसका नामकरण भी इस रूप में नहीं होता। साधारण व्यवस्था यह है कि किसी वस्तु का व्यपदेश (नामकरण) उसे निरूपित करने के बाद ही होता है और यह वस्तु पर आश्रित होता है, अवस्तु पर नहीं। कारण यह है कि लोक में जो शब्दजन्य व्यवहार चलता है उसमें उसी को 'वस्तु' कहने का नियम है जिसका निरूपण हो चुका है[3]।

भर्तृहरि तथा हेलाराज दोनों इस विषय को महत्त्व प्रदान करते हैं कि अभाव पदार्थ में अधिकरणत्व नहीं हो सकता। यहाँ हम स्पष्ट हो लें कि अधिकरण में आधेय के अभाव का प्रश्न बिलकुल पृथक् है, जिसमें अधिकरणत्व की क्षति नहीं होती (यथा—घटे जलं नास्ति)। किन्तु 'शत्रोरभावे सुखम्' इस उदाहरण में अभाव निरूप्यमाण होने पर भी वस्तु-सापेक्ष नहीं होने से आधार नहीं माना जा सकता। यद्यपि अभाव में सप्तमी-विभक्ति के विषय में हेलाराज मौन हैं, तथापि सम्भवतः वे इसे 'भावे सप्तमी' से समर्थनीय मानते हों। अतः सिद्ध होता है कि लोक में प्रसिद्ध व्यवहार का कारण रूप आकाश आधार ही नहीं, परमाधार है[4]।

सभी भावपदार्थों का आधार-रूप आकाश केवल सिद्ध वस्तुओं के आधार के रूप में प्रसिद्ध है; जैसे घट, पटादि का। जहाँ तक 'गच्छति, पचति' इत्यादि साध्य क्रियाओं

---

१. द्रष्टव्य—हेलाराज (उक्त कारिका पर), पृ० ३५०।

२. 'इहाधारशक्तिरेवान्यथानुपपत्तेराकाशसद्भावं गमयति'।

—हेलाराज ३, पृ० ३५१

३. 'निरूप्य हि व्यपदेशो, निरूपणा च वस्तुनिबन्धना, शाब्दे व्यवहारे निरूपित-स्यैव वस्तुत्वात्'।

—वहीं

४. 'इदमत्रेति भावानामभावान्न प्रकल्पते।
व्यपदेशस्तमाकाशनिमित्तं सम्प्रचक्षते' ॥ —वा० प० ३।७।१५२

का प्रश्न है इनका आधार बनने की क्षमता केवल काल में है। इसे भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं—

'कालात्क्रिया विभज्यन्ते आकाशात्सर्वमूर्तयः।
एतावांश्चैव भेदोऽयमभेदोपनिबन्धनः'॥

—वा० प० ३।७।१५३

काल के कारण सभी क्रियाओं में और आकाश के कारण मूर्त (सिद्ध) पदार्थों में विभाग की कल्पना होती है। यद्यपि काल और आकाश दोनों ही अत्यन्त अभिन्न (अद्वय) परब्रह्म की शक्ति के रूप में हैं तथापि उक्त कार्यों के रूप में पृथक्-पृथक् शक्तियों को धारण करने के कारण इनमें भेदावभास की उपपत्ति व्यवहार-दशा में होती है।

साधन-शक्तियों (कारकों) के व्यापार का व्याघात हो जाने पर क्रिया में 'प्रतिबन्ध' हो जाता है और यदि उनके व्यापार प्रक्रान्त होते हैं तो क्रिया भी चलने लगती है जिसे 'अभ्यनुज्ञा' कहते हैं। क्रिया के इस प्रतिबन्ध तथा अभ्यनुज्ञा के द्वारा काल की नित्यवृत्ति में भेद की प्रतीति होती है[1]। उदाहरण के लिए घटीयन्त्र के छिद्र से जल-निःसरण की प्रक्रिया को ले सकते हैं। घटी-यन्त्र के भीतर विद्यमान जल का कोई भाग तो एक काल-विशेष में छिद्र से बाहर निकल रहा है और उस समय दूसरा भाग अभी भीतर ही है। यह शक्ति का प्रतिबन्ध तथा अभ्यनुज्ञा काल के द्वारा ही निष्पन्न होती है, क्योंकि यदि काल-शक्ति इसके पीछे नहीं होती तो गुरुत्व के कारण समस्त जल का निःसरण एक ही बार हो जाता—क्रमशः निःसरण का प्रश्न ही नहीं होता। यह सिद्ध करता है कि जल-निःसरण की प्रक्रिया से पृथक् अपने व्यापार से युक्त काल नाम की शक्ति है[2]।

यह काल उपर्युक्त दोनों नियमों के कारण क्रम का प्रदर्शन करता है तथा समस्त भाव-पदार्थों का उपकार (सहायता) जन्म-स्थिति-विनाश के रूप में प्रविभाग करके करता है। तदनुसार क्रियाओं का आधार यह काल ही सिद्ध है। उन (क्रियाओं) में प्रविभाग की व्यवस्था भी इसी का कार्य है। 'इह जायते, इह तिष्ठति, इह नश्यति' इत्यादि तथा अतीत में उत्पन्न, वर्तमान में स्थित, भविष्य में नष्ट होने वाला इत्यादि सभी व्यवहार काल के आधारत्व के कारण निष्पन्न होते हैं। दूसरी ओर आकाश अव्यापक द्रव्यों के परिणाम से युक्त पदार्थों के संयोग के कारण प्रविभाग का ग्रहण करता है और उन सबों के नियत देशवर्ती होने के कारण पदार्थों को अलग-अलग करता है। अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आकाश में द्रव्यों का

---

१. 'कस्याश्चित्क्रियायाः साधनशक्तीनां व्यापारविघाते प्रतिबन्धस्तद्विपर्ययोऽभ्यनुज्ञा ताभ्यामुपलक्षिता कालस्य नित्या प्रवृत्तिर्भावेषु सततपरिणामिषु हि किञ्चित्प्रजायते किञ्चिदपक्षीयते इति नियतमेतत्'। —हेलाराज (३।९।९०)

२. द्रष्टव्य—वा० प० ३।९।७० तथा हेलाराज।

विभाजन करने की शक्ति होने से वह उन्हीं का आधार है, जब कि काल क्रियाओं का विभाजन-जनक होने से क्रियाधार है[१]।

उपवास-क्रिया में आधार

आकाश तथा काल की अधिकरणता के ही प्रसंग में भर्तृहरि ने पाणिनि के 'उपान्वध्याङ्वसः' (पा० १।४।४८) के अन्तर्गत आये हुए वार्तिक 'वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेधः' के उदाहरण का भी विचार किया है। उक्त सूत्र में वस्-धातु (निवास करना) के (परम्परित) आधार को कर्म माना गया है, यदि उसके पूर्व में उप, अनु, अधि, आङ्—इनमें से कोई उपसर्ग लगा हो। यहीं पर वार्तिककार कात्यायन संशोधन उपस्थित करते हैं कि अशननिवृत्ति के अर्थ में उप+वस्-धातु हो तो कर्म-संज्ञा नहीं होती, आधार के कारण अधिकरण ही होता है; जैसे—ग्रामे उपवसति। कात्यायन का विशेष अभिप्राय यही है कि जैसे 'तिष्ठति' क्रिया से गति-निवृत्ति से विशिष्ट अवस्थिति का बोध होता है वैसे ही यहाँ 'उपवसति' का अर्थ भी 'भोजन-निवृत्ति से विशिष्ट वास' है। तदनुसार ग्राम से उपवास का उसी प्रकार सम्बन्ध है जैसे 'तिष्ठति' से (ग्रामे तिष्ठति) हो सकता है। अतः सूत्रविहित कर्मसंज्ञा की निवृत्ति हो जाती है। ग्राम की विवक्षा यहाँ ईप्सिततम के रूप में नहीं, आधाररूप में है—अर्थात् यह वार्तिक विवक्षा-नियम का भी समर्थन करता है[२]।

किन्तु पतञ्जलि इस वार्तिक से सहमत नहीं है। उनका कथन है कि यहाँ ग्राम उप-पूर्वक वस्-धातु का अधिकरण नहीं है, वह तो उपसर्ग-हीन वस्-धातु का ही अधिकरण है। इसी से 'ग्रामे वसंस्त्रिरात्रमुपवसति' यह उदाहरण वे देते हैं (भाष्य, १।४।४८)। उनका आशय यह है कि ग्राम का सीधा सम्बन्ध वास-क्रिया के साथ है, क्योंकि इनमें अन्तरङ्ग सम्बन्ध है। उपवास-क्रिया चूंकि स्वरूपतः काल की अपेक्षा रखती है अतः उसका अन्तरङ्ग-सम्बन्ध काल के ही साथ हो सकता है, ग्राम के साथ तो उसका बहिरङ्ग-सम्बन्ध है[३]। हेलाराज इस स्थिति का विश्लेषण करते हैं कि यद्यपि उपवास-क्रिया के साथ काल-विशेष ही अन्तरङ्ग होता है तथापि भोजन न करने वाले पुरुष की निरधिकरण अवस्थिति असम्भव है। अतः आधार की अपेक्षा

१. व्याकरण-दर्शन में काल तथा आकाश ये दोनों ईश्वर की शक्तियाँ हैं। चूंकि वहाँ इस संसार को शब्दब्रह्म का विवर्त माना गया है, जिसमें दो प्रकार की व्यवस्था है—मूर्ति (ठोस पदार्थ) तथा क्रिया (साध्य भाव), अतः व्यावहारिक दशा में अनेक प्रकार के भेदों की प्रतीति होती है। प्रथम दशा में केवल शब्दब्रह्म की सत्ता होती है जिसमें कालाकाश की एकत्वनिष्ठ शक्तियाँ रहती हैं। मूर्त पदार्थों और क्रियाओं के रूप में विवर्त होने का कारण कालाकाश का एकत्व ही है। जब विवर्त होता है तब यही एकत्व हमें भेदों के रूप में प्रतीत होने लगता है।

२. द्रष्टव्य—हेलाराज (३।७।१५३ पर), पृ० ३५२।

३. द्रष्टव्य—प्रदीप तथा उद्योत, पृ० २६० (खण्ड २)

होती है जिसकी पूर्ति ग्राम करता है। अपेक्षित होने पर भी ग्राम का आधाररूप में चूंकि उपवास-क्रिया से सम्बन्ध नहीं है (क्योंकि उस क्रिया का आधार कालशक्ति है), अतः 'उपान्वध्याङ्वसः' (पा० १।४।४८) से होने वाली कर्मसंज्ञा उसमें प्रसक्त नहीं होती—प्रत्युत कालवाचक 'त्रिरात्र' में कर्मसंज्ञा हुई है। इसी का उपपादन वाक्यपदीय की इस कारिका में है—

'यद्यप्युपवसिर्देशविशेषमनुरुध्यते। शब्दप्रवृत्तिधर्मात्तु कालमेवावलम्बते'॥

—वा० प० ३।७।१५४

'तीर्थे उपवसति' इत्यादि उदाहरणों में उपवास-क्रिया का सम्बन्ध तीर्थादि देश-विशेष से यद्यपि देखा जाता है तथापि वह देशसम्बन्ध शब्दशक्ति (उपवास-क्रिया की सामर्थ्य) से प्राप्त नहीं होता। उपवास का अर्थ है—भोजन-निवृत्ति, जिसकी उपपत्ति काल-सम्बन्ध से ही होती है। दूसरे शब्दों में—भोजन-निवृत्ति कब या कब तक होती है, यही सार्थक प्रश्न है; कहाँ होती है, यह नहीं। उक्त क्रिया में कालशक्ति अन्तर्हित रहती है, आकाशशक्ति (देशविशेष) तो उपवासकर्ता की सत्ता की निराधारता की असिद्धि पर आश्रित होने के कारण, सम्बद्ध होने पर भी शब्दार्थ (उपवास-क्रिया के अर्थ) में अन्तर्भूत नहीं है। भोजननिवृत्ति से देश का सीधा सम्बन्ध नहीं रहता। उपवास के अर्थ में जो अवस्थिति या निवास करने का भी अर्थ अङ्गरूप में रहता है उसी से देश सम्बद्ध है। इस प्रकार जहाँ देश का उपवास के साथ सम्बन्ध उसके अङ्ग के माध्यम से होता है, काल का उससे साक्षात् ही योग होता है[1]।

अनशनार्थक उपवास-क्रिया के योग में इस प्रकार देश और काल के आधारत्व का स्पष्ट विभाजन है। किसी भी स्थिति में देशवाचक शब्द को अधिकरण की विभक्ति होती है, कालवाचक को कर्म की। तदनुसार यह वार्तिक भाष्यकार तथा भर्तृहरि के मतानुसार निरर्थक है। भर्तृहरि तो यहाँ तक कहते हैं कि उनके द्वारा खींची गयी विभाजक रेखा इतनी नियमबद्ध है कि जहाँ केवल उपवास-क्रिया का प्रयोग हो वहाँ वास-क्रिया के अप्रयुक्त (गम्यमान) होने पर भी देश-विशेष (ग्रामादि) उसी का अधिकरण होता है[2]। पुनः त्रिरात्रादि कालवाचक शब्द अप्रयुक्त होने पर भी उपवास-क्रिया के लिए कर्म होंगे[3]।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भोजन-निवृत्ति के अर्थ में उपवास-क्रिया का साक्षात् आधार काल होता है, जिसे कर्मसंज्ञा दी जाती है। देश अभिमत होने पर भी अङ्गभूत वास-क्रिया के माध्यम से उसका आधार बनता है, उसे अधिकरण ही कहते

---

१. 'तथा चाङ्गभूतवसतिक्रियाद्वारेणोपवासेऽधिकरणतां देशः प्रतिपद्यते। साक्षात्कालेन तु तथा योगः'। —हेलाराज ३, पृ० ३५३

२. 'साधनं ह्यश्रूयमाणामपि योग्यां क्रियामाक्षिपति'। —वहीं

३. 'वसतावप्रयुक्तेऽपि देशोऽधिकरणं ततः।
अप्रयुक्तं त्रिरात्रादि कर्म चोपवसौ स्मृतम्'॥ —वा० प० ३।७।१५५

हैं। दोनों में से किसी की अनुपस्थिति रहने से संज्ञा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। 'तीर्थे उपवसति' तथा 'एकादशीमुपवसति' दोनों प्रकार के उदाहरणों की पृथक्-पृथक् सिद्धि सूत्रमात्र से हो जाती है। पहले उदाहरण में काल गम्यमान है तो दूसरे में देश।

शब्दकौस्तुभ में दीक्षित उक्त वार्तिक को स्वीकार करते हुए 'उपोष्य रजनीमेकाम्' की द्वितीया को उपपद-विभक्ति मानकर 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० २।३।५) से कालव्याप्ति के कारण निष्पन्न कहते हैं। पुन: वे इसीलिए 'एकादश्यां न भुञ्जीत' इस उदाहरण में सप्तमी की सिद्धि अधिकरण के आधार पर करते हैं कि उपपद-विभक्ति से कारक-विभक्ति अधिक प्रबल होती है। अब प्रश्न है कि यदि कारक-विभक्ति प्रबलतर ही है तो 'रजनीमेकाम्' में भी सप्तमी क्यों न हो ? उत्तर में विवक्षाशस्त्र दिखलाया जायगा। इससे कहीं अधिक सन्तोषप्रद भर्तृहरि की उक्त व्याख्या है। अत: 'एकादश्यां न भुञ्जीत' में 'उपान्व०' सूत्र अप्रसक्त होगा, क्योंकि उप+वस् का प्रयोग नहीं है। भुज्-धातु के आधाररूप काल को अधिकरण हुआ है। 'रजनीमेकाम्' में उपवास का आधार काल है, जो कर्म ही रहेगा।

नव्यन्याय तथा अधिकरण : भवानन्द का विवेचन

नव्यनैयायिकों में भवानन्द अधिकरण-कारक की विवेचना को नई दिशा देकर भी भर्तृहरि के लक्षण की परिक्रमा करते हैं। सर्वप्रथम उन्होंने अधिकरण के तीन तथाकथित भ्रामक लक्षणों का खण्डन किया है[१]—

(क) कुछ लोग अपने आधेय से होने वाले सम्बन्ध को अधिकरणत्व मानते हैं तथा यह सम्बन्ध संयोग या समवाय के रूप में रहता है। यह पक्ष गदाधर के द्वारा व्युत्पत्तिवाद में भी उठाया गया है[२]। इस पक्ष में यह दोष है कि संयोगादि सम्बन्ध सम्बन्ध-विशेष होने के कारण दो वस्तुओं में स्थित रहेंगे तथा दोनों में जैसे एक-दूसरे का संयोग होता है वैसे ही दोनों एक-दूसरे के आधार होंगे। मान लिया कि कुण्ड और बदरीफल में संयोग-सम्बन्ध है। जिस प्रकार कुण्ड में संयोग है, उसी प्रकार बदरीफल में भी संयोग है। यदि आधाराधेय-सम्बन्ध भी संयोगात्मक ही है तो जिस प्रकार बदरीफल का आधार कुण्ड है, उसी प्रकार कुण्ड का आधार भी ठीक उसी काल में बदरीफल है, क्योंकि दोनों में संयोग सम्बन्ध है। कुण्ड में बदरीफल, पात्र में घृत, पृथ्वी पर घट इत्यादि सभी संयोगात्मक उदाहरणों की यही गति होगी।

वैयाकरण कह सकते हैं कि यह अनिष्ट-प्रसङ्ग इसलिए उत्पन्न हुआ है कि दो मूर्त पदार्थों के संयोगरूप सम्बन्ध का उदाहरण देकर कोई क्रियापद नहीं रखा गया है। किन्तु भाषा की मर्यादा के अनुसार कोई वाक्य बिना क्रिया के नहीं होता। अत:

---

१. कारकचक्र, पृ० ७५-७७।

२. 'आधाराधेयभावश्च न संयोगादिरूपसम्बन्धात्मक:। कुण्डादिसंयोगिनो बदरादेरपि कुण्डाधारताप्रसङ्गात्'। —व्यु० वा०, पृ० २६८

इन उदाहरणों में भी 'अस्ति, भवति' जैसी क्रिया लगाकर उसका सम्बन्ध आधार से दिखलाते हुए नियत अधिकरण की स्थापना के द्वारा अव्यवस्था का निवारण किया जा सकता है। बदरीफलादि कर्ता के माध्यम से कुण्डादि आधार होंगे—यह दिखलाना कोई कठिन नहीं। अस्ति-क्रिया बदरीफल में है (कुण्ड में नहीं), बदरीफल कुण्ड में है अर्थात् कुण्ड अस्ति-क्रिया के कर्ता का आधार होने के कारण अधिकरण है। इस प्रकार इनमें आधाराधेय-भाव होने पर भी कोई विसङ्गति नहीं है।

भवानन्द को फिर भी एक दूसरा दोष इसमें दिखलाई पड़ता है। वे पूछते हैं कि इस 'स्वाधेयत्व' का क्या निर्वचन है? यदि इसका अर्थ अपने-आप द्वारा निरूपित अधिकरण का सम्बन्धी होना (स्वनिरूपिताधिकरणसम्बन्धित्वम्) है तब तो अन्योन्याश्रय-दोष होगा। यह दोष वहाँ होता है जहाँ एक के ज्ञान या सत्ता के अधीन दूसरे का ज्ञान या सत्ता हो तथा दूसरे के ज्ञान या सत्ता के अधीन पहले का भी ज्ञान या सत्ता हो। प्रकृत स्थल में यही बात होती है कि अधिकरणत्व के ज्ञान के अधीन आधेयत्व का ज्ञान है और आधेयत्व के ज्ञान के अधीन वह अधिकरणत्व-ज्ञान भी है। इस निर्वचन के अतिरिक्त कुछ दूसरा अर्थ नहीं सूझता कि इस दोष से रक्षा हो।

यह दोष पूर्वोक्त दोष का प्रायः रूपान्तर है, इसीलिए गदाधर ने इसका संकेत भी नहीं किया है। आधार और आधेय सापेक्ष शब्द हैं। जिस प्रकार पिता-पुत्रादि अन्य लौकिक शब्दों का क्रमिक ज्ञान होता है, उसी प्रकार इनका भी क्रमिक ज्ञान होता है। किसी वस्तु में एक कोटि (आधार या आधेय) की स्थिति जान लेने पर सापेक्ष होने के कारण वह दूसरे सम्बद्ध पदार्थ की आकांक्षा करता है, जिसकी उपस्थिति शीघ्र होती है[1]।

(ख) कुछ लोगों ने कहा है कि उत्पत्ति, स्थिति या ज्ञप्ति (ज्ञान) के लिए किसी वस्तु का अपेक्षणीय होना अधिकरणत्व है। आधेय की उत्पत्ति के लिए अपेक्षणीय पदार्थ का उदाहरण किसी भी कार्य का समवायिकारण हो सकता है। तदनुसार समवायिकारण अधिकरण है तथा उसका कार्य आधेय है, जैसे—तन्तुषु पटः समवेतः। इसी प्रकार घटादि पदार्थों की स्थिति के भूतलादि पदार्थ अपेक्षणीय होते हैं। भूतल (आधार) पर घट (आधेय) की स्थिति है। जात्यादि पदार्थों की ज्ञप्ति के लिए जो उसके समवायि (समवाय-सम्बन्ध से स्थित व्यक्त्यादि) पदार्थों की अपेक्षणीयता होती है, वहीं अधिकरण होते हैं। पुनः अभाव तथा समवाय पदार्थों के ज्ञान के लिए भी स्वरूप-सम्बन्ध से युक्त पदार्थ की अपेक्षा होती है जो अधिकरण कहलाता है।

भवानन्द इस पक्ष में दोष दिखलाते हैं कि अपेक्षणीय होने का अर्थ किसी का उत्पादक होना नहीं है (अपेक्षणीयत्वं हि न जनकत्वम्) क्योंकि यदि उत्पादक पदार्थ को ही अपेक्षणीय मान लें तो अतीन्द्रिय जाति, समवाय तथा अभाव के अधिकरणों में अव्याप्ति होगी। चूँकि इनका लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः सन्निकर्ष से सम्बन्ध

---

१. 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्' (न्या० सि० मु० में कारिका ८१ के अन्तर्गत)।

भी नहीं और इसलिए इनमें जनकत्व-शक्ति भी नहीं है। अपेक्षणीय का अर्थ उत्पादक स्वीकार करने पर न केवल समवायिकारण ही कार्य का अधिकरण होगा, प्रत्युत कारणमात्र ही अधिकरण की सीमा में आ जायेंगे। दण्डादि (निमित्त कारण) भी घटादि कार्यों के अधिकरण होने लगेंगे।

अपेक्षणीय होने का अर्थ अधिकरण हो जाना भी नहीं लिया जा सकता, क्योंकि तब आत्माश्रय-दोष होगा। यह दोष तभी होता है जब स्वज्ञान के लिए स्वज्ञान की ही अपेक्षा होती है (न्यायकोश, पृ० १२१)। यदि अपेक्षणीय का अर्थ अधिकरण करें और उसे ही अधिकरण का लक्षण मानें तो लक्ष्य-लक्षण में कोई भेद नहीं रहेगा। यही आत्माश्रय-दोष है। माधव इन दोषों में एक अन्य दोष भी जोड़ते हैं। वह यह कि भवन में उत्पन्न घट यदि आँगन में लाया जाय तो उसके इस नये अधिकरण (आँगन) में अव्याप्ति होगी[1]। कारण यह है कि घट की उत्पत्ति के लिए तो तत्काल भवन की अपेक्षा है, वहीं घट उत्पन्न हुआ है। किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आँगन घट की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित भले ही न हो, स्थिति के लिए तो अपेक्षित है ही।

(ग) कुछ लोग पतनशील द्रव्य का अधिकरण उसे मानते हैं जो उससे भिन्न होने के साथ-साथ उसके पतन को रोकनेवाले संयोग से युक्त मूर्त पदार्थ हो[2]। इस लक्षण में 'मूर्त' शब्द नहीं रहे तो ईश्वर में अतिव्याप्ति हो जाय। ईश्वर ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले संयोग का आश्रय है। माधव टिप्पणी देते हैं कि ब्रह्माण्ड का पतनशील होना कोई प्रसिद्ध तथ्य तो नहीं अतः मूर्तत्व की अनुपस्थिति में भी ईश्वर में अतिव्याप्ति का प्रश्न नहीं उठता। सत्य यह है कि यह मूर्त शब्द इसलिए प्रयुक्त है कि विभु-रूप ईश्वर के शरीर का अधिकरणत्व रोका जाय (माधवी, पृ० ७८)। कोई पदार्थ अपना अधिकरण आप ही न हो जाय इसलिए 'स्वभिन्न' विशेषण लगाया गया है। किन्तु अभी भी इसमें एक दोष रह ही जाता है कि जिन पदार्थों का पतन प्रसिद्ध नहीं, जो पतनशील नहीं हों, उनका अधिकरण होगा या नहीं[3]। पूर्वपक्षी कहेंगे कि पतनशून्य मूर्त पदार्थों का भी अधिकरण होता है, किन्तु उनमें विलक्षण संयोग रहता है। इस विलक्षणता की कल्पना पतनाभाव के द्वारा ही की जा सकती है। कमल के कोष के भीतर ही उत्पन्न तथा नष्ट होने वाले भ्रमर का पतन अप्रसिद्ध है—वह उड़ता तो है किन्तु कमल के अन्दर इसका भी अवसर नहीं है। ऐसे भ्रमर का अधिकरण कमल है। इसमें अव्याप्ति नहीं होती। इस प्रकार पतनशील और

---

१. का० च० व्याख्या (माधवी), पृ० ७७।

२. 'नापि तद्भिन्नत्वे सति तत्पतनप्रतिबन्धकसंयोगवन्मूर्तत्वं पतनवद्द्रव्यस्याधिकरणत्वम्'। —का० च०, पृ० ७७

३. 'यस्य पतनमप्रसिद्धं तदाधारत्वासङ्ग्रहात्'। —व्यु० वा०, पृ० २६७

पतनशून्य दोनों प्रकार के पदार्थों में अधिकरण की व्यवस्था हो सकती है। व्युत्पत्ति-वाद में भी इस पूर्वपक्ष का उल्लेख है[१]।

इस स्थिति में प्रधान द्रव्यों का अधिकरण तो हो ही सकता है। केवल अमूर्त आकाश, दिक्, कालादि अधिकरण-शून्य होंगे। गुण, कर्म, जाति, विशेष का अधि-करण वही होगा जिसमें ये पृथक्-पृथक् समवेत होंगे। अभाव तथा समवाय के अधि-करण भी पूर्वोक्त नियमानुसार इनके स्वरूप-सम्बन्ध को धारण करने वाले पदार्थ होंगे; जैसे 'भूतल में घटाभाव'—यहाँ अभाव का अधिकरण भूतल है। इसी प्रकार परम्परा-सम्बन्ध से अधिकरण का निरूपण हो सकता है।

भवानन्द कहते हैं कि इस लक्षण में पहला दोष तो अननुगम का है, अर्थात् अधिकरण के सभी उदाहरणों में यह प्राप्त नहीं हो सकता। लक्षण की यह विशेषता होती है कि वह सभी उदाहरणों में समान रूप से अनुगत होता है। प्रस्तुत लक्षण की शिथिलता इसी बात से प्रकट है कि पतनशील तथा तच्छून्य पदार्थों के अधिकरणों का अन्तर्भाव करने में बहुत कठिनाई हुई है। दूसरा दोष यह है कि 'भूतले घटः' इस उदाहरण में ही अधिकरणत्व की सिद्धि के लिए अनेक बाधाओं से पार पाकर विशद व्याख्या करनी पड़ी है अर्थात् कल्पनागौरव-दोष हुआ है। इसीलिए गदाधर ने इस प्रकरण को समाप्त करते हुए कहा है कि ऐसे लक्षण की अनुपस्थिति में भी अधिकरण का व्यवहार बड़े आनन्द से चल सकता है (एतदनुपस्थितावप्यधिकरणव्यवहारादित्य-लम्'।—व्यु० वा०, पृ० २६९)।

तब अधिकरणत्व क्या है? भवानन्द का विचार है कि जिस प्रकार प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व विजातीय प्रतीति से प्रमाणित किये जाने वाले एक विशेष प्रकार के स्वरूप-सम्बन्ध[१] हैं, उसी प्रकार आधेयत्व और अधिकरणत्व भी हैं। अतएव संयोगादि सम्बन्धों के बिना भी हमें इन दोनों की विशिष्ट प्रतीति होती है। आधेयत्व का विजातीय पदार्थ अधिकरणत्व है, उसी की प्रतीति पर यह निर्भर है। यह एक पृथक् प्रश्न है कि यह स्वरूप-सम्बन्ध आधाराधेय से भिन्न है या अभिन्न है।

कर्ता और कर्म के माध्यम से अधिकरण का क्रिया से अन्वित होना भवानन्द को भी स्वीकार है। 'गृहे चैत्रः पचति' में अधःसन्तापन के रूप में जो पाक-क्रिया है उसकी साक्षाद् वृत्ति गृह में नहीं है, उसकी वृत्ति चैत्र में है। अतः कर्ता में घटित (उसके माध्यम से आगत) परम्परा द्वारा ही अधिकरणत्व या आधेयत्व का निरूपण होता है। यही सप्तम्यर्थ है जिसका अन्वय पाक-क्रिया से है[२]। 'स्थाल्यामोदनं पचति' में

---

१. 'स्वान्यत्वे सति स्वनिष्ठपतनानुत्पादक-प्रयोजकसंयोगवत्त्वे तदिति चेन्न'।
—वहीं

१. 'धर्मिद्वयात्मकः सम्बन्धः। प्रतियोग्यनुयोग्यन्यतरात्मकः सम्बन्धः। सम्बन्धा-न्तरमन्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वम्'। —सर्वतन्त्रसि० संग्रह, पृ० २३१

२. (क) 'गृहे चैत्रः पचतीत्यादौ······कर्तृघटितपरम्परयाऽधिकरणत्वमाधेयत्वं वा पाकादिक्रियान्वितसप्तम्यर्थः'। —का० च०, पृ० ७९

कर्मघटित परम्परा से अधिकरणत्व या आधेयत्व है। अधःसंतापनरूप पाक-क्रिया की वृत्ति स्थाली में नहीं है तथापि कर्म (ओदन) के माध्यम से चलने वाली परम्परा द्वारा अधिकरणत्व या आधेयत्व सप्तमी का अर्थ होता है, जिसका अन्वय उक्त प्रकार से पाकक्रिया में है। इसी स्थल में भवानन्द भर्तृहरि की अधिकरण-कारिका को प्रमाण के रूप में रखते हुए कहते हैं—'एवं कर्तृकर्मान्यतरद्वारा क्रियाश्रयत्वे सति तत्क्रियोपकारकत्वमधिकरणत्वम्' (का० च०, पृ० ८०) अर्थात् कर्ता या कर्म इनमें से किसी एक के द्वारा क्रिया का आश्रय होने के साथ-साथ जो उस क्रिया का उपकारक (जनक) हो वही अधिकरण है। क्रियाजनक होने से इसकी कारकता निरूपित होती है।

अन्तिम रूप से भवानन्द द्वारा स्वीकृत लक्षण है—'परम्परया क्रियाश्रयत्वमधिकरणत्वम्'। कर्ता और कर्म (साक्षात् क्रियाश्रय) का वारण करने के लिए 'परम्परया' शब्द का प्रयोग है। इसीलिए प्रांगण में स्थित होकर लम्बे डंडे से काष्ठ का संचालन करते हुए यदि कमरे के भीतर पाकक्रिया की जाय तो भी गृहं (अधिकरण) कर्ता के द्वारा क्रिया का आश्रय भले ही न हो—'गृहे पचति' ऐसा प्रयोग सम्भव है। अतः कर्ता के द्वारा क्रियाश्रय होना अधिकरण के लिए कोई अनिवार्य तथ्य नहीं है। 'परम्परया' विशेषण इन उदाहरणों की व्याख्या के साथ-साथ कर्ता या कर्म के द्वारा होने वाले क्रियाश्रयत्व को भी अन्तर्भूत कर लेता है। प्रकारान्तर से भी इस विशेषण की सार्थकता समझी जा सकती है। अधःसन्तापन (पाकक्रिया) का अर्थ है—स्थाली के निम्न भाग में अग्निसंयोग के अनुकूल काष्ठ, अग्नि आदि का व्यापार। इनके ही साथ उस व्यापार का सीधा सम्बन्ध है। यदि 'परम्परया' विशेषण नहीं होता तो उक्त व्यापार से साक्षाद् वृत्तिवाले काष्ठादि पदार्थों को अधिकरण कहते तथा 'काष्ठे पचति अग्नौ पचति' इत्यादि अनिष्ट प्रयोग होने लगते। 'परम्परया' विशेषण की तीसरी सार्थकता है कि इसके अभाव में 'पथि गच्छति' के समान 'स्वस्मिन् गच्छति' जैसे प्रयोग होते। किन्तु 'स्व' के साथ चूंकि 'गच्छति' की साक्षाद् वृत्ति है अतः अधिकरण नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वैयाकरणों के समान भवानन्द भी अधिकरण के लक्षण में 'परम्परा से' क्रिया-सम्बन्ध पर बहुत बल देते हैं।

नैयायिकों में सामान्यतया यह धारणा है कि अधिकरण का क्रिया से अन्वय होना आवश्यक नहीं। दूसरी ओर वैयाकरण इसके कारकत्व का निर्वाह करने के लिए क्रियान्वय परमावश्यक समझते हैं। भवानन्द इन दोनों दृष्टिकोणों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि वैयाकरण लोग 'भूतले घटः' जैसे प्रयोग या तो करने नहीं देंगे या गम्यमान क्रिया का आक्षेप करेंगे। नैयायिकों के लिए ऐसे प्रयोग असाध्य नहीं। इस वाक्य का 'भूतलाधेयो घटः' ऐसा शाब्दबोध हो सकता है। यह बात अवश्य है कि

(ख) 'परम्परासम्बन्धस्यापि प्रतीतिबलेन क्वचिदाधाराधेयभावनियामकत्वोपगमात्'। —व्यु० वा०, पृ० २६९

जहाँ क्रिया से अन्वय होता है वहाँ कारकत्व का व्यवहार भी होगा, अन्यथा सप्तमी का अर्थ अधिकरणत्व अथवा आधेयत्व कहकर शाब्दबोध कराया जा सकता है। गदाधर व्युत्पत्तिवाद में ऐसे उदाहरणों में दो सुझाव देते हैं। पहला यह है कि व्याकरण के नियमानुसार 'वीणायां शब्दः' इत्यादि में 'भवति' क्रिया का अध्याहार कारकता के निर्वाह के लिए किया जाय। दूसरा सुझाव यह है कि 'सप्तम्यधिकरणे च' (पा० २।३।३६) इस पाणिनि-सूत्र में 'च' शब्द अकारकरूप आधारवाची शब्द में सप्तमी के प्रयोग का विधान करता है[1]। इससे निष्कर्ष निकलता है कि नैयायिक आधारमात्र को अधिकरण नहीं कहते। क्रिया के परम्परया आश्रय होने पर उन्हें अधिकरण-कारक कहते हैं, क्रियाश्रय नहीं होने पर आधाराधेय के रूप में स्वरूपसम्बन्ध होता है।

इन तथ्यों पर विचार करने पर 'गृहे स्थाल्यामोदनं पचति' का शाब्दबोध इस प्रकार होगा—'गृहाधिकरणक-स्थाल्यधिकरणक-ओदनकर्मक-पाकानुकूल-कृतिमान्'। यहाँ अधिकरण क्रियान्वित होने से कारक है। दूसरी ओर 'भूतले घटः' के शाब्दबोध में नव्यनैयायिकों के बीच ही पर्याप्त भेद है। प्राचीनों का कथन है कि सप्तमी का अधिकरणत्व अर्थ है, पुनः प्रकृत्यर्थ (मूलार्थ, वाच्यार्थ) का आश्रय लेने के कारण प्रथमान्त (घटः) शब्द का अन्वय निरूपक के रूप में होता है। तदनुसार बोध होगा—'भूतलनिष्ठाधिकरणता-निरूपको घटः'। भवानन्द व्यंजना से इन प्राचीन मत में अपनी अनास्था प्रकट करते हुए नव्यमत की स्थापना करते हैं। प्राचीन आचार्य जो निरूपकत्व-सम्बन्ध के बल पर अन्वय करते हैं वह दोषपूर्ण है। निरूपकत्व-सम्बन्ध वृत्ति का नियामक नहीं होता है, अतः निषेध-वाक्यों में नञर्थ के साथ उसका अन्वय नहीं किया जा सकता। 'भूतले घटो नास्ति' ऐसे वाक्यों में जिस सम्बन्ध के द्वारा प्रतियोगित्व (विरोधित्व) की प्रतीति अभाव-अंश में होती है वह प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है, किन्तु निरूपकत्व को ऐसा सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। इसीलिए ऐसे वाक्यों में यह निष्फल सम्बन्ध हो जायगा। अतएव हम सप्तमी का अर्थ आधेयत्व लें और प्रकृत्यर्थ का निरूपक होने से प्रथमान्तार्थ का अन्वय अधिकरण के रूप में करें—'भूतलनिरूपित-आधेयत्ववान् घटः'।

कहना नहीं होगा कि नैयायिकों का अधिकरण-विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म कक्षा का अवगाहन करता है।

नव्यव्याकरण में अधिकरण-विचार : कौण्ड तथा नागेश

वैयाकरणभूषण में कौण्डभट्ट ने अधिकरण का विवेचन एक अनुच्छेद में किया है (वै० भू०, पृ० १०९)। अधिकरण से सम्बद्ध सप्तमी का आश्रयरूप अर्थ उन्हें पहले से ही दीक्षित द्वारा निर्धारित मिलता है। आश्रयत्व अखण्ड शक्ति के रूप में अवच्छेदक धर्म है। किन्तु आश्रयत्व मात्र को अधिकरणत्व कह देने से यह अर्थ नहीं निकलता

---

१. 'अथवा सप्तम्यधिकरणे चेति चकारेणाकारकाधारवाचिनोऽपि सप्तमी'।
—व्यु० वा०, पृ० २७०

कि कर्ता, कर्म या करण को भी अधिकरण-संज्ञा दे दी जाय। कौण्डभट्ट कहते हैं कि यह आपत्ति तभी हो सकती थी जब कर्ता आदि कारकों के द्वारा अपने विषय-क्षेत्र में आने पर अधिकरण-संज्ञा बाधित नहीं होती। किन्तु हम देखते हैं कि इन सभी कारकों का विषय-क्षेत्र पृथक्-पृथक् है अर्थात् ये निरवकाश होकर अधिकरण-संज्ञा को बाधित करते हैं। अतः इनके अधिकरण होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

फिर भी आश्रयत्व-सामान्य अर्थ के कारण द्वितीया, तृतीया और सप्तमी विभक्तियों के परस्पर पर्याय होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो ही जायगा। किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। आश्रय के अर्थ में समान रहने पर भी आश्रय-विषय को लेकर तीनों में स्पष्ट भेद है। फल का आश्रय होने पर द्वितीया, व्यापार का आश्रय होने पर तृतीया तथा कर्ता-कर्म का आश्रय होने पर सप्तमी—इस प्रकार विभक्तियों की व्यवस्था है। अतः कर्ता या कर्म द्वारा क्रियाश्रय होने का साम्प्रदायिक लक्षण वैयाकरणभूषण में भी दुहराया जाता है।

नागेश भी उक्त लक्षण की आवृत्ति करते हुए फल तथा व्यापार का सन्निवेश करके अधिकरण का निर्वचन करते हैं—'कर्तृकर्मद्वारकफलव्यापाराधारत्वमधिकरणत्वम्' (प० ल०, पृ० १८७)। फल तथा व्यापार समवाय-सम्बन्ध से क्रमशः कर्म तथा कर्ता में स्थित होते हैं, पुनः कर्म तथा संयोग-सम्बन्ध से आधार में रहते हैं। इस प्रकार क्रिया का विश्लेषण करके उसका परम्परा-सम्बन्ध (स्वसमवायि-संयोग-सम्बन्ध) आधार में दिखलाया जा सकता है। 'स्थाल्यामोदनं गृहे पचति' यहाँ स्थाली तथा गृह दो आधार (अधिकरण) हैं। 'पचति' क्रिया में फल विक्लित्ति तथा व्यापार पा[illegible] (अधःसन्तापनादि) है। विक्लित्तिरूप फल ओदन (कर्म) में समवाय से है। दूसरे प्रकार से ओदन विक्लित्ति का आधार भी है, जिससे 'ओदन में कोमलता' जैसा प्रयोग हो सकता है। इसके अधिकरणत्व का समर्थन 'भवति' का अध्याहार करके हो सकता है। अब हम देखते हैं कि ओदन का सम्बन्ध संयोगरूप से स्थाली के साथ है, अर्थात् ओदन का आधार स्थाली है। इस प्रकार कर्म द्वारा फल का आधार (फल के आधार का आधार) अधिकरण हुआ। स्थाली इसी प्रकार का अधिकरण है। दूसरी ओर, पाकव्यापार का आधार समवायतया कर्ता है। कर्ता (क्रियावान्) तथा क्रिया के बीच ऐसा ही सम्बन्ध होता है, क्योंकि ये अयुतसिद्ध हैं। 'कर्तरि पाकव्यापारः' इस रूप में कर्ता को साक्षात् व्यापाराधार भी दिखला सकते हैं। अब कर्ता का आधार गृह है, दोनों में संयोग-सम्बन्ध है। अतः व्यापार के समवायी से संयोग-सम्बन्ध (व्यापार के आधार का आधार) होने के कारण गृह भी अधिकरण है।

साक्षात् क्रियाधार होने पर अधिकरण इसलिए नहीं होता कि पर-सूत्रों में कर्ता और कर्म के स्थित होने के कारण साक्षात् क्रियाधार में इन कारकों के द्वारा अधि-करण-संज्ञा का बाध हो जाता है। साक्षात् क्रियाधार के रूप में यदि दो संज्ञाओं का समान विषय है तो निश्चय ही उस पर परसंज्ञा का आधिपत्य होगा।

लघुमञ्जूषा (पृ० १२३४) में इसका विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि 'तण्डुलं पचति' इत्यादि उदाहरणों में तण्डुलादि (कर्म) को भी धात्वर्थ-फल (विक्लित्ति) के रूप में कर्म के माध्यम से क्रियाश्रय कहा जा सकता है, अर्थात् तण्डुल भी 'कर्मद्वारा क्रियाश्रय' होने से अधिकरण का स्वरूप ले सकता है। इसे अधिकरण क्यों नहीं कहेंगे ? बात यह है कि तण्डुल व्यापारजन्य फल का भी आश्रय है। दूसरे शब्दों में, एक ओर तो यह अधिकरण का लक्षण पूरा कर रहा है एवं दूसरी ओर कर्म का। ऐसी स्थिति में परत्व के कारण कर्मसंज्ञा ही होगी, अधिकरण नहीं। पूर्वपक्षी की शंका के विपरीत यहाँ स्थिति ऐसी है कि धात्वर्थभूत जिस फल को प्रेमपूर्वक कर्म का आसन वे लोग देते हैं, वह तो अपने से भिन्न क्रिया का आश्रय हो ही नहीं सकता—जो क्रिया है वही फल है। तण्डुल तो और भी दूर की वस्तु है; वह कहाँ से उस क्रिया का आश्रय हो सकेगा ?

नागेश अन्ततः इस वाक्य का शाब्दबोध कराते हैं—'स्थाल्यधिकरणिका या ओदन-निष्ठा विक्लित्तिः तदनुकूलो गृहाधिकरणको मैत्रकर्तृको व्यापारः'। यह बोध उक्त सभी विषयों पर ध्यान रखकर दिया गया है। (प० ल० म०, पृ० १८७)।

अधिकरण-कारक के अन्वय को लेकर व्याकरणशास्त्र में दो विरोधी मत दिखलायी पड़ते हैं। कैयट, भट्टोजिदीक्षित-प्रभृति का मत है कि अधिकरण का परम्परा-सम्बन्ध से (स्ववृत्तिवृत्तित्वादि से) साक्षात् क्रिया में ही अन्वय होता है। दूसरी ओर नागेशादि के अनुसार अधिकरण का साक्षात् कर्ता या कर्म में अन्वय होता है, तब उसके द्वारा क्रिया में अन्वय होता है। स्पष्टतः नागेश नव्यन्याय से प्रभावित हैं, जहाँ 'भूतले घटः' का बिना क्रिया के भी अन्वय हो जाता है। अधिकरण का साक्षात् क्रियान्वय नागेश को उचित नहीं लगता[1]। इन दोनों मतों के फल पृथक् हैं, जिन्हें 'अक्षेषु शौण्डः' (पासा फेंकने में चतुर) के समास में देखा जा सकता है। प्राचीन मत के अनुसार अक्ष-पदार्थ का 'शौण्ड' में अन्वय नहीं हो सकने के कारण समास नहीं होता। इस अनिष्ट प्रसङ्ग से बचने के लिए शौण्ड का अर्थ लक्षणा के द्वारा आसक्त-शौण्ड करके आसक्तिक्रिया के रूप में विद्यमान लक्ष्यार्थ में (जो शौण्ड-पदार्थ का एकदेश है) साक्षात् अन्वय करके समास का उपपादन किया जा सकता है[2]। नव्य-मत में अक्ष-शब्द का शौण्ड (कर्ता) में अन्वय हो जाता है और किसी प्रकार के द्रविड-प्राणायाम की आवश्यकता नहीं होती। पुनः, शौण्ड शब्द का अस्ति-क्रिया में अन्वय हो जाता है[3]।

१. द्रष्टव्य (ल० श० शे०, पृ० ४७७)—'एवं च क्रियान्वयोऽप्यस्य कर्त्राद्यन्वय-द्वारैव। यस्य यद्द्वारा कारकत्वं तस्य तद्द्वारैव क्रियान्वय इति व्युत्पत्तेः'।

२. 'कारकाणां क्रिययैव सम्बन्ध इति तावत् स्थितम्। तदिह 'अक्षशौण्डः' इत्यादौ सप्तम्यर्थः क्वान्वेतु ? क्रियाया अश्रवणात्। सत्यम्, प्रसक्तिरूपा क्रिया वृत्तावन्तर्भवति। तद्द्वारकमेव च सामर्थ्यं यथा दध्योदन-गुडधानादिषु'। —श० कौ० २, पृ० १७८

३. द्रष्टव्य—सि० कौ० की लक्ष्मी-व्याख्या, पृ० ८५१।

अधिकरण के भेद

पाणिनीय व्याकरण में सर्वप्रथम पतञ्जलि ने 'संहितायाम्' (६।१।७२) सूत्र की व्याख्या में एक ही साथ अधिकरण के तीन भेदों का उल्लेख किया है। वे हैं— व्यापक, औपश्लेषिक तथा वैषयिक। इस सम्बन्ध में वे संहिताधिकार-सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए दो शब्दों के बीच औपश्लेषिक सम्बन्ध होने का निर्णय देते हैं— एक शब्द का दूसरे शब्द से इस उपश्लेष के अतिरिक्त दूसरा कौन-सा सम्बन्ध हो सकता है ? इसीलिए 'इको यणचि' (पा० ६।१।७७) में 'अचि' औपश्लेषिक अधिकरण है, जिसका अर्थ होगा—परवर्ती अच् (स्वरवर्ण) में उपश्लिष्ट (निकट से सम्बद्ध) इक् को यण् हो जाता है[1]।

एक दूसरे स्थान में[2] इन तीनों भेदों का पतञ्जलि ने एक दूसरे रूप में उल्लेख किया है। सूत्र में 'अस्मिन्नधिकम्' के स्थान पर 'अस्मादधिकम्' का पाठ सुझाने वाले वार्तिक का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि पञ्चमी की आवश्यकता नहीं है, अधिकरण-सप्तमी बिल्कुल ठीक है। प्रश्न है कि कैसा अधिकरण यहाँ है ? वैषयिक और व्यापक की सम्भावना नहीं होने से औपश्लेषिक ही यहाँ संगत होता है। उपश्लेष का निकट सम्बन्ध के रूप में अर्थ करने पर उदाहरण में उसे ठीक से संघटित किया जा सकता है—इस शत में (सौ रुपयों के समूह में) एकादस कार्षापण (ग्यारह रुपये) अधिक हैं, अर्थात् उपश्लिष्ट हैं = एकादशं शतम् (एकादशन् + ड-प्रत्यय)। अतः अध्याहृत उपश्लेषण क्रिया की अपेक्षा रखते हुए यहाँ अधिकरण-कारक है, जो कर्ता के द्वारा हुआ है—कर्ता के द्वारा ये रुपये सौ रुपयों में उपश्लिष्ट किये गये हैं।

भाष्य का एक तीसरा स्थल[3] भी महत्त्वपूर्ण है जिसमें यद्यपि तीनों भेदों की चर्चा नहीं है, तथापि औपश्लेषिक के विषय में उपर्युक्त स्थलों की पुष्टि उससे होती है। 'दिया जाय (दीयते)' तथा 'किया जाय (कार्यम्)' इन दो अर्थों में सप्तमीसमर्थ कालवाचक शब्द से वे ही प्रत्यय लगाये जाते हैं जो 'तत्र भवः' (४।३।५३) के अर्थ में विहित हैं, जैसे—मासे दीयते कार्यं वा मासिकम् (ठक्)। यहाँ शंका होती है कि 'तत्र दीयते' को 'तत्र भवः' में ही गतार्थ क्यों न कर दिया जाय ? एक मास में जो

---

१. 'अधिकरणं नाम त्रिप्रकारम्—व्यापकम्, औपश्लेषिकं, वैषयिकमिति। शब्दस्य च शब्देन कोऽन्योऽभिसम्बन्धो भवितुमर्हत्यन्यदत उपश्लेषात्। इको यणचि—अच्युपश्लिष्टस्येति'। —भाष्य ५, पृ० ७४

२. 'तदस्मिन्नधिकम्०' (५।२।४५)—'यद्यपि तावद् वैषयिके व्यापके वाऽधिकरणत्वे सम्भवो नास्ति, औपश्लेषिकमधिकरणं विज्ञास्यते। एकादश कार्षापणा उपश्लिष्टा अस्मिञ्छते = एकादशं शतम्'। (भाष्य ४, पृ० ३२४)।

३. 'तत्र च दीयते कार्यं भववत्' (पा० ५।१।९६)—''तत्र 'तत्र भवः' इत्येव सिद्धम्। न सिध्यति। न तन्मासे दीयते। किं तर्हि ? मासे गते। एवं तर्हि—औपश्लेषिकमधिकरणं विज्ञास्यते'' (भाष्य ४, पृ० २८३)।

दिया जाता है वह उस मास में उत्पन्न ही होता है। इस पर भाष्यकार कहते हैं कि 'एक मास में दिया जाय' का अर्थ है मास के समाप्त होने पर (मासे गते)। मास के अतिक्रान्त होने पर जो (वेतनादि) दिया जाता है उसका औपश्लेषिक अधिकरण मास है, क्योंकि मास से उसका सामीपिक सम्बन्ध है (तेन 'वटे गावः' इतिवत् सामीपिकमिदमधिकरणम्—उद्योत, उपरिवत्)

उक्त तीनों अधिकरणों की अलग-अलग व्याख्या के पूर्व अब हम इन भेदों के मूल कारण का विवेचन करें। इस विषय में वाक्यपदीय की कारिकाएँ ही सहायक हैं। उपश्लेष (समीपगत सम्बन्ध) की सत्ता सामान्यतया सभी प्रकार के अधिकरणों में रहती है चाहे वह तिल हो (व्यापक), आकाश हो (वैषयिक) या चटाई हो (औपश्लेषिक)[1]। उपश्लेष की अभिन्नता सर्वत्र रहने पर भी सम्बन्ध अथवा उपकार के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं—संयोग वाले आधार में एक प्रकार सम्बन्ध है तो समय वाले में दूसरे ही प्रकार का[2]। 'देवदत्तः कटे आस्ते' (चटाई पर बैठा है) इस उदाहरण में संयोग-सम्बन्ध से युक्त चटाई का उपश्लेष देवदत्त के साथ सभी अवयवों की व्याप्ति पूर्वक नहीं है, प्रत्युत कतिपय अवयवों की व्याप्ति होने के कारण सामान्यरूप से इसे औपश्लेषिक आधार कहते हैं। 'तिलेषु तैलम्' इसमें तैल-रस समवाय-सम्बन्ध से युक्त है, उसका तिल के साथ सम्बन्ध सभी अवयवों को व्याप्त करते हुए होता है—यह व्यापक अधिकरण है। 'खे शकुनयः' (आकाश में पक्षी)—यहाँ आकाश में परमार्थतः अवयवों का अभाव होने से, उसके प्रविभाग की कल्पना करके, पक्षी का सम्बन्ध दिखलाया गया है—यह वैषयिक अधिकरण है।

हेलाराज के अनुसार यहाँ विषय का अर्थ है—अनन्यत्रभाव, अर्थात् कहीं दूसरी जगह पर न होना। इसीलिए यहाँ भी कतिपय अवयवों को कल्पित रूप में व्याप्त कर सकने के कारण संयोग से उपश्लेष ही है। 'गुरौ वसति' में चूँकि शिष्य की वृत्ति गुरु के अधीन है, अतः इसे मानते हुए वैषयिक अधिकरण गुरु है, शिष्य (कर्ता) के माध्यम से यहाँ क्रियाधारता है। यहाँ उपश्लेष भी बुद्धि-परिकल्पित है। 'युद्धे संनह्यते' (युद्ध में प्रस्तुत होता है)—यहाँ युद्ध के उद्देश्य से कवचादि बन्धन के रूप में तैयारी होती है, इस प्रवृत्ति का विषय युद्ध है। यह भी वैषयिक ही है। 'गङ्गायां गावः' में गङ्गा शब्द सामीप्य के साथ अपने प्रदेश का बोधक है, जिसे औपश्लेषिक के अन्तर्गत रखा जा सकता है। 'शत्रोरभावे सुखम्' में भी अभाव को बुद्धि-कल्पित कारकत्व होता है (हेलाराज ३, पृ० ३४९)।

इस प्रकार उपश्लेषात्मक आधार के उपकार-भेद से कई प्रकार हो जाते हैं। इन

१. 'उपश्लेषस्य चाभेदस्तिलाकाशकटादिषु।
उपकारास्तु भिद्यन्ते संयोगिसमवायिनाम्'॥ —वा० प० ३।७।१४९

२. 'अन्यथा तु संयोगिन्याधारे सम्बन्धः, अन्यथा तु समवायिनीति सम्बन्धिभेदाद् भिन्नत्वेन व्यपदेशः'। —हेलाराज ३, पृ० ३४९

उपकारों की संख्या यद्यपि अनन्त है, तथापि कुछ का निर्देश वाक्यपदीय में किया गया है। मुख्यतया ये वही उपकार हैं जो उपर्युक्त आधार-त्रय की व्याख्या में समर्थ हैं—

'अविनाशो गुरुत्वस्य प्रतिबन्धे स्वतन्त्रता।
दिग्विशेषादवच्छेद इत्याद्या भेदहेतवः' ।।—वा० प० ३।७।१५०

अधिकरण-भेद के कारण-रूप इन उपकारों में पहला है—अविनाश। कुछ आधार अपने आधेय का इस प्रकार उपकार करते हैं कि आधेय का नाश न हो सके। तिल (आधार) का नाश हो जाय तो तैल (आधेय) भी बिखर कर नष्ट हो जाय। इस प्रकार तिल के द्वारा तैल का अविनाश-रूप उपकार किया जाता है। दूसरा उपकार है—गुरुत्व (भार, वजन) के प्रतिबन्ध (रोकने) में स्वतन्त्र होना। 'पर्यङ्के शेते' इस उदाहरण में पर्यङ्क (आधार) का उपकार यही है कि वह शयन करने वाले व्यक्ति के गुरुत्व को रोकने में स्वतन्त्र रूप से काम कर रहा है। इस उपकार के अभाव में व्यक्ति अपने भार के कारण पृथ्वी पर ही आ जाय। तीसरा उपकार है—दिग्विशेष से सम्बन्ध की व्याप्ति (दिग्विशेषादवच्छेदः)। 'खे शकुनयः' इसमें आकाश (आधार) का पक्षियों के प्रति यह उपकार है कि पक्षी दिशाविशेष से सम्बद्ध हैं, उनके निम्नदेश के सम्बन्ध का अपाकरण करते हुए ही आधेय के उपयोग में आधार आ रहा है।

हेलाराज आदि-शब्द से अन्य कई गम्यमान उपकारों में शकटादि आधार से देशविशेष की सम्प्राप्ति (पहुँचना) का उल्लेख करते हैं, जिसका वाक्य होगा—शकटे याति। पुनः 'गुरौ वसति' में गुरु (आधार) के द्वारा शिष्यों में संस्कारातिशय लाना भी उपकार है। पर्यङ्क भी उपर्युक्त उपकार के साथ विश्राम (सौस्थित्यम्) रूप उपकार भी करता है। दिग्विशेष के सम्बन्ध के रूप में जो आधार द्वारा आधेय का उपकार होता है उसी में कई उदाहरण हैं—'प्राच्यामादित्य उदेति, प्रतीच्यामस्तमेति। दक्षिणस्यामगस्त्यः, उत्तरस्यां ध्रुवः'[१]।

अब हम यहाँ उपर्युक्त संक्षेपतः निर्दिष्ट भेदों का पृथक् निरूपण करेंगे।

(१) **व्यापक अधिकरण**—इसका सामान्य नाम अभिव्यापक भी है। इसकी दो परिस्थितियाँ हैं—आधेय पदार्थ के साथ समवाय-सम्बन्ध रहना तथा अपने सभी अवयवों में आधेय द्वारा व्याप्ति[२]। इसके उदाहरण हैं—तिलेषु तैलम्, घटे रूपम्, शरीरे चेष्टा, दधति सर्पिः। पाणिनीयेतर सम्प्रदाय के कुछ वैयाकरणों ने तिल के व्यापकत्व पर शंका प्रकट की है। सुषेण कविराज (कातन्त्र) तिल तथा तैल में समवाय-सम्बन्ध का अभाव देखकर तिल को औपश्लेषिक अधिकरण मानते हैं[३]।

---

१. द्रष्टव्य—हेलाराज ३, पृ० ३४९ तथा ल० म०, पृ० १३२५-२६।

२. (क) 'यत्र सर्वावयवावच्छेदेन व्याप्तिस्तत्'। —ल० म०, पृ० १३२७

(ख) 'यत्र सर्वावयवावच्छेदेनाधेयस्य व्याप्तिः, ······समवायेन यदधिकरणमिति यावत्'। —प० ल० म० की वंशी-टीका, पृ० १५८

३. जिनेन्द्रबुद्धि भी (न्यास १, पृ० ५६२) तिल-तैल में संयोग-सम्बन्ध मानते

किन्तु रामतर्कवागीश आदि ने कहा है कि दोनों में संयोग-सम्बन्ध प्रतीत होने पर भी देश-विभाग के अभाव में (क्योंकि दोनों की समान देश में सत्ता है) संयोग-सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता[1]। संयोग वहीं होता है जहाँ विभाग भी सम्भव हो, किन्तु तैल के अलग होने पर तिल की सत्ता ही नहीं रहती। अतः संयोगाभाव में समवाय ही माना जा सकता है। नव्यवैयाकरण (पाणिनीय) सामान्य रूप से समवाय-सम्बन्ध की सिद्धि करते हैं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि अवयव-अवयवी के बीच समवाय है। यह भी सत्य है कि तैल में स्थित आधेयता अवच्छेदकता-सम्बन्ध से सभी अवयवों में वर्तमान है। दूसरी ओर, उन्हीं अवयवों में तिल की भी सत्ता समवाय-सम्बन्ध से है। तिल अवयवी है, अपने अवयवों में समवायतः रहेगा ही। अन्ततः हम कह सकते हैं कि तिल समवाय-सम्बन्ध से अवच्छिन्न व्यापकता से युक्त है, अतः अभिव्यापक है।

पतञ्जलि दो स्थानों पर[2] इस आधार की चर्चा करते हुए इसे मुख्य आधार मानते हैं, किन्तु अधिकरण-सूत्र में 'तमप्' प्रत्यय का अभाव उन्हें यह कहने को विवश करता है कि गौण और मुख्य का भेद यहाँ वास्तव में नहीं है। व्यापक मुख्य होने पर भी यह नहीं कहता कि अन्य आधार अधिकरण नहीं हैं। पतञ्जलि की पंक्तियाँ हैं— "तथाधारमाचार्यः किं न्याय्यं मन्यते ? यत्र कृत्स्न आधारात्मा व्याप्तो भवति। तेनेहैव स्यात्—तिलेषु तैलम्, दध्नि सर्पिरिति। गङ्गायां गावः, कूपे गर्गकुलम्—इत्यत्र न स्यात्। 'कारकसंज्ञायां तरतमयोगो न भवति' इत्यत्रापि सिद्धं भवति"। (भाष्य १।४।४२)। अन्तिम वाक्य में ऊह (विषयानुसार परिवर्तन) करके 'स्वरित-सूत्र' (१।३।११) में भी ये ही पंक्तियाँ हैं। स्पष्टतः भाष्यकार व्यापकेतर आधारों को गौण मानते हैं। यह तो आधार में तमप् का अभाव है कि अन्य आधार भी अधिकरण होते हैं।

नागेश ने आधार के मुख्य-गौण होने का प्रतिपादन किया है (ल० म०, पृ० १३२७-२८)। व्यापक आधार इसलिए मुख्य है कि प्रकृत्यर्थतारूप अवच्छेदक से विशिष्ट में ही विभक्त्यर्थ (सप्तम्यर्थ) का अन्वय होना उचित है। तिल का प्रकृत्यर्थ तिलमात्र है जिसका अवच्छेदक है तिलत्व। यह (तिलत्व) तिल के सम्पूर्ण अवयव में रहता है, एक अवयव में नहीं। तिलत्वविशिष्ट तिल में ही सप्तमी का अर्थ (वह आश्रयत्व हो या अधिकरणत्व) अवस्थित है, अन्वित है। अभिप्राय यह है कि

हैं किन्तु तर्कवागीश के समान ही देशविभाग का अभाव देखकर संश्लेष-व्यवहार की अनुपस्थिति स्वीकार करते हैं—'यद्यप्यत्र तिलादीनां तैलादिभिः सह संयोगोऽस्ति तथापि देशविभागाभावादत्र संश्लेषव्यवहारो नास्तीत्यौपश्लेषिकात् तत्पृथगेवो-पस्थाप्यते'।

१. गुरुपद हालदार, व्या० द० इति०, पृ० ३२६।

२. पा० १।४।४२ (साधकतमं करणम्) तथा १।३।११ (स्वरितेनाधिकारः) सूत्रों की व्याख्या में।

व्यापकाधार में सम्बन्ध की साक्षात् सत्ता होती है, जब कि औपश्लेषिक में अवयव में स्थित संयोग-सम्बन्ध का अवयवी पर आरोप होता है। वृक्ष के एकदेश में वृक्षत्व नहीं होता, वह पूरे वृक्ष में ही होता है किन्तु 'वृक्षे वानरः तिष्ठति' में वृक्ष में अधिकरणता का भान होता है। यहाँ वास्तव में एकदेश-गत आधारत्व का वृक्ष में आरोप के द्वारा बोध होता है, इसीलिए यह गौण है। वैषयिक आधार के उदाहरण 'खे शकुनयः' में भी आकाशत्व से विशिष्ट सम्पूर्ण (आकाश) में अधिकरणत्व की प्रतीति नहीं होती है, अतः वह भी गौणाधार ही है। व्यापकाधार के उदाहरण 'दध्नि सर्पिः' में दधित्वविशिष्ट (दधि) में ही अधिकरणत्व की प्रतीति होती है जिससे आरोप के बिना ही अधिकरणत्व के अन्वय का बोध होता है। अतः इसकी मुख्यता निर्विवाद है। यह दूसरी बात है कि स्वरितत्व-प्रतिज्ञा के कारण गौणाधारों में भी सप्तमी की शक्ति रहती है।

(२) **औपश्लेषिक अधिकरण**—यह उपश्लेष शब्द से सम्बद्ध होने के कारण सामीप्यगत सम्बन्ध के द्वारा उत्पन्न आधार के अर्थ में आता है। इस अर्थ का समर्थन भाष्य के उक्त तीनों प्रसंगों में होता है। तदनुसार आधार और आधेय में सामीपिक सम्बन्ध होने से यह अधिकरण होता है, जैसे—इको यणचि। किन्तु इस शाब्दिक अर्थ में औपश्लेषिक अधिकरण का ग्रहण करने पर 'कटे आस्ते' इत्यादि उदाहरणों की उपपत्ति नहीं होगी[1]। इसलिए इसका व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थ छोड़कर प्रवृत्तिनिमित्त अर्थ ग्रहण करने की आवश्यकता है।

हेलाराज के शब्दों में हम देख चुके हैं कि एक आधार ऐसा भी होता है जहाँ कतिपय अवयवों की ही व्याप्ति होती है, जिसके उदाहरण में 'कटे आस्ते' दिया गया है। इसी से इसके दूसरे लक्षण का आभास मिल सकता है। नागेश का कथन है कि आधेय के द्वारा जब आधार के कुछ ही अवयवों को व्याप्त किया जाय तो वह भी उपश्लेष ही कहलाता है, ऐसे उपश्लेष के द्वारा निष्पन्न अधिकरण औपश्लेषिक हैं[2]। चटाई के कुछ अवयवों को अर्थात् एकदेश को ही आधेय (बैठनेवाला) व्याप्त करता है। अतः चटाई औपश्लेषिक अधिकरण है। इस अर्थ में भी उपश्लेष की व्युत्पत्ति करने का प्रयास हुआ है। श्लेष का अर्थ सर्वाधार की व्याप्ति के रूप में मुख्य आधार करें और इसके समीप (मिलता-जुलता, प्रायः वैसा ही किन्तु कम अवयवों को व्याप्त

---

१. प० ल० म० (पृ० १८८) में कैयट द्वारा दिये गये औपश्लेषिक अधिकरण के 'कटे आस्ते' उदाहरण का खण्डन नागेश ने उक्त भाष्य के विरोध के ही कारण किया है तथा इसे वैषयिक अधिकरण के अन्तर्गत रखा है। किन्तु नागेश का यह विचार अत्यन्त प्राथमिक तथा भाष्य के प्रति गाढ़भक्ति के कारण निष्पन्न प्रतीत होता है, जिसका निराकरण उन्होंने लघुमंजूषा तथा शब्देन्दुशेखर में भी किया है।

२. द्रष्टव्य (ल० म०, पृ० १३२६)—'यत्किञ्चिदवयवावच्छेदेनाधारस्याधेयेन व्याप्तिरप्युपश्लेषः'। यथा—कटे आस्ते।

करने वाला) विद्यमान आधार उपश्लेष है—ऐसा कहा जा सकता है[1]। इसी से गंगानदी के एकदेश में तैरती हुई गायों के लिए 'गङ्गायां गावः' का तथा कुएँ के एक भाग में गर्गकुल के स्थित रहने पर 'कूपे गर्गकुलम्' का प्रयोग होता है। इस उदाहरण में तथा 'गङ्गायां घोषः'[2] इत्यादि में पूर्वोक्त अर्थ (सामीप्य) में भी इस अधिकरण की उपपत्ति हो सकती है, किन्तु इस दूसरे लक्षण में अधिक व्यापकता है—सामीपिक सम्बन्ध हो या आधार के अन्तर्गत ही आधेय हो, दोनों स्थितियों में यह लक्षण संघटित होता है। निष्कर्षतः औपश्लेषिक अधिकरण सामीप्य या संयोग, किसी भी सम्बन्ध से हो सकता है[3]।

उपश्लेष का अर्थ संयोग लेने पर यह आपत्ति हो सकती है कि 'वटे गावः शेरते', 'गुरौ वसति' इत्यादि उदाहरणों में संयोगाभाव के कारण औपश्लेषिक अधिकरण अनुपपन्न हो जायगा। किन्तु यह निःसार आशंका है। संयोग का अर्थ और भी व्यापक है—गौ से संयुक्त देश का संयोग भी संयोग ही है। वट में निश्चय ही इस प्रकार का संयोग है। इसी प्रकार 'इको यणचि' में इक् के द्वारा निरूपित कालिक सामीप्यरूप संयोग की सत्ता है[4]।

(३) **वैषयिक अधिकरण**—विषय-सम्बन्ध से होने वाला अधिकरण वैषयिक है। 'विषय' के अर्थ को लेकर प्राचीन और नवीन वैयाकरणों में मतभेद है। प्राचीन आचार्य 'अनन्यत्र-भाव' (दूसरे स्थान में न रहना) को विषय कहते हैं। इनमें हेलाराज (वा० प० ३।७।१४९ की टीका), जिनेन्द्रबुद्धि (न्यास, पृ० ५६२) मुख्य हैं। जिनेन्द्रबुद्धि कहते हैं कि जैसे चक्षुःप्रभृति इन्द्रियाँ रूपादि से अलग नहीं पायी जातीं और इससे चक्षु आदि का विषय रूपादि को कहा जाता है, उसी प्रकार 'गुरौ वसति' इत्यादि में विषय की सत्ता गुरु से पृथक् (अन्यत्रभाव) नहीं है; इसलिए गुरु शिष्य का विषय है। इतना ही नहीं, नवीन वैयाकरणों के विवेचन की पृष्ठभूमि भी इनके न्यास में ही है।

---

१. 'यद्वा एकदेशावच्छेदेन श्लेषेऽपि श्लेषस्य समीपमुपश्लेषं तत्कृतमित्यौपश्लेषिकत्वमित्यभिप्रायेण तदुदाहरणम् (= कटे शेते)'। —ल० श० शे०, पृ० ४७८

२. 'गङ्गायां घोषः' में सामीप्यमूलक औपश्लेषिक अधिकरणत्व है, जिससे शक्ति (अभिधा) के द्वारा ही अन्वयबोध की उपपत्ति हो जाती है। तब काव्यशास्त्र में इसे लक्षणा से क्यों सिद्ध करते हैं? बात यह है कि पतञ्जलि अव्यवहित सामीप्य को ही आधार होने का कारण (नियामक) मानते हैं, व्यवहित को नहीं। प्रस्तुत स्थल में सामीप्य व्यवहित है, जिससे गंगा-शब्द की तीर में लक्षणा मानकर ही आधारत्व की उपपत्ति होती है। (द्रष्टव्य—ल० म०, पृ० १३२७-२८)—"अव्यवहितसामीप्यमेवाधारत्वनियामकम्, न तु व्यवहितमिति 'संहितायाम्' (६।१।७२) इति सूत्रे भाष्ये ध्वनितम्। व्यवहितसामीप्ये 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ गङ्गाशब्दस्य तीरे लक्षणा"।

३. द्रष्टव्य—प० ल० म० (वंशी), पृष्ठ १५९।

४. सि० कौ० (लक्ष्मी टीका), पृ० ८५१।

प्रश्न है कि जब आधार का अर्थ आश्रय है तब वह या तो संयोग-सम्बन्ध से होगा या समवाय से। शिष्य का गुरु के साथ इनमें कोई सम्बन्ध नहीं है, तब गुरु अधिकरण कैसे हुआ ? उत्तर है कि जिसके अधीन जिसकी स्थिति होती है वह संयोग या समवाय के बिना भी उसका आश्रय होता है। राजा के अधीन पुरुष की स्थिति है तो राजा उसका आश्रय है। राजा के साथ पुरुष का न तो संयोग है, न समवाय किन्तु तदधीन स्थिति के कारण लोक में व्यवहार होता है—राजाश्रयः पुरुषः (वह पुरुष जिसका आश्रय राजा है)। उसी प्रकार शिष्यों की स्थिति गुरु के अधीन है, इसलिए गुरु का आश्रयत्व सर्वथा उपपन्न है (न्यास, वहीं)[१]।

नव्यव्याकरण में सामीप्य, संयोग तथा समवाय—इन तीनों से भिन्न सम्बन्ध को वैषयिक अधिकरण का नियामक माना गया है जैसे—'खे शकुनयः'। आकाश जो अमूर्त तथा व्यापक द्रव्य है, उसमें अवयवों का अभाव होने के कारण न तो सभी अवयवों को व्याप्त करने वाला व्यापक अधिकरण होगा, न ही कुछ अवयवों को व्याप्त करनेवाला औपश्लेषिक अधिकरण। कल्पित देश-भाग होने से वैषयिक अधिकरण ही शरण है। परमलघुमञ्जूषा में नागेश इसी आधार पर 'जले सन्ति मत्स्याः' को वैषयिक का उदाहरण रखते हैं किन्तु वस्तुतः यहाँ संयोग-सम्बन्ध है। जल मूर्त है जिसके एक-देश में मत्स्यों की स्थिति है। यह एक दूसरा प्रश्न है कि उसके अवयव नहीं हैं, किन्तु देशविशेष के आश्रयवश उसके विभागों की कल्पना हो सकती है जिससे इसे औपश्लेषिक मानना अधिक संगत होगा। तथापि आश्रयाश्रयिभाव-रूप विषयता-सम्बन्ध से इसका अन्तर्भाव वैषयिक अधिकरण में किया जा सकता है।

लघुमञ्जूषा में नागेश की स्थिति सुधर जाती है। वे कहते हैं कि अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति के रूप में जो संयोग-सम्बन्ध है[२] उससे तथा समवाय से भिन्न सम्बन्ध से जो अधिकरण होता है वही वैषयिक है, जैसे—'खे शकुनयः, मोक्षे इच्छास्ति'। यह पिछला उदाहरण सर्वश्रेष्ठ तथा निर्विवाद है। चूँकि सभी इच्छाएँ सविषय होती हैं, अतः यहाँ इच्छा में मोक्ष विषयता-सम्बन्ध से अन्वित होता है।

रामतर्कवागीश ने विषय के निम्नांकित भेद किये हैं—

(१) अनन्यत्र भाव (अविनाभाव-सम्बन्ध) यथा—'आकाशे शब्दो जायते'।

(२) बोध्य पदार्थ यथा—'धर्मे वेदाः प्रमाणम्'। धर्म और वेद में बोध्य-बोधक-भाव है।

(३) आश्रयणीय यथा—'तीर्थे वसति'। तीर्थ और उसके निवासी में आश्रया-श्रयि-भाव है।

(४) उपस्थानीय (उपास्य) यथा—'गुरौ वसति शिष्यः'। गुरु तथा शिष्य के बीच उपास्योपासक-भाव है। इस प्रकार इन सभी में विषयता-सम्बन्ध है।[३]

---

१. तुलनीय—प्रक्रिया-कौमुदी (प्रसाद-टीका), पृ० ४५५।

२. 'अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः'। —भाषापरि०, का० ११६

३. गुरुपद हाल्दार, व्या० द० इति०, पृ० ३२८।

अधिकरण के अन्य भेद

यद्यपि अधिकरण के उक्त तीनों भेदों में सभी आधारों का अन्तर्भाव हो जाता है, तथापि प्रपंच के लिए पाणिनीयेतर सम्प्रदायों में आचार्यों ने कुछ अन्य भेदों का भी निर्देश किया है। इनमें चान्द्र, वाररुच, सौपद्म तथा मुग्धबोध में **सामीपिक** नामक चौथा भेद स्वीकृत है, जैसे—गङ्गायां घोषः। इसका अन्तर्भाव औपश्लेषिक में होने पर भी पृथक् निर्देश बतलाता है कि लक्षणा से बोधित होने वाले पदार्थों को भी अधिकरण कहा जा सकता है, जैसे—'करशाखाशिखरे करेणुशतमास्ते' (अँगुलियों के छोर पर सैंकड़ों हाथी हैं—वश में हैं)। इसे चाङ्गुदास **औपचारिक** अधिकरण (पाँचवा भेद) मानते हैं। सारस्वत तथा भोजदेव के सरस्वतीकण्ठाभरण में **नैमित्तिक** नामक छठा भेद भी स्वीकृत है, जिसका उदाहरण है—'युद्धे संनह्यते वीरः' (युद्ध के निमित्त वीर प्रस्तुत होता है)। हम देख चुके हैं कि हेलाराज इसे वैषयिक अधिकरण मानते हैं। सारस्वत-सम्प्रदाय के लघु भाष्य (पृ० २७०) में कहा गया है—

'आधारस्त्रिविधो ज्ञेयः कटाकाशतिलेषु च।
निमित्तादिप्रभेदाच्च षड्विधः कैश्चिदिष्यते' ॥

इसमें छह भेदों के उदाहरण देकर उनका शाब्दबोध भी कराया गया है, जो क्रमशः इस प्रकार हैं[1]—

(१) **औपश्लेषिक**—'कटे शेते कुमारोऽसौ'। बोध—'एककटाभिन्नाश्रयको निद्रानुकूल एककुमाराभिन्नाश्रयको वर्तमानो व्यापारः'।

(२) **सामीपिक**—'वटे गावः सु शेरते'। 'वटा भिन्नाधारकनिद्रानुकूलो बहु-गोभिन्नाधारकवर्तमानो व्यापारः'। गायों का वट से संयोग नहीं रहने के कारण यह आधार औपश्लेषिक से भिन्न है। तीन ही आधार मानने वाले पक्ष में औपश्लेषिक में इसका अन्तर्भाव हो सकता है, यदि वट में संयोग आरोपित हो।

(३) **अभिव्यापक**—'तिलेषु विद्यते तैलम्'। 'बहुतिलाभिन्नाधारक आत्मधारणा-नुकूल एकतैलाभिन्नाश्रयो वर्तमानो व्यापारः'।

(४) **वैषयिक**—'हृदि ब्रह्मामृतं परम्' (निदिध्यासतां स्फुरति) = ध्यान करने वालों के हृदय में परब्रह्मरूप अमृत स्फुरित होता है। बोध—'हृदयाभिन्नाश्रयक आत्मधारणानुकूलः स्फुरणानुकूलो वा एकब्रह्माभिन्नाश्रयको वर्तमानो व्यापारः'।

(५) **नैमित्तिक**—'युद्धे संनह्यते वीरः'। 'युद्धाभिन्नाधारकः कवचबन्धनानुकूल एकधीराभिन्नाश्रयको वर्तमानो व्यापारः'। निमित्त का अर्थ हेतु है, यहाँ कवच-बन्धन का फल (उद्देश्य) युद्ध है अतः वह निमित्त है। फल भी कभी-कभी हेतु कहलाता है। इसका निर्वाह वैषयिक के अन्तर्गत सम्भव है।

---

१. रघुनाथ, लघुभाष्य (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई), पृ० २७१-७२।

(६) **औपचारिक**—उपचार का अर्थ है एक स्थान में विद्यमान सम्बन्ध का दूसरे स्थान पर आरोप। यथा—'अङ्गुल्यग्रे करिणां शतम्'। 'अङ्गुल्यग्राभिन्नाश्रयक आत्मधारणानुकूल: करिसम्बन्धशताभिन्नाश्रयको वर्तमानो व्यापार:'। हाथी और भूमि का आधाराधेयभाव अंगुलि के अग्रभाग पर आरोपित है। यह भी औपश्लेषिक ही है। लघुभाष्यकार भी अतिरिक्त तीनों भेदों को औपश्लेषिक में अन्तर्भूत करने के पक्षपाती हैं।

इस प्रकार तीनों अधिकरणों को ही अन्तिम वर्गीकरण मानने में कोई दोष नहीं, क्योंकि औपश्लेषिक की व्याप्ति बहुत अधिक है।

उपसंहार

विगत अध्यायों में हमने पाणिनि से आरम्भ कर इस सम्प्रदाय में आविर्भूत प्रमुख आचार्यों द्वारा कारक के प्रश्न पर किये गये विचारों का ऐतिहासिक क्रम से पर्यवेक्षण किया है। हमने यह देखा है कि मूल सूत्र की व्याख्या के व्याज से टीकाकारों ने विभिन्न कारकों की तात्त्विक मीमांसा की है तथा संस्कृत भाषा में प्राप्ति तथाकथित सन्दिग्ध उदाहरणों के साथ सामञ्जस्य रखते हुए उन्होंने कारक के मूल प्रश्न का समाधान किया है। कारकतत्त्व के चिन्तन में फिर भी कारकत्व के प्रश्न पर उतनी व्यापक सामग्री नहीं मिलती। टीकाकारों ने कर्त्रादि कारक-भेदों के विश्लेषण में उक्त विषय की अपेक्षा अधिक शक्ति लगायी है। इसका मुख्य कारण तो यही प्रतीत होता है कि पाणिनि ने स्वयं 'कारक' को परिभाषित नहीं किया तथा इसे अन्वर्थ-संज्ञा या लोक में सरलता से बोध्य संज्ञा मानकर इसे अधिकार-सूत्र के अन्तर्गत रखा है। फिर भी कारकशक्ति की बाह्य अभिव्यक्ति के आधार पर अनुवर्ती आचार्यों ने इसके लक्षण करने के प्रयास किये हैं; क्रिया-निर्वर्तक, क्रियाजनक, क्रिया-सम्पादक-प्रभृति लक्षण इसका स्वरूप-निर्धारण करते हुए भी सर्वथा अनवद्य नहीं हैं—यह हमने सिद्ध किया है।

वास्तव में कारक एक शक्ति है जो क्रिया के सम्पादन में अपनी प्रवृत्ति दिखलाती है। इस दृष्टि से कारकतत्त्व का विवेचन भाषा-वैज्ञानिक या शब्दशास्त्रीय न होकर दार्शनिक कोटि में आता है। शक्ति की द्रव्यभिन्नता व्याकरण-दर्शन में स्वीकृत है, भले ही इसमें न्याय-वैशेषिक दर्शनों का विरोध होता है। इस विषय में भर्तृहरि का शक्ति-विवेचन व्याकरण-दर्शन में अन्तिम शब्द के रूप में मान्य है, जिसमें कारक का लक्षण इसी शक्ति के रूप में स्वीकृत है।

यह कारकशक्ति विभक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण उससे भिन्न है। प्रस्तुत प्रबन्ध में विस्तारपूर्वक प्रयोगों के साथ दोनों का अन्तर स्पष्ट किया गया है। यद्यपि 'विभक्ति' शब्द का प्रयोग पाणिनि में सुप्, तिङ् तथा कतिपय तद्धित-प्रत्ययों के लिए भी हुआ है, तथापि इस स्थान पर कारक और विभक्ति के वैषम्य का निरूपण करने के लिए विभक्ति सुप्-प्रत्यय मात्र के सीमित अर्थ में, पाणिनि-सूत्रों में भी, गृहीत हुई है—यह यहाँ दिखलाया गया है। साथ ही यह भी सिद्ध किया गया है कि विभक्ति भाषा के बहिरंग से सम्बद्ध है जब कि कारक शक्ति-रूप होने के कारण उसके अन्तरंग अर्थात् दार्शनिक पक्ष या 'अर्थपक्ष' से सम्बद्ध है।

कर्मादि कारकों का क्रिया से सम्बन्ध होना अनिवार्य है क्योंकि कारकशक्ति क्रिया की निष्पत्ति में ही विभिन्न प्रकार से सहायता करती है, द्रव्यों की उत्पत्ति में नहीं। यही कारक तथा कारण में मूल भेद है। इस प्रसङ्ग के स्पष्टीकरण के लिए हमने

सम्बद्ध अध्याय में क्रिया का अपेक्षाकृत विस्तारपूर्वक विवेचन किया है जिसमें न्याय, मीमांसा तथा व्याकरण में विवेचित धात्वर्थ का निरूपण है । प्रबन्ध के व्याकरणोन्मुख होने के कारण अन्त में व्याकरण-मत की ही स्थापना की गयी है अन्यथा तन्त्र-विशेष में सीमित होकर कारक-विवेचन करने की प्रतिज्ञा का भंग होता । वैयाकरणों के द्वारा फल और व्यापार के संयुक्त अर्थ में धातु का अभ्युपगम होने से ही सकर्मक-अकर्मक धातु की व्यवस्था हो पाती है तथा कारकों की संख्या के क्रमिक विकास पर भी प्रकाश पड़ता है ।

कारकों की संख्या के विकास को हमने चार चरणों या अवस्थाओं में प्रदर्शित किया है, जो निम्न रूप में हैं—

(१) **कर्ता**—'कारक' शब्द की अन्वर्थता के सन्दर्भ में यही सबसे मौलिक कारक सिद्ध होता है । अन्य कारक भी मूलतः कर्तृशक्ति से युक्त होकर ही निमित्तभेद से तत्तत् कारकशक्तियों को धारण करते कहे जाते हैं । यही अन्य कारक-भेदों का कारकत्व है जिससे वे यथावसर अपनी मूल शक्ति की अभिव्यक्ति करने के लिए विवक्षा से प्रेरित होते हैं । अतः सभी भाषाओं का मौलिक कारक कर्ता है ।

(२) **कर्म**—कर्ता के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान इसी का है, क्योंकि धात्वर्थ (व्यापार और फल) के आश्रय के रूप में क्रमशः कर्ता तथा कर्म ही हैं । क्रियानिष्पत्ति में इसीलिए इन दोनों की सर्वाधिक उपकारकता रहती है । अतः न्यूनतम ये दो कारक तो किसी भी भाषा के लिए अनिवार्य हैं ।

(३) **करण तथा अधिकरण**—ये दोनों कारक इसलिए तृतीय चरण के कारक हैं कि पूर्व से विद्यमान रहने वाले कर्ता या कर्म की सहायता क्रियानिष्पत्ति में करते हैं । अधिक स्पष्टतया कह सकते हैं कि करण क्रियानिष्पत्ति के निकटतम रहकर कर्ता का उपकारक है तो अधिकरण कर्ता या कर्म के आधार के रूप में स्थित होकर दोनों का उपकार करता है । उपर्युक्त चार कारक-भेदों में ही प्रायशः सरलता से कर्तृत्व की मौलिक सत्ता दिखलाना सम्भव है; अतएव कुछ लोग अपनी युक्तियों से चार कारकों की ही सत्ता दिखलाते हैं, किन्तु यह भ्रामक विचार है ।

(४) **सम्प्रदान तथा अपादान**—इन दोनों कारकों का योग उपर्युक्त कारकचक्र में अन्तिम चरण में हुआ है । यद्यपि इनके कारक होने के विपक्ष में कई युक्तियाँ दी गयी हैं, तथापि क्रमशः कर्म तथा कर्ता के उपकारक होने के कारण क्रिया के भी ये उपकारक माने गये हैं जिससे इनकी कारकता सिद्ध होती है ।

पाणिनि के सूत्रों में जो कारकों का पौर्वापर्य है, वह इस चरणगत विकास से पूर्णतया संगति रखता है, क्योंकि पाणिनीय क्रम के अनुसार अपादान-सम्प्रदान, करण-अधिकरण, कर्म तथा कर्ता इस रूप में कारकों का महत्त्व क्रमशः बढ़ता गया है । कम महत्त्वपूर्ण कारक पहले दिये गये हैं और अधिक महत्त्वपूर्ण बाद में । विप्रतिषेध-परिभाषा की कारकों में प्रवृत्ति होने की पृष्ठभूमि में यही युक्तिसंगत विकास काम करता है । दूसरे शब्दों में, अपादान को दूसरे कारक बाधित करते हैं ('अपादानमुत्तराणि कार-

काणि बाधन्ते'—पतञ्जलि की उक्ति) यथा कर्ता के द्वारा दूसरे कारक बाधित होते हैं; वह इसलिए सम्भव होता है कि अपादान सबसे कम महत्त्व रखने वाला अन्तिम चरण में विकसित कारक है और कर्ता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मौलिक कारक है।

जहाँ तक सम्बोधन का प्रश्न है उसे कारक के रूप में नहीं देखा गया है, क्योंकि क्रिया के साथ तो दूर रहा, वाक्य के साथ भी उसका सम्बन्ध कुछ कष्ट से ही होता है। नागेशादि कुछ विद्वानों ने उसके कर्तृत्व की चर्चा उठायी है, किन्तु यह शक्ति भी, उसमें नहीं, उसके प्रतिनिधिरूप सर्वनाम में आती है। अतः साक्षात् क्रियाजनक शक्ति नहीं होने के कारण उसका कारकत्व चिन्त्य है।

यही स्थिति शेष के साथ है। यद्यपि कुछ कारकों की शेषत्व-विवक्षा होती है, तथापि शेष स्वयं कारक नहीं है। शेष अपने-आप में अपादानादि-भिन्न सम्बन्ध को कहते हैं जो उपपद-सम्बन्ध या मूलतः कारक-सम्बन्ध के रूप में भी हो सकता है; दोनों स्थितियों में षष्ठी विभक्ति होती है। शेष के कारकत्व का निरसन इस प्रबन्ध में अनेक मतों की स्थापना तथा आलोचना के साथ किया गया है। जिन विभक्तियों में कारक-शक्ति द्योतित नहीं होती है, वे उपपद-सम्बन्ध प्रकट करने के कारण उपपद-विभक्ति कहलाती हैं। दोनों प्रकार की विभक्तियों के पृथक्-पृथक् स्थल प्रत्येक विभक्ति के सन्दर्भ में दिखलाये गये हैं। ऐसा कदाचित् पाणिनितन्त्र में पहली बार किया गया है। इस दृष्टि से षष्ठी भी कतिपय कारकों को अभिव्यक्त करती है; यद्यपि ऐसे स्थल में उनके कारकत्व की विवक्षा न होकर, शेषत्व की विवक्षा होती है। प्रबन्ध में षष्ठी की कारक-विभक्ति के जो स्थल दिये गये हैं वे इसी दृष्टि से अनुप्राणित हैं कि कारकशक्ति उनके मूल में काम करती है।

कारक के भेदों का विशद निरूपण करने में हम विकास के तीन चरण पाते हैं—

(१) पाणिनि तथा पतञ्जलि के द्वारा उद्भावित कारक-विशेष की कल्पना।

(२) भर्तृहरि द्वारा उनका दार्शनिक विवेचन।

(३) नव्यव्याकरण में नव्यन्याय से प्रभावित विवेचन।

इन तीनों ही चरणों में दृष्टिकोण का स्पष्ट पार्थक्य प्रतीत होता है। प्रथम चरण में कर्त्रादि कारकों के आरम्भिक लक्षण सरलतम शब्दों में प्रकट किये गये हैं, जिन्हें पतञ्जलि के द्वारा किया गया सरस विश्लेषण दर्शनोन्मुख करता है। द्वितीय चरण में भर्तृहरि उस विवेचन को पूर्णतः दार्शनिक रूप दे देते हैं जिससे कारक शक्ति-विशेष के रूप में देखा जाने लगता है। सर्वप्रथम कारकों के अवान्तर-भेदों की कल्पना भी भर्तृहरि में ही मिलती है। हाँ, कर्म के भेदों की कल्पना स्वयं पाणिनि ने तथा अधिकरण के भेदों की कल्पना पतञ्जलि ने ही की थी। यह दुर्भाग्य का विषय है कि व्याकरणशास्त्र में भर्तृहरि की परम्परा आगे नहीं चल सकी। इससे सिद्ध होता है कि जनसामान्य में व्याकरण के दार्शनिक पक्ष की अपेक्षा शब्द-पक्ष का ही प्राधान्य रहा।

तृतीय चरण में कारक प्रवेश करें इसके पूर्व ही उन पर नव्य-नैयायिकों की दृष्टि पड़ चुकी थी; इनमें—भवानन्द, जगदीश तथा गदाधर प्रमुख थे। इन्होंने अपने

सम्प्रदायों तथा दार्शनिक मान्यताओं के अनुरूप नव्यन्याय की विशिष्ट अभिव्यञ्जन-शैली का प्रयोग करते हुए कारक-विशेषों पर विचार किया। फलस्वरूप अब कारक-प्रकरण में समागत शब्दों के शक्यतावच्छेदक अर्थात् कारकत्व, कर्तृत्व, स्वतन्त्रत्व, कर्मत्व इत्यादि का निर्वचन होने लगा। सम्भवतः इसकी प्रतिक्रिया में या इस शैली से चमत्कृत होकर नव्यव्याकरण का उद्‌भव हुआ। भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट तथा नागेश-प्रभृति वैयाकरणों ने इन नैयायिक-पूर्वपक्षियों की उन्हीं की भाषा-शैली का आश्रय लेकर घोर आलोचना की। नव्यव्याकरण के सिद्धान्तों को समझने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में इन न्यायशास्त्रीय विचारों से अवगत होना अनिवार्य है, अन्यथा परम्परा की शृंखला के टूट जाने से नवीन अभिव्यञ्जना के दुर्बोध होने का भय है।

इस प्रबन्ध में प्रायः सर्वत्र ही पृष्ठभूमि के रूप में न्यायशास्त्रीय विवेचन देकर नव्यव्याकरण में आये हुए लक्षणों पर विचार किया गया है। विचार के क्रम में कहीं-कहीं साथ-साथ भी न्यायमत का निर्देश कर उसकी समालोचना की गयी है। यही नहीं, नव्यव्याकरण के आचार्यों ने अपने तन्त्र के भी पूर्ववर्ती आचार्यों की कहीं-कहीं कटु आलोचना की है। अन्तिम रूप से नागेशभट्ट के मतों की स्थापना प्रधानतया लघुमञ्जूषा के आधार पर की गयी है।

यह इस प्रबन्ध की विशेषता है कि उपर्युक्त चरणों में आये हुए विद्वानों के सम्बद्ध ग्रन्थों से सम्बद्ध स्थलों की पूरी व्याख्या पूर्वापर का तारतम्य दिखलाते हुए की गयी है। हाँ, अनावश्यक पुनरुक्तियों का परिहार अवश्य किया गया है। यदि किन्हीं मान्य विद्वान् के मत का कहीं अभाव है तो वह इसलिए कि उनमें वही बातें है, जो उनके पूर्ववर्ती कह चुके हैं और जिनका निर्देश इस प्रबन्ध में पहले भी किया जा का है। सारांश यह है कि तन्त्रस्थ किसी भी नये तथ्य का निरूपण करनेवाले विद्वान् का परित्याग नहीं किया गया है।

इस प्रकार मैंने कारकतत्त्व पर क्रमशः विकासशील विवेचनों की व्याख्या करके उनके तारतम्य की शृंखला दिखलायी है कि किस प्रकार बीजरूप पाणिनीय कारक-सूत्र बढ़ता-बढ़ता नागेश तक पहुँचकर व्यापक वृक्ष का रूप ले लेता है। इस विकास के विश्लेषण में मैंने सर्वत्र व्याख्याकारों का ही आश्रय लिया है, अनर्गल कल्पना से प्रसूत कोई भी बात इसमें नहीं दी गयी है। मुझे कई मत चिन्त्य या आलोच्य भी मालूम पड़े हैं तो मैंने पूरा प्रयास किया है कि मेरी धारणा का समर्थन कहीं शास्त्रों में ही मिले और तदनुकूल मतों का संग्रह भी किया गया है।

पाणिनीय व्याकरण एक विशाल सागर है, जिसमें हमें सभी दृष्टिकोणों से पूर्णता ही दिखलायी देती है। कारक-जैसे अत्यन्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण विषय से सम्बद्ध तथ्यों की भी उसमें कमी नहीं। अपनी नियत सीमा में रहकर मैंने उसमें से अनेक रत्नों का ग्रहण किया है तथा पाया है कि सभी आचार्य अपने दृष्टिकोण से स्वकथ्य को पूर्ण ही समझते हैं; किन्तु अन्तरंग-बहिरंग दोनों दृष्टियों से वह तथ्य नागेशभट्ट में ही पूर्णता प्राप्त करता है। यद्यपि नागेश से भी आगे बढ़ने का अवकाश अभी है,

विशेषत: लक्षणों के आकारिक पक्ष (Formal side) में; तथापि नागेश के साथ एक विशिष्ट चिन्तन-प्रक्रिया या विचारधारा (Line of thought) की परिसमाप्ति होती है—यह मानना पड़ेगा ।

संस्कृत-व्याकरण के विषय-विशेष को लेकर पूरे पाणिनीय तन्त्र में ऐतिहासिक विकास का निरूपण करते हुए निष्पन्न किया गया यह अपने ढंग का प्रथम प्रयास है । लोगों ने कतिपय विषयों पर एक ही लेखक के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया है । किन्तु शोध की ऐतिहासिक विधि से सम्बद्ध यह कार्य अपने-आप में अवश्य ही विलक्षण है । सम्पूर्ण तन्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में बिखरे हुए तथ्यों को संयुक्त करके उनका समुदित उपयोग करके इस ग्रन्थ की रचना की गयी है । तुलना के लिए कहीं-कहीं तन्त्रान्तर में भी प्रवेश किया गया है, किन्तु किसी विशेष अध्ययन की उत्सुकता से नहीं । कारकों के अवान्तर भेदों की विवेचना करने के लिए दूसरे तन्त्रों का विशेष रूप से निर्देश किया गया है । उदाहरणार्थ हेतुकर्ता के तीन भेदों का (प्रेषक, अध्येषक, आनुकूल्यभागी) निरूपण जैन ग्रन्थकार रभसनन्दि के आधार पर हुआ है। करण के भेदों का विचार करते हुए तन्त्रान्तर के मतों की समीक्षा करके स्वतन्त्र मत का भी निवेश किया गया है ।

अत: इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में यथाशक्ति यथामति कारक पर प्राप्त विच्छिन्न विवेचनों को एक नूतन संघटित रूप देकर अपनी सीमा में सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है ।

सहायक ग्रन्थावली

(संस्कृत)

ईश्वरकृष्ण—सांख्यकारिका (तत्त्वकौमुदी-सहित); डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र कृत प्रभा-व्याख्या, सत्य प्रकाशन मन्दिर, प्रयाग (१९५६)।

कणाद—वैशेषिकसूत्र (उपस्कार-सहित); ढुण्ढिराजशास्त्रिकृत हिन्दी-अनुवाद, चौखम्बा (१९६९)। नन्दलाल सिन्हा कृत अंग्रेजी अनुवाद।

कुमारिल—मीमांसाश्लोकवार्तिक (न्यायरत्नाकर-सहित); सं०—रामशास्त्री मानवल्ली, चौखम्बा (१८९८)। गंगानाथ झा कृत आंग्लानुवाद।

केशवमिश्र—तर्कभाषा; आचार्य विश्वेश्वरकृत हिन्दी-व्याख्या, चौखम्बा (१९५३)।

कौण्डभट्ट—(१) वैयाकरणभूषण (मूल) तथा वैयाकरणभूषणसार (हरिराम कृत काशिका-टीकासहित); अंग्रेजी टिप्पणियों से युक्त; सं०—कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी, बम्बई संस्कृत-प्राकृत सीरिज (१९१५)।

(२) वैयाकरणभूषणसार (हरिवल्लभ कृत दर्पण सहित), चौखम्बा (१९३९)।

गङ्गेश—तत्त्वचिन्तामणि; बिब्लियोथिका इण्डिका (१८८४-९१)।

गदाधर—व्युत्पत्तिवाद; लक्ष्मीनाथ झा कृत प्रकाश सहित, काशी (१९३२)।

गागाभट्ट—भाट्टचिन्तामणि; सं०—सूर्यनारायण शुक्ल, चौखम्बा (१९३३)।

गिरिधर भट्टाचार्य—विभक्त्यर्थनिर्णय; चौखम्बा (१९०१)।

गोकुलनाथ उपाध्याय—पदवाक्यरत्नाकर (यदुनाथमिश्र कृत गूढार्थदीपिका सहित), वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय (१९६०)।

गौतम—न्यायसूत्र (वात्स्यायनभाष्य सहित); हिन्दी अनुवाद (ढुण्ढिराज शास्त्री), चौखम्बा (१९७०)। आंग्लानुवाद—गंगानाथ झा (पूना ओरियण्टल बुक एजेन्सी, १९३९)।

चन्द्रगोमि—चान्द्रव्याकरणम्; सं०—क्षितीशचन्द्र चटर्जी, कलकत्ता।

चारुदेव शास्त्री—प्रस्तावतरङ्गिणी (पृ० १८८-९६); चौखम्बा (१९५०)।

जगदीश—शब्दशक्तिप्रकाशिका, कृष्णकान्ती तथा प्रबोधिनी टीका सहित; चौखम्बा (१३९४)।

जयन्तभट्ट—न्यायमञ्जरी; सं०—पं० सूर्यनारायण शुक्ल, चौखम्बा (१९३४)।

जयराम भट्टाचार्य—कारकवादार्थ; वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई (१९६६ वि० सं०)।

जयादित्य वामन—काशिका; जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास तथा हरदत्तकृत पदमञ्जरी सहित, प्राच्यभारती प्रकाशन (१९६५-६७), (छः खण्डों में)।

जैमिनि—मीमांसासूत्र (शाबरभाष्य-सहित); आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना (१९२९-३४)। आंग्लानुवाद—गंगानाथ झा (बड़ौदा)।

धर्मराजाध्वरीन्द्र—वेदान्त-परिभाषा (अंग्रेजी अनु० सहित); माधवानन्द कृत अनु० रामकृष्ण मठ, बेलूर (१९६३) ।

नागेश—(१) परमलघुमञ्जूषा (कालिकाप्रसाद शुक्ल कृत ज्योत्स्ना सहित, बड़ौदा संस्कृत महाविद्यालय (१९६१) । पं० वंशीधर मिश्र कृत वंशी-टीका तथा हिन्दी-अनु०, गया (१९५७) । अर्थदीपिका-सहित, चौखम्बा (१९४६) ।
(२) लघुमञ्जूषा (कला-कुञ्जिका सहित), चौखम्बा (१९१७-१९२८) ।
(३) परिभाषेन्दुशेखर—वैद्यनाथकृत 'गदा'-सहित, आनन्दाश्रम, पूना (१९१३) । कीलहॉर्न का अंग्रेजी अनुवाद, बम्बई ।
(४) बृहच्छब्देन्दुशेखर (सं० डॉ० सीतारामशास्त्री), वाराणसेय संस्कृत वि० वि० (१९६०), ३ खण्ड ।

पतञ्जलि—महाभाष्य (कैयटकृत प्रदीप तथा इस पर नागेशकृत उद्योत सहित), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई (१९५१), १-६ अध्याय तक । ७-८ अध्याय, गुरुकुल झज्झर (हरियाणा, १९६२) ।

पाणिनि—अष्टाध्यायी (वामनजयादित्य की काशिका-सहित), चौखम्बा, तृतीय संस्करण (१९५२) ।

पार्थसारथिमिश्र—शास्त्रदीपिका, सं० धर्मदत्तसूरि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई (१९१५) ।

पुरुषोत्तमदेव—परिभाषावृत्ति, ज्ञापकसमुच्चय तथा कारकचक्र; सं०—दीनेशचन्द्र भट्टाचार्य, वारेन्द्र रिसर्च म्युजियम, राजशाही (१९४६) ।

बादरायण—ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य—भामती, कल्पतरु, परिमल सहित) निर्णय-सागर प्रेस (१९३८) ।

भट्टोजिदीक्षित—(१) वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनी (ज्ञानेन्द्र सरस्वती) तथा लघुशब्देन्दुशेखर (नागेश) सहित; सं०—गुरुप्रसाद शास्त्री, काशी (१९३९), भाग–१ । (तीनों ग्रन्थों के उद्धरण तथा पृष्ठ संख्या इसी संस्करण से दिये गये हैं) ।
(२) शब्दकौस्तुभ (भाग–२), गोपालशास्त्री नेने संपादित, चौखम्बा (१९२९) ।
(३) प्रौढमनोरमा—शब्दरत्न तथा उस पर ज्योत्स्ना-सहित, चौखम्बा (१९३४) ।

भरतमल्लिक—कारकोल्लास, संस्कृतसाहित्यपरिषद्, कलकत्ता (१९२४) ।

भर्तृहरि—वाक्यपदीय (१) सम्पूर्ण, सात परिशिष्टों के साथ, सं०—अभ्यंकर तथा लिमये, पूना (१९६५) । (२) तृतीय काण्ड (१-७ समुद्देश), हेलाराज की टीका सहित, सं०—को० अ० सु० ऐयर, पूना (१९६३) । (३) तृतीय काण्ड (८-१४ समुद्देश), हेलाराज-सहित, चौखम्बा (१९२०) । (४)

प्रथम-द्वितीय काण्ड—रघुनाथशास्त्रिकृत 'अम्बाकर्त्री' व्याख्या-सहित, वाराणसेय सं० विश्व० (१९६४–६८)।

भवानन्द—कारकचक्र (माधवी-सहित), चौखम्बा (१९४२)।

भीमाचार्य झलकीकर—न्यायकोश, भाण्डारकर-प्राच्यविद्या-संशोधन-मन्दिर, पूना (१९२८)।

भोज—सरस्वतीकण्ठाभरण (नारायणदण्डनाथ कृत हृदयहारिणी-सहित), प्रथम अध्याय, त्रिवेन्द्रम् (१९३५)।

माधवाचार्य—(१) सर्वदर्शनसंग्रह—हिन्दी-व्याख्या-सहित (उमाशंकर शर्मा), चौखम्बा (१९६४)।

(२) माधवीयधातुवृत्ति, सं०—अनन्तशास्त्री फड़के, चौखम्बा (१९३४)।

यास्क—निरुक्त (दुर्गवृत्ति), वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

रघुनाथ—लघुभाष्य (सारस्वत व्याकरण), वेंकटेश्वर प्रेस (१९००)।

रभसनन्दि—कारकसम्बन्धोद्योत, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर (वि० सं० २०१३)।

रामचन्द्र दीक्षित—प्रक्रियाकौमुदी (विट्ठलकृत प्रसाद सहित), कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी संपा०, २ खण्ड, बम्बई—संस्कृत-प्राकृत सीरिज (१९२५)।

रामाज्ञा पाण्डेय—व्याकरणदर्शनभूमिका, सरस्वती-भवन, काशी (१९५४)।

वररुचि—वाररुचसंग्रह (नारायण कृत दीपप्रभा-सहित), संपा०—गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् (१९१३)।

विश्वनाथ—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (नृसिंहदेवशास्त्रिकृत प्रभासहिता), मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, लाहौर (१९२९)।

विश्वेश्वरसूरि—व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि, चौखम्बा (१९१४-२५)।

वोपदेव—मुग्धबोध व्याकरण (दुर्गादास विद्यावागीश तथा रामतर्कवागीश की टीकाओं से युक्त) कलकत्ता (१९०२)।

शरणदेव—दुर्घटवृत्ति, गणपतिशास्त्रि संपा०, त्रिवेन्द्रम् (१९०९)।

शर्ववर्मा—कातन्त्र (दुर्गसिंहकृत वृत्ति), बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता (१८७६)।

शाकटायन (जैन)—शाकटायन व्याकरण, अभयचन्द्रसूरि कृत प्रक्रिया सहित, बम्बई (१९०७)।

हेमचन्द्र—हेमप्रकाश महाव्याकरण (विनयविजय गणि), बम्बई (१९९४ वि०सं०)।

हिन्दी-बंगला

कपिलदेव द्विवेदी—अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन, इलाहाबाद (१९५१)।

गुरुपद हाल्दार—व्याकरणदर्शनेर इतिहास (प्रथम खण्ड); बंगला; कालीघाट कालिका-ग्रन्थमाला, कलकत्ता, वंगाब्द–१३५० (१९४४ ई०)। (पृ० २५२–३३२ कारक-विचार)।

चारुदेव शास्त्री—व्याकरण चन्द्रोदय, मोतीलाल बनारसीदास (३ खण्ड)।

बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, काशी (१९४८)।

युधिष्ठिर मीमांसक—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण–२०२० वि० सं०)। द्वितीय भाग (प्रथम संस्करण–२०१९ वि० सं०)।

रामशंकर भट्टाचार्य—पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन (पृ० १३१-६२), इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी (१९६६)।

सत्यकाम वर्मा—भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, भारतीय प्रकाशन, नई दिल्ली (१९६४)।

अंग्रेजी

Abhyankar, K. V.—A Dictionary of Sanskrit Grammar, Oriental Institute, Baroda (1961).

Belvalkar, S. K.—Systems of Sanskrit Grammar.

Chakravarti. P. C.—Philosophy of Sanskrit Grammar, University of Calcutta (1930).

Chatterjee, K. C.—Technical Terms and Technique of Sanskrit Grammar, Calcutta (1948).

Devasthali, G. V.—Mīmāṃsa : The Vākyaśāstra of Ancient India, Bombay (1959).

Gold Stucker, Theodor—Pāṇini : His Place in Sanskrit Literature, Indian Reprint, Chowkhamba (1965)

Guha, D. C.—Navya-nyāya System of Logic, Bharatiya Vidya Prakashana, Varanasi (1969).

Kale, M. R.—Higher Sanskrit Grammar, Reprint, Motilal Banarasidass (1960).

MacDonell, A. A.—Vedic Grammar for Students (Oxford University Press, (1955), 4th Impression.

Pandeya, R. C.—Problem of Meaning in Indian Philosophy, Motital Banarasidass, Delhi (1963).

Radhakrishnan, S.—Indian Philosophy; Vol. I (1948), Vol. II (1941), George Allen and Unwin Ltd., London.

Shastri, Gaurinatha—Philosophy of Word and Meaning, Calcutta.

Taraporewala, I. J. S.—Sanskrit Syntax, Munshiram Mahoharlal, Delhi (1967).

Vidyabhusan, S. C.—History of Indion Logic, Reprint, Motilal Banarasidass (1971).

Whitney, W. D.—Sanskrit Grammar, Reprint, Motilal Banarasidass (1962),